2-2

काव्य-ग्रन्थ-रत्नमाला—रत्न ६—

॥ श्री ॥

श्रीहरि-तोषिणी टीका-समलंकृता

श्रीगोस्वामी तुलसीदास-रचित

विनय-पत्रिका

[हरितोषिणी टीका]

वियोगी हरि

प्रकाशक

साहित्य-सेवा-सदन, काशी

प्रथम संस्करण } वसंत-पञ्चमी १९८० वि० { मूल्य २॥) सजिल्द २॥।)

बढ़िया कपड़े की जिल्द ३)

प्रकाशक—

गयाप्रसाद शुक्ल

साहित्य-सेवा-सदन, काशी।

मुद्रक—

प्यारेलाल भार्गव

ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी।

समर्पण

श्रीराम-रस-रसिकों

के

कर-कमलों में

सप्रेम समर्पित

विनीत

वियोगी हरि

अनुक्रमणिका

परिचय

भक्ति-रस का पूर्ण परिपाक जैसा विनयपत्रिका में देखा जाता है वैसा अन्यत्र नहीं। भक्ति में प्रेम के अतिरिक्त आलंबन के महत्व और अपने दैन्य का अनुभव परम आवश्यक अंग है। तुलसी के हृदय से इन दोनों अनुभवों के ऐसे निर्मल शब्दस्रोत निकले हैं, जिनमें अवगाहन करने से मन की मैल कटती है और अत्यंत पवित्र प्रफुल्लता आती हैं। गोस्वामीजी के भक्ति-क्षेत्र में शील, शक्ति और सौन्दर्य्य तीनों की प्रतिष्ठा होने के कारण मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका प्रकृति के परिष्कार और प्रसार के लिए मैदान पड़ा हुआ है। जिस प्रकार लोक-व्यवहार से अपने को अलग कर के आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होनेवाले काम, क्रोध आदि शत्रुओं से बहुत दूर रहने का मार्ग पा सकते हैं उसी प्रकार लोक-व्यवहार में मग्न रहनेवाले अपने भिन्न-भिन्न कर्तव्यों के भीतर ही आनन्द की वह ज्योति पा सकते हैं जिससे इस जीवन में दिव्य जीवन का आभास मिलने लगता है और मनुष्य के वे सब कर्म, वे सब वचन और वे सब भाव—क्या डूबते हुए को बचाना, क्या अत्याचारी पर शस्त्र चलाना क्या स्तुति करना, क्या निन्दा करना, क्या दया से आर्द्र होना, क्या क्रोध से तमतमाना—जिनसे लोक का कल्याण होता आया है, भगवान् के लोक-पालन करनेवाले कर्म, वचन और भाव दिखाई पड़ते हैं।

यह प्राचीन भक्ति-मार्ग एकदेशीय आधार पर स्थित नहीं, यह एकांगदर्शी नहीं। यह हमारे हृदय को ऐसा नहीं करना चाहता कि हम केवल व्रत-उपवास करनेवालों और उपदेश करनेवालों ही पर श्रद्धा रखें और जो लोग संसार के पदार्थों का उचित उपभोग कर के अपनी विशाल भुजाओं से रणक्षेत्र में अत्याचारियों का दमन करते हैं, या अपनी अन्तर्दृष्टि की साधना और शारीरिक अध्यवसाय के बल से मनुष्य जाति के ज्ञान की वृद्धि करते हैं, उनके प्रति उदासीन रहें। गोस्वामीजी की रामभक्ति वह पदार्थ है जिससे जीवन में शक्ति, सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता सब कुछ प्राप्त हो सकती है। आलंबन की महत्त्व-भावना से प्रेरित दैन्य के अतिरिक्त भक्ति के और जितने अंग हैं—भक्ति के कारण अन्तःकरण को जो और-और शुभ वृत्तियाँ प्राप्त होती हैं—सब की अभिव्यंजना विनयपत्रिका के भीतर हम पा सकते हैं। राम में सौन्दर्य, शक्ति और

शील तीनों की चरम अभिव्यक्ति एक साथ समन्वित हो कर मनुष्य के सम्पूर्ण हृदय को—उसके किसी एक ही अंश को नहीं—आकर्षित कर लेती है। कोरी साधुता का उपदेश पाषंड है, कोरी वीरता का उपदेश उद्दंडता है, कोरे ज्ञान का उपदेश आलस्य है, और कोरी चतुराई का उपदेश धूर्तता है।

सूर और तुलसी को हमें उपदेशक के रूप में न देखना चाहिए। ये उपदेशक नहीं हैं, अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल से लोकादर्श की मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले हैं। हमारा प्राचीन भक्ति-मार्ग उपदेशकों की सृष्टि करनेवाला नहीं है। सदाचार और ब्रह्मज्ञान के रूखे उपदेशों द्वारा इसके प्रचार की व्यवस्था नहीं है। न हमारे राम और कृष्ण उपदेशक, न उनके भक्त तुलसी और सूर। लोक-व्यवहार में मग्न हो कर जो मंगल-ज्योति इन अवतारों ने उसके भीतर जगाई, उसके माधुर्य्य का अनेक रूपों में साक्षात्कार करके मुग्ध होना और मुग्ध करना ही इन भक्तों का प्रधान व्यवसाय है। उनका शस्त्र भी मानव हृदय है और लक्ष्य भी। उपदेशों का ग्रहण ऊपर ही ऊपर से होता है। न वे हृदय के मर्म को ही भेद सकते हैं, न बुद्धि की कसौटी पर ही स्थिर भाव से जमे रह सकते हैं। हृदय तो उनकी ओर मुड़ता ही नहीं और बुद्धि उनको लेकर अनेक दार्शनिक वादों के बीच जा उलझती है। उपदेश, वाद या तर्क गोस्वामीजी के अनुसार "वाक्य-ज्ञान" मात्र कराते हैं, जिससे जीव-कल्याण का लक्ष्य पूरा नहीं होता—

वाक्य-ज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई॥ (१२३)

"वाक्य ज्ञान" और बात है, अनुभूति और बात। इसी से प्राचीन परंपरा के भक्त लोग उपदेश, वाद या तर्क की अपेक्षा चरित्र-श्रवण और चरित्र-कीर्तन आदि का ही अधिक नाम लिया करते हैं।

प्राचीन भागवत सम्प्रदाय के बीच भगवान् के उस लोक-रंजनकारी रूप की प्रतिष्ठा हुई जिस के अवलम्बन से मानव-हृदय अपने पूर्ण भाव-संघात के साथ कल्याण-मार्ग की ओर आप से आप आकर्षित हो सके। इसी लोक-रंजनकारी रूप का प्रत्यक्षीकरण प्राचीन परंपरा के भक्तों का लक्ष्य है, उपदेश देना नहीं। उसी मनोहर रूप की अनुभूति से गद्गद और पुलकित होना, उसी रूप की एक एक छटा को औरों के सामने भी रख कर उन्हें मानव-जीवन के सौन्दर्य्य-साधन में प्रवृत्त करना भक्तों का काम है।

गोस्वामी जी ने अनन्त सौन्दर्य्य का साक्षात्कार कर के उसके भीतर ही अनन्त शक्ति और अनन्त शील की वह झलक दिखाई है, जिससे लोक का प्रमोद-पूर्ण परिचालन होता है। सौन्दर्य, शक्ति और शील तीनों में मनुष्य मात्र के लिये आकर्षण विद्यमान है। रूप-लावण्य के बीच प्रतिष्ठित होने से शक्ति और शील को और भी अधिक सौन्दर्य्य प्राप्त हो जाता है, उनमें एक अपूर्व मनोहरता आ जाती है। जिसे शक्ति-सौन्दर्य्य की यह झलक मिल गई उसके हृदय में सच्चे वीर होने का अभिलाष जीवन भर के लिये जग गया, जिसने शील-सौन्दर्य्य की यह झाँकी पाई, उसके आचरण पर इसके मधुर प्रतिबिम्ब की छाप बैठी। प्राचीन भक्ति के इस तत्व की ओर ध्यान न देकर जो लोग लोकादर्श-स्थापक सूर और तुलसो को कबीर, दादू आदि की श्रणी में रख कर देखते हैं वे बड़ी भारी भूल करते हैं।

अनन्त-शक्ति-सौन्दर्य्य-समन्वित अनन्त शील की प्रतिष्ठा [illegible] गोस्वामी जी को पूर्ण आशा होती है कि उसका अभास पाकर जो पूरी मनुष्यता को पहुँचा हुआ हृदय होगा वह अवश्य द्रवीभूत होगा—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥

इसी हृदय-पद्धति द्वारा ही मनुष्य में शील और सदाचार का स्थायी संस्कार जम सकता है। दूसरी कोई पद्धति है ही नहीं।

चरम महत्व के इस भव्य मनुष्य-ग्राह्य रूप के सम्मुख भव विह्वल-भक्त-हृदय के बीच जो जो भाव-तरंगें उठती हैं उन्हीं की माला यह विनयपत्रिका है। महत्व और इन भाव-तरंगों की स्थिति परस्पर बिंब-प्रतिबिंब समझनी चाहिए। भक्त में दैन्य, आत्म-समर्पण, आशा, उत्साह, आत्मग्लानि, अनुताप, आत्म-निवेदन आदि की गंभीरता उस महत्व की अनुभूति की मात्रा के अनुसार समझिए। महत्व का जितना ही सान्निध्य प्राप्त होता जायगा—उसका जितना ही स्पष्ट साक्षात्कार होता जायगा—उतना ही अधिक स्फुट इन भावों का विकाश होता जायगा, और इन पर भी महत्व की आभा चढ़ती जायगी। मानो ये भाव महत्व की ओर बढ़ते जाते हैं और महत्व इन भावों की ओर बढ़ता आता है। इस प्रकार लघुत्व का महत्व में लय हो जाता है।

सारांश यह कि भक्ति का मूल तत्व है महत्व की अनुभूति। इस अनुभूति

के साथ ही दैन्य अर्थात् अपने लघुत्व की अनुभूति का उदय होता है। इस अनुभूति को दो ही पंक्तियों में गोस्वामी जी ने बड़े ही सीधे-सादे ढंग से कह दिया है--

राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो ?
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो ?

प्रभु के महत्व के सामने होते ही भक्त के हृदय में अपने लघुत्व का अनुभव होने लगता है। उसे जिस प्रकार प्रभु का महत्त्व वर्णन करने में आनन्द आता है उसी प्रकार अपना लघुत्व-वर्णन करने में भी। प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में उसकी असामर्थ्य का, उसकी दीन दशा का, बहुत साफ़ चित्र दिखाई पड़ता है, और वह अपने ऐसा दीन-हीन संसार में किसी को नहीं देखता। प्रभु के अनन्त शील और पवित्रता के सामने उसे अपने में दोष ही दोष और पाप ही पाप दिखाई पड़ने लगते हैं। इसी दृश्य के क्षोभ से आत्म-शुद्धि का आयोजन आप से आप होता है। इस अवस्था को प्राप्त भक्त अपने दोषों, पापों और त्रुटियों को अत्यन्त अधिक परिमाण में देखता है—और उनका जी खोल कर वर्णन करने में बहुत कुछ सन्तोष लाभ करता है। दंभ, अभिमान, छल, कपट आदि में से कोई उस समय बाधक नहीं हो सकता। इस प्रकार अपने पापों की पूरी सूचना देने से जी का बोझ ही नहीं, सिर का बोझ भी कुछ हलका हो जाता है। उसके सुधार का भार उसी पर न रह कर बँट सा जाता है।

इस अवस्था के पद इस ग्रंथ में बहुत अधिक हैं। ऐसी उच्च मनोभूमि की प्राप्ति, जिसमें अपने दोषों को झुक झुक कर देखने ही की नहीं, उठा उठा कर दिखाने की भी प्रवृत्ति होती है, ऐसी नहीं जिसे कोई कहे कि यह कौन बड़ी बात है। लोक की सामान्य प्रवृत्ति तो प्रायः इसके विपरीत ही होती है, जिसे अपनी ही मान कर गोसाईं जी कहते हैं—

जानत हू निज पाप जलधि जिय, जलसीकर सम सुनत लरौं।
रजसम पर अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरि सम रज ते निदरौं॥

ऐसे वचनों के सम्बन्ध में यह समझ रखना चाहिए कि ये दैन्य भाव के उत्कर्ष की व्यंजना करनेवाले उद्गार हैं। ऐतिहासिक खोज की धुन में इन्हें आत्म-वृत्ति समझ बैठना ठीक न होगा। इन शब्दप्रवाहों में लोक की सामान्य प्रवृत्ति की व्यंजना हो जाती है, इससे इनके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने दोषों

और बुराइयों की ओर दृष्टि ले जाने का साहस प्राप्त कर सकता है। दैन्य भक्तों का बड़ा भारी बल है।

परम महत्व के सान्निध्य से हृदय में उस महत्व में लीन होने के लिए जो अनेक प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न होते हैं, वे ही भक्तों के भाव हैं। कभी भक्त अनन्त रूप-राशि के अनुभव से प्रेम-पुलकित हो जाता है, कभी अनन्त शक्ति की झलक पा कर आश्चर्य और उत्साह से पूर्ण होता है, कभी अनन्त शील की भावना से अपने कर्मों पर पछताता है और कभी प्रभु के दया-दाक्षिण्य को देख मन में इस प्रकार ढाढ़स बाँधता है—

कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहि कियों भौंतुवा भौंर को हौं।
तुलसिदास सीतल नित एहि बल, बड़े ठेकानें ठौर को हौं ॥

दिन रात स्वामी के पास रहते रहते जिस प्रकार सेवक की कुछ धड़क खुल जाती है, उसी प्रकार प्रभु के सतत ध्यान से जो सान्निध्य की अनुभूति भक्त के हृदय में उत्पन्न होती है, उसके कारण वह कभी कभी मीठा उपालंभ भी देता है।

भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं रह जाता है। भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को ले कर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्त के लिए भक्ति का आनन्द ही उसका फल है। वह शक्ति, सौन्दर्य और शील के अनन्त समुद्र के तट पर खड़ा होकर लहरें लेने में ही जीवन का परम फल मानता है—

इहै परम फल, परम बड़ाई।
नख सिख रुचिर बिंदु माधव छवि निरखहिं नयन अघाई ॥

वह यही चाहता है कि प्रभु के सौन्दर्य, शक्ति आदि की अनन्तता की जो मधुर भावना है वह अबाध रहे—उसमें किसी प्रकार की कसर न आने पावे। अपने ऐसे पापी की सुगति को वह प्रभु की शक्ति का एक चमत्कार समझता है। अतः उसे यदि सुगति न प्राप्त हुई तो उसे इसका पछतावा न होगा, पछतावा होगा इस बात का कि प्रभु की अनन्त शक्ति की भावना बाधित हो गई—

नाहिंन नरक परत मो कहँ डर जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दासतुलसी प्रभु नामहु पाप न जारो ॥

विनय में कई एक पद ऐसे हैं जिनमें भक्ति की चरमावस्था ज्ञानयोग की चरमावस्था सी ही कही गई है, जैसे—

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत-बियोगी॥
सोक, मोह, भय-हरष, दिवस-निसि, देस काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास एहि दसाहीन संसय निर्मूल न जाहीं॥

प्रभु के सर्वगत होने का ध्यान करते करते भक्त अन्त में जाकर उस अवस्था को प्राप्त करता है जिसमें वह अपने साथ साथ समस्त संसार को उस एक अपरिच्छिन्न सत्ता में लीन होता हुआ देखने लगता है, और दृश्य भेदों का उसके ऊपर उतना ज़ोर नहीं रह जाता। तर्क या युक्ति ऐसी अवस्था की सूचना भर दे सकती है—"वाक्य--ज्ञान" भर करा सकती है—अनुभव नहीं करा सकती। भक्ति अनुभव करा सकती है। ससार में परोपकार और आत्मत्याग के जो उज्वल दृष्टान्त कहीं कहीं दिखाई पड़ा करते हैं, वे इसी अनुभूति—मार्ग में कुछ न कुछ अग्रसर होने के हैं। यह अनुभूति-मार्ग या भक्ति-मार्ग बहुत दूर तक तो लोक-कल्याण की व्यवस्था करता दिखाई पड़ता है, पर और आगे चल कर यह निस्संग साधक को सब भेदों से परे ले जाता है।

कुछ थोड़े से पदों में दार्शनिक सिद्धांतों की भी चर्चा मिलती है, जैसे—

केशव कहि न जाइ, का कहिए।

❀ ❀ ❀

सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न, मरै भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥

इसमें मायावाद आदि सब दार्शनिक मतों को अपूर्ण कह कर केवल उनके द्वारा आत्मानुभूति असंभव कही गई है। सच्ची भक्ति से ही क्रमशः वह अवस्था प्राप्त हो सकती है, जिससे जीव का कल्याण होता है। जहाँ तक समझ में आता है

गोस्वामी जी का मतलब यह नहीं जान पड़ता कि ये सब मत बिल्कुल असत्य हैं। कहने का तात्पर्य यह समझ पड़ता है कि ये सब पूर्ण सत्य नहीं हैं—अंशतः सत्य हैं। इनमें से किसी एक को पूर्ण सत्य मान कर दूसरे मतों की उपेक्षा करने से सच्ची तत्वदृष्टि नहीं प्राप्त हो सकती। गोस्वामी जी ने यथावसर भिन्न भिन्न मतों से वैराग्य की पुष्टि के लिए सहारा लिया है—जैसे इस पद में सत्कार्यवाद और अद्वैतवाद का मिश्रण सा दिखाई पड़ता है—

जौ निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख संसय सोक अपारा ?

❀ ❀ ❀ ❀

विटप मध्य पुत्रिका, सूत्र महँ कंचुक बिनहिं बनाए।
मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाए॥

इसी प्रकार संसार की असारता के सम्बन्ध में वे कहते हैं—

मैं तोहि अब जान्यौ, संसार!
देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किए विचार।

पर इस "कछू नाहिंन" को मायावाद का सा "नहीं" न समझना चाहिए।

सारांश यह कि गोस्वामी जी की यह विनय-पत्रिका भक्ति रसके नाना स्वादों से भरी हुई है। हिन्दी साहित्य में यह एक अनमोल रत्न है। यद्यपि इसके कुछ पद जन-साधारण के बीच प्रचलित हैं पर शुद्ध पाठ और टीका टिप्पणी न होने के कारण इधर बहुत दिनों तक समग्र ग्रंथ के पाठका आनन्द अधिकतर लोग नहीं उठा सकते थे। श्री बैजनाथ कुरमी आदिकी पुराने ढंग की टीकाए थीं, पर वे सब के काम की न थीं। थोड़े दिन हुए पण्डित रामेश्वर भट्ट जी ने आज कल की चलती भाषा में एक टीका की। पर अवधी भाषा से पूर्ण परिचित न होने के कारण कई स्थलों पर वे भ्रम से न बच सके। यद्यपि कवितावली और गीतावली के समान 'विनय' की भाषा भी ब्रज ही रक्खी गई है, पर अवधी की छाप उसमें जगह जगह मौजूद है, क्योंकि वह गोस्वामी जी की मातृभाषा थी। ऐसे स्थलों पर प्रायः अर्थ में भूलें हुई हैं, जैसे—

रामको गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम,
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।

रोटी लूगा नीके राखै, आगेहू की बेद भाखै—

'भलो ह्वैहै तेरो', ताते आनँद लहत हौं ॥

इस पदमें 'रोटी लूगा' का अर्थ 'अन्न वस्त्र' स्पष्ट है, पर श्रीयुत भट्ट जी ने अर्थ किया है "रोटी लूँगा"। पूरबी शब्द 'लूगा' का अर्थ न जानने पर भी यदि भट्ट जी ने 'लेना' क्रिया के 'लूंगा' रूप पर ही विचार कर लिया होता—तो इस प्रकार का अर्थ करने के श्रम से बच जाते। 'लेना' क्रिया का 'लूंगा' रूप न व्रजभाषा में ही होता है, न अवधी में।

श्रीयुत वियोगी हरिजी ने यह एक दूसरी बिस्तृत और विशद टीका प्रस्तुत की है। जिस श्रम के साथ उन्होंने इस कार्य्य को ऐसे सुचारु रूप से सम्पन्न किया है—उसके लिए वे समस्त हिन्दी-पाठकों के धन्यवाद के पात्र हैं। भावार्थ अत्यन्त सुगम और सुबोध रीति से लिखे गए हैं। पद के भीतर आए हुए प्रसंगों की कुछ अधिक चर्चा टिप्पणियों में की गई है। और टीकाकारों से मत-भेद के कारण भी इन्हीं टिप्पणियों में दिए गए हैं। सब से बड़ी विशेषता है स्थान स्थान पर और और कवियों की मिलती-जुलती उक्तियों का सन्निवेश, जिनके द्वारा पाठक भाव तक पूर्ण रूप से पहुँचने के अतिरिक्त साहित्य—क्षेत्रमें और इधर-उधर देख-भाल करने की उत्कण्ठा भी प्राप्त कर सकते हैं। कुछ टीका-कारों के चमत्कारों का भी थोड़ा बहुत नमूना टिप्पणी के रूप में कहीं कहीं मिल जाता है, जैसे १३० वें पद में 'राम' शब्द के छः बार आने के तीन कारण। वास्तव में ऐसी ही टीकाओं की आवश्यकता है जिनमें न तो मूल विषय से बादरायण सम्बन्ध मात्र रखनेवाला अनावश्यक विस्तार ही हो, और न वचन की इतनी दरिद्रता ही कि पाठक बेचारे मुहँ ताकते ही रह जायँ।

एक आध जगह जो पाठ या अर्थ में कुछ और का और दिखाई पड़ता है—वह, जहां तक मैं समझता हूं, भट्ट जी की टीकावाली प्रति के कारण; जैसे कि उपर्युक्त 'रोटी लूगा' वाले पद में अथवा १३७ वें पद की ८ वीं पंक्ति के इस पाठमें—

प्रभु प्रसाद सौभाग्य विजय जस पाण्डव ने बरियाइँ बरै।

'पांडव ने' इस विकृति पाठ के कारण सीधा-सादा अर्थ अनायास झंझट में पड़ गया। 'ने' ही ठीक पाठ न होने की सूचना दे रहा है। तुलसीदास जी ने 'ने' का प्रयोग व्रजभाषा में भी (अवधी में तो होता ही नहीं) कहीं नहीं किया हैं। सूर में भी बहुत ढूँढ़ने से कहीं मिले तो मिले। शुद्ध पाठ है-- पाडु-तनय बरियाइँ बरै"। हाथ की लिखी पोथियों में 'तनय' इस प्रकार लिखा

मिलता है—"तनै"। अतः 'पांडुतनै' का 'पांडव ने' पढ़ लिया गया। पुरानी लिखावट में 'त' का 'व' पढ़ा जाना बहुत साधारण बात है। ४४ वें पद में 'वारांनिधि' शब्द पर टिप्पणी करते हुए उसे व्याकरण-विरुद्ध बतलाकर कहा गया है कि तुलसीदास जी ने प्रयोग कर दिया है, इससे वह दोष में नही आ सकता। पर 'वारांनिधि' शब्द व्याकरण—विरुद्ध नहीं है। संस्कृत में "वारि" और "वार्" दोनों शब्द जलवाचक हैं। इसी "वार्" शब्द का संबन्ध का रूप "वारां" होगा, जिसमें अलुक समास की रीति से 'निधि' शब्द जोड़ा गया।

दो एक जगह जो इस प्रकार की त्रुटियाँ रह गई हैं—वे, आशा है, अगले संस्करण में सुधार दी जायँगी। टीका वास्तव में जैसी होनी चाहिए—वैसी ही हुई है।

काशी
५-१-१९२४ ई०

रामचन्द्र शुक्ल

प्रकाशकीय

प्रिय काव्य-रसिको !

'काव्य-ग्रन्थ-रत्न-मालाका' यह छठां रत्न आज आप लोगोंके कर-कमलोंमें समर्पित है। गोस्वामीजीकी विनय-पत्रिकाकी कई अच्छी टीकाएँ अन्य स्थानोंसे भी प्रकाशित हुई हैं। सभीमें कोई न कोई विशेषता है, और उनमेंसे प्रत्येक गोस्वामीजीके इस अनूठे और अनुपम काव्यका प्रचार करने और इसके प्रति लोगोंमें अनुराग उत्पन्न करनेमें सहायता देती है। हमारा उद्देश्य और अभिप्राय भी यही है। टीका कैसी है—इसमें क्या विशेषताएँ हैं और क्या त्रुटियाँ हैं—इसकी जाँच विज्ञ पाठक और सत्समालोचक करें। इसपर हमें कुछ वक्तव्य नहीं। यहाँ हम केवल पुस्तकके टाइप आदिके विषय में ही कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

पहले हमारी इच्छा थी कि पुस्तक बड़े टाइपोंमें ही छापी जाय। उस अवस्थामें पुस्तकका आकार इससे प्रायः दूना हो जाता, और इस कारण मूल्य भी कमसे कम ४) होता। विनय-पत्रिका की टीकाके लिये ४) खर्च करना पाठकोंको बहुत अखरेगा और इस कारण उसके यथेष्ट प्रचारमें बाधा पड़ेगी यह समझकर हमें अपना विचार पलटकर, विवश होकर छोटे टाइपोंमें ही पुस्तक छापनी पड़ी। इसका हमें खेद है। हम हिन्दी-प्रेमियोंसे अनुरोध करते हैं कि वे अपनी इच्छा हमपर प्रकट करनेकी कृपा करें कि, सब बातोंको ध्यानमें रखकर उन्हें वर्तमान संस्करण पसन्द है अथवा बड़े टाइपवाला। यदि वे चाहेंगे तो दूसरी बार पुस्तक बड़े टाइपोंमें ही छपेगी।

अनेक हिन्दी-भाषा-भाषी सज्जन संस्कृतसे बिलकुल अनभिज्ञ होते हैं। अतः पुस्तकमें प्रसंगवशात्, गीता, मनुस्मृति, भागवतादि ग्रन्थोंसे उद्धृत श्लोकोंके अर्थ वे न समझ सकेंगे। हम अगले संस्करणमें ऐसे श्लोकोंका अर्थ भी टीकाकार महोदयसे दिलानेका प्रयत्न करेंगे।

पुस्तक बड़ी शीघ्रतासे छपी है। इस कारण प्रूफ-सम्बन्धी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। दूसरे संस्करणमें ऐसी अशुद्धियां सुधार दी जायँगी।

गयाप्रसाद शुक्ल
व्यवस्थापक

श्रीहरिः

वक्तव्य

कवि-कुल-चूड़ामणि तुलसीदासजी के परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, पंडित-मूर्ख, राजा-रङ्क सभी उनके नाम से परिचित हैं। क्यों न हो—जिन्होंने चिर पिपासाकुल संसार-सन्तप्त पथिकों के लिये सुशीतल सुधा-सार पुण्य-सलिला राम-मंदाकिनी की अविरल धारा बहा दी है, जिन्होंने भक्त-भ्रमरों के लिये अपनी कृति-कुञ्ज में भाव-कंज-कलिकाओं से भक्ति-मकरंद प्रस्रावित किया है, जिन्होंने साहित्य-सेवियों के सम्मुख भगवती सरस्वती की अप्रतिम प्रतिमा प्रत्यक्ष करा दी है, भला, उनका प्रातःस्मरणीय पुनीत नाम किस अभागे के हृदयपटल पर अंकित न होगा! जिनका रामचरितमानस हिन्दू समाज के मनोमंदिर का इष्टदेव हो रहा है, जिनकी अभूतपूर्व रचना समस्त संसार में आदरणीय स्थान पाती जा रही है, उन रससिद्ध कवीश्वर लोक-ललाम गोस्वामी तुलसीदास के नाम से परिचित न होना महान् आश्चर्य का विषय है! हमें तो उनके परिचय देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। कहीं दीपक द्वारा भगवान् भास्कर का दर्शन किया जाता है?

रामचरितमानस की लोकप्रियता के संबन्ध में भी कुछ कहना व्यर्थ होगा। श्रद्धेय विद्वान् डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन के शब्दों में रामायणका महत्व सुनिये—

"भारतवर्षके इतिहास में तुलसीदासजी के महत्वके सम्बन्धमें 'इदमित्थं' नहीं कहा जा सकता। रामायणके गुणोंको, साहित्यिक दृष्टिसे, एक ओर रख कर यह बात अवश्य उल्लेख्य है कि यह ग्रन्थ यहां की

समस्त जातियों ने अपनाया है।"* यह सम्मति एक विदेशी और अन्य-भाषा-भाषी सज्जन की है। प्रायः प्रत्येक भाषा-भाषी विद्वान् ने रामायण के प्रचाराधिक्य पर ऐसी ही राय दी है। गुसाईंजी की समग्र रचनाओं में रामचरितमानस का ही आशातीत प्रचार हुआ है। मानव समाज इसी ग्रन्थरत्न से अधिकतर प्रभावान्वित दिखाई देता है। विद्या-वयोवृद्ध श्रीयुक्त बाबू शिवनंदन सहायजी लिखते हैं—

"लाखों जन इसे अपना जीवन-सर्वस्व समझते हैं, करोड़ों इसीका आश्रय ग्रहण कर कतिपय कुत्सित कर्मों से बचते हैं। कितने इसके पाठ से विरक्त साधु बन जाते हैं, एवं कितने पण्डित और ज्ञानी कहलाने लगते हैं। समाजनीति, व्यवहारनीति, राजनीति इत्यादि सब नीतियों का शास्त्र कहलाने का यह ग्रन्थ अधिकारी है।"

रामायण के महत्व और सर्वप्रियता के सम्बन्ध में करोड़ों प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं। रामायण का नाम लेतेही गुसाईं तुलसी दास और गुसाईं तुलसीदास का स्मरण करते ही रामायण हठात् आँखों के सामने आजाता है। तुलसीदास और रामायण का अन्योन्याश्रय चिरंतन सम्बन्ध हो गया है। किन्तु गुसाईं तुलसीदास के सम्बन्ध का वस्तुतः रामचरितमानस में ही अन्त नहीं हो जाता। निःसन्देह हमें उनके मानस में उनकी पवित्र मूर्तिका दर्शन होता है किन्तु उनकी भक्ति-विभोर आत्मा किसी और ही स्थल में अधिष्ठित है, अवश्य ही वे रामचरित-मानस में, उपदेशक के रूप में, दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु 'गुरु-गोविन्द' रूप में उनका दर्शन किसी और ही कृति में मिलेगा। यद्यपि वह कृति लोकप्रिय नहीं है, पर भक्तप्रिय अवश्य है। वह कृति ज्ञानियों की सिद्धान्त-मंजूषा है, पण्डितों की कसौटी है, योगियों की समाधिस्थली है, एवं प्रेमियों और भक्तोंकी मानसतरंगिणी है। उसकी आराधना लाख में एक से बनी है। उस कृति से क्या तात्पर्य है ? सुनिये, वह अनुपम कृति

---

* The importance of Tulsi Das in the History of India cannot be overrated. Putting the literary merits of his Ramayan out of question, the facts of its universal accepance by all classes is surely worthy of note.

है। गुसाईंजी ने यह पत्रिका, कलियुग से सताये जाने पर, त्रिभुवनेश्वर महाराज रामचन्द्रजी के दरबार में भेजी थी। यहां आप समस्त मानवजाति के प्रतिनिधि बने थे। पत्रिका ऐसी प्रभावोत्पादिनी लिखी गई है कि जिसे पढ़कर कैसा ही कठोर हृदय क्यों न हो, एक बार पिघल ही जायगा। जीव का दैन्य, असामर्थ्य, लघुत्व, और स्वामी का पुरुषार्थ, सामर्थ्य और महत्व अद्भुत और विलक्षण दिव्य उद्गारों में उमड़ाश्र गया है। अगाध पाण्डित्य, अर्थ-गांभीर्य्य, उक्ति-चमत्कार, शब्द-संघटन और प्रेम-प्रमाद इस ग्रन्थ-रत्न में देखते ही बनता है। गुसाईंजी की निर्मल आत्मा इसी शुभ्र दर्पण में दिखाई देती है। इस रत्न के जौहरी संसार में इने-गिने ही मिलेंगे। कतिपय सज्जन तो इसके शब्दसागर में ही डूबने के भय से दूर भाग जाते हैं, और कुछ अर्थ-गांभीर्य में चक्कर लगाने का साहस नहीं करते। ❀ इस में समाजनीति और राजनीति का भी बाहुल्य दृष्टिगत न होने के कारण विद्वानों की सीमा से यह ग्रन्थ कुछ प्रथक् सा हो गया है, पर यह बात नहीं है कि इस में सामाजिक और नैतिक प्रश्नों का नितान्त अभाव ही हो। इसमें कई पद ऐसे मिलेंगे, कि जिनका अनुशीलन करने से तत्कालीन भारतीय परिस्थिति का चित्र खचित हो जायगा। भाषा की क्लिष्टता एवं भावों की गंभीरता इस में अवश्य है, पर साथ ही सरलता और सरसता का भी अभाव नहीं है। इसके लोकप्रिय न होने का सर्वप्रधान प्रत्यक्ष कारण तो यही है कि इसमें वह चर्चा की गई है, वह रस बहाया गया है कि जिसके अधिकारी स्वभावतः ही संसार में सदा से इने-गिने होते आये हैं। इसमें वह झलक है, जिसे देखने को लाख में एक आँख मिलेगी। भगवान् कृष्ण कुछ ऐसा ही कह गये हैं:—

❀ विनयपत्रिका कवि के स्तुत्य ग्रन्थों में से एक है, पर भाषा की क्लिष्टता के कारण बहुत से पढ़नेवाले इसको पढ़ने का साहस नहीं करते।

डाक्टर सर जी० ए० ग्रियर्सन

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" ।।

तत्त्वतः इस पत्रिका के पढ़नेवाले विरलेही मिलेंगे । अस्तु इस अलौकिक ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय देने को हमारा मन लालायित हो रहा है. यद्यपि यह वैसाही प्रयास है, जैसे कोई बौना मनुष्य नक्षत्रों के तोड़ने का दुस्साहस करता हो ।

प्रयोजन

प्रत्येक ग्रन्थ के निर्माण का कुछ न कुछ प्रयोजन तो होता ही है । इस ग्रन्थ का भी प्रयोजन होना चाहिए । ग्रन्थ के नाम से तो यही जान पड़ता है कि ग्रन्थकार ने अपना दुःख निवेदन करने के लिये श्रीरामचन्द्रजी को यह चिट्ठी लिखी है । सामने न पहुंच सकने के कारण यह चिट्ठी हुजूर में पेश की होगी । दुःख कौन देता था ? कलियुग । जब कलियुग के मारे गुसाईंजी का नाकों दम आगया. तब उन्हें महाराज रामचन्द्रजी के दरबार में यह पत्रिका भेजनी पड़ी । इस संबंध की एक कथा भी प्रसिद्ध है । वह इस प्रकार है । एक दिन एक हत्यारा, जिसे गोहत्या लगी थी, पुकारता फिरता था कि 'राम के नाम पर कोई मेरे हाथ का भोजन खाकर मुझे हत्या से छुड़ा दे' । गुसाईं जी के कान में यह आवाज़ पड़ी । उन्होंने राम-नाम के नाते उसे बुलाया और बड़े प्रेम से उसे अपने साथ खिलाया । काशी के ब्राह्मणों ने यह सुनकर बड़ा उपद्रव मचाया । गुसाईंजी से पूछने लगे कि तुमने इसके साथ क्यों खाया, और यह कैसे जाना कि यह हत्या से मुक्त हो गया । गुसाईंजी ने सीधा सच्चा जवाब दे दिया कि रामनाम का प्रभाव ही ऐसा है । रामनाम लेनेवाले को हत्या लग ही नहीं सकती । विद्याभिमानी पंडित भला यह बात क्यों मानने लगे ? उन्होंने कहा कि हम यह नहीं जानते । यदि इस हत्यारे के हाथ से विश्वनाथजी का नंदी खा ले, तो हम मानें कि यह हत्या से मुक्त हो गया । ऐसा ही किया गया और सब के देखते देखते, राम-नाम के प्रभाव से, पत्थर के नंदी

ने उसके हाथ से खा लिया। अब तो पंडितों की आँखे खुलीं। राम-नाम का प्रत्यक्ष प्रभाव देख कर सब लोग भगवद्भजन करने लगे। इस पर कलियुग बहुत चिढ़ा। प्रत्यक्ष रूप से गुसाईंजी को डांटने लगा। बहुत दुखी होने पर उन्होंने हनुमान्‌जी के आगे अपना दुःख रोया। हनुमान्‌जी ने कहा कि यों हम कुछ नहीं कर सकते. क्योंकि इस समय उसका राज्य है। पर हां, यदि तुम श्रीरघुनाथजी की सेवा में एक चिट्ठी लिखो तो हम उसे उपस्थित कर के कलियुग को दंड दिला सकते हैं। इसी पर गुसाईंजी ने, कहते हैं, यह विनय-पत्रिका लिखी। हम यह नहीं कह सकते कि इस कथा में कहाँ तक तथ्य बात है, पर यह निस्संदेह सिद्ध हो जाता है कि कलियुग के अत्याचारों से तंग आकर ही यह पत्रिका लिखी गयी थी।

क्रम

कोष काव्य होते हुए भी विनय-पत्रिका का क्रम बड़ाही सुंदर है। किसी किसी के मत से यह ग्रन्थ गुसाईंजी के फुटकर पदों का ंग्रह है, पर हमें यह बात सच नहीं जान पड़ती। यह हो सकता है कि कतिपय पद, जो इसमें ऐसे मिलते हैं, समय समयपर बनाये गये हों, किन्तु इसकी रचना यथाक्रम ही हुई है। राजा-महाराजा के पास कोई बाला बाला अर्जी नहीं भेजता। पहले दरबार के मुसाहबों को मिलाना पड़ता है, तब कहीं पैठ होती है। इस बात को ध्यान में रख कर गुसाईंजी ने पहले देवी-देवताओं को मनाया है, तब कहीं हुजूर में अर्जी पेश की है। सिद्धगणेश श्रीगणेशजी की बंदना से किया गया है। फिर भगवान् भास्कर की बंदना की गई है। अनेक जन्म-संचित अविद्या-अंधकार के दूर करने के लिये मरीचिमाली की स्तुति उचित ही है। फिर पार्वतीवल्लभ जग-द्गुरु शिवजी का गुणगान मिलता है। यहीं से कल्याण का प्रशस्त पथ दृष्टिगोचर होता है। कलियुग को धमकाने के लिये भीषणमूर्ति भैरव का भी ध्यान किया गया है। तदनंतर पावती, गंगा, यमुना, काशी और चित्रकूट का यशागान किया गया है। चित्रकूट का वर्णन बड़ा ही

हृदयग्राही है। 'अब चित चेतु चित्रकूटहिं चलु' में कवि की उत्कण्ठा प्रतिक्षण बढ़ती दिखाई देती है। अब यहां से हनुमान्‌जी की बंदना आरंभ होती है। यह गुसाईंजी के खास वकील हैं। इनके आगे अपनी सारी विपत्ति खोल कर रख दी है। इनके साथ आप बहुत ही हिलेमिले जान पड़ते हैं। 'ऐसी ताहि न बूझिये हनुमान हठीले" पद में खूब ढिठाई की गई है। इसके बाद लक्ष्मणजी और फिर भरत और शत्रुघ्न से विनय की है। यहाँ तक दरबार के सभी मुसाहब साध लिये गये हैं। अब किसी की ओर से कोई शंका नहीं है। श्री रघुनाथजी के सामने अपने सम्बन्ध की चर्चा छेड़ने के लिये गुसाईंजी ने श्रीजनक-नन्दिनी जी को क्या ही युक्ति बताई है! कहते हैं—

'कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरियौ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ॥'

'कछु करुन कथा चलाइ' से मानों गुसाईंजी महाकवि भवभूति के स्वर में स्वर मिलाकर करुण रस का प्राधान्य स्वीकार कर रहे हैं। ४२ पद तक स्तुतिगान कर के कवि ने ४३ वें पद में संक्षिप्त रामचरित का वर्णन किया है। ४५ वें पद में पुनः रामचन्द्रजी की वंदना, ४८ वें में श्रीकृष्ण-वन्दना, ५२ वें में दशावतार कथा तथा ६१, ६२, ६३, पदों में श्रीविन्दुमाधवजी की वन्दना की गई है। इस वन्दना-समुच्चय के बाद विनय-पत्रिका का वास्तविक रूप दृष्टि में आता है। बहुतेरे पाठक तो आदि के इन क्लिष्ट पदों से ही भाग जाते हैं, विनय के रसास्वादन से प्रायः विमुख ही रहते हैं। जीव परमेश्वर के सम्मुख अपना दैन्य, दुःख-निवेदन, असामर्थ्य आदि किस किस ढँग से उपस्थित कर सकता है, इसे गुसाईंजी ने यत्र तत्र अनेक रीतियों से दरसाया है। सुप्रसिद्ध टीकाकार भक्तप्रवर वैजनाथजी ने विनय की सात भूमिकाएँ मानी हैं, जिनके अन्तर्गत प्रायः विनयसंबंधी सभी पद आ जाते हैं। उदाहरण सहित उनके यह नाम हैं:—

दीनता—केहि बिधि देउ नाथहिं खोरि ?
मानमर्षता—काहे ते हरि मोहि बिसार्‌यो ?
भयदर्शना—राम कहत चलु राम कहत—

भर्त्सना—ऐसी मूढ़ता या मन की।
आश्वासन—ऐसे राम दीन हितकारी।
मनोराज्य—कबहुँक हौं इहि रहनि रहौंगो।
विचारणा—केसव, कहि न जाइ का कहिये।

किसी पद में स्वामी का प्रभुत्व, तो किसी में सौहार्द वा किसी में औदार्य्य एं शील प्रदर्शित किया गया है। किसी पद में जीव का असामर्थ्य, तो किसी में आत्मग्लानि वा किसी में मनोराज्य दिखाया गया है। किसी पद में अपनी रामकहानी सुनाई गई है, तो किसी में अत्याचार पीड़ित जन-समाज का प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया हैं। इस प्रकार २७६ पद तक पत्रिका लिखी गई है। पत्रिका पूरी हो चुकी। अब पेश कौन करे? फिर हनुमान्, शत्रुघ्न, लक्ष्मण और भरत से प्रार्थना की। सेवक होने के कारण अगुवा बनने का किसी को साहस न हुआ। एक दूसरे के मुँह की ओर देखने लगे। पर सब में लक्ष्मणजी अधिक ढीठ थे। उनपर रामचंद्रजी का वात्सल्य-स्नेह था। उन्होंने पत्रिका पेश कर दी। यहीं ग्रन्थ समाप्त होता है। अन्तिम पद यह है:—

'मारुति मन रुचि भरत की लखि लषन कही है।
कलिकालहुँ नाथ नाम सों परतीति प्रीति ककर की निबही है॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीब नेवाज की देखत गरीब का साहब बाहँ गही है॥
बिहँसि राम कह्यो सत्य है, सुधि मैंहूं लहो है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है॥'

दिग्दर्शन

यह तो हम लिख ही चुके हैं कि यह ग्रन्थ एक पत्रिका के रूप में है। गुसाईंजी भेजनेवाले हैं और श्रीरामचन्द्रजी पानेवाले। एक जीव, संसार-संतप्त जीव, परमात्मा के पास पत्रिका द्वारा अपना दुःख निवेदन कर रहा है। वह परमात्मा को स्वामी, महाराजाधिराज, सर्वशक्तिमान् और पिता के रूप में देखता है। मुख्यतः इस ग्रन्थ में पत्रिका भेजनेवाले

और पानेवाल का ही वर्णन मिलेगा। मुसाहिबों और दरबारियों की खुशामद कर चुकने के बाद चिट्ठी का मज़मून यों शुरू होता है—

"राम राम रटु राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।
राम नाम नवनेह–मेह को मन, हटि होहि पपीहा॥"

अभी, स्वामी से कुछ भी नहीं कहा। अपनी कलुषित जीभ को ही सिखावन दिया जा रहा है। अप्रत्यक्ष रूप से यह भ एक निवेदन हो सकता है। राम-नाम-स्मरण से क्यों श्रीगणेश किया गया? क्याकि सर्वप्रधान साधन यही है—

सब साधन फल कूप सरित सर, सागर सलिल निरासा।
राम नाम रति स्वाति सुधा सुभ सीकर प्रेम पियासा॥

पपीहा की प्रेमानन्यता और दृढ़ता धारण कर "राम नाम नवनेह-मेह" के लिये 'पीउ पीउ' इस प्रकार पुकार।

राम–नाम-स्मरण पर कई पद लिख डाले, कई पृष्ठ रंग डाले, पर तृप्ति न हुई। इस रस का चसका ही कुछ निराला समझ पड़ा, यही निश्चित हुआ कि—

'तुलसी तिलोक, तिहूँकाल तोसे दीन को।
राम नाम ही की गति जैसे जल मीन को॥'

प्रत्यक्ष ही न देख लो—

'पतित पावन राम नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो॥'

गुसाईंजी मन में सोचने लगे कि चिट्ठी तो लिख रहा हूं, कलि की शिकायत भी कर रहा हूं, पर तनिक अपनी ओर भी तो देख लूँ। यह मेरा जड़ जीव कब से सो रहा है। इसे कुछ खबर भी नहीं कि क्या से क्या हो गया। पहले इसे जगा लेना चाहिये। और फिर ठीक ठीक पूछताछ कर के स्वामी से निवेदन करना चाहिए—

'जागु जागु जीव जड़! जोहै जग-जामिनी।
देह गेह नेह जानि जैसे घन-दामिनी॥,

इस पद में तथा आगे के कई पदों में 'मायावाद' का आभास मिलता है। शांकर मायावाद में एवं गुसाईंजी के मायावाद में क्या अंतर है, इसे

हम आगे लिखेंगे। पर हां, यदि यह जीव भगवत्परायण नहीं है, और उसे यह जगत् 'हरिशून्य' दिखाई देता है, तो अवश्य ही वह 'घनदामिनी' और 'जेवरी को सांप' है। अब, जीव जागे भी कैसे ? उसे स्वयं प्रबोध तो होने का नहीं, उसमें पुरुषार्थ ही क्या है ? इसलिये —

'जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव
जागि त्यागि मूढ़ताऽनुराग श्री हरे।'

श्रीजानकीवल्लभजी की कृपा इस प्रसुप्त जीव को सचेत कर सकती है। कृपा पर विश्वास होना चाहिए। कृपालु प्रभु अवश्य कृपा करेंगे। पत्रिका लेखक को भगवत्कृपा पर पूर्ण विश्वास है। उसे यह अनुभव हो गया कि—

'तुलसिदास प्रभु कृपालु निरखि जीव जन विहालु,
भंजो भवजाल परम मंगलाचरे।'

गुसाईंजीने सोचा कि अब अपना तुच्छ परिचय देना चाहिए। लगे सुनाने—

'राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यो राम
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।

× × × × +

लोग कहैं पोच सो न सोच न संकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति पांति न चहत हौं॥'

रामबोला नाम है। राम का गुलाम हूँ। दो एक बार राम राम कह लेना मेरा काम है। इस पर लोग नीच कहें, तो कोई चिंता नहीं। मुझे जाति-पांति से कोई मतलब नहीं। किसी के साथ नातेदारी तो जोड़नी नहीं। न ऊधो का देना, न माधो का लेना !

इस परिचय में क्या ही निर्द्वन्द्व अवस्था है ! इतने से छोटे मजमून के अंदर सारी शाहंशाही भरी है। खैर—परिचय दे दिया। अब अर्ज सुनाते हैं। कई पदों में स्वामी की सर्वशक्तिमत्ता और सामर्थ्य एवं उदारता का गुणगान कर के सीधे सच्चे हृदय से कहते हैं —

'तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंजहारी ।।
× × + × ×
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात मात सखा गुरु तू, सब बिधि हितु मेरो ।।,

चाहते क्या हैं सो कहिये। कुछ नहीं, केवल—

"ज्यों त्यों तुलसी कृपालु, चरन-सरन पावै।"

अथवा—

'रामचन्द्र चन्द्र तू, चकोर मोहि कीजै।'

सांसारिक जनों की दृष्टि में तो, वास्तव में ही, कुछ भी नहीं माँगा, पर आपने, गुसाईंजी ! वह वस्तु माँग ली, कि जिसे पाकर फिर कोई चीज़ माँगने को नहीं रह जाती। 'चरण-शरण' मिलने ही वाली थी कि इतने में मन-मतंग का फिर एक ज़ोर का धक्का लगा। बना बनाया काम मिट्टी में मिल गया। अब क्या मुँह लेकर कुछ माँगा जाय ! कहते हैं– अरे मन, तुझे हाथ मल मल कर पछताना पड़ेगा। मानव-शरीर व्यर्थ ही न खो दे। भगवान् की ओर तनिक देख तो। अरे दुष्ट ! सुन, जैसे कंगाल दिन रात अपने धन की ही देख भाल में लगा रहता है, उसी भांति तू अपने स्वामी श्रीरामजी की सेवा किया कर। देख, भगवच्चरणारविन्दों से विमुख हो कर किसी ने सुख नहीं पाया। अभी सवेरा ही है, अब भी चेत जा–

'तुलसिदास सब आस छांड़ि करि होहु राम कर चेरो।'

तुझे शान्ति अच्छी नहीं लगती। तूने कभी विश्राम माना ही नहीं। आत्मानन्द भूल कर दिन रात चक्कर लगाया करता है। तू सुखप्राप्ति के साधन तो करता है, पर हाथ कुछ नहीं लगता।

"निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो ।।"

इस मन की ऐसी मूढ़ता है कि श्रीरामभक्तिरूपी गंगा को त्याग कर ओस की बूंदों की आशा करता फिरता है ! यह बड़ा हठीला है। वश में नहीं होता–

"हौं हार्यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥":

पर, मेरी ओर भला प्रभु क्यों देखेंगे? मैं बड़ा ही मंद हूँ। हाय! मैंने बड़ा अनर्थ किया!

महा मोह-सरिता अपार महँ, सन्तत फिरत बह्यो।
श्रीहरि चरन कमल नौका तजि फिरि फिरि फेन गह्यौ॥

हुआ सो हुआ। जीव का स्वभाव ही ऐसा है। पतितपावन प्रभु इसकी सारी कलुष-कालिमा क्षण भर में धो डालेंगे। यह मुझे अब भी निश्चय है। गजेन्द्र, प्रहलाद, जटायु, अहल्या, अजामेल आदि अनेक घोर पापियों का जिन्होंने उद्धार कर दिया, वह दीनबन्धु दीनानाथ मेरी भी जीवन-नौका पार कर देंगे। विश्वास तो मुझे सोलह आने है, पर विलम्ब क्यों हो रहा है?

'काहे ते हरि मोहि बिसारो?
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ संभारो?'

यदि तुम अवगुणों पर विचार करोगे तो हो चुका। पर ऐसा तुम करोगे नहीं, क्योंकि यदि तुम अपने सेवकों के दोषों को ही मन में लाते, तो बड़े बड़े धर्मध्वजों को छोड़ कर व्रज के ग्वालों के यहां क्यों रहने जाते? शबरी के जूठे बेर क्यों खाते? विदुर का साग क्यों आरोगते? तुम्हारे सम्बन्ध में तो यही प्रसिद्ध है कि—

'निज प्रभुता बिसारि जन के बस, होत सदा यह रीति।'

प्रमाण भी मिलता है—

'जाकी माया बस बिरञ्चि सिव नाचत पार न पायो।
कर तल ताल बजाइ ग्वाल जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो॥'

तुम न तो कुलीन देखते हो, न पण्डित। ज्ञानी-ध्यानी भी तुम्हारे प्यारे नहीं हैं। तुम्हें प्यारे हैं तो गरीब। तुम्हारा नाम ही गरीबनिवाज है। शबरी, बिभीषण, निषाद और सुदामा कहां के बड़े धनाढ्य थे!

इतना कहते-कहते गुसाईंजी गद्गद् हो उठे। प्रेमाश्रु बहने लगे। स्वामी के शील-स्वभाव की ओर आपका मन चला गया। पश्चात्ताप, लज्जा, विश्वास और मंगलाशा में डुबकियाँ लगाने लगे। बोले—

'सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलकि नैन जल, सो नर खेहर खाउ॥'

× × × ×

खेलत संग अनुज बालक नित जुगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत, देत दिवावत दाउ॥

× × × ×

निज करुना करतूति भक्त पर, चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत, सुनत कहत फरि गाउ॥
समुझि समुझि गुन ग्राम राम के, उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास राम पद पइहैं प्रेम पसाउ॥'

यदि यह चंचल मन केवल राम के गुणग्राम ही समझ ले, तो हृदय में अवश्यमेव अनुराग का प्रवाह बहने लगेगा। और प्रेमप्रसाद से सहज ही भगवच्चरणारविन्दों की प्राप्ति हो जायगी। यह कैसे कहें कि स्वामी ने इस जीव को भुला दिया। ऐसा कहना तो कृतघ्नता का दोषी बनना है। हे हरे! तुमने तो मुझ पर दया ही की है। देवताओं को भी दुर्लभ मानव-शरीर मुझे दे दिया। यह क्या कम कृपा है। फिर भी मुझे कुछ और चाहिए। कृपा कर वह और देदो। वह क्या–सुनो —

"विषय वारि मनमीन भिन्न नहिं होत कबहुं पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बनसी पद-अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥"

बलिहारी! क्या ही कौतुक है! क्या ही अनूठी युक्ति है! मनमीन को फंसाना और हिंसा से दूर रहना क्याही अच्छी सूझ है! जब यह कौतुक पूरा हो जायगा. तब मैं क्या करूंगा, सो सुनो--

'जानकी-जीवन की बलि जैहौं।
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥'

अब तक जो हुआ सो हुआ, अब सचेत हो जाऊँगा। मुझे राम नामरूपी चिंतामणि प्राप्त हो गया है, उसे हृदयरूपी हाथ से न गिरने दूँगा!

'श्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं।'

यह अनन्य प्रतिज्ञा आपने खूब पाली। आप समझ गये थे कि बिना इस अनन्य भावना के जीवन निःसार और नीरस है। आपको वैदिक यज्ञ रुचते ही न थे। सब साधन फोकट जान पड़ते थे। सब साधनों के मूल साधन भगवत्प्रेम का रहस्य आप भली भांति अवगत कर चुके थे। आपके लिये यज्ञ का रूप यह था—

'प्रेम बारि तरपन भलो, घृत सहज सनेहु।
संसय समिध अगिन छमा ममता बलि देहु॥'

कैसा उच्च आदर्श है! इस यज्ञ पर करोड़ों अश्वमेध बलि किये जा सकते हैं। इतना ऊंचा विचार, इतनी ऊंची त्यागपूर्ण भावना, उसी महात्मा के हृदय में अंकुरित हो सकती है, जो निम्नलिखित पद गाने का पूर्ण अधिकारी हो—

'केसव, कहि न जाइ का कहिये!
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहि मन रहिये॥
सून भीति पर चित्र रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटै न मरै भीति दुख, पाइय इहि तन हेरे॥
रवि-कर-नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥'

इस पद की टीका-टिप्पणी करना हम अज्ञों के बाहर है। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि इस पद का सिद्धान्त अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी वादों से परे हैं। अस्तु, इस 'विचारणा' में मस्त रामरंगीले गुसांई जी 'आत्मबोध' के लिये यही निश्चय करते हैं कि बिना भगवत्प्रकाश के उस की प्राप्ति असंभव ही है—

'तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी।'

अथवा—

'तुलसिदास प्रभु मोह-सृंखला छूटिहि तुम्हरे छोरे।'

पर, फिर वही प्रश्न सामने आ जाता है। स्वामी की कृपा कैसे हो!

यह जानता हूं कि यह संसार अनर्थरूप है, सब देखता हूँ, सुनता हूँ, पर फिर भी अंधा का अंधा बना हूं। दिखाने के लिये सब कुछ करता हूँ, पर भीतर कपट ही कपट भरा है। कथनी और करनी में पृथ्वी-आकाश का अन्तर है--

'रहनि आन बिधि कहिय आन हरिपद-सुख पाइय कैसे !'

कपट के आधिक्य से 'भ्रम' का साम्राज्य दिनदूना बढ़ता जाता है। सारा संसार भ्रममय भासता है। इस भ्रमाधिक्य के मारे आत्म-बोध हो ही नहीं सकता। भ्रम के मिटाने का एक भी उपाय नहीं बन पड़ा। वही किया जिससे यह रोग और भी बढ़े। फिर क्या करूँ! कहाँ जाऊ! अपने दुख किसके आगे रोऊँ?

"मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्री रघुबीर धीर हितकारी॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ प्रभु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध, बोध रिपु मारा॥
❀ ❀ ❀ ❀ ❀
कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा॥
चिंता यह मोहि अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा॥"

काम कराने का कैसा निराला ढंग है! विपत्ति सुना देने के बाद फिर आत्म-ग्लानि ने आ दबाया। सोचने लगे, मैंने समझ लिया कि रघुनाथजी के चरणों में मेरा प्रेम नहीं है, क्योंकि सपने में भी मेरे मन में वैराग्य नहीं है। बिना वैराग्य आये अनुराग कहाँ? क्योंकि—

'जे रघुबीर चरन अनुरागे। तिन्ह सब भोग रोग सम त्यागे॥'

किया क्या जाय? यह निर्लज्ज मन विषयों की ओर से ऊबता ही नहीं! इसे बार बार कल्याण-स्वरूप मार्ग का अवलंबन कराया, पर यह उसपर कभी न चला। सदा कुमार्ग का ही पथिक बना रहा। अरे मन! अब भी सचेत हो जा। तू ने मनुष्य-शरीर पाया है। और फिर कहाँ, इस भारतवर्ष में, जहाँ पासही पुनीत भागीरथी हैं। सत्संग भी अच्छा मिल गया है। पर अरे कायर! तेरी कुबुद्धि-रूपी कल्पना विषैले फल

फला चाहती है ! सावधान हो जा। करुणा-सिंधु भगवान् की शरण में अब भी चला जा —

'जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन-ग्राम रामहिं धरि हिये।
बिचरहिं अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किये ॥'

जो यह अवस्था प्राप्त हो जाय, तो सब बन ही न जाय। पर ऐसा सौभाग्य कहां ! पर निराश क्यों होऊँ ! पतित-पावन प्रभु अवश्य अपनावेंगे, यह मुझे दृढ़ आशा है। प्रभो ! क्या कभी इधर देखोगे ! नाथ !

'कबहुं सो कर सरोज रघुनायक, धरिहौ नाथ सीस मेरे ॥
जेहि कर अभय किये जन आरत, बारक बिबस नाम टेरे ॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

सीतल सुखद छाँह जेहि कर की, मेटति पाप ताप माया ॥
निसि बासर तेहि कर सरोज की, चाहत तुलसिदास छाया ॥

इस पद के बाद गुसाईं जी का ध्यान सारे मानव-समाज पर जाता है। वह अपना ही भला चाहनेवाले ज्ञानियों या भक्तों में से न थे। उन्हें अत्याचार-पीड़ित जनता का सदा स्मरण रहता था। प्रतिनिधि के रूप में भगवान् के आगे कहने लगे—

'दीनदयालु, दुरित दारिद दुख, दुनी दुसह तिहुं ताप तई है।
देव, दुवार पुकारत आरत, सब की सब सुख हानि भई है ॥'

किस प्रकार जनता इस दुर्दशा को पहुंची, कैसे उसका उद्धार हो सकेगा आदि समस्याओं पर खूब विचार किया गया है। अंत में आप को 'मंगलाशा' का उदय जान पड़ा। श्रीरामजी ने कृपा-दृष्टि कर समस्त मानव-समाज का उद्धार कर दिया।

जन-समाज के पतन का मुख्य कारण, आपकी राय में, यही जान पड़ा कि 'नास्तिकता' के साम्राज्य से ही यह दुर्दशा होती है। वास्तव में, वे अभागे मनुष्य संसार में नरकरूप हो कर जी रहे हैं, जो जन्म-मरण से मुक्त कर देनेवाले भगवद्चरणोंसे विमुख हैं। वे लोग

'सूकर स्वान सृगाल सरिस जन,
जनमत जगत जननि दुख लागी।'

वे जितनी यातना भोगें उतनी थोड़ी ही हैं। पर जो सहस्रों पाप

करके भी हरि-शरण ग्रहण करते हैं, उनके लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं।

अब गुसाईं जी को फिर संकोच और आत्मग्लानि आ-दबाती हैं। विनय सुनाने को स्वामी के सामने साहस ही नहीं होता। लज्जा के मारे गड़े जाते हैं। पाखंडों और मिथ्याचारों की प्रत्यक्ष मूर्तियाँ सामने खड़ी हो जाती हैं। आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है। फिर भी अपनी सारी करनी निःसंकोच हो सुना देते हैं। और अंत में यही कहते हैं कि—

'हारि पर्यो करि जतन बहुत बिधि, तातें कहत सबेरो।
तुलसिदास यह त्रास मिटै जब, हृदय करहु तुम डेरो' ॥

हृदय में भगवान् कैसे डेरा करेंगे। वहाँ तो चोरों का निवास है। पर वे राम-नाम के प्रताप से क्षण भर में चंपत हो जायंगे। हृदय-मंदिर निर्मल हो जायगा। विलम्ब 'डेरा करने' का है। यह भी विश्वास है कि 'दीन-हितकारी' स्वामी अवश्य हृदय में वास करेंगे। अब कठिनता है तो केवल एकही। वह यह कि—

'रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई ॥

तो क्या अभीतक भगवद्भक्ति की प्राप्ति नहीं हुई? तनिक भी नहीं। यदि कहीं श्रीरामजी के चरणों में प्रेम ही होता, तो रातदिन तीनों प्रकार के कष्ट क्यों सहने पड़ते। जो कहीं श्रीराम-रस मीठा लगा होता, तो नव रस एवं छः रस नीरस और फीके पड़ जाते। पर ऐसा नहीं हुआ। क्या मैं कभी इस रहनी से रहूँगा?

'कबहुंक हौं इहि रहनि रहौंगो?
श्री रघुनाथ कृपालु कृपातें संत सुभाव गहौंगो?
जथा लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
पर-हित-निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, औगुन न कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिंता, दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि भक्ति लहौंगो ॥"

कैसा सार्थक वैराग्य है ! कर्मयोगियों के काम की कैसी अमूल्य वस्तु है ! 'देह–जनित चिंता' से छूट कर 'परहित-निरत' होना देखते ही बनता है। 'जगन्मिथ्या' पुकारनेवाले अकर्मण्य पुरुषों को इस पद से शिक्षा लेनी चाहिए। यह पद गीता में कथित निष्काम कर्मयोग का खुलासा समझना चाहिए। इस कर्मयोग और वैराग्य के साथ ही सरस भगवद्भक्ति का उपदेश सोने में सुगंध का काम कर रहा है। जगत् से नाता ही जोड़ना है. तो राम के नाते जोड़ना ठीक होगा, क्योंकि—

'नाते नेह राम के मनियत पूज्य सुसेव्य जहां लौं।
अंजन कहा आँखि जो फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥'

विना इस नातेके सारे नाते फोकट हैं। यश, उच्च वंश, सत्कर्म, ऐश्वर्य,शील और लावण्य विना भगवद्भक्ति के ऐसे हैं जैसे बिना नमक की सागभाजी!

जीवन की सार्थकता समझ कर गुसाईंजी ने अटल निश्चय कर लिया कि "सर्वधर्मान्परित्यज्य" अनन्य भाव से प्रभु की शरण में जाना ही जीव के लिये श्रेयस्कर है। प्रभु को छोड़ कर उन्हें अन्यत्र ठौर ठिकाना ही कहाँ है? अस्तु. निश्शंक हो स्वामी के सम्मुख जाने को तयार हुए। विनय करने का ढँग सोचने लगे। कुछ समझ में न आया, बोले—

'कौन जतन बिनती करिये ?
निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ॥'

पर ऐसा कई बार हो चुका। आशा-निराशा की यह लड़ाई कुछ नई नहीं है। सन्मार्ग पर जाना हँसी-खेल नहीं है। कभी अपने कर्मों पर सोचने से हृदय हारता है, तो कभी स्वामी के शील-स्वभाव पर ध्यान जाने से ढाढ़स बँध जाता है। गुसाईंजी इस पहेली को खूब समझते थे। निराशा के ऊँचे पहाड़ उनके सामने आते अवश्य थे, पर वे भावानन्यता-रूपी टाँकी से उसके टुकड़े–टुकड़े कर डालते थे। अस्तु। विनती तो करनी ही होगी। बिना रोये मा भी बालक को दूध नहीं पिलाती। और फिर मा-बाप के आगे शर्म ही क्या ?

गुसाईंजी ने पहले मन को ही रास्ते पर लाना ठीक समझा। बार-बार समझाने पर भी उसकी सहज टेव न गई। कृपालु कोसलेश-सरीखे

स्वामी से उसने लगन न लगाई ! आश्चर्य है !

अरे मन ! समय निकल जाने पर तेरे हाथ में पछतावा ही रह जायगा। सहस्रबाहु और रावण जैसे प्रतापी राजे भी काल बली से नहीं बचे, फिर तेरी गिनती ही क्या है ? विषय-वासना छोड़ दे और भगवान् के चरणों में चित्त लगा:—

'अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जीते ।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुं, विषय भोग बहु घीते ।।'

यह शरीर पानी का बुलबुला है। मिटते देर न लगेगी। खाना, पीना, सोना कौन नहीं जानता ? इसीमें नर-शरीर की सार्थकता नहीं है—

'काज कहा नर तनु धरि सार्‌यो ?
पर उपकार सार स्रु तिको जो सो धोखेहु न बिचार्‌यो !'

सारांश, मनसा, वाचा, कर्मणा हरिभजन और परोपकार कर, इसीमें तेरा श्रेय है। भजने-योग्य एक श्रीरघुनाथजी ही हैं। उनके समान सेव्य ठाकुर तुझे त्रिलोक और त्रिकाल में भी न मिलेगा। उनके चरणारविन्दों की झलक पाने को विरहाकुल हो जा। प्रेमार्द्र होकर इस पद का गान तो कर—

'कबहिं देखाइहौ हरि चरन ।
समन सकल कलेस कलिमल, सकल मंगलकरन ॥
× × × × ×
कृपासिंधु सुजान रघुवर प्रनत-आरति हरन ।
दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन ।।'

इस विरहासक्ति में अपने को लीन कर दे। इस उत्कंठा में आपे को भुला दे।

किस पद के सम्बन्ध में क्या लिखा जाय कुछ समझ में ही नहीं आता। बुद्धि चक्कर खाने लगती है। जब प्रेमाधीरता, अनन्यता और अनुरक्ति की ओर चित्त जाता है, तो अवाक् रह जाना पड़ता है। दश बीस टूटे फूटे शब्दों में इतने ऊँचे सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कैसे किया जा सकता है ! जो हो, इतना विश्वास तो अवश्य है कि समय व्यर्थ नहीं जा रहा है। अस्तु ।

अन्ततः, गुसाईंजी श्रीरामचंद्रजी में अपने अनन्य भाव को अनेक रीतियों से दृढ़ कर रहे हैं। दूसरे की ओर आपका चित्त हो नहीं जाता—

'करम उपासन ज्ञान वेद मत सो सब भांति खरो।
मोहिं तो सावन के अंधहिं ज्यों सूझत रंग हरो॥'

कहते हैं—जो मैं यह कहूं कि मैं रामजी को छोड़ कर किसी और का हूँ तो मेरी यह जीभ गल जाय। मुझे भला अंगीकार ही कौन करेगा। अकारण हितू कहां मिलेगा? मुझ निठल्ले से किसका काम निकलेगा? यदि कहो, तुझे चाहिये क्या? अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष के लिये इतनी उछल-कूद कर रहा है क्या? नहीं, मुझे यह कुछ न चाहिए। फिर क्या? सुनोः—

'खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहुं सचुपैहौं, या बिनु परम पदहुं दुख दहिहौं॥'

बलिहारी! क्या खूब मांगा! यह इच्छा अनन्य भावुक भक्त ही करते हैं। वे खग, मृग, तरु सब कुछ होने को तयार हैं, किन्तु भगवत्-सम्बन्ध से।

अनेक दुर्घट घाटियां लांघते हुए गुसाईंजी प्रभु से सिद्धान्त रूप से निवेदन करने लगे कि अब मुझे अधिक न भटकाओ। अन्त में अंगीकार करना ही पड़ेगा, तो अभी क्यों नहीं अपना लेते? मैंने भलीभांति संसार छान डाला है। जितने साहब मिले, वे थोड़ी सी बात में खुश हो जाते हैं और थोड़े में ही नाराज़। मेरा कहीं भी निबाह नहीं हुआ, मुझे जो कोई कहीं स्वामी मिल जाता, तो मैं तुम्हें इतना कष्ट न देता। पर क्या करूं, लाचार हूँ। मैं तुम्हें रिझा तो सकता नहीं। मुझ में रिझाने लायक गुण ही क्या हैं। हां, एक निर्लज्जता है—

'खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसी की निलजई॥'

क्षमा करना—मैं बड़ी ढिठाई कर रहा हूं। काम तो मैंने खुद बिगाड़ा है और दोष मढ़ता हूं तुम्हारे माथे! मेरे समान मूर्ख और अभागा दूसरा कहीं मिलने का नहीं। अरे, जिससे प्रीति जोड़ने को योगीजन उपाय करते हैं, उससे जैसे-तैसे जो प्रीति जुड़ गई थी, उसे भी

मैं तोड़ बैठा हूँ ! मैं बड़ा ही नीच और कृतघ्न हूँ। इसलिये—

'राखिये नीके सुधारि नीच को डारिये मारि
दुहुँ ओर की बिचारि अब न निहोरिहौं।
तुलसी कही है सांची रेख बार बार खाँची
ढील किये नाम महिमा की नाव बोरिहौं॥'

यदि कहो कि जा, हमने तुझे अपना लिया; तो मैं यों मानने का नहीं। अंगीकृत सेवक के लक्षण हीं कुछ और होते हैं, उसकी रंगत ही निराली हो जाती है—

'तुम अपनायो, तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाउ विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँडि छल करिहै॥
सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरि है।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ विधि चातक ज्यों एक टेक तें नहिं टरि है॥
हरपिहै न अति आदरे निदरे न जरि मरि है।
हानि लाभ दुख सुख सबै समचित हित अनहित कलि कुचाल परिहरिहै॥
प्रभु गुन सुनि मन हरपिहै नीर नैननि ढरि है।
तुलसिदास भयो राम को विश्वास प्रेम लखि आनंद उमँगि उर भरि है॥'

सो यह दशा अभी कहाँ प्राप्त हुई ? मुझे भूल-भूलैया में न डालो मेरे नाथ ! मैं जैसा हूँ तैसा, हूँ तो तुम्हारा किंकर। मुझे मत छोड़ो। हे शरणागत-पाल ! अपने विरद की लाज राखो। मेरी ओर से आँख न फेरो। तुम्हारे त्याग देने पर मैं कहीं का न रहूंगा। मेरा भला तुम्हारे ही हाथ होगा। जैसे हो तैसे अंगीकार कर लो। अब संसार का दारुण दुःख सहा नहीं जाता—

'तुलसिदास अपनाइये कीजै न ढील अब जीवन अवधि अति नेरे।'

शरण की भिक्षा मांगते-माँगते गुसाईंजी ' पत्रिका ' लिखना समाप्त करते हैं। अब लिखने को रहा ही क्या ? अस्तु। चिट्ठी—लिफ़ाफ़े में बंद किये विना ही—भेज दी गई। खुली चिट्ठी दरबार में पहुँची। मुसाहिब पहले से ही सधे-सधाये थे। लक्ष्मणजी ने हुजूर में पेश कर दी। श्रीरघुनाथजी ने पत्रिका पढ़कर तुलसीदास के संबंध मेंपूछा कि, क्या यह सब बात ठीक है ? एक स्वर से सभी बोल उठे कि हाँ हाँ, हम लोग

उसकी रीति-पद्धति खूब जानते हैं। दुष्ट कलि ने निःस्संदेह उसे असह्य कष्ट दिया है। फिर भी उसने अपनी भावानन्यता नहीं छोड़ी। यह सुन कर भगवान् मुसकराये और बोले—ठीक है, मुझे भी उसकी ख़बर है—

'बिहँसि राम कह्यो, सत्य है, सुधि मैं हूं लही है।'

बस, फिर क्या, काम बन गया—

"मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ-हाथ सही है।"

सिद्धान्त

विनयपत्रिका भक्तिकाण्ड का एक परमोत्कृष्ट ग्रन्थ है, अनुराग-महोदधि का एक दिव्य कान्तिमय अलौकिक रत्न है। भक्तों के हृदय का तो यह ग्रन्थ जीवन-सर्वस्व है। भक्ति की सांगोपांग पद्धति इसमें दिखाई गई है। इस प्रेमरत्न-मंजूषा के भीतर सुरसिक जौहरी कैसे-कैसे विलक्षण रत्न पा सकता है यह कहने की बात नहीं, अनुभव करने की है। हम यह बतलाना चाहते हैं कि इस ग्रंथ में किस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जब समग्र ग्रन्थ ही भक्ति-रस-परिप्लुत है तब यह शेष ही नहीं रह जाता कि इसमें कौन सा सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। प्रत्यक्ष रूप से भक्ति-सिद्धान्त ही प्रतिपन्न मिलेगा। किन्तु किसी किसी सज्जन के मन में यह प्रश्न उठा है और प्रायः उठता है कि गुसाईं तुलसीदासजी किस सिद्धान्त के प्रतिपोषक थे। किसी के मत से वे विशिष्टाद्वैतवादी और किसी की सम्मति से अद्वैतवादी सिद्ध किये गये हैं। यह विषय दार्शनिक है। अतः सहज ही सुलझने का नहीं। फिर भी हम अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार इस उलझन के सुलझाने की यथासाध्य चेष्टा करेंगे।

पहले हम इसपर विचार करेंगे कि गुसाईंजी का किस संप्रदाय से संबंध था। हम तो यही मानेंगे कि वे श्रीरामानंदी संप्रदाय के श्री वैष्णव थे। किसी किसी विद्वान् ने उन्हें "स्मार्त वैष्णव" लिखा है। और इसका कारण यह बतलाया है कि जिस दिन रामचरितमानस के लिखने का श्रीगणेश किया गया उस दिन स्मार्त लोगों को रामनवीम

थी वैष्णवों की नहीं । यह दलील कुछ बहुत ऊँची नहीं कही जा सकती । प्रायः स्मार्तों और वैष्णवों दोनों को ही रामनवमी, एकादशी आदि तिथियों में कभी कभी भ्रम हो जाया करता है । संभव है, यही बात गुसाईंजी के संबंध में हो । रहा स्मार्त वैष्णवत्व, सो स्मार्त वैष्णव शब्द का तो कुछ अर्थ ही नहीं । स्मृति माननेवाले विष्णुभक्तों को "भागवत" कहते हैं, न कि स्मार्त वैष्णव । सो गुसाईंजी भागवत अथवा स्मार्त वैष्णव नहीं थे, वरन् सच्चे श्रीवैष्णव थे ।

यह तो विदित ही है कि श्रीरामानुजाचार्यजी ने शांकरवाद का खंडन कर भक्तिप्रधान श्रीसंप्रदाय की स्थापना की थी । आचारी वैष्णवों में कुछ संकीर्णता देख कर श्रीरामानंदजी ने एक अलग ही अपनी संप्रदाय चला दी । इन्होंने श्रीरामनाम और राम-भक्ति को प्राधान्य दिया । जाति-पाँति का विचार एकदम तोड़ दिया । जुलाहे, चमार और कसाई भी इनके चेले हो गये । भक्ति-भागीरथी विस्तीर्ण-क्षेत्र में बहने लगी । आकाशमंडल श्रीरामनाम की ध्वनि से गूंज उठा। इसी संप्रदाय में स्वामी अग्रदासजी हुए, जिनकी आज्ञा से भक्ताग्रगण्य नाभाजी ने भक्तमाल की रचना की। गुसाईं तुलसीदासजी भी इसी श्री संप्रदाय के अनन्य वैष्णव थे । श्रीमच्छंकराचार्य का मायावाद उत्तरीय भारत में ऐसा व्याप्त हो गया था कि श्रीरामानुजाचार्य आदि उद्भट आचार्यों के होते हुए भी उसका समूल नाश न हुआ । जगत् का मिथ्यात्व तो जन साधारण ने ख़ूब ही अपनाया । इधर के हमारे वैष्णवों में भी, किसी न किसी रूप में, जगन्मिथ्या का सिद्धान्त बना ही रहा । कबीर-दासजी में तो इसकी अत्यधिक मात्रा विद्यमान थी । गुसाईंजी भी कैसे अछूते रह सकते थे ? तात्पर्य यह कि, उन्होंने भी मायावाद का अपनी रचनाओं में यत्र तत्र समावेश किया है । अब प्रश्न यह है कि क्या वे मायावाद को उसी रूप में देखते थे जैसा कि शंकर-मतानुयायी, और क्या वे उन की तरह जीव-ब्रह्मैक्य को भी स्वीकार करते थे ? इसमें हमें संदेह है । निःसंदेह उन्होंने कहीं २ मायावादियों की तरह जगत् को असत्य माना है । उसे मृगजल, रज्जु-सर्प, रजत-सीप आदि कह कर

भ्रमरूप बताया है। किन्तु प्रयोजन में अन्तर है। हरिशून्य जगत् को ही उन्होंने इन सब विशेषणों से विभूषित किया है, हरिमय जगत् को नहीं। विषयोपभोग में लिप्त जीव को विरक्त बनाने के लिये संसार के मिथ्यात्व का उपदेश दिया गया है, विषयोपरत एवं भगवदनुरक्त महाभाग को नहीं। जो जीव स्वार्थ को ही संसार समझते हैं, उन के लिये अवश्य ही गुसाईं जी द्वारा जगन्मिथ्या का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया, किन्तु जो परार्थ एवं परमार्थ में जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं, उन कर्मयोगियों के लिये आपने संसार को 'जगत सचाई सार' कह कर पुकारा है। गुसाईं जी का मायावाद हमें नैतिक जान पड़ता है, दार्शनिक नहीं। फिर जीव-ब्रह्मैक्यवाद का तो हमें कहीं पता ही नहीं चलता। संभव है, उन्हें रूपांतर में अद्वैतवाद प्रतिपादित महावाक्यों में विश्वास रहा हो, पर सिद्धान्त रूपसे तो उन्होंने विशिष्टाद्वैत वाद को ही स्वीकार किया है। देखिये-

'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं। बधेउ कीर मरकट की नाँई॥'

× × × × × × × ×

'माया-बस्य जीव अभिमानी। ईस-बस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव, स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥'

(रामचरित मानस)

'हौं जड़ जीव ईस रघुराया। तुम मायापति हौं बस माया॥'

'ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर हौं चेरो।
तात मात गुरु सखा तू सब बिधि हित मेरो॥'

एक नहीं, अनेक उदाहरण इस भेदवाद, पर दिये जा सकते हैं। पूर्व पक्ष के रूप में भले ही एकाध स्थल पर उन्होंने 'सोऽहमस्मि' पर दस-पाँच पंक्तियाँ लिखी हों, पर उत्तर पक्ष में जीव-ब्रह्मैक्य पर उन्होंने एक भी शब्द नहीं लिखा। विनय-पत्रिका का कोई भी पद ले लीजिये उसमें आपको सिवाय भेद वाद के कहीं भी 'अभेदत्व' न मिलेगा। अद्वैतवादियों की तरह उन्होंने कभी 'मोक्ष' की इच्छा नहीं की। उनकी हार्दिक इच्छा तो सदा यही रही थी कि

'तुलसिदास जाचक रुचि जानि दानि दीजै।
रामचंद्र चंद्र तू चकोर मोहि कीजै॥'

× × × × × ×

"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहि हौं।
यहि नाते नरकहु सुख पैहों या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं॥'

यदि सिद्धान्त-रूप से वे जगत् को असत्य मानते होते तो 'खग, मृग, तरु' बनने की कामना क्यों करते? पर हां, वे 'सिया-राम मय' जगत् को ही सत्य मानते थे। इस नाते से उन्हें नरक भी सत्य, सारमय और आनन्दप्रद था। और हरिशून्य मोक्ष भी असत्य, असार और दुःखमय था। इसी प्रकार युगल सरकार, श्रीरामजानकी, की भक्ति के आगे ज्ञान, ध्यान और कर्मकांड-प्रतिपादित यज्ञों को तुच्छ समझते थे। रामनाम की महत्ता और सर्वप्रधानता पर तो उनके प्रत्येक ग्रन्थ में अनेकों छंद मिलते हैं। उन्होंने अद्वैतवादियों की तरह, भक्ति और सगुण उपासना को केवल साधन ही नहीं माना, वरन् साध्य भी माना है। वे परमहंस अवस्था में भी रामनाम-स्मरण और रामभक्ति का स्वीकार करते हैं। निर्गुण और अलख ब्रह्म उन्हें कुछ जँचता ही नहीं। देखिये, एक 'अलख अलख' पुकारनेवाले साधु से वह क्या कहते हैं—

'हम लखि, लखहिं हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि? रामनाम जपु नीच॥'

विनयपत्रिका में तो कई स्थलों पर नीरस ज्ञान और कर्मको सरस प्रेम-परा भक्ति के आगे नीचा दिखाया है। एक बात विशेष ध्यान देने की है। जहां गुसाईंजी ने संसार को असत्य मानकर भ्रम का प्राबल्य दिखाया है, वहाँ ज्ञान और स्वयंसिद्ध पुरुषार्थ का स्तवन नहीं किया गया है। वहाँ तो भ्रम-निराकरण के अर्थ सर्वत्र यही बात दोहरायी गई हैं कि—

'तुलसिदास प्रभु मोह-सृंखला छूटिहि तुम्हरे छोरे।'
'तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं।'
'बिन तव कृपा दयालु दास हितु मोह न छूटै माया।' इत्यादि।

ऐसा क्यों कहा गया है? क्योंकि "तुम मायापति, हौं बस माया।"

बस यही उत्तर दिया जा सकता है। अद्वैतवादियों की तरह उन्होंने ज्ञान और योग पर कहीं भी जोर नहीं दिया। उन्होंने तो 'सावन के अन्धे' की तरह एक स्वर से सदा सगुण उपासना को ही प्रधानता दी है। ऐसे भक्त-शिरोमणि, राम-रङ्गीले गुसाईं तुलसीदासजी की रचनाओं में जीव-ब्रह्मैक्य-विषयक सिद्धान्तों के खोजने का प्रयास करना व्यर्थ सा है। हमारे सहृदयवर पण्डित रामचन्द्रजी शुक्ल ने इस सम्बन्ध में जो लिखा है, उसे हम यहां अविकल उद्धृत करते हैं—"अन्त में, इस सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक है कि तुलसीदासजी भक्तिमार्गी थे, अतः उनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों को ढूँढ़ना ही अधिक फलदायक होगा, ज्ञानमार्ग के सिद्धान्तों को ढूँढ़ना नहीं। [तुलसी ग्रन्थावली, भाग ३, पृष्ठ १४६]

वास्तव में, बात बिलकुल सच है। जो भक्ति-सागर में डूबा रहना ही परमानन्द समझते हैं, उन्हे जीव-ब्रह्मैक्य की मरुभूमि में बिठा देना कहाँ तक युक्तियुक्त होगा, समझ में नहीं आता। जो "जे मुनि ते पुनि आपुहिँ आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने!" आदि वाक्य कह कर अद्वैतवाद की ओरसे असन्तोष प्रकट कर रहे हैं, उन्हें जबरदस्ती 'सोऽहं वादी' सिद्ध करना कहाँ का न्याय है? जिनकी अपने स्वामी से यह याचना है कि–

"राम, कबहुँ प्रिय लागि हौ; जैसे नीर मीन को?
सुख जीवन ज्यों जीव को, मनि ज्यों फनि को हित ज्यों धन लोभहीन को?"

उन्हें 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' माननेवालों की कोटि में ला घसीटना कहाँ का पांडित्य है? जो ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर भी, सिद्धावस्था में भी, यह कामना करते हैं कि—

"प्रभु-गुन सुनि मन हरषि है नीर नयननि ढरि है
तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनन्द उमँगि उर भरि है।"

उन्हें 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-वाक्यों के रटनेवाले ज्ञानियों की पंक्ति में बिठाना कहाँ तक उचित है? विचार-स्वातंत्र्य के बल पर जिसे जो समझ पड़े सो कहे, पर हम तो उन्हें परमभक्त अनन्य वैष्णव ही कहेंगे। जिन्होंने विनयपत्रिका और रामचरितमानस में भगवदैश्वर्य तथा गीतावली में भगवन्माधुर्य को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है,

उन गोसाईं तुलसीदासजी को हम अपनी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार अनन्य रसिक वष्णव ही कहेंगे। किसी-किसी के मत से वे अनन्य वैष्णव इस कारण से नहीं माने जा सकते, कि उन्होंने अन्य देवी देवताओं का यशोगान किया है। उन्होंने सूरदासजी की नाईं "हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो" न लिख कर "गाइए गनपति जगवन्दन" से मंगलाचरण किया है। अनन्यता का विशुद्ध अर्थ यदि समझ में आ जाय, तो इस प्रश्न के उठने की सम्भावना ही न रहे। अनन्य भक्त अपने इष्टदेव को सर्वत्र देखता है। पतिव्रता स्त्री की तरह उसे अपना एक आराध्य प्रियतम ही जहाँ तहाँ दिखलाई देता है। वह गणेश, शिव, देवी आदि को भी अपने प्रियतम का ही रूप समझता है। इन देवी-देवताओं से यदि वह कुछ माँगता है तो यही कि मुझे मेरे आराध्य प्रियतम में अनन्य भक्ति दो। जैसे कुलकामिनी अपने सास, ससुर, देवर आदि की सेवा केवल इसलिये करती है कि वे सब उसकी पतिभक्ति के साधक हों, उसी प्रकार सच्चा अनन्य भक्त अपने इष्टदेव में प्रेमपराभक्ति प्राप्त करने के अर्थ अन्य देवी-देवताओं का स्तवन किया करता है। वह लोक-मर्यादा का उल्लंघन करना पसन्द नहीं करता। वह लोक--मर्यादा का पालन इसी अर्थ से करता है कि जिससे जगन्नियन्ता परमात्मा उसकी भक्ति को स्वीकार कर उसपर प्रसन्न हो। उसकी सर्वदेव–वन्दना इसी अर्थ की द्योतक है कि—

'सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।'

गुसाईंजी चाहे किसी भी देवता की स्तुति करें, पर अन्त में माँगते यही हैं कि—

'माँगत तुलसीदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे।'
'देहु कामरिपु ! रामचरन रति, तुलसिदास कहँ कृपानिधान।'
'देहि मां ! मोहि पन प्रेम यह नेम निज राम घनस्याम तुलसी पपीहा।'

इत्यादि।

यह अनन्यता नहीं तो क्या है ? निम्नलिखित पंक्तियों में उनकी अनन्यता और भी पुष्ट हो जाती है—

'हरिहि हरिता, बिधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जेहि दई।
सोई जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई॥'

निःसन्देह उन्होंने सब देवताओं की वन्दना की है, पर सर्वप्रधानता श्रीरघुनाथजी को ही दी गई है। यही तो उपासनाकाण्ड का रहस्य है, भक्तिवाद का उत्कृष्ट सिद्धान्त है।

गुसाईंजी की दृष्टि में भक्ति के अधिकारी विरले ही होते हैं। कहने में तो भक्ति सुगम है, किन्तु करने में महान् दुर्गम है। यद्यपि उन्होंने एक स्थान पर यह लिखा है कि—

'रघुपति-भक्ति सुलभ सुखकारी। सो त्रय ताप सोक भयहारा॥

पर वह स्वाभाविक-सुलभ नहीं है। सुलभ हो सकती है। वैसे तो—

'रघुपति भक्ति करत कठिनाई।
कहत सुगम, करनी अपार, जाने सो जेहि बनि आई॥'

भक्ति के सुलभ होने के दो मार्ग बतलाये गये हैं—सत्संग और भगवत्-शरण। भगवत्-शरण प्राप्त करने के लिये विनय-पत्रिका में पचासों पद मिलते हैं। इन पदों की आलोचना लेखनी या वाणी द्वारा नहीं हो सकती। इन पदों के पढ़ते समय इस बात का स्मरणही नहीं रहता कि माया-वाद या ब्रह्मवाद किसे कहते हैं। अद्वैत या विशिष्टाद्वैत किस वस्तु का नाम है। वहाँ तो हमें एक अपार और अथाह प्रेमसागर दिखाई देता है, जिसमें भावुकता की तरल तरंगें उठती और गिरती हैं। संशय या सन्देह का तो कहीं पताही नहीं चलता। जहाँ देखो तहाँ यही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है कि-

'भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो॥
करम उपासन ग्यान वेदमत, सो सब भाँति खरो।
मोहि तो सावन के अन्धहि ज्यों सूझत रंग हरो॥'

कैसा ध्रुव सिद्धान्त है! कैसी अनन्य भावना है! क्या अब भी किसी को कोई सन्देह है? हमारी समझ में तो प्रेम-साम्राज्य में सन्देह के लिये कहीं स्थान ही नहीं है। यहाँ मिथ्या और सत्य के समझने-समझाने के लिये फुरसत ही किसे है। भक्तिवादियों का 'आत्मबोध'

इन सभी झगड़ों से अलग रहता है। एक स्थल पर लिखा है--

'कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै'॥

लीजिये, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत सभी भ्रमरूप हैं! अब हम गुसाईं जी को किस सिद्धान्त का मानें? बस; एक मात्र अनन्य प्रेमी, भक्ति-विभोर भावुक, विधि-निषेध से परे अनुराग रसोन्मत्त परम वैष्णव। ऐसे परम भक्त का कथन सर्व सिद्धान्तों का सारस्वरूप है। मतमतान्तर की कल्पनाओं में, और पहुंचे हुए भक्त के अनुभव-सिद्ध कथन में पृथ्वी-आकाश का अन्तर होता है। गुसाईं जी परम भक्त थे। जो कुछ उन्होंने कहा है, वह सब उनका अनुभव-सिद्ध कथन है, और अवश्य माननीय है। फिर विनय-पत्रिका तो उनके सारे सिद्धान्तों की सारस्वरूपा है। हमें तो इसमें समस्त शास्त्रों, उपनिषदों, और सिद्धान्तोंका निचोड़ मिलता है। यदि हमें इस मंजूषा में से दिव्य सिद्धान्त-रत्न को खोज निकालना है, तो हमें यह काम विद्याभिमानी दार्शनिक के रूप में नहीं, वरन् एक विनीत जिज्ञासु के रूप में करना होगा, और तभी हम सफलता पा सकेंगे। कतिपय सिद्धान्त-रत्न, जो किसी विनीत जिज्ञासु के हाथ लग सकते हैं, यही होंगे—

१—राम-नाम नव नेह मेहको मन हठि होहि पपीहा।
२—राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै।
३—मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं।
४—रघुपति-भक्ति संतसंगति बिनु को भव-त्रास नसावै?
५—तुलसिदास रघुबीर-बाँह-बल सदा निडर काहु न डरै।
६—ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी।
७—राम प्रेम बिनु जानिबो जैसे सर सरिता बिनु बारि।
८—गरैगी जीह जो कहौं और को हौं।
९—राम, कबहुं प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को?

धन्य हैं वे महाभाग, जिनके हृदय पर सदा इन दिव्य रत्नों के हार पड़े रहते हैं। जिन्होंने इन सिद्धान्त-रत्नों को अपना कण्ठाभरण बना

लिया है, वास्तव में, उन्हींका जीवन सार्थक है। उनके लोक और पर लोक दोनों ही सफल हैं।

हमने विनय-पत्रिका में वर्णित सिद्धान्तों का अत्यन्त सूक्ष्म परिचय कराया है। इससे अधिक हम कर ही क्या सकते थे? विनय-पत्रिका के सिद्धान्तों के संबंध में लिखना हम-जैसे अल्पज्ञों का काम नहीं है। स्वर्गीय पंडित रामेश्वर भट्टजी ने लिखा है कि– कहने को तो यह भाषा है, पर कहीं कहीं इसका भाव इतना कठिन है कि बड़े-बड़े वेदान्तियों को बुद्धि चकरा जाती है।' वास्तव में, बात यही है। विनय-पत्रिका के सिद्धान्तों का समझ लेना हँसी-खेल नहीं है। यह हमारा प्रयास नितान्त बाल-बुद्धि के अनुरूप समझना चाहिये।

काव्य-चमत्कार

भक्त-श्रेष्ठ गुसाईं तुलसीदासजी एक प्रकृति-सिद्ध महाकवि थे। उनके ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि वे साहित्य के कितने भारी पंडित थे। साहित्य-निर्माताओं और काव्याचार्य्यों ने साहित्य के जितने कुछ लक्षण लिखे हैं, वे सभी उनके ग्रन्थों में विद्यमान हैं। ध्वनि, रस, अलंकार, भावव्यंजन सभी उनके प्रकांड पांडित्य का परिचय दे रहे हैं। रामचरितमानस तो साहित्यिक गुणोंका आगार ही है। विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली, बरवै रामायण प्रभृति ग्रन्थ भी इन गुणों से खाली नहीं हैं। यहां हमें विनय-पत्रिका के काव्य चमत्कार पर दस-पाँच पंक्तियाँ लिखनी हैं। काव्य का उत्कृष्ट चमत्कार इस ग्रन्थ में अवश्य पाया जाता है, पर हमारी दृष्टि, उसमें प्रतिपादित भक्ति-सिद्धान्त की ही ओर प्रधानतया जाती है। हाल ही में बेलवेडियरप्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित विनय-पत्रिका हमने देखी है। इसके टीकाकार श्रीयुत पंडित महावीरप्रसादजी मालवीय 'वीर कवि' हैं। उन्होंने रामचरितमानस की भी टीका इसी प्रेस से प्रकाशित करायी है। उन्हों ने लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि और अलंकार पर भी प्रकाश डाला है। विनय-पत्रिका के प्रत्येक पद में अलंकारों का नाम निर्देश करके उन्होंने,

अप्रत्यक्षरूप से, उसे एक काव्यग्रन्थ माना है, यद्यपि उनके लिखे हुए अलंकार आदि हमें अधिकांशतः भ्रममूलक समझ पड़े हैं। कई स्थलों पर टीका में भी उन्हें भ्रम हो गया है। अस्तु:, हमारे कहने का यह तात्पय है कि विनय-पत्रिका में भक्ति-सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रधानतः और काव्य-चमत्कार का चित्रण गौणतः किया गया है; और यही बात टीका-कारों की भी दृष्टि में रहनी चाहिए। विनयपत्रिका केशवदास की रामचन्द्रिका नहीं है। हमारे कहने का यह मतलब नहीं है कि उसमें आलंकारिक गुणों का अभाव है, पर हाँ, उनका समावेश गौणरूप से किया गया जान पड़ता है। मुख्य निरूपण तो भक्ति का ही पाया जाता है। साहित्यिक छटा का पूर्ण विकास देखना है तो रामचरितमानस, गीतावली और कवितावली देखिये।

यहाँ, हम आलंकारिक गुणों की ओर ध्यान न देकर केवल उक्ति-वैचित्र्य पर कुछ लिखेंगे। उक्ति-वैचित्र्य और अर्थ-गौरव का कैसा जीता जागता चित्र इस ग्रन्थ में मिलता है, यह देखते ही बनता है। यह दोनों गुण विरले ही कवि में मिलते हैं। केवल चटपटे शब्दों की झिलमिलाहट और कृत्रिम अलंकारों की सजावट तो बहुतेरे कवियों में देखने को मिलेगी, पर सच्चा स्वभाव-चित्रण, हृद्गत भावों का विलक्षण रीति से व्यंजन और प्रसाद, ओज एवं रसों का यथेष्ट समावेश भावुक महाकवियों की कृति में ही दृष्टिगोचर होगा। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यंग्य आदि को छोड़ कर हमारा ध्यान उक्ति-वैचित्र्य और अर्थ-गौरव पर ही बार बार जा रहा है। प्रस्तुत प्रसंग में हम इसी संबंध के दो चार उदाहरण उपस्थित करते हैं। एक पद में गुसाईंजी लिखते हैं—

'इहै जानिकै तुलसी तिहारो जन भयो, न्यारो कै गनिबो जहां गने गरीब गुलाम ?'

भावार्थ—यही सब सोच-विचार कर तुलसी आपका सेवक हुआ है। अब यह बतलाइये कि आप इसे अलग गिनेंगे या जहाँ ग़रीब-गुलामों का नाम आया है, वहाँ गिनेंगे ? यहां 'अलग' शब्द से क्या तात्पर्य है ? जब 'सेवकत्व' ही स्वीकार कर लिया और यह भी विश्वास हो गया कि भगवान अंगीकार भी कर लेंगे, तब 'अलग'

गिनना कहाँ रहा ? 'अलग' शब्द से गुसाईंजी का कदाचित् यह भाव होगा कि कहीं मैं बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी और भक्तों की श्रेणी में न बिठा दिया जाऊँ (तो बड़ी आफत हो)। साधारणतया देखने से तो इस श्रेणी में बैठना आदरसूचक है, पर सान्निध्य चाहनेवाले एकान्त भक्त के लिये यह मान कुछ मूल्य नहीं रखता। इन्द्र, कुबेर, ध्रुव आदि अलग बैठे बैठे राजसी करते हैं, पर उन्हें वह आनंद कहाँ, जो ग़रीब निषाद, शवरी, हनुमान और जटायु को है ? यों तो इतना ही कह देना काफ़ी था कि 'यह जानि कै तुलसी तिहारो जन भयो'—पर इतने से संतोष न होता। स्पष्ट बात तय कर लेनी ठीक होगी। कहीं 'अलग' की गणना में न आजाऊँ, बड़प्पन की पाग शिर पर न बाँध दी जाय, इसी ख़याल से आपने स्पष्ट कह देना ठीक समझा। फिर भी शिष्टाचार के विरुद्ध योंही नहीं कह दिया कि मैं तुम्हारा सेवक हो गया हूँ, मुझे अमुक विभाग में रखलो। कितनी शिष्टता, मिन्नत और गहराई के साथ निवेदन किया गया है--

'न्यारो कै गनिबो, जहाँ गने गरीब गुलाम ?'

× × × × × ×

गुसाईंजी महाराज को यह आशा थी कि कभी न कभी तो स्वामी अवश्य ही सुधि लेंगे। इसी बल-भरोसे पर आप बरसों चुपचाप बैठे रहे। पर कलियुग के मारे नाको दम था, धीरज न रहा। अधीर हो कहने लगे—

'जद्यपि नाथ ! उचित न होत अस प्रभुसों करों ढिठाई ;
तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हार निठुराई ॥'

साधारणतः तो इन पंक्तियों में कोई विशेष ध्यान देने की बात नहीं है, पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यहाँ भी अर्थ-गांभीर्य की झलक मिलती है।

हे नाथ ! आप के साथ ढिठाई करना ठीक नहीं है, धर्मशास्त्र के प्रतिकूल है। पर करूँ क्या ? आर्त्त हूँ, जड़ हूँ, ढिठाई भी करनी पड़ेगी। कहाँ तक चुप रहूँ ? आप कहेंगे, आख़िर तू क्या कहना चाहता है, कैसी ढिठाई

करेगा ? सुनिये, क्षमा कीजियेगा, क्योंकि मुझे भला-बुरा कहने का विचार नहीं है। मुझे और कुछ नहीं कहना है, केवल यही कहूँगा कि 'आप निठुर हैं।' निठुर तो हैं आप, पर दुःख होता है मुझे। मैं अपने स्वामी को बिल्कुल निर्दोष देखना चाहता हूँ। मुझे आपकी निठुराई सुन कर बड़ा दुःख होता है। अपना दुःख दूर करने के लिये ही मैंने इतनी ढिठाई की है। क्या ही विचित्र उक्ति है! कहने का कैसा निराला ढंग है! ढिठाई और निठुराई में कैसा स्वाभाविक मिठास है! इस ज़रा से इशारे में ग़ज़ब का ज़ोर भर दिया गया है। यों भी तो कह सकते थे कि आप बड़े निठुर हैं, निठुराई छोड़ कर मुझे निहाल कर दो। पर इसमें वह मज़ा कहाँ है, जो "तुलसिदास सीदत निसदिन देखत तुम्हार निठुराई" में है। साधारण कथन में और कवि की उक्ति में यही तो अन्तर है।

× × × × × ×

गुसाईं जी जब संसाररूपी सर्प के मारे बहुत ही भयभीत हुए तब ज़ोर से अपने स्वामी को पुकारने लगे। उस समय उनके मुख से भगवान् का क्या नाम निकला, उसे सुनिये —

'तुलसिदास भव-व्याल-ग्रसित तव सरन 'उरग-रिपु-गामी'।'

उरगरिपु गरुड़ का नाम है, जिसका अर्थ सर्पों का शत्रु है। गरुड़-गामी-नाथ! मैं आप की शरण हूँ। यहाँ भगवान् का किसी और नाम से स्मरण नहीं किया गया है। 'उरगरिपु-गामी' नाम लेने से क्या तात्पर्य है ? कदाचित् माधुर्य-भाव की रक्षा करने के लिये आपने भगवान् के अन्य नामों का स्मरण नहीं किया। आप अपने प्रभु रघुनाथ जी को कष्ट नहीं देना चाहते। भव-व्याल को भक्षण कर जाने के लिये आप 'गरुड़-गामी' को बुलाते हैं। यदि गरुड़ गामी विष्णुभगवान् न भी आ सकें, तो अपना वाहन ही भेज दें, वही इस सर्प का स्वाहा कर जायगा। जहाँ सूई से काम निकल जा सकता है, वहां तलवार का प्रयोग क्यों किया जाय? अतः 'उरग-रिपुगामी' को पुकारना ही ठीक होगा।

× × × × × ×

जब गुसाईंजी कृपा की प्रतीक्षा करते-करते हैरान हो गये, तब खिसिया कर भगवान् से कहने लगे कि सुनो, अब मैं तुम्हारी सब पोल खोले देता हूँ—

'हौं अबलौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते ।
अब तुलसी पूतरो बाँधि है सहि न जात मोपै परिहास एते ।'

भावार्थ. अब तक मैं तुम्हारे करतब की ओर टक लगाये देख रहा था, पर तुम ने इधर आँख भी न उठाई ! बस, अब तुलसीदास तुम्हारे नाम का पुतला बांधेगा, क्योंकि मुझसे अब यह उपहास सहा नहीं जाता। यहां "पुतला बाँधना" और " उपहास " विशेष द्रष्टव्य शब्द हैं। जब नटों को खेल दिखा चुकने पर कुछ नहीं मिलता है, तब वे कपड़े का पुतला बना कर बाँस पर लटकाये हुए कहते फिरते हैं कि 'देखो यह सूम है।' उस पुतले पर धूल भी डालते हैं। सूम इस नकल से लज्जित हो कर उनको कुछ न कुछ दे ही देते हैं। "इसी प्रकार" गुसाईंजी कहते हैं, "मैं भी एक पुतला बनाकर लिये फिरूँगा। जब लोग पूछेंगे कि यह क्या ह, तो मैं कह दूंगा कि यह सूम-शिरोमणि अयोध्याधिप महाराज रामचंद्रजी हैं। इस से तुम्हारी आँख अवश्य नीची पड़ जायगी, और मारे शर्म के मुझे अपनाते ही बनेगा। इसी तरह मुझ से यह परिहास सहन नहीं होता कि लोग तालियां पीट पीट कर यह कहते फिरें कि देखो, यह तुलसीदास कैसा पाखंडी ह ! बनने चला रामदास ! जो यह रामदास होता, तो क्यों इस तरह मारा-मारा फिरता ? यह मेरा उपहास नहीं है, तुम्हारा है। मैं अपना परिहास सहन कर लूंगा, पर तुम्हारा नहीं। सौ बात की बात यह कि मुझे शीघ्र अपनी शरण में लो।" इन दो पंक्तियों में कितना अधिक चमत्कार भरा है ! उक्ति-वैचित्र्य और भाव-गांभीर्य देखते ही बनता है। क्या यह पंक्तियाँ शाश्वत साहित्य की सामग्री नहीं हैं ?

× × × × × ×

देखिये, निम्नलिखित पंक्ति कितनी विलक्षण है—

"हौं सनाथ ह्वै हौं सही, तुमहुं अनाथपति जो लघुतहि न भितैहौं* ।"

मैं सचमुच ही सनाथ हो जाऊँगा, और जो तुम मेरी लघुता से न डरोगे, तो तुम भी 'अनाथपति' की पदवी से विभूषित हो जाओगे। साधारण अर्थ इस पंक्ति का यही है। यह समझ में नहीं आया कि 'लघुता से डरना' कैसे संभव हो सकता है। भला, कोई लघुता से डरता हुआ देखा है? कैसी विरोध की बात है! नहीं, विरोध नहीं है, बात सीधी-सादी है। अमीर लोग प्रायः ग़रीबों से डरते हैं। वे उनका सामना नहीं कर सकते, बात करना तो दूर है। उन्हें यही डर लगा रहता है कि यदि हम छोटे लोगों के पास खड़े होंगे तो हमारे बड़प्पन में धब्बा लग जायगा। लोग हमें क्या कहेंगे? इस से वे छोटे लोगों से किनारा ही काटते रहते हैं। गुसाईंजी कहते हैं कि यदि तुम मेरी छोटाई से न डरो, तो दो काम बन जायँगे। मैं तो हो जाऊँगा 'सनाथ' और तुम 'अनाथ-पति'! कहो, मंज़ूर है?

× × × × × × × × ×

एक पंक्ति और देख लीजिए—

'विनयपत्रिका दीन की बाप! आप ही बाँचो!'

भला, इस में कौन सी गूढ़ोक्ति है? 'आप ही बाँचों' में कुछ न कुछ चमत्कार तो अवश्य है। प्रायः राज-दरबारों में धांधली हुआ करती है। संभव है, यह पत्रिका किसी मंत्री के हाथ में पड़ जाय, और यह उसमें कुछ का कुछ लिख दे, या पढ़ते समय कोई अंश छोड़ जाय, या कहीं बढ़ा कर पढ़ दे, इसलिये 'आपही बाँचों' पिता जी, कृपा कर स्वयं पढ़ियेगा। पढ़ कर उस पर 'सही' कर दीजियेगा और फिर पंचों से पूछ लीजियेगा।

'हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूछिअहि पाँचो।'

मैं यह नहीं कहता हूँ कि आप दरबार के खिलाफ़ कोई कार्रवाई करें। आप पंचों से, मुसाहिबों से बेखटके पूछ सकते हैं, राय ले सकते हैं। पर 'सही' उनसे बिना पूछे ही कर दीजिये, भले ही इतनी बात क़ायदे के

---

*इस पंक्ति पर सहृदयवर पंडित रामचंद्रजी शुक्ल ने भी 'तुलसीग्रन्थावली' (भाग ३, पृष्ठ २२६) में अपनी विवेचनापूर्ण टिप्पणी लिखी है।

ख़िलाफ़ हो। यहां 'बाप' पद द्रष्टव्य है। गुसाईं जी 'यहां' पंचों से बिना पूछे ही स्वामी से 'सही' लिखवाना चाहते हैं, और स्वयं पढ़ने को भी कह रहे हैं। इसलिये यहाँ 'प्रभु, महाराज. देव' आदि संबोधन प्रयुक्त नहीं किये गये हैं, बाप शब्द लिख कर आप साधारण रीति से घरू बात कह रहे हैं। बाप से कोई संकोच नहीं किया जाता है। सही कराने तक 'पिता पुत्र' का संबंध खूब सार्थक है। इसके आगे 'राजा-प्रजा' या 'स्वामी-सेवक' का संबंध आ जाता है. और यहीं "बहुरि पूछिअहि पाँचो" लिखा गया है। देखिये, कैसा अर्थ-गांभीर्य है! स्थान-संकीर्णतावश हम अधिक उदाहरण नहीं दे सकते। काव्य-सुधा-सागर में से यहां हम ने दो चार ही बूंदों का पान कराया है। इससे तृप्ति होने की नहीं, साहित्य-रस-पिपासुओं को समस्त सागर का अवगाहन करना चाहिए। जो केवल इस के साहित्यक गुणों पर ही मुग्ध हो कर इसका अवगाहन करेगा, उसे भी अनेक दिव्यरत्न अनायास प्राप्त हो जायँगे, इसमें संदेह नहीं।

विनयपत्रिका में अलंकारों, भावों और रसों का भी अभाव नहीं है। जिन्हें केवल काव्य के यही गुण ढूँढ़ना हैं, वे प्रचुरता से इन्हें पा सकते हैं। व्याजस्तुति देखनी ह तो 'बावरो रावरो नाह भवानी'[१] इत्यादि पद पढ़िये रूपक का आनंद लूटना ह तो 'देखो देखो वन वन्यो आज उमाकंत,[२] 'सब साच विमोचन चित्रकूट[३]।' आदि पदों का अनुशीलन कीजिए। उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की छटा देखनी है तो 'जानकीनाथ रघुनाथ रागादि तम-तरनि तारुन्य तनु तेजधामं[४]' 'सकल सुखकंद आनंद वन पुन्यकृत विन्दुमाधव द्वन्द्व विपतिहारी[५]' 'इहै परम फल परम बड़ाई[६]' प्रभृति पदों का पारायण कीजिए। रूपक का सौन्दर्य आप को २२, ५८ और ५९ पद में भी मिलेगा। और योंतो प्रत्येक पद में कोई न कोई अलंकार दिखाई देगा। हाँ, यमक और श्लेष के उपासकों के मनोविनोद की सामग्री इस ग्रन्थ में न मिलेगी। और हमारी सम्मति में ये अलंकार

१-पृष्ठ ७१; २-पृष्ठ ८२; ३-पृष्ठ १००; ४-पृष्ठ १५६; ५-पृष्ठ १९१; ६-पृष्ठ १६४

काव्य के सौन्दर्य के लिये आवश्यक भी नहीं हैं। प्रकृति-सुन्दरी कविता-कामिनी के लिये नकली आभूषणों की जरूरत ही क्या है ? इस काव्य-रत्न के पारखी होने के अधिकारी वे सज्जन नहीं हो सकते हैं जो केवल शृंगाररस के विभाव, अनुभाव और संचारी परही लट्टू रहा करते हैं।

भाषा

यह तो विदित ही है कि भाषा पर गुसाईं जी का पूरा अधिकार था। वे भाषा के पीछे-पीछे नहीं चलते थे, वरन् भाषा उनका अनुसरण किया करती थी। शब्द-शास्त्र के पंडित रामचरितमानस और विनयपत्रिका में उन के भाषा-विज्ञान का पता पा सकते हैं। उन्होंने जनसाधारण और विज्ञ-समाज दोनों के ही उपयुक्त भाषा लिखी है। व्यर्थ के शब्द ठूँसना तो वे जानते ही न थे। मुहावरों का मेल, स्वाभाविक अनुप्रासों की छटा, वाक्य-विन्यास-पटुता, उक्ति-सौन्दर्य, ओज, प्रसाद और सुसंघटित शैली—यह सब बातें उनकी भाषा में सहज ही पाई जाती हैं। उन्होंने अवधी, बुँदेलखंडी, संस्कृत और व्रजभाषा का ऐसा सुंदर सम्मेलन कराया है कि देखतेही बनता है। शब्दालंकार किस स्वाभाविक रीति से जड़ा है, इसे साहित्य-जौहरी ही ताड़ सकते हैं। विनयपत्रिका की भाषा सजीव भाषा की उत्कृष्ट धारा कही जा सकती है। आदि के कतिपय पदों की भाषा अवश्य क्लिष्ट है, पर उसकी क्लिष्टता केशव-जैसे कवियों की कृत्रिम क्लिष्टता की भांति दुर्बोध नहीं है। इन पदों में ओज के बाहुल्य के साथ ही साथ प्रसाद की भी छटा देखने को मिलती है। कहीं-कहीं पर तो कादम्बरी के पढ़ने का स्मरण आ-जाता है। प्रत्येक शब्द सार्थक रखा गया है। भाव के अनुकूल ही वहाँ भाषा का विकास पाया जाता है। वैसे तो समस्त विनयपत्रिका पढ़ने से ही भाषा की उत्कृष्टता एवं मधुरता का अनुभव होगा, पर दश-पाँच उदाहरणों से भी यत्किंचित् रसास्वादन हो जायगा। देखिये—

(१) "भूषन प्रसून बहु बिबिधरंग। नूपुर किंकिनि कलरव बिहंग।
कर नवल बकुल पल्लव रसाल। श्रीफल कुच कंचुकि लता जाल॥

(२) जयति लसदंजनादितिज कपि-केसरी-कस्यप-प्रभव जगदार्त्ति-हर्त्ता।
लोक लोकप-कोक-कोकनद-सोकहर, हंस हनुमान कल्यानं-कर्त्ता॥
(३) तेरे देखत सिंह के सिसु मेढ़क लीले।
जानत हौं कलि तेरेऊ मन गुन गन कीले॥
(४) तेन तप्तं हुत दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्म जालं।
येन श्री राम नामामृतं पानकृतमनिसमनवद्यमवलोक्य कालं।
(५) कुलिस कुंद कुडमल दामिनि दुति दसनन देखि लजाई।
नासा नैन कपोल ललित स्रुति कुंडल भ्रू मोहि भाई॥
कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर, तिलक कहौं समुझाई।
अलप तड़ित जुग रेख इंदु महँ, रहि तजि चंचलताई॥
(६) पायो नाम चारु चिंतामनि उर कर ते न खसैहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौंटी चित कंचनहिं कसैहौं॥
(७) चंदन चंद्रबदनि भूषन पट ज्यों यह पांवर परस्यो।
त्यों रघुपति-पद-पदुम-परस को तन पातकी न तरस्यो॥
(८) जेहि कर कमल कठोर संभु धनु भंजि जनक संसय मेट्यो।
जेहि कर कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो॥
(९) दीनबंधु! दीनता दरिद्र दाह दोष दुख दारुन दुसह दर दरपहरन।
(१०) गल कंबल बरुना बिभाति जनु लूम लसति सरिता सी॥
लोल दिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा सी॥"

क्या ही धारा-प्रवाह भाषा है! प्रसाद और माधुर्य तो पद-पद में झलक रहा है। क्या मजाल कि कहीं तनिक भी शैथिल्य आ जाय। किस भाव को किस भाषा में अंकित करना चाहिए, इसे गुसाईंजी भली भाँति जानते थे। वे ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्तों को भी, कबीरदासजी की तरह, जन साधारण की भाषा में लिख सकते थे। निम्नलिखित पद देखिये—

"राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिंत भव बेगार महँ परिहौ छूटत अति कठिनाई रे॥
बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकौन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचँद मंद मोल बिनु डोला रे॥
विषम कहार मार मद माते चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मंद विलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे॥

काँट कुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठाउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे॥
मारग अगम संग नहि संबल नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भव त्रास हरहु अब होहु राम अनुकूला रे॥"

वेदान्त के इतने उच्च सिद्धान्त को बोलचाल की ग्रामीण भाषा में अंकित कर देना गुसाईंजी सरीखे प्रकृति-सिद्ध महाकवियों का काम है।

मुहावरों का तो स्थान स्थान पर ऐसा सुंदर समावेश किया गया है कि देखते ही बनता है। सारांश यह कि गुसाईंजी की भाषा में उन की छाप लगी है। प्रत्येक शब्द सजीव, जोरदार और प्रभावोत्पादक है। शैली विलक्षण, मधुर और हृदयग्राहिणी है।

विनयपत्रिका में प्रान्तीय शब्दों और मुहावरों के अतिरिक्त अरबी फ़ारसी के भी कई शब्द मिलते हैं, जैसे—"ग़रीब सदी, तकिया, लायक़, ग़ुलाम, फ़हम, मुकाम, गनी, दिवान, साहिब, सई, ख़ास, इयार, निशान, निवाज, दिरमानी, दाद, पील, गुल, शतरंज, वसीला शरम, कूच, बाजीगर, जहान, हाल, ख़लल, मनशा, मिसकीन, बुलंद, जार" आदि। इन शब्दों के आ जाने से भाषा विकृत नहीं हुई है, प्रत्युत उस में और भी सुंदरता आ गई है, क्योंकि यह शब्द देश, काल, परीस्थिति के अनुरूप ही प्रयुक्त किये गये हैं। जो अपनी रचना में देश काल, परिस्थिति का विचार नहीं रखता, वह कवि कहलाने का दावा नहीं कर सकता। गुसाईंजी को जहाँ जिस भाषा के शब्दों की आवश्यकता जान पड़ी, वहां उनको रखा। कतर-छाँट भी की, तो भी अपनी छाप लगा कर। मतलब यह कि, उन्होंने भाषा पर अपना पूर्ण अधिकार सिद्ध कर दिखाया। यदि हम इनकी भाषा को "तुलसीदासी" भाषा कहें, तो अनुचित न होगा।

संगात-सौन्दर्य

'नाहं वसामि वैकुंठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायंति तत्र तिष्ठामि नारद!'

भगवान् ने नारद से कहा है कि 'जहां मेरे भक्त प्रेमपूवक कीर्तन

करते हैं, वहीं मैं निवास करता हूँ।' संगीत की महिमा किसी से छिपी नहीं है। मनुष्यों की बात तो जाने दीजिये, पशु-पक्षी भी गान-कला पर मंत्रमुग्धवत् हो जाते हैं। जिन्हें काला अक्षर भैंस बराबर था, जो योग किसे कहते हैं यह भी नहीं जानते थे, वे भी प्रमोन्मत्त होकर भगवद्-गुणानुवाद गाते हुए संसार-सागर से पार हो गये। 'सूर सगुन लीला पद गावै' ऐसी प्रतिज्ञा कर सूरसागर महाकाव्य रच कर सूरदासजी ने भगवत्सान्निध्य प्राप्त किया था। महाप्रभु श्रीचैतन्य देव ने तो 'श्रीहरि कीर्तन' को ही प्राधान्य दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि संगीत-कला भगवद्विभूतियों में सर्वोच्च स्थान पाने योग्य है। यही कारण है कि हमारे यहां बड़े-बड़े महात्माओं और कवियों ने लाखों पद बना कर संगीत-स्रोत के प्रवाह में यथेष्ट योग दिया है। महात्मा तुलसीदास-कृत विनय पत्रिका भी संगीत-सौन्दर्य का एक उत्कृष्ट आदर्श है। यदि इसे वे ऐसे छन्दों में रचते, जो संगीत-संगत नहीं हैं, तो वे अपने हृदय के इतने मनोरम और सच्चे भाव कदाचित् व्यंजित न कर सकते। और जन साधारण में उन छन्दों का इतना प्रचार भी न होता। क्योंकि पंडित-मंडली चाहे न अपनावे, पर साधारण जनता गाने की चीजें बड़े चाव से तुरन्त कंठस्थ कर लेती है। आज भी हम प्रायः देहातों में सूरदास और तुलसीदास के भजन गाते हुए लोगों को देखते हैं। कबीरदास के भजनों का तो साम्राज्य ही है। यही हाल मीरा बाई के भजनों का भी है। तात्पर्य यह कि, भजनों का प्रचार अन्य छन्दों की अपेक्षा अधिक होता है। रामचरितमानस का भी इसी गाने के बदौलत जन साधारण में इतना अधिक प्रचार हुआ है।

विनय-पत्रिका में जितने पद हैं, वे सभी गाने योग्य हैं। वे पद ऊंचे रागों में गाये जाते हैं। कौन पद किस राग-रागिनी में गाया जा सकता है इसका भी पूरा विचार रक्खा गया है। स्वर-ताल समझनेवाले विनयपत्रिका के पदों की खूबी समझ सकते हैं। इन पदों की रचना से भली भांति पता चलता है कि गुसाईंजी संगीत-कला के कितने भारी पंडित थे। जो स्वयं सफल गायक होता है, वही संगीत-संगत छन्दों की

रचना करने में कृतकार्य हो सकता है। सूक्ष्म दृष्टि से खने पर यह भी पता चलता है कि जिस राग के उपयुक्त जो पद रचा गया है, उसका भाव भी उसी राग के अनुरूप है। कहीं कहीं पर इन पदों में 'यतिभंग' दोष मिलता है, पर गाते समय यह दोष तनिक भी नहीं खटकता। हम तो यह भी कहेंगे कि यदि 'यतिभंग' दोष दूर करने की चेष्टा की जाय तो साहित्यिक सौन्दर्य के साथ ही संगीत सौन्दर्य भी नष्ट हो जायगा। अच्छा हो, यदि इन पदों का पारखी पिंगलशास्त्रवेत्ता संगीतकला का भी मर्मज्ञ हो। हमने प्रायः प्राचीन महात्माओं की बानियों में पिंगल-विशारदों को दोष निकालते हुए देखा है। यदि यह सज्जन संगीत के पंडित हों तो उन्हें उन बानियों में एक भी दोष दिखाई न दे। क्योंकि उनकी रचना केवल पिंगल के नियमों पर नहीं हुई, किन्तु 'स्वर-ताल' के अनुरूप हुई है।

धन्य हैं उन महात्माओं को जो विनयपत्रिका जैसे ग्रन्थों का गान करते हुए हरि-कीर्तन किया करते हैं! सत्य ही कहा है—

> 'हरि पद प्रीति न होय, बिन हरि गुन गाये सुने।
> भव ते छुटत न कोय, बिना प्रीति हरि पद भये॥'

टीका—टिप्पणी

विनय-पत्रिका पर कई उत्तमोत्तम टीकाएं मिलती हैं। पाँच—छः टीकाएं तो हमने स्वयं देखी हैं। बाबा रामचरणदासजी, भक्तवर बैजनाथजी, महात्मा हरिहर प्रसादजी प्रभृति महात्माओं की टीकाएँ बड़ी ही भावपूर्ण और प्रामाणिक हैं। इन टीकाओं की भाषा बसवाड़ी और जभाषा मिश्रित है। वर्त्तमान काल में इनके समझनेवाले बहुत कम लोग मिलेंगे। श्रीयुत पंडित रामेश्वर भट्ट जी की सरला टीका आज कल के लिये अधिक उपयुक्त प्रमाणित हुई है। भट्टजी का परिश्रम सराहनीय है। श्रीयुत पण्डित सूर्यदीनजी शुक्ल की भी टीका द्रष्टव्य है। साहित्य-मर्मज्ञ लाला भगवानदीनजी की पादटिप्पणियाँ भी मार्के की हुई हैं। फिर भी विनय-पत्रिका की ओर टीकाकारों का अभी उतना

ध्यान नहीं गया, जितना कि रामचरितमानस की ओर। इसका कारण कुछ तो ग्रन्थ की क्लिष्टता हो सकती है, और कुछ प्रचाराधिक्य का अभाव। किन्तु हमें यह देख कर बड़ा आनन्द हो रहा है कि ऐसे ऐसे उत्कृष्ट ग्रन्थों का अब धीरे धीरे प्रचार होता जा रहा है। अभी हाल में वेलवेडियर प्रेस से पण्डित महावीरप्रसादजी मालवीय लिखित एक सुन्दर टीका प्रकाशित हुई है। उधर काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से एक शुद्ध मूल संस्करण प्रकाशित हुआ है। यह साहित्य के लिये मंगलाशा की सूचना नहीं तो क्या है?

उपर्युक्त टीकाओं में कोई न कोई बात समालोच्य अवश्य मिलेगी। किसी में साम्प्रदायिक पक्षपात की मोहर लगी है, तो किसी में अर्थ-भ्रान्ति खटकती है। किसी में केवल अलंकारों की ही छटा दिखाई पड़ती है। किसी न किसी अंश में अर्थभ्रान्ति का हो जाना तो सम्भव ही है। सम्पूर्णतः निर्दोष टीका न तो अभी तक बनी है और न बन सकेगी, क्योंकि ग्रन्थकार का सा हृदय पाना हमें तो असम्भव दिखायी देता है। और नितान्त निर्दोष टीका वही लिख सकेगा, जिसका हृदय ग्रन्थकारके हृदय के समान निर्मल और भावुक होगा। सो असम्भव है। अस्तु। यहाँ हम टीकाकारों की दो-चार बातों का, संक्षेप में, उल्लेख करना चाहते हैं। भक्तवर बैजनाथजी की टीका हमें सर्वश्रेष्ठ टीका जँची है। उसे देखने से उनके अगाध पांडित्य का पता चलता है। साथ ही उनकी भावुकता भी हृद्गत हो जाती है। यह सब होने पर भी कहीं कहीं पर उन्होंने सांप्रदायिक पक्षपात किया है, जो कदाचित् टीकाकार के लिये उचित नहीं है। २१४ वें पद की टीका लिखते हुए आपने पद में प्रतिपादित श्रीकृष्ण-भाव को गौण मान कर श्रीराम-भाव को प्रधानता प्रदान की है। इस प्रसङ्ग में आप को खींच-तान भी खूब करनी पड़ी है। पद के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि गुसाईंजी का इस पद के बनाते समय, ऐसा भाव कदापि न रहा होगा। हम यह नहीं कहते कि बैजनाथजी ने ऐसा अर्थ संकीर्णबुद्धि-वश किया है, या वे राम-कृष्ण में कोई वास्तविक भेद मानते थे। पर हाँ, वे अनन्यराम

भक्त थे। प्रेमावेश में, सम्भव है, उन्होंने ऐसा किया हो। किन्तु टीकाकार के लिये ऐसी बातें कुछ खटकती सी हैं। इसी भाँति और भी दो-एक स्थलों पर अर्थ की खींच-तान दिखाई पड़ती है। स्वर्गीय पण्डित रामेश्वर भट्टजी ने भी बैजनाथजी का अनुसरण करते हुए कहीं कहीं पर कुछ खींचतान की है। पण्डित महावीरप्रसादजी मालवीय ने जो टीका लिखी है, उसमें अलंकार ही अलंकार भर दिये गये हैं! अच्छा होता, यदि मालवीयजी अलंकारों के चक्कर में न पड़ कर सैद्धान्तिक टिप्पणियाँ लिखते, अर्थ-गांभीर्य दिखाते और भावों का यथेष्ट चित्रण करते। अलंकारों और काव्य-चमत्कारों पर ही यदि प्रकाश डालना उपयुक्त होता, तो लाला भगवानदीनजी-सरीखे साहित्य-ममज्ञ अब तक यह काम कर चुके होते। पर वे यह समझते हैं कि विनयपत्रिका पर टीका-टिप्पणी लिखते समय किस उद्देश की पूर्ति करना आवश्यक है। हमें तो लालाजी की संक्षिप्त टिप्पणी पर जितना सन्तोष हुआ है, उतना बड़ी बड़ी टीकाओं पर नहीं हुआ। हमें विश्वास है कि, भविष्य में टीकाकार महोदय किसी ग्रन्थ पर टीका लिखने के पूर्व इस बात पर भली भाँति विचार कर लिया करेंगे कि उस ग्रन्थ का जौहर किस तरह की टीका लिखने से खुलेगा। यदि हम बिहारी-सतसई में दार्शनिक रहस्य और कबीरबीजक में विभाव और संचारी भाव दिखाने की चेष्टा करें, तो यह बुद्धिमत्ता का काम न कहा जायगा। इसलिये यह काम बहुत ही सोच-विचार कर करना चाहिये। इन सब बातों के लिखने का यह तात्पर्य नहीं हैं कि, मेरी टीका और टीकाओं से श्रेष्ठ है और उसमें कोई दोष नहीं है। मेरी तो यह धारणा है कि सब से अधिक सदोष मेरी ही टीका है। कई भ्रान्तियां तो स्पष्ट हैं जिन्हे मैं निःसंकोच स्वीकार करता हूं, और कई ऐसी भी भूलें होंगी, जिन्हें मैं देख नहीं सकता। पर भूल भूल ही है, चाहे जिसकी टीका हो, और उसका संशोधन हो जाना भी अच्छा है।

पाठान्तर

प्राचीन साहित्य के पठन-पाठन के शैथिल्य से ग्रन्थों के शुद्ध संस्करण प्रायः मिलते ही नहीं। सूर-सागर जैसे ग्रन्थरत्न का शुद्ध संस्करण अप्राप्य सा हो गया है। देश के दुर्भाग्य से इस काम की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। हम लोग अपने प्राचीन साहित्य का नाश अपनी आँखों के सामने चुपचाप देख रहे हैं। जो ग्रन्थ मिलते भी हैं उनका यथेष्ट प्रकाशन नहीं होता। प्रकाशक भी इधर से निरपेक्ष से हो रहे हैं, उनका ध्यान अनुवादित उपन्यासों और नाटकोंकी ओर लगा । वे पैसेको की सर्वस्व मान बैठे हैं, भले ही साहित्य की हत्या हो। किसी ग्रन्थ के यथेष्ट सम्पादन के सम्बन्ध में यदि परिश्रम किया गया है, तो केवल रामचरितमानस के। धन्यवाद है काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा को कि जिसका ध्यान शुद्ध प्रकाशन की ओर लगा है!

रामचरितमानस के जितने संस्करण हुए, उन सबों में ही पाठान्तर है। किसी संस्करण पर क्षेपकों का सिक्का जमा है, तो किसी पर प्रेस के प्रेतों की अपार कृपा हुई है। फिर भी अन्य संस्करणों की अपेक्षा दो एक संस्करण अधिक महत्व के माने जा सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के शुद्ध संस्करण निकालने की ओर लोगों का बहुत कम ध्यान गया है। फिर भी श्रीयुत लाला भगवानदीन जी द्वारा संपादित सटिप्पण संस्करण और काशी नागरीप्रचारिणी-द्वारा प्रकाशित मूल संस्करण (संक्षिप्त टिप्पणी सहित) हमें अधिक शुद्ध समझ पड़ा है। श्री बैजनाथजी और भट्टजी के संस्करणों में बड़ा मतभेद है। किसी प्रति में 'जेहि' है तो किसी में 'जिहि' और किसी में 'जेइ' या 'ज्यहि'। इसी प्रकार 'मारेउ' 'मार्‌यो' आदि शब्दों में भेद मिलेगा। इन छोटी-छोटी बातों के अतिरिक्त कहीं-कहीं पर 'शब्दों' और 'चरणों' तक में मतभेद मिलता है। बैजनाथजी की प्रति में एक पूरा पद* अधिक मिलता है। इसी प्रकार

---

* जयति जय जानकी भानु-कुल-भानु की प्रान प्रिय वल्लभे, तरनिभूपे। इत्यादि। पृष्ठ १३४ देखो।

'जाके प्रिय न राम बैदेही' पद में, किसी किसी प्रति में, दो चरण अधिक मिलते हैं।† 'राम-रामु' 'लोग लोगु' का होना तो एक साधारण बात है। 'स' के स्थान पर 'श' 'न' के स्थान पर 'ण' और 'ज' के स्थान पर 'य' तो कई प्रतियों में मिलेगा।

इस पाप के भागी कुछ-कुछ प्रेसवाले भी हैं। अस्तु। हमें अधिक शुद्ध संस्करण काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ही समझ पड़ा है। यदि उस संस्करण में, पाद-टिप्पणियों के रूप में, अन्य प्रतियों का पाठान्तर दे दिया जाता, तो और भी अच्छा होता। ऐसा करने से अन्य प्रतियों के पाठ की तुलना और मीमांसा हो जाती। सभा का संस्करण भी प्रेस की कृपा से अछूता नहीं रहा। एक पद का तो एक चरण ही छूट गया है!

प्रस्तुत संस्करण में इन्हीं दो प्रतियों से अधिक सहायता ली गई है। कहीं कहीं पर मैंने वैजनाथी प्रति का पाठ ठीक समझा है, इसलिये वही रहने दिया है। मैंने 'ज्ञ' 'च्छ' और 'य' के स्थान पर क्रमशः 'ग्य' 'च्छ' और 'ज' का प्रयोग किया है। जहां अधिक मतभेद जान पड़ा, वहाँ पाद टिप्पणी में 'पाठान्तर' लिख दिया है। इस संस्करण का पाठ कहाँ तक शुद्ध है, इसे मैं विचार-शील पाठकों पर छोड़ता हूं। प्रेससम्बन्धी अशुद्धियां तो इसमें भी जहाँ-तहाँ मिलेंगी।

प्रस्तुत टीका

लोग कहेंगे कि एक से एक उत्तम टीका के होते हुए इसे क्या पड़ी थी, जो एक और टीका लिख डाली। बात तो सच है, पर मेरे पास इस प्रश्न का एक विनम्र उत्तर भी है। विनयपत्रिका पर मेरा बचपन से ही प्रेम है। विनयपत्रिका ने मुझे घोर नास्तिकभावों से बचाया है। मुझे इस ग्रन्थ-रत्न के पढ़ने का सदा से ही चाव रहा है। कभी कभी यह भी इच्छा होती थी कि इसपर कुछ लिखूँ,

---

† तात मात भ्राता सुत पति हित इन समान कोउ नाहीं।
रघुपति-बिमुख जानि लघु तन इव तजत न सुकृत डेराहीं॥

पर अल्पज्ञता-वश लेखनी उठाने का साहस न पड़ता था। इच्छा कैसे दब सकती थी? दबना तो दूर रहा, वह और भी प्रबल होती गई। इधर मेरे मित्र बाबू मुकुन्ददासजी ने भी मुझसे यह काम करने को कहा। एक पर एक ग्यारह। मैंने लिखना शुरू कर दिया और भगवत्कृपा से मेरा बाल-विनोद पूरा भी हो गया। अन्य उत्तमोत्तम टीकाओंके होतेहुए भी मैंने यह टीका क्यों लिखी, इसका उत्तर नीचे लिखे दोहे में मिल सकता है—

'जदपि कह्यो बहुविधि कविन, बरनि अनेक प्रकार।
तदपि सदा नित नित नवल, कृष्ण-चरित्र उदार॥' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

यह ग्रन्थ भक्ति-रस का अथाह समुद्र है। इसमें से अनेक रसिकों ने सुधा पान किया है, अनेकों कर रहे हैं और करेंगे। फिर मैं ही क्यों इस पुण्याधिकार से वंचित रहूँ? इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं रसिक बनने का दावा करता हूं। पर हां, यह बात अवश्य है कि श्री-राम-रसिकों के कैंकर्य स्वीकार करने की चेष्टा कर रहा हूँ। और इसी नाते से इस रस-रत्नाकर के समीप पहुंचने का साहस किया है। क्या भक्तिरस-रसिक मेरी इस अनधिकार चेष्टा को क्षमा न करेंगे?

मेरे गोलोकवासी पूज्यपाद गुरुदेव ने विनयपत्रिका के पढ़ने का मुझे उपदेश दिया था। उन्होंने कई पदों का जो अनुभवगम्य अर्थ बतलाया था, वह आज भी इस मलिन हृदय में कुछ न कुछ अंकित है। पाठक! यदि आपको इस टीका में कहीं कोई सुंदर अर्थ दिखाई दे, तो वह मेरे गुरुदेव का समझियेगा, मेरा नहीं। और जहां कहीं अयथार्थ अथवा उपहासास्पद बात आ जाय, उसे मेरी मान लीजियेगा। सच पूछा जाय तो सिवा भूलों के मैंने किया ही क्या है? दो चार टीकाएँ और कुछ अन्य कवियों की पुस्तकें सामने रख कर टीका लिखने का साहस किया है। इधर-उधर का मसाला जुटा कर एक स्थान पर रखा है, सो भी अनाड़ीपन से। मैंने तो ऐसा कोई भी काम नहीं किया कि जिससे 'टीकाकार' होने का दावा कर सकूं। फिर भी मैं निर्लज्ज होकर आपके आगे यह टीका उपस्थित कर रहा हूं। आशा है, आप मेरी निर्लज्जता पर ही प्रसन्न होकर मुझे क्षमा कर देंगें।

मैंने इस टीका में, प्राय: प्रत्येक पद में, कुछ टिप्पणियां लिखी हैं। यदि कहीं कुछ विशेष अर्थ जान पड़ा, तो टिप्पणी के रूप में लिख दिया है। पाठकों के मनोविनोदार्थ किसी विशेष प्रसंग पर अन्य कवियों के छंद भी तुलनात्मक रीति से उद्धृत कर दिये हैं। मैं यह नहीं जानता कि मेरा यह प्रयास कहां तक सफल हुआ है। रही टीका, सो, जैसा मैं कह चुका हूँ, बिलकुल साधारण है। शब्दों का जैसा कुछ सीधा-सादा अर्थ समझ पड़ा है, वैसा टूटी-फूटी भाषा में लिख दिया है। यही सब इस टीका की विशेषताएं हैं। न मैं साहित्य का ही पंडित हूं और न दार्शनिक सिद्धान्तों का ही। न भगवद्भक्ति का लेश ही हृदय में है। ऐसा आदमी विनयपत्रिका पर कैसी टीका लिखेगा, इसे कहने की जरूरत नहीं। इतनी प्रसन्नता मुझे अवश्य है कि रसिक जन इस पुस्तक को पढ़ते समय टीका पर भी दृष्टिपात करेंगे। उनकी दिव्य दृष्टि पड़ते ही मेरा परिश्रम सफल हो जायगा। अग्नि में वह सामर्थ्य हैं कि वह सुवर्ण की कालिमा को भी निर्मल कर देता है। मेघ सब वृक्षों पर समान दृष्टि से ही बरसता है।

मेरी राय में गुसाईंजी का प्रत्येक पद वेद का मंत्र है। कोई कोई पद तो मुझे वैदिक ऋचा से भी ऊँचा समझ पड़ा है। मेरा कुछ ऐसा ही विश्वास है। लोग कहेंगे कि यह कैसा मूर्ख है जो भाषा के पदों को वैदिक ऋचाओं से ऊंचा मानता है। मैं किसीके कहने की परवा नहीं करता। मेरा ऐसा ही विश्वास है। बस, हो चुका।

> "अपने अपने कर थपैं, लिखि पूजैं तिय भीत।
> सकल फलै मन कामना, 'तुलसी' प्रेम प्रतीत॥"

इस टीका का नाम मैंने 'हरि-तोषिणी' रखा है। क्या इससे हरि भगवान् को संतोष होगा? आशा तो ऐसी ही है, आगे राम जानें। मैंने यह सुना है कि देवता के आगे फूलों के साथ पत्ते भी पहुँच जाते हैं, हार के साथ धागा भी चला जाता है। बड़े के पैर में सब का पैर समाता है, इसी लोकोक्ति पर विश्वास कर के मैंने यह आशा की है कि कदाचित् भगवान् को विनयपत्रिका पढ़ते समय, इस टीका से भी यत्किंचित् संतोष हो। क्या करूं, मुझे इससे सुंदर दूसरा नाम ही नहीं समझ पड़ा।

टीका के सम्बन्ध में मेरा इतना ही वक्तव्य है। कोई अधिक मूल्य की वस्तु होती, तो उस पर कुछ लिखा भी जाता। भला, ऐसी साधारण टीका पर इससे अधिक मैं लिख ही क्या सकता हूँ ?

उपसंहार

संक्षेप में, विनयपत्रिका का दिग्दर्शन हो चुका। अब अंत में, मेरी यही विनीत प्रार्थना है कि भगवद्भक्तों और साहित्य-रसिकों को इस उत्कृष्ट ग्रन्थ का अनुशीलन अवश्य करना चाहिए। भक्तों को तो चाहिए कि वे इसे अपना कंठाभरण बना लें। इसके कुछ पद तो ऐसे हैं कि जिन्हें हिन्दू ही नहीं, वरन् प्रत्येक जाति और मजहब के लोग श्रद्धा के साथ पढ़ सकते हैं। पाश्चात्य देशों में बाइबिल में डेबिड के भजन अद्वितीय समझे जाते हैं, पर यदि वहां के लोग विनयपत्रिका पढ़ें और उसके पदों का भावार्थ समझें तो डेविड के भजन उन्हें विस्मृत ही हो जायँ। विद्वद्वर डाक्टर ग्रियर्सन ने तो ईसाइयों को विनय पत्रिका के १४२ और १४३ वें पद के पढ़ने की सलाह दी है। वास्तव में, यह ग्रन्थ ऐसा ही ह। इसकी रचना मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ हुई है। जीव जो कुछ अपने संबंध में परमात्मा के प्रति निवेदन कर सकता है, वह सभी इस में विद्यमान् है। यह ग्रन्थ मनोवैज्ञानिकों के भी काम का है। इसके प्रायः प्रत्येक पद में मानसिक विश्लेषण के चित्र अंकित मिलते हैं। इस ग्रन्थ के पढ़ने से कैसा भी पापी क्यों न हो, अवश्य सच्चरित्र और भगवद्भक्त हो सकता है, यह हमारा दावा है। गुसाईं तुलसीदासजी की वाणी साधारण कविता नहीं है, वरन् उच्चादर्शों, अनुभवगम्य सिद्धान्तों और भक्तिभावों की अलौकिक मंजूषा है। भागवत-भषण अम्बिकादत्त व्यास ने क्या खूब कहा है—

> 'डगर डगर अरु नगर नगर माहिं,
> कहाँन पसारी राम चरित अवलि की।
> कहैं कवि अंबादत्त राम ही की लीलन सों,
> भरि दीनी भीर सबै चहलि पहलि की॥

सूद्रन तें ब्राम्हन लौं, मूरख तें पंडित लौं,
रसना डुलाई सबै जै जै बलि बलि की।
यम को भगाय पापपुंज को नसाय आज,
तुलसी गुसाईं नाक काटि लीनी कलि की॥'

इसी वाणी पर सुरसिक रसरंगमणिजी भी एक अनूठा कवित्त लिख गये हैं। देखिये–

'यम की अनी की सुख लावनी मसी की मानो,
कन्या भानुजी की मोद मथुरापुरी की है।
कीरति हरी की सुख नैन तें बही की रसरंग,
तारनी की धार सरजू सरी की है॥
काटनी कसी की विषय आस फाँसरी का सुख्य,
म्यान में बसी की चोखी पुत्रिका असी की है।
सारद ससी की सम हरै ताप जाको प्रेम,
भक्ति सिय-पी की दानी बानी तुलसी की है॥'

इस दिव्यबाणी पर सैकड़ों कवियों ने अनेक छंद लिखे हैं। स्थल-संकीर्णता-वश अधिक छंद उद्धृत नहीं किये जा सकते। फिर भी तुलसी-गुण-गान से जी नहीं मानता। इस पुनीत कविता-सरोवर में अवगाहन करने को बहुत कुछ इच्छा होती है। पर सुअवसर कहां, सौभाग्य कहां, सुपात्रता कहां? इस अवसर पर मुझे सुहृद्वर कृष्णविहारी मिश्र का यह कवित्त बार-बार याद आ रहा है–

'देव-बानी वैभव को मिलै जो सहारो कछू, सूर के प्रकास को तुरत अपनाऊं मैं।
मंजुल बिमल रामचरित के मानस में उमँगि उमँगि चिरकाल लौं नहाऊँ मैं॥
नेह रंग-मगे लै कै विनय की पाती करि नैनन के सोहैं राखि सुख सरसाऊँ मैं।
तनमय ह्वै कै आचरन करौं उनहीं के। दास तुलसी के गुन तब कहि पाऊ मैं॥'

अलम् विद्वत्सु
प्रयागराज
मार्गशीर्ष शुक्ल ५, संवत् १९८०

श्रीहरिदासानुदास
वियोगी हरि

॥ श्री ॥

श्रीहरि-तोषिणी टीका-समलंकृता

विनय-पत्रिका

पूर्वार्द्ध

मंगलाचरण

बन्दौं रघुपति-पद-पदुम मुनि-मन-मानस-हंस।
दुरलभ ब्रह्मानन्द हू जिन चरनन को अंस॥

❀ ❀ ❀

जय मिथिलेश-लली-चरन मंगलकरन अनूप।
रामभक्त-उर-आभरन मुक्ति-सार रस-रूप॥

❀ ❀ ❀

विनयपत्रिका-कार त्यों रामचरित रस--रास।
बन्दौं कवि-कुल-तिलक श्री रसनिधि तुलसीदास॥

❀ ❀ ❀

श्रीगुरु जुगलप्रिया-चरन बार बार उर लांय।
टीका श्रीहरि-तोषिणी लिखौं राम गुन-गाय॥

❀ ❀ ❀

या पातीं पै नाथ ! जब करो कृपा की कोर।
मेरी हू सुधि लीजियो दसरथराज-किसोर॥

श्रीश्रीजानकीवल्लभाय नमः

राग विलावल

श्री गणेश-स्तुति

(१)

गाइये गनपति जगबन्दन। संकर-सुवन-भवानी-नन्दन ॥ १ ॥
सिद्धि-सदन, गजबदन, विनायक। कृपा-सिंधु, सुन्दर सब लायक॥ २ ॥
मोदक-प्रिय मुद-मंगल-दाता। विद्या-वारिधि, बुद्धि-विधाता॥ ३ ॥
मांगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—नन्दन = आनन्दवर्द्धन, प्रसन्न करनेवाले। सिद्धि = योगशास्त्रानुसार एक अलौकिक शक्ति, जिसे प्राप्त कर मनुष्य विलक्षण कार्य सम्पन्न कर सकता है। सिद्धि के आठ भेद हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। मानस = मनरूपी मानसरोवर, मानसिक स्थान।

भावार्थ—समस्त संसार से वन्दनीय, शिव जी के गणों के स्वामी श्रीगणेश जी का गुणगान करो। वह कल्याण-कारी शिव और पार्वती के पुत्र हैं, वह सदा अपने माता-पिताको प्रसन्न रखते हैं ॥ १ ॥ बड़ी बड़ी सिद्धियों के तो वह स्थान ही हैं, अर्थात् वह बात की बात में सिद्धियाँ दे डालते हैं। उनका मुख हाथी जैसा है। वह सारे विघ्नों वा अनिष्टोंके स्वामी हैं, उनकी कृपासे कोई विघ्न-बाधा नहीं सताती, वह कृपाके समुद्र, नित्य लावण्यमय, सर्वगुण-संपन्न हैं।॥२॥ उन्हें लड्डू बड़ा प्यारा है। वह आनन्द और कल्याण को देनेवाले हैं। विद्या के तो सागर ही हैं। बुद्धि को चाहे जैसा बना सकते हैं ॥ ३ ॥ ऐसे महामंगलरूप

श्री गणेशजी से मैं, तुलसीदास, हाथ जोड़कर केवल यही वर मांगता हूँ कि श्री सीताराम जी सदा मेरे मनो मन्दिर में निवास करें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) यहां, यह प्रश्न उठता है कि, जब गोस्वामी तुलसीदासजी परम वैष्णव थे, तो उन्होंने आदिमें श्री रामचन्द्रजी की वन्दना न करके गणेशजीका गुणगान क्यों किया है ? इसका समाधान यों हो सकता है कि गोस्वामीजी ने गणेशजी पर सर्वपरत्व की छाप तो लगायी नहीं, उनकी रामचन्द्रजी पर अनन्यनिष्ठा ज्योंकी त्यों बनी है । गणेशजी के सब गुणोंका गान करने पर भी उनसे सिवा श्री राम-भक्ति के और कुछ नहीं मांगा । लक्ष्य एक ही रहा है, साधन चाहे जितने और जैसे हों । फिर गोस्वामीजी अखिल लोकेश्वर रामचन्द्रजी के पास अपनी पत्रिका (विनय-पत्रिका) एक दम सीधी कैसे भेज सकते थे ? राज्य-चक्रके सेवन किये बिना राजा अपने हाथ में कैसे आ सकता है ? मंत्रियों और द्वारपालों द्वारा ही राजा के पास रसाई होती है । इसी नीति से ग्रन्थकार ने पहले गणेश जी की वन्दना की है । उनके बाद सूर्य, शिव, पार्वती, हनूमान आदि देवी-देवताओं की स्तुति की है । इस सिद्धान्त से उनकी इष्टानन्यता में कोई कमी नहीं आ सकती। उनका तो यही विचार रहा होगा कि—

"सर्वदेव-नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति"—श्री मद्भगवत गीता ।

(२) इस पद के प्रथम चरण में 'संकर-सुवन-भवानी-नन्दन' वाक्य आया है । इसका अर्थ 'शंकर और भवानीके पुत्र' ऐसा किया गया है । 'सुवन' शब्द 'देहली-दीपक' अलंकार का बोधक है ।

(३) इस पद में 'मंगलाचरण' की पर्याप्त सामग्री है । गणपति से 'ऐश्वर्य' शंकर से 'कल्याण' विनायक से 'पराक्रम', मोदक, मुद और मंगल से 'आनन्द', विद्या और बुद्धि से 'ज्ञान' तथा कृपा-सिन्धु से 'मनस्कामना-पूर्त्ति' की सूचना मिलती है ।

सूर्य-स्तुति

(२)

दीन दयालु दिवाकर देवा । कर मुनि मनुज सुरासुरसेवा ॥ १ ॥
हिम-तम-करि-केहरि करमाली । दहन दोष-दुख-दुरित-रुजाली॥ २ ॥
कोक कोकनद लोक प्रकासी । तेज-प्रताप-रूप-रस-रासी ॥ ३ ॥

सारथि पंगु, दिव्य रथ-गामी। हरि-संकर-विधि-मूरति स्वामी॥ ४॥
वेद-पुरान प्रगट जस जागै। तुलसी राम-भक्ति वर मांगै॥ ५॥

शब्दार्थ—करि = हाथी। केहरि = सिंह। करमाली = किरणें ही जिन की माला हैं। दहन = आग। दुरित = पाप। रुज + आली = रोगों की पंक्ति, रोग-समूह। कोक = चकवा-चकवी। कोकनद = कमल।

भावार्थ—हे दीनों पर दया करनेवाले सूर्य नारायण! मुनि, मनुष्य, देव और दैत्य सभी आप की सेवा करते हैं॥ १॥ आप पाला और अन्धकार रूप हाथियों के मारने के लिये साक्षात् सिंह हैं। आप किरणों की माला धारण किये रहते हैं। दोष, दुःख, पाप और रोग-समूह को आप अग्नि के समान भस्म कर डालते हैं॥ २॥ आप चकवा-चकवो पक्षियों को, उनकी विरह-व्यथा दूर कर, प्रसन्न करने वाले हैं, कमल को प्रफुल्लित करनेवाले तथा समस्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने वाले हैं। तेज, पराक्रम, रूप और रस की तो आप राशि ही हैं॥ ३॥ आप चढ़ते तो दिव्य रथ पर हैं, किन्तु सारथी लूला–लँगड़ा है। हे स्वामी! आप विष्णु, शिव और ब्रह्मा-इन तीन देवताओं के रूप में भासित होते हैं॥ ४॥ आप का यश वेदों और पुराणों में उजागर है। तुलसी आप से केवल श्रीराम-भक्ति मांगता है॥ ५॥

टिप्पणी—(१) चकवा-चकवी रात्रि को अलग अलग हो जाते हैं और सवेरा होते ही फिर मिल जाते हैं। इन के संयोग के कारण सूर्यनारायण ही हैं।

(२) इस पद में सूर्य देव को 'रस-राशि' कहा है। ठीक ही है, यदि वह अपनी किरणों से जलाकर्षण न करें, तो वर्षा कहां से हो, और फिर फल एवं अन्न कैसे उत्पन्न हो! इस 'रस-राशि' विशेषण से ग्रन्थकार का वैज्ञानिक ज्ञान प्रकट होता है।

(३) भगवान् भास्कर ने लूले–लँगड़े सारथी को खारिज नहीं किया, उसे बराबर अपने दिव्य रथ पर रखते हैं। यह दीन-दयालुता का काफ़ी सुबूत है।

(४) सूर्य प्रातःकाल ब्रह्म-रूप, मध्यान्हकाल शिव-रूप, तथा सायंकाल विष्णु-रूप माने जाते हैं। भविष्य पुराण में लिखा है—

"उदये ब्रह्मरूपस्तु, मध्यान्हेतु महेश्वरः।
अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रिमूर्तिस्तु दिवाकरः॥"

शिव-स्तुति

(३)

को जाँचिये संभु तजि आन।

दीनदयालु भक्त-आरति-हर, सब प्रकार समरथ भगवान॥ १॥
कालकूट-ज्वर-जरत सुरासुर, निज पन लागि कीन्ह विष-पान।
दारुन दनुज जगत-दुखदायक, मारेउ त्रिपुर एकही बान॥ २॥
जो गति अगम महामुनि दुर्लभ, कहत संत स्रुति सकल पुरान।
सो गति मरन-काल अपने पुर, देत सदासिव सबहिं समान॥ ३॥
सेवत सुलभ उदार कल्पतरु, पारवती-पति परम सुजान।
देहु काम-रिपु राम-चरन-रति, तुलसिदास कहँ कृपानिधान॥ ४॥

शब्दार्थ—आरति = दुःख। कालकूट = हलाहल विष, जो समुद्रमंथन के समय १४ रत्नों के साथ निकला था। गति = मुक्ति। सदाशिव = सदैव कल्याणकारी। कामरिपु = कामदेव को जलानेवाले शिवजी।

भावार्थ—शिवजी को छोड़ कर और किस से मांगना चाहिए ? दीनों पर दया करने वाले, भक्तों के दुःख हरनेवाले, सब प्रकार से समर्थ और साक्षात् भगवान् आप ही तो हैं॥ १॥ जब हालाहल विष की प्रचंड ज्वाला से देवता और दैत्य सभी जलने-बलने लगे, तब अपनी दीनदयालुता का प्रण रखने के लिये आप उस विष को देखते देखते पान कर गये। इसी प्रकार महा घोर दनु का पुत्र त्रिपुर जब संसार को दुःख देने लगा, तब उसे आप ने एक ही बाण से मार गिराया॥ २॥ जिस मुक्ति को संत, वेद और सारे पुराण बड़े बड़े मुनियों को भी दुर्लभ बताते हैं, उसे, आप समता की दृष्टि से, अपनी काशीपुरी में मरने पर अनायास सभी को दे देते हैं॥ ३॥ सेवा करने से आप सहज ही प्रसन्न हो जाते हैं। हे पार्वतीवल्लभ ! हे परम ज्ञानी ! आप कल्पवृक्ष के समान उदार हैं। हे काम को भस्म करनेवाले ! हे कृपानिधान ! कृपाकर तुलसीदास को श्रीरामजी के चरणों में भक्ति दे दीजिए॥४॥

टिप्पणी—(१) भगवान् उसे कहते हैं जिस में ये षड् गुण विद्यमान हों—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष।

(२) जब देवताओं और दैत्यों ने अमृत निकालने के लिये समुद्र को मथा, तब उसमें से सब से पहले विष निकला। विष की ज्वाला से सब लोग जलने लगे। सिवा शिवजी के किस का सामर्थ्य था जो उसे पान कर जाय? सब ने उन्हीं से ऐसा करने की प्रार्थना की। भक्तवत्सल भगवान् शंकर कालकूट विष को पी गये।

(३) दनु का पुत्र त्रिपुर बड़ा ही घोर दैत्य था। जब उस के मारे तीनों लोकों का नाकों दम हो गया, तब प्रार्थना करने पर शंकर जी ने उसे एक ही बाण से मार गिराया। तभी से आप का नाम त्रिपुरारी पड़ गया।

(४) शिवजी, कहते हैं, काशीपुरी में सब जीवों को रामतारक महामंत्र का गुरु-रूप हो कर उपदेश देते हैं। इसी प्रभाव से वहां के सब जीव मोक्ष के अधिकारी माने जाते हैं। अध्यात्मरामायण में शिवजी ने स्वयं कहा है—

"अहो! भवन्नाम जपन् कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मंत्रं तव राम नाम" ॥

इसी लोभ के मारे महाकवि सेनापति ने भी कहा है—

"पढ़ी और विद्या, गई छूटि न अविद्या, जान्यो, अच्छरु ने एक धोख्यो कैयो जनमनु है।
ताते कीजे गुरु जाइ जगत गुरु को जाते, ग्यान पाइ जीव होतु चिदानंद घनु है।
मिटत है काम क्रोध ऐसो उपजनु बोध, 'सेनापति' कीनों सोध कह्यो निगमनु है।
बारानसी जाइ मनिकरनी अन्हाइ मेरो, संकर ते राम राम पढ़िबे को मनु है॥"

(५) इस पद में शंकरजी की दीनदयालुता, भक्तवत्सलता सामर्थ्य, भगवद्विभूति, परमोदारता और कृपालुता का भली भांति पुष्टीकरण किया गया है।

राग धनाश्री

(४)

दानी कहुँ संकर-सम नाहीं।
दीनदयालु दिबोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं॥ १॥
मारि कै मार थप्यौ जग में, जाकी प्रथम रेख भट माहीं।
ता ठाकुर को रीझि निवाजिबौ, कह्यौ क्यों परत मो पाहीं॥ २॥
जोग कोटि करि जो गति हरि सों, मुनि माँगत सकुचाहीं।

वेद-विदित तेहि पद पुरारि पुर, कीट पतंग समाहीं ॥ ३ ॥
ईस उदार उमापति परिहरि, अनत जे जाचन जाहीं।
तुलसिदास ते मूढ़ मांगने, कबहुं न पेट अघाहीं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—दिबोई = देना ही। सोहाहीं = अच्छे लगते हैं। मार = कामदेव। ठाकुर = स्वामी। पुरारि = पुर दैत्य के शत्रु शिवजी।

भावार्थ—शिवजी के समान कहीं कोई दानी नहीं है। वह दीनों पर दया करते हैं, उन्हें एक देना ही अच्छा लगता है। भिखमंगे उन्हें सदा सुहाते हैं ॥१॥ योद्धाओं में अग्रगण्य कामदेव को भस्म कर उसकी स्त्री रति का विरह-विलाप देख कर जिन शिव जी ने फिर उसे संसार में (अनंग नाम से) रहने दिया, उन स्वामी का प्रसन्न हो कर कृपा करना मुझ से कैसे कहा जा सकता है ! ॥२॥ बड़े बड़े मुनि करोड़ों प्रकार का योगाभ्यास कर के विष्णु भगवान् से जिस मोक्ष के मांगने में संकोच करते हैं, वह परम गति त्रिपुरसंहारक शिवजी की पुरी (काशी) में कीट पतंग तक पा जाते हैं, यह वेदों में भी प्रकट है ॥३॥ ऐसे ऐश्वर्यवान् परमदानी पार्वतीवल्लभ शिवजी को छोड़ कर जो लोग इधर उधर मांगने के लिये दौड़ते हैं, उन मूर्ख भिखमंगों का पेट कहीं भी भली भांति नहीं भरता, सदा दाने दाने को मोहताज रहते हैं ॥४॥

टिप्पणी—(१) यह परम प्रसिद्ध बात है कि काशीपुरी में मरने से मुक्ति अवश्य प्राप्त हो जाती है। प्रमाण भी है—

काश्यांतु मरणान्मुक्तिः।

(२) करोड़ों योग साधन करने पर भी मुनि मुक्ति मांगने में संकोच क्यों करते हैं ? इसलिये कि कहीं अनेक जन्मार्जित पापसंचयवश अनधिकारी होने के कारण कोरा जवाब न मिल जाय। क्योंकि भगवत्स्वरूप का यथेष्ट ज्ञान हो जाना अत्यंत कठिन है। गीता में लिखा है—

"मनुष्यानाम् सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥"

(५)

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन, देत दये बिनु, बेद-बड़ाइ भानी॥ १॥
निज घर की बरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।
सिव की दई सम्पदा देखत, श्री-सारदा सिहानी॥ २॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुखकी नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी॥ ३॥
दुखी दीनता दुखियन के दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी॥ ४॥
प्रेम-प्रसंसा-बिनय-ब्यंगजुत, सुनि बिधिकी बरबानी।
तुलसी मुदित महेस मनहि मन, जगत-मातु मुसुकानी॥ ५॥

शब्दार्थ—बावरो = पागल। नाह = नाथ, पति। सिहानी = ललचाती हैं नाक = स्वर्ग; इन्द्र। सँवारत = सेवा करता है। नक बानी आयो = नाकों दम आ गया। ब्यंग = सीधे अर्थ को छोड़ कर कुछ का कुछ भाव दरसाना। जगत-मातु = जगज्जननी पार्वतीजी।

प्रसंग—शिवजी की असीम उदारता देखकर ब्रह्मा सोचने लगे—यदि सदा ऐसी ही फ़िज़ूलखर्ची रही, तो एक दिन मेरे ख़जाने का दिवाला ही निकल जायगा! क्या करना चाहिये? शंकर के सामने जाकर उन्हें समझाना बुझाना व्यर्थ है। हो न हो, पार्वती के कान में यह बात डाल देनी चाहिए। वही शिवके अपव्यय को रोक सकेंगी। यह निश्चय कर ब्रह्मा कैलास पर्वत पर जाकर हाथ जोड़ पार्वतीजी से बोले:—

भावार्थ—हे भवानी! आप के पति पागल हो गये हैं। जब देखो तब वह देते ही रहते हैं। वह ऐसों को भी दे देते हैं जिन्होंने कभी किसी जन्म में किसी को एक कौड़ी भी नहीं दी। ऐसा करने से वेद की मर्यादा टूटती जा रही है, क्योंकि वेदानुसार वही दान पाने का अधिकारी हो सकता है, जिसने कभी किसी को कुछ दिया हो॥ १॥ आप तो बड़ी चतुर हो, ज़रा अपने घर की बात तो देखो! वह यह कि आप के पति ने देते देते सारी गिरस्ती लुटा डाली है, घर में भूँजी भाँग भी नहीं रही। शिव की दी हुई

संपत्ति देख देख कर लक्ष्मी और सरस्वती भी मन ही मन आप की प्रशंसा करती हैं कि धन्य है पार्वती को, जिन्हें ऐसा उदार पति मिला, चाहे यह प्रशंसा हँसी-मज़ाक भरी हो, कौन जाने ! ॥ २ ॥ जिन लोगों के मस्तक पर मैंने सुख का नाम तक नहीं लिखा था, आज उन्हें शिवजी की दयालुता से इन्द्रादि देवताओं से सेवित देखकर मेरा नाकों दम आ गया है ॥ ३ ॥ दुखियों के दुःख और दीनता भी दुखी हो रही हैं। याचकता व्याकुल हो तड़प रही है, क्योंकि अब इन बेचारों को कहीं रहने के लिये ठौर-ठिकाना तक नहीं। यह ख़ज़ाने का अधिकार किसी दूसरे के सिपुर्द कर दीजिये, मुझे न चाहिए। मैं भीख मांगकर खाऊँगा, पर आपके यहाँ का अधिकारी न बनूंगा ॥ ४ ॥ प्रेम, प्रशंसा और व्यंग्य भरी ब्रह्मा की सुन्दर स्तुति सुनकर महादेव जी मनही मन प्रसन्न हुए और जगज्जननी पार्वतीजी भी मुसकराने लगीं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) इस पद में 'व्याज-स्तुति' अलंकार है। जहां सीधे अर्थ को छोड़ कर हेर फेर के साथ दूसरा भाव प्रकट किया जाता है; वहाँ 'व्याज अथवा व्यंग्य' होता है। इसके दो भेद होते हैं—(१) व्याज-स्तुति और दूसरा (२ व्याजनिन्दा। जहाँ निंदा करके स्तुति प्रकट की जाय, वहाँ व्याजस्तुति और जहां स्तुतिकरके निन्दा का भाव प्रकट किया जाय, वहाँ व्याज-निन्दा अलंकार होता है। व्यंग्य का लक्षण यह है—

'सूधो अर्थ जु वचन को, तिहि तजि औरहि बैन।
समुझि परै तिहि कहत हैं, सक्ति व्यंजना ऐन ॥' —काव्य निर्णय।

(२) 'ब्रह्माकी वर बानी' में 'वर' शब्द बड़े महत्व का है। इससे ब्रह्मा की विलक्षण चातुरी, हास्य, श्रवण-रोचकता, प्रेमस्फूर्ति और गूढ़ भावना प्रकट होती है।

राग रामकली

(६)

जाचिये गिरिजापति, कासी। जासु भवन अनिमादिक दासी ॥१॥
औढ़र-दानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे ॥२॥
सुख संपति मति सुगति सुहाई। सकल सुलभ संकर सेवकाई ॥३॥
गये सरन आरत के लीन्हे। निरखि निहाल निमिषमहं कीन्हे ॥४॥
तुलसिदास जाचक जस गावै। बिमल भगति रघुपति की पावै ॥५॥

शब्दार्थ—अनिमादिक = अणिमा, गरिमा आदि आठ सिद्धियां। औढर-दानि = उस दान के देने वाले जिसे और कोई न दे सके, बिना सोचे समझे दे डालने वाले। द्रवत = दयार्द्र हो जातेहैं। सुगति = मोक्ष।

भावार्थ—पार्वती-वल्लभ शंकरजी से ही मांगना चाहिए। जिनका निवास-स्थान काशी है और अणिमा आदि आठो सिद्धियां जिनकी दासी हैं॥ १॥ शिवजी औढर दानी हैं, थोड़ी ही सी सेवा से प्रसन्न हो जाते हैं। दीनों को हाथ जोड़े हुए खड़ा नहीं देख सकते, उन पर तुरंत कृपा कर देते हैं ॥ २॥ शंकरजी की सेवा से सुख संपत्ति, सुबुद्धि, मोक्ष आदि सब पदार्थ सुलभ हैं। ॥ ३ ॥ उन्होंने शरण में गये हुए जीवों को अपना लिया और उनको पल भर में निहाल कर दिया है ॥४॥ भिखारी तुलसीदास भी इसी आशा से उनका यश गाता है कि उसे श्री रघुनाथ जी की निर्मल भक्ति प्राप्त हो ॥५॥

(७)

कस न दीन पर द्रवहु उमावर। दारुन विपति हरन, करुनाकर ॥१॥
वेद-पुरान कहत उदार हर। हमरि बार कस भयहु कृपिनतर॥२॥
कवनि भगति कीन्ही गुननिधि द्विज। ह्वै प्रसन्न दीन्हेहु सिव पदनिज ॥३॥
जो गति अगम महामुनि गावहिं। तव पुर कीट पतंगहु पावहिं ॥४॥
देहु काम-रिपु, राम-चरन रति। तुलसिदास प्रभु हरहु भेद-मति ॥५॥

शब्दार्थ—उमावर = पार्वती के पति। पद निज = कैवल्य पद। भेदमति = भेदबुद्धि; 'मैं और हूं, तू और है' ऐसी वैषम्यभरी बुद्धि।

मैं अरु मोर तोर तैं माया—रामचरित-मानस।

भावार्थ—हे पार्वती-रमण! आप मुझ दीन पर कृपा क्यों नहीं करते? आप तो घोर आपत्तियोंके दूर करनेवाले और कृपाके स्थान हैं॥ १॥ वेद-पुराण तो सदा यही कहते हैं कि शिवजी बड़े उदार हैं, फिर वह उदारता मेरे लिये कहां गयी? आप मेरे ही लिये ऐसे कंजूस क्यों हो गये? ॥ २॥ गुण-निधि नामके ब्राह्मण ने आपको कौन सी भक्ति की थी, जिसे आपने प्रसन्न होकर कैवल्य पद प्रदान कर दिया? ॥ ३॥ बड़े बड़े मुनि जिस मोक्षगतिको अगम मानते हैं, वह आपके पुर (काशी) में कीट पतंगों तक को प्राप्त हो जाती

है ॥ ४ ॥ हे मदन मर्दन ! तुलसीदास को श्रीरामजी के चरणोंमें अटल भक्ति दीजिये और उसका अविद्यात्मक भेद-ज्ञान हर लीजिये।

टिप्पणी—(१) गुणनिधि नामका एक ब्राह्मण बड़ा चोर था। एक दिन वह एक शिवालय का घंटा चुराने गया। घण्टा बहुत ऊंचा था। जब वहां तक न पहुंच सका, तब शिवमूर्ति के ऊपर चढ कर उसे खोलने लगा। शिव जी प्रकट हो गये और प्रसन्न हो कर उससे बोले—"जो वर मांगना हो, मांग। हम तुझ पर बड़े प्रसन्न हैं। तू ने आज हम पर अपना सर्वस्व चढ़ा दिया है!" शिव जी की कृपा से वह कैलाश लोक चला गया और वहां कैवल्य पद का अधिकारी हुआ।

(२) भेद-बुद्धि से यहां जीव-वैषम्य से तात्पर्य है, जीव-ब्रह्म से नहीं। क्योंकि गुसाईं जी ब्रह्मात्मैक्य के मानने वाले नहीं थे।

(३) काम-रिपु शब्द बहुत ही सार्थक है। जब तक काम-लिप्सा रहेगी, तब तक राम-भक्ति कैसे हो सकती है? इसीलिये गुसाईं जी पहले कामवासनाएं दूर करने की प्रार्थना करते हैं, पीछे राम-भक्ति मांगते हैं।

(८)

देव बड़े, दाता बड़े, संकर बड़े भोरे।
किये दूर दुख सबनिके, जिन जिन कर जोरे ॥ १ ॥
सेवा सुमिरन पूजिवो, पात आखत थोरे।
दियो जगत जहँ लगि सबै, सुख, गज, रथ, घोरे ॥ २ ॥
गाँव बसत बामदेव, मैं कबहूँ न निहोरे।
अधि-भौतिक बाधा भई, ते किंकर तोरे ॥ ३ ॥
बेगि बोलि बलि बरजिये, करतूति कठोरे।
तुलसी दल रूंध्यो चहैं, सठ साखि सिहोरे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—भोरे = भोले, सीधे। पात = पत्ते, बेलपत्र। आखत = अक्षत, चावल। घोरे = घोड़े। बामदेव = शिव। निहोरे = मांगे। अधिभौतिक = आधिभौतिक, शारीरिक। सिहोरे = थूहड़, एक कांटेदार वृक्ष।

भावार्थ—हे शिवजी, आप महादेव हैं, बड़े भारी दानी हैं और साथही भोले भाले भी। जिन जिन लोगोंने आपके सामने हाथ जोड़े उन सबों के आपने

दुःख दूर कर दिये ॥ १ ॥ आपकी सेवा और स्मरण थोड़े ही में हो जाता है। दो बेल पत्र ओर चार चावल काफ़ी हैं। इतने के बदले आप हाथी, रथ और घोड़े और जहां तक संसारमें सुख-सामग्री मानीजाती है, सब दे डालते हैं ॥२॥ हे वामदेव! मैं आपके गांव में रहता हूं, किन्तु आज तक आप से कोई निहोरा नहीं किया, कुछ मांगा नहीं। परन्तु अब आधिभौतिक बाधाओं ने मुझे घेर लिया है, काम क्रोध लोभ मोह मद और मात्सर्य, जो आपके दास हैं, मुझे सताने लगे हैं ॥ ३ ॥ जल्दी से इन निर्दय कठोर-कर्मियों को बुलाकर रोक लीजिये, डांट-डपट बतला दीजिये, क्योंकि ये दुष्ट तुलसी-दल को कुचल कर थूहड़ की डालियां लगाना चाहते हैं, तुलसीदास के हृदय से आपकी भक्ति दूर कर उसके स्थानमें काम-वासनाएं आरोपित कर रहे हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—यहां 'तुलसी' पद श्लिष्ट है। इसमें 'तुलसी वृक्ष' और 'तुलसीदास' दोनों का ही बोध होता है।

(९)

सिव सिव होइ प्रसन्न करु दाया।
करुनामय, उदार कीरति बलि जाउं, हरहु निज माया ॥ १ ॥
जलज-नयन, गुन-अयन, मयन-रिपु, महिमा जान न कोई।
बिनु तव कृपा राम पद-पंकज, सपनेहुं भगति न होई ॥ २ ॥
ऋषय, सिद्ध, मुनि, मनुज, दनुज, सुर अपर जीव जग माहीं।
तुव पद बिमुख न पार पाव कोउ, कलपकोटि चलि जाहीं ॥ ३ ॥
अहिभूषन, दूषन-रिपु-सेवक, देव-देव त्रिपुरारी।
मोह-निहार-दिवाकर संकर, सरन सोक-भयहारी ॥ ४ ॥
गिरिजा-मन-मानस-मराल, कासीस, मसान-निवासी।
तुलसिदास हरि-चरनकमल-वर, देहु भक्ति अविनासी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—उदार कीरति = जिन का यश ब्रह्माण्ड-व्यापी है। मयन = कामदेव। ऋषय = ऋषि। दनुज = दनु के पुत्र दैत्य। चलि जाहीं = बीत जायं। दूषन-रिपु-सेवक = दूषण दैत्य के शत्रु श्री रामचन्द्रजी, तिन के सेवक। निहार = हिम, पाला। मसान = स्मशान, मरघट।

भावार्थ—हे कल्याणमूर्त्ति शिव जी! प्रसन्न हो कर दया करो। आप

करुणा के साक्षात् रूप हैं, आप का यश सर्वव्यापी है। मैं आप की बलैया लेता हूं, कृपा कर अपनी माया समेट लो ॥ १ ॥ आप के नेत्र कमल के समान हैं, आप सर्व-संपन्न कहे जाते हैं, कामदेव को आप भस्म कर चुके हैं। भला आप की असीम महिमा कोई जान सकता है! बिना आप की कृपा के श्रीरामचन्द्रजी के कमलस्वरूपी चरणों में, स्वप्न में भी, भक्ति नहीं हो सकती ॥ २ ॥ ऋषि, सिद्ध, मुनि, मनुष्य, दैत्य, देवता और जितने संसार में प्राणी हैं, वे सब करोड़ों कल्प तक भी, बिना आप के चरणारविन्द सेये, संसार-सागर का पार नहीं पा सकते ॥३॥ आप ने सर्पों के भूषण धारण कर रखे हैं! दूषण दैत्य के विनाशक श्री रामचन्द्रजी के आप अनन्य सेवक हैं। हे देवाधिदेव! आप ने त्रिपुरासुर का बात की बात में बध कर डाला था। हे शंकर! आप अज्ञान-रूपी पाला के लिये साक्षात् सूर्य हैं। आप शरण में आये हुए जीवों का शोक और भय दूर कर देते हैं ॥ ४ ॥ हे काशी-पते! हे श्मशान-वासी! आप पार्वती के मन-रूपी मानसरोवर में विहार करनेवाले राजहंस हैं। तुलसीदास को श्रीहरि के चरणारविन्दों में नित्य, एकरस भक्ति का वरदान दीजिए ॥ ५ ॥

टिप्पणी--(१) इस पद में पहले ही 'शिव' शब्द दोहराया गया है। पहले 'शिव' का अर्थ कल्याण-कारी है और यह शिव का विशेषण माना जा सकता है। अथवा, माया-जन्य आत्यंतिक दुःख के कारण गुसाईंजी ने दो बार शिवजी का नाम लिया है।

(२) बिना शिवजी की कृपा के राम-भक्ति दुर्लभ है—इस सिद्धान्त का, रामचरित मानस में गुसाईंजी ने, इस प्रकार प्रतिपादन किया है--

"औरो एक गुपुत मत, सबहिं कहौं कर जोर।
संकर-भजन बिना नर, भगति न पावै मोर॥"

(३)"दूषण-रिपु-सेवक" के दो अर्थ हो सकते हैं। दूषणारि रामचन्द्रजी के सेवक शिवजी अथवा शिवजी के सेवक दूषणारि रामचन्द्रजी। राम और शिव परस्पर भक्त माने गये हैं--

"शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोस्तु हृदयं शिवः"।

वैसे भी, भागवत जनों में शिवजी सर्वप्रधान माने गये हैं--

"वैष्णवानामहं शम्भुः"—श्रीमद्भागवत

(४) जैसे पाला सब चीजों को जड़ बना देता है, उसी प्रकार अज्ञान, भक्ति को हटा कर, जीव में जड़ता भर देता है।

(५) 'भक्ति' के साथ अविनाशी पद परम सार्थक है। सब अनित्य है, एक भक्ति ही नित्य है। भक्ति अथवा भक्त का कल्पांत में भी नाश नहीं होता।

"कौन्तेय, प्रतिजानीहि, नमे भक्तः प्रणश्यति"।

राग धनाश्री

(१०)

मोह-तम तरनि, हर रुद्र संकर सरन, हरन मम सोक लोकाभिरामं।
बाल-ससि-भाल, सुबिसाल लोचन-कमल, काम-सत-कोटि-लावन्य धामं।१
कम्बु-कुन्देन्दु-कपूर-विग्रह रुचिर, तरुन-रवि-कोटि तनु-तेज भ्राजै।
भस्म सर्वांग अर्धांग सैलात्मजा, ब्याल-नृकपाल-माला विराजै ॥ २ ॥
मौलि संकुल जटा-मुकुट, विद्युतछटा, तटिनि-वर-वारि हरि-चरन-पूतं।
स्रवन कुंडल, गरल कंठ, करुनाकन्द, सच्चिदानंद वन्देऽवधूतं ॥ ३ ॥
सूल-सायक-पिनाकासि-कर सत्रु-वन, दहन इव, धूमध्वज, वृषभ-जानं।
व्याघ्र गज-चर्म-परिधान, विज्ञान-घन, सिद्ध-सुर-मुनि-मनुज-सेव्यमानं।।४
तांडवित-नृत्यपर, डमरु डिंडिम प्रवर, असुभ इव भाति कल्यानरासी।
महा कल्पान्त ब्रह्माण्ड-मंडल-दवन, भवन कैलास आसीन कासी ।।५।।
तज्ञ सरवज्ञ, जज्ञेस, अच्युत; विभो, विस्व भवदंस संभव पुरारी।
ब्रह्मेन्द्र, चन्द्रार्क, वरुनाग्नि, वसु, मरुत जम अरचि भवदंघ्रि सर्वाधिकारी।६
अकल, निरुपाधि, निरगुन, निरंजन ब्रह्म, कर्म-पथमेकमज निर्विकारं।
अखिल विग्रह उग्ररूप सिवभूपसुर, सर्वगत, सर्व, सर्वोपकारं ।।७।।
ज्ञान वैराग्य, धन धर्म कैवल्य-सुख, सुभग सौभाग्य सिव सानुकूलं।
तदपि नर मूढ़ आरूढ़ संसार-पथ, भ्रमत भव विमुख तुव पाद मूलं ।।८।।
नष्टमति, दुष्ट अति, कष्ट-रत खेद गत, दास तुलसी संभु सरन आया।
देहि कामारि ! श्री रामपद पंकजे भक्ति अनवरत गतभेद माया ।।९।।

पदच्छेद—लोक+अभिरामं। कुंद+इन्दु। सर्व+अंग। अर्ध+अंग। सैल+आत्मजा। सत्+चित्+आनन्द। वन्दे+अवधूतं। पिनाक+असि। कल्प+अन्त। तत्+ज्ञ। जज्ञ (यज्ञ)+ईश। भवत्+अेश। ब्रह्मा+इन्द्र। चंद्र+अर्क। वरुन+अग्नि। भक्त+अंघ्रि। निः+उपाधि। निः+गुण (सत्त्व, रज और तम)। निः+अंजन। पथम+अज! सर्व+उपकार। भक्तिम+अनवरत।

शब्दार्थ—बाल शशि=द्वैज का चंद्रमा। तरुन रवि=मध्यान्हकालीन सूर्य। विग्रह=मूर्त्ति, रूप। सैलात्मजा=पार्वती। नृ=नर। मौलि=शिर। तटिनि-वर=नदियों में श्रेष्ठ गंगा। पूतं=पवित्र किया हुआ। अवधूतं=परम पवित्र, तुर्यावस्थित परमहंस स्वरूप। पिनाक=धनुष। जान=यान, सवारी। भाति=शोभित होते हैं। आसीन=विराजमान। तज्ञ=ब्रह्म-स्वरूप जाननेवाले। जज्ञेस=यज्ञ अर्थात् कर्म के स्वामी। अर्क=सूर्य। अंघ्रि=चरण। कैवल्य=मोक्ष। अनवरत=निरंतर, नित्य, एक रस।

भावार्थ—हे शंकर जी, आप अज्ञानांधकार दूर करने के लिये साक्षात् सूर्य हैं। हे रुद्र, हे कल्याण रूप, हे शरण्य, आप मेरा शोक हरनेवाले हैं। आप सारे संसार को प्रसन्न करते हैं। आप के ललाट पर द्वैज का बाल चंद्रमा विराजमान है, आप के बड़े बड़े नेत्र कमल के समान हैं। आप सौ करोड़ कामदेव के समान सौन्दर्य के स्थान हैं ॥ १ ॥ आप का सुंदर शरीर कम्बु (शंख), कुंद, चंद्र और कपूर के समान है, और उसका तेज करोड़ों सूर्य के समान जगमगा रहा है। आपने सारे शरीर में भस्म लगा रखी है; आधे अंग में पार्वती जी शोभित हो रही हैं, सांपों और नर-कपालों की माला अलग ही निराली छटा दिखा रही है ॥ २ ॥ मस्तक पर जटा-जूटों का मुकुट धारण किये हैं, उस पर बिजली के समान चमकती हुई विष्णु भगवानके चरण से पवित्रीभूत गंगा का जल और भी शोभा दे रहा है। कानों में कुंडल पड़े हैं, और गले में हलाहल विष झलक रहा है; ऐसे करुणाके स्थान और तुर्यावस्थित परमहंस स्वरूप शिव जी की मैं वन्दना करता हूं ॥३॥ आप के हाथों में शूल, बाण, धनुष और तलवार है। शत्रु-रूपी वन के जलाने को आप अग्नि-रूप हैं। बैल पर आप सवार रहते हैं। बाघ और हाथी का चमड़ा आप का वस्त्र है। आप तत्वज्ञान के मेघ हैं, महान् ज्ञानी हैं। सिद्ध, देव,

मुनि, मनुष्य आदि से आप सेवा करने योग्य हैं ॥ ४ ॥ ताण्डव नृत्य करते हुए आप सुंदर डमरू को 'डिमडिम डिमडिम' बजाते हैं। आप भासित तो होते हैं अशुभ (अशिव) के समान, किंतु हैं श्रेय की मूर्ति, साक्षात् शिव। महा-प्रलय के समय आप समस्त ब्रह्माण्ड को भस्म कर डालते हैं। कैलाश में तो आप का भवन है, और काशीपुरी में आप आसन लगाये विराजमान हैं ॥५॥ हे विभो ! आप तत्त्ववेत्ता, सर्वज्ञ तथा यज्ञों अर्थात् कर्मों के अधिष्ठाता हैं। हे पुरारि, यह संसार आपके अंश से उत्पन्न हुआ है ! ब्रह्मा, इन्द्र, चंद्र, सूर्य, वरुण, अग्नि, वसु, मरुत और यम आपके चरणों की सेवा करके सर्वाधिकारी बने हैं ॥ ६ ॥ आप कला-रहित, उपाधि रहित, त्रिगुण से परे, अविनाशी परब्रह्म हैं। आप कर्म-मार्ग में एक ही हैं। आप अजन्मा और निर्विकार हैं। सारा ब्रह्माण्ड आप ही का रूप है, आपका स्वरूप बड़ा भयानक है; आप देवताओं के स्वामी हैं, सर्वान्तर्यामी, सर्वस्वरूप और सबका उपकार करनेवाले हैं ॥ ७ ॥ हे शिवजी, जिस पर आप कृपा कर देते हैं, उसे ज्ञान, वैराग्य, धन, धर्म और मोक्ष का आनन्द और सुन्दर सौभाग्य यह सब अनायास मिल जाते हैं। इतना सब होने पर भी मूर्ख मनुष्य आपके चरणों का आधार छोड़ कर संसार के प्रवृत्ति-मार्ग पर चलतेहुए इधर उधर भटकते फिरते हैं ! आश्चर्य है ॥ ८ ॥ हे शंभो ! मैं, तुलसीदास, भ्रष्ट बुद्धि-वाला, महान् दुष्ट, अत्यन्त दुखी और खिन्न आप की शरण में आया हूं। हे मदनमर्द्दन ! आप श्रीरामजी के चरण-कमलों में ऐसी अनपायिनी भक्ति दीजिए कि जिसके प्रभाव से मायात्मक भेद-बुद्धि का सर्वथा नाश हो जाय ॥९॥

टिप्पणी--(१) शिवजी का शरीर शंख के समान पवित्र, सचिक्कण और आल्हादकारी है, कुंद-पुष्प के समान कोमल है, चन्द्रमा के समान शीतल और कर्पूर के समान सुगंधित है। इसी से कंबु, कुंद, इन्दु और कर्पूर की उपमा दी गई है।

(२) 'हरिचरण पूतं'--जब विष्णुभगवान् ने वामनरूप धारण कर राजा बलिसे तीन पैर पृथ्वी का दान मांगा था, और अपना शरीर ब्रह्माण्डव्यापी बनाया था, उस समय ब्रह्मा ने उन के चरण को धोकर उस जल को अपने कमण्डलु में ले लिया था। वही जल गंगा का आदि मूल है।

(३) 'गरल कण्ठ'— शिवजी ने समुद्र से निकला हुआ विष कंठ में ही धारण कर लिया था। यह इसलिये कि हृदय में श्रीरामचन्द्रजी का वास है, वहां

तक इस विषम विष की ज्वाला न पहुंचानी चाहिए। इससे बढ़ कर माधुर्य्य-भाव की रक्षा और क्या होगी ?

(४) 'डमरु डिमडिम' —कहते हैं, जब शिवजी ने तांडव-नृत्य के अवसर पर डमरू बजाई थी, तब उसमें से व्याकरण के 'अइउण' आदि सूत्रों का प्राकट्य हुआ था। इसीसे इन सूत्रों को 'माहेश्वर सूत्र' कहते हैं।

(५) अकल—चंद्रमा के समान शिवजी में क्षय और वृद्धि नहीं हैं, इसीसे आप को कला-रहित कहा है।

भैरवरूप शिव-स्तुति

(११)

भीषनाकार भैरव भयंकर भूत–प्रेत-प्रमथाधिपति विपति-हरता।
मोह-मूषक-मार्जार, संसार-भय-हरन, तारन-तरन अभय करता ॥१॥
अतुल बल बिपुल विस्तार विग्रह गौर, अमल अति धवल धरनीधराभं।
सिरसि संकुलित-कल-जूट-पिंगलजटा, पटल-सत-कोटि विद्युच्छटाभं॥२॥
भ्राज विबुधापगा आप पावन परम मौलि-मालेव सोभा विचित्रं।
ललित लल्लाट पर राज रजनीस-कल, कलाधर नौमि हर धनद-मित्रं॥३॥
इन्दु-पावक-भानु-नयन, मर्दन-मयन ज्ञान गुन-अयन विज्ञान रूपं।
रवन गिरिजा भवन भूधराधिप सदा, स्रवन कुंडल बदन छवि अनूपं॥४॥
चर्म्म-असि-सूल-धर, डमरु-सर-चाप-कर, जान वृषभेस करुना-निधानं।
जरत सुर-असुर नरलोक सोकाकुलं, मृदुल चित अजित कृत गरलपानं॥५॥
भस्म तनु भूषनं, व्याघ्र चर्माम्बरं, उरग-नर-मौलि उर मालधारी।
डाकिनी साकिनी खेचरं भूचरं जंत्र मंत्र भंजन प्रबल कल्मषारी॥६॥
काल अतिकाल कलिकाल-व्यालाद*-खग त्रिपुर-मर्दन भीम-कर्म भारी।
सकल लोकान्त-कल्पान्त-सूलाग्र कृत दिग्गजाव्यक्त-गुन नृत्यकारी॥७॥
पाप-संताप-घनघोर-संसृति दीन, भ्रमत जग-जोनि नहिं कोपि त्राता।
पाहि भैरव-रूप राम-रूपी रुद्र, बंधु गुरु, जनक जननी विधाता॥८॥
यस्य गुन-गन गनति विमल मति सारदा, निगम नारद-प्रमुख ब्रह्मचारी।
सेस सर्वेस आसीन आनंदबन, दास तुलसी प्रनत त्रासहारी॥९॥

* पाठान्तर 'आदि'। शुद्ध पाठ 'आद' ही हो सकता है।

पदच्छेद—भीषन + आकार । प्रमथ + अधिपति । धरनीधर + आभं विद्युत + छटा + आभं । विबुध + आपगा । माला + इव । रजनी + ईस । भूधर + अधिप । वृषभ + ईस । सोक + आकुलं । चर्म + अम्बरं । कलमष + अरि । व्याल + आद । सूल + अग्र । दिग्गज + अव्यक्त । कः + अपि । सर्व + ईस ।

शब्दार्थ—प्रमथ = शिवजी के गण । धरनीधर = शेषनाग । आभं = आभा, कान्ति । पटल = पंक्ति । विबुधापगा = देवनदी गंगा । लल्लाट = ललाट, मस्तक । कल = सुन्दर । धनद = कुबेर । रवन = रमण करनेवाले । मयन = कामदेव । चर्म = ढाल । उरग = सांप । खेचर = आकाश-मार्गगामी । आद = भक्षण कर जानेवाला । अव्यक्त = अप्रकट, अगोचर । संसृति = संसार । कोपि = कोई भी । यस्य = जिसका । प्रमुख = प्रभृति । आसीन = विराजमान ।

भावार्थ—हे भीषणमूर्ति भैरव ! आप सहज ही भयंकर हैं । भूत-प्रेत और गणोंके आप स्वामी हैं, और विपत्तियोंके विनाशक हैं । आप अज्ञान-रूपी चूहे को लपक लेने वाले विलाव हैं, संसार के जन्म-मरण रूपी भयको दूर करने वाले, दूसरों को तारने वाले, स्वयं मुक्तरूप तथा अभय प्रदान करनेवाले हैं ॥१॥ आपका बल असीम है । आपका बड़ा भारी गौर वर्ण शरीर, जो निर्मल और उज्ज्वल है, शेषनाग की कान्ति के समान है । सिर पर सुन्दर पीले रंगका जटा-जूट बँध रहा है, जिसकी आभा सौ करोड़ बिजलियों की पंक्ति के समान है ।।२। मस्तक पर माला के समान विलक्षण छटावाली, परम पवित्र जलवती सुरसरि गंगा विराजमान है जिनकी सुन्दर भालस्थली पर निशानाथ चन्द्रमा की कला शोभित हो रही है, ऐसे कुबेर के मित्र शिवजी को मैं नमस्कार करता हूं ॥३॥ चन्द्रमा, अग्नि और सूर्य आपके नेत्र हैं. आप कामदेव को भस्म कर चुके हैं, ज्ञान-विज्ञान रूप तथा सर्वगुण-संपन्न हैं । पार्वतीजी के साथ आप विहार करते हैं, और हिमालय आपका भवन है । आप कानों कुण्डल धारण किये हैं, और मुखका लावण्य तो अनुपम ही है ॥४॥ ढाल, तलवार, शूल, डमरू, वाण और धनुष हाथों में लिये हैं, और बैल पर सवार हैं । आप करुणा के स्थान हैं । विष की अजेय ज्वाला से देव-दैत्य और मृत्युलोक जलता हुआ देखकर दयार्द्र होकर आप उसे पी गये थे ।।५।। भस्म ही आपके शरीर का भूषण है, बाघका चमड़ा वस्त्र है । आपने सांपों और नरमुण्डों की माला हृदय पर धारण कर ली हैं । डाकिनी, शाकिनी, खेचर, भूचर तथा यन्त्र-मन्त्र

को आप नाश कर देते हैं। बड़े बड़े पातकों को भी आप भस्म कर डालते हैं ॥६॥ आप काल के भी महाकाल हैं, कलिकाल रूपी सांप को भक्षण कर जाने वाले गरुड़ हैं, त्रिपुरासुर को चूर चूर करनेवाले तथा बड़े बड़े भयंकर कार्य पूरे करनेवाले हैं। समस्त लोकोंके नाशक महाप्रलयके समय अपनी त्रिशूल की नोक पर दिग्गजों को छेद कर अव्यक्त रूप धारण किये आप तांडवनृत्य किया करते हैं ॥७॥ मैं, पापों और संतापों से पूर्ण, इस भयावह संसार में दुःखी होकर चौरासी लक्ष योनियों में भटकता फिरता हूं, कोई भी बचाने वाला नहीं है। हे भैरवनाथ! हे रामरूपी रुद्र! रक्षा कीजिये, क्योंकि आपही मेरे भाई, गुरु, पिता, माता और विधाता हैं ॥८॥ जिनकी गुणावलीका शुद्ध बुद्धि वाली सरस्वती, इंद, नारद प्रभृति ब्रह्मचारी और शेष वर्णन करते हैं, ऐसे सर्वेश्वर, आनन्दवन (काशी) में विराजमान, शरणागत के दुःख दूर करनेवाले शिवजी को मैं, तुलसीदास, प्रणाम करता हूं ॥९॥

टिप्पणी--(१) भैरव शिवजी के ही रूप माने गये हैं। यह काशीपुरी के क्षेत्रपाल या कोतवाल कहे जाते हैं।

(२) 'मोह-मूषक-मार्जार'--जैसे चूहा कपड़े लत्तोंको कतर डालता है और अनाज खा जाता है, उसी प्रकार मोह, अर्थात् अज्ञान, ज्ञान-विज्ञान और भक्तिरूपी वस्त्रों का नाश कर देता है। जब शिवरूपी मार्जार उसे भक्षण करने को मिलें, तभी साधन सिद्ध हो सकते हैं।

(३) 'धरनीधराभं'--धरणीधर के दो अर्थ हैं--(१) शेषनाग और (२) पर्वत (हिमालय)। दोनों के ही रंग श्वेत माने गये हैं। 'धरनीधर' का 'पर्वत' अर्थ मान लेने पर यह स्पष्ट नहीं होता कि कौनसा पर्वत--हिमालय अथवा अन्य कोई। शेषनाग मानना ही अधिक युक्तियुक्त होगा।

(४) 'भैरव रूप रामरूपी रुद्र'--भैरव रूपसे भव-भय हर लीजिए और रामरूपसे मुझे अपनी शरण दीजिये। इस वाक्य में ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों का ही अद्भुत संमिश्रण हुआ है।

(१२)

संकरं संप्रदं सज्जनानंददं, सैल-कन्या-वरं परम रम्यं।
काम-मद-मोचनं तामरस-लोचनं, वामदेवं भजे भावगम्यं ॥१॥

कंबु-कुन्देन्दु-कर्पूर-गौरं सिवं, सुन्दरं सच्चिदानन्द कंदं।
सिद्ध-सनकादि-योगीन्द्र-वृन्दारका,विष्णु-विधि-वन्द्य चरनारविंदं २॥
ब्रह्म-कुल-वल्लभं, सुलभ मति दुर्लभं, विकट वेषं, विभुं वेदपारं।
नौमि करुनाकरं गरल गंगाधरं; निर्मलं, निर्गुनं, निर्विकारं ॥३॥
लोकनाथं, सोकसूल निर्मूलिनं, सूलिनं, मोह-तम-भूरि भानुं।
कालकालं, कलातीतमजरं हरं, कठिन कलिकाल कानन कृसानुं ४॥
तज्ञमज्ञान-पाथोधि-घटसंभवं, सर्वगं, सर्वसौभाग्यमूलं।
प्रचुर भव-भंजनं, प्रनत जन रंजनं, दास तुलसी सरन सानुकूलं ५॥

पदच्छेद—सज्जन + आनन्ददं। कुंद + इन्दु। सत् + चित् + आनंद। सनक + आदि। योगी + इन्द्र। सुलभम् + अति दुर्लभम्। कला + अतीतम् + अजरम्। तज्ञम् + अज्ञान। स + अनुकूलं।

शब्दार्थ—संप्रदं = कल्याण देनेवाले। तामरस = कमल। कंद = मेघ। वृन्दारक = देवता। वन्द्य = वन्दना करने योग्य। नौमि = नमस्कार करता हूं। निर्मूलिनम् = जड़ से उखाड़ डालने वाले को। कलातीत = कला-रहित। कृसानु = आग। तज्ञ = तत्त्ववेत्ता। पाथोधि = समुद्र। घटसंभव = अगस्त्य।

भावार्थ—कल्याणकारी, कल्याणदाता, सज्जनों को आनन्द देनेवाले, पार्वतीके पति, अपूर्व सुन्दर, कामदेव के गर्व को खर्व करनेवाले, कमल जैसे नेत्रवाले और केवल भक्ति से प्राप्त होनेवाले शिवजी का मैं भजन करता हूं ॥ १ ॥ उनका शरीर कंबु, कुंद, चन्द्र और कर्पूर के समान सचिक्कण, कोमल, श्वेत, शीतल और सुगंधित है। वे मंगलमय, लावण्यमूर्त्ति और आनन्द-कन्द परब्रह्मस्वरूप हैं। उनके चरणकमलों की वन्दना सिद्ध, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, बड़े बड़े योगी, देवता, विष्णु और ब्रह्मा किया करते हैं ॥ २ ॥ उन्हें ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों का कुल प्यारा है, वे सज्जनों को सुलभ और दुर्जनों को दुर्लभ हैं। उनका रूप बड़ाही विकराल है। वे सर्वशक्तिसंपन्न और वेदों के ज्ञानसे परे हैं। ऐसे करुणामय विष और गंगाको धारण करने वाले, निर्मल, त्रिगुणातीत और विकाररहित शिवजी को मैं नमस्कार करता हूं ॥३॥ वे लोकों के रक्षक, शोकों और विघ्न-बाधारूपी कंटकों को जड़ से उखाड़ कर फेंक देनेवाले, त्रिशूल धारण करनेवाले और प्रगाढ़ अज्ञानांधकार को

सूर्य के समान नाश कर देनेवाले हैं। वे कालके भी काल, सदा एक रस, वृद्धावस्था-रहित, संसार—हर्त्ता और घोर कलिकाल रूपी वन को जला देनेवाले साक्षात् अग्नि हैं ॥ ४ ॥ तत्त्ववेत्ता, अज्ञानरूपी समुद्र को पी जानेवाले अगस्त्य-रूप, सर्वान्तर्यामी, सब प्रकार के सुखों के आदि स्थान, अपार संसार के जन्म—मरण रूपी दुःखों के नाश-कर्त्ता, शरणागतों को प्रसन्न करनेवाले परम कृपालु शिवजीकी शरण तुलसीदास है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—'पाथोधि—घट—संभवं'—समुद्र के किनारे पर एक टिटहरी अंडे रख दिया करती और समुद्र अपनी लहरों से उन्हें बहा ले जाता था। निःसंतान होनेसे टिटहरी सदा दुःखी रहती थी। एक दिन उसने महर्षि अगस्त्य से अपना दुःख रोया। अगस्त्य ने, उसे सांत्वना देकर, समुद्र का आचमन कर लिया। एक बूंद भी जल न रहा। पीछे देवताओं के विनय करने पर महर्षि ने मूत्रद्वारा सारा जल बाहर निकाल दिया। कहते हैं, तभी से समुद्र का जल खारा हो गया है।

राग वसन्त

(१३)

सेवहु सिव-चरन-सरोज-रेनु। कल्यान-अखिल-प्रद कामधेनु ॥१॥
कर्पूर गौर, करुना-उदार। संसार सार, भुजगेन्द्र हार ॥२॥
सुख-जन्मभूमि, महिमा अपार। निर्गुन, गुननायक, निराकार ॥३॥
त्रय नयन, मयन-मर्दन महेस। अहँकार निहार-उदित दिनेस ॥४॥
बरबाल निसाकर मौलि भ्राज। त्रैलोक-सोकहर प्रमथराज ॥५॥
जिन्हकहँ बिधि सुगति न लिखी भाल। तिन्हकी गति कासीपति कपाल॥६॥
उपकारी कोऽपर हर समान। सुर-असुर जरत कृत गरल पान ॥७॥
बहु कल्प उपायन करि अनेक। बिनु संभु-कृपा नहिं भव-विवेक ॥८॥
विज्ञान-भवन, गिरिसुता-रवन। कह तुलसिदास मम त्रास-समन ॥९॥

पदच्छेद—कः + अपर।

शब्दार्थ—अखिल=सर्व। मयन=कामदेव। निहार=पाला। उदित =उदय-कालीन। बाल=द्वैजका। प्रमथ=गण। सुगति=मोक्ष। कोऽपर= कौन दूसरा। रवन=रमण करनेवाले।

भावार्थ—सर्व कल्याणकी देनेवाली कामधेनु के समान, शिवजी के चरण-कमलों की रज का सेवन करो ॥ १ ॥ शिवजी कपूर के समान गौरांग हैं, करुणा के दाता हैं, असार संसार के सार हैं और सर्पराज वासुकिनाग का हार धारण करनेवाले हैं॥ २ ॥ वे सुखों के आदिस्थान हैं, उनकी महिमा का कोई पार नहीं है, मायात्मक गुणों (सत्व, रज और तम) से परे,सर्वदिव्य गुण-संयुक्त और अस्ति-भाति आदि षड्विकारोंसे रहित हैं ॥ ३ ॥ तीन नेत्रवाले, कामदेव को ध्वंस करनेवाले, देवाधिदेव शंकर, अहंकार रूपी पाले के लिये, उदय-कालीन सूर्य हैं ॥ ४ ॥ उनके मस्तक पर द्वैज का चन्द्रमा विराजमान है। वे तीनों लोकों के दुःख दूर करनेवाले और गणों के स्वामी हैं ॥ ५ ॥ ब्रह्मा ने जिनके माथे पर मोक्ष का नाम तक नहीं लिखा, उन्हें भी काशीनाथ कृपालु शिवजी मुक्ति दे देते हैं ॥ ६ ॥ जिन्होंने देवों और दैत्यों को जलता हुआ देख कर विष-पान कर लिया, ऐसे शंकर के समान संसार में और कौनसा उपकारी है ? ॥ ७ ॥ अनन्त कल्पों तक नाना प्रकार के साधन क्यों न करो, किन्तु बिना शिवजी की कृपा के इस मायात्मक संसार का सदसत् ज्ञान होना असंभव है ॥ ८ ॥ तुलसीदास कहते हैं, विज्ञान रूप, पार्वतीवल्लभ शिवजी मेरे भय को नाश करने वाले हैं ॥९॥

टिप्पणी—'भव विवेक'—'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म सत्य है और संसार असत्य—यही सत् ज्ञान है और इसका विपरीत असत् ज्ञान। हेर फेरके ज्ञान को ही अविद्या कहते हैं। सदसत् ज्ञानको विद्या या विवेक कहते हैं। यह विवेक-लाभ बिना परमात्माकी कृपाके असंभव है।

(१४)

देखो देखो, बन बन्यो आज उमाकंत। मानों देखन तुमहिं आई रितुबसंत१॥
जनु तनुदुति चंपक कुसुम-माल। बर बसन नील नूतन तमाल ॥२॥
कल कदलि-जंघ, पद कमल लाल। सूचत कटि-केसरी, गति-मराल॥३॥
भूषन प्रसून बहु विविध रंग। नूपुर किंकिनि कलरव बिहंग ॥४॥
कर नवल बकुल, पल्लव रसाल। श्रीफल कुच, कंचुकि लता-जाल ॥५॥
आनन सरोज, कच मधुप गुंज। लोचन बिसाल नव नील कंज ॥६॥
पिक बचन चरित बर बरहि कीर। सित सुमन हास, लीला समीर॥७॥

कह तुलसिदास सुनु सिव सुजान। उर बसि प्रपंच रच पंचबान ॥८॥
करि कृपा हरिय भ्रम फंद काम। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि राम ॥९॥

शब्दार्थ--उमाकंत=पार्वती। चंपक=चंपाका फूल। सूचत=स्मरण दिलाते हैं। केसरी=सिंह। बकुल=मौलसिरी। श्री फल=बेल। बरहि=मोर। कीर=तोता। पंचबान=कामदेव। सुखराशि=आनंदघन।

भावार्थ—हे शिव जी, देखिये, आज आप वन बने हैं। आपके अर्द्धांगमें जो पार्वती विराजमान् हैं, वे मानो बसंत रूपमें आपको देखने आई हैं ॥१॥ उनके शरीरकी कांति मानों चंपाके फूलोंकी माला है और सुन्दर नीले वस्त्र नवीन तमाल-पत्र हैं ॥२॥ सुन्दर जंघाएँ केलेके वृक्ष और पैर लाल लाल कमल हैं। कमर सिंहकी तथा चाल हंसकी सूचना दे रही है अर्थात् पतली कमर सिंह की कमर के समान गति हंस की गतिके समान है ॥३॥ अलंकार मानो रंग बिरंगे नाना प्रकारके फूल हैं। पायजेब और करधनीका शब्द मानो पक्षियोंका मधुर चुह चुहाना है ॥४॥ हाथ मौलसिरी है और आमकी कोंपले कोमल हथेलियां। स्तन बेलके फल और चोली लताओंका जाल है ॥ ५ ॥ मुख मानो कमल है और बाल गुंजारते हुए भौंरे। बड़े बड़े नेत्र मानो नवीन नीले कमल की पंखड़ियां हैं ॥६॥ मधुर बोल मानो कोयल और चरित्र सुन्दर मोर और तोते हैं। हास्य सफेद फूल है और लीला त्रिविध समीर ॥७॥ तुलसी· दास कहते हैं, हे परम चतुर शिवजी! सुनिये, यह कामदेव मेरे हृदयमें बस कर बड़ा छल छंद-करता है ॥ ८ ॥ कृपाकर इस मायावीका मोहजाल काट दीजिये जिससे आनन्दघन श्री रामजी निष्कंटक मेरे हृदय में निवास करें ॥९॥

टिप्पणी—(१) इस पदमें अर्द्धनारी-नटेश्वर अर्थात् शिव-पार्वतीका वर्णन वन और वसंतके रूपकमें किया गया है। शिवजी का वर्णन तो पहले ही गुसाईंजी कर चुके हैं, पार्वतीजीका नहीं किया था। जगज्जननी पार्वतीका नख-शिख वर्णन स्पष्ट रूपमें, अनुचित प्रतीत होने पर, गुसाईंजी को यह अनूठा रूपक सूझा होगा। कुमार-संभव-प्रणेता महाकवि कालिदासने मर्यादाका उल्लंघन कर दिया है, पर भक्त-श्रेष्ठ गुसाईंजीने मर्यादाभावका भलीभांति निर्बाह किया है।

(२) 'सित सुमन हास'—साहित्यकारोंने नवरसके जहां भिन्न भिन्न रंग माने हैं, वहां हास्यका रंग श्वेत लिखा है। इसीसे इसकी उपमा श्वेत पुष्पों से दी गई है।

(३) इस समग्र पदमें उत्प्रेक्षालंकार है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

"कीजे जहँ संभावना, बस्तु हेतु फल माह।
उत्प्रेच्छा तासों कहत, जे सुकविन के नाह॥" (पद्माभरण)

वस्तु, हेतु और फल में जहां संभावनाकी जाती है, वहां उत्प्रेक्षालंकार होता है। स्पष्ट शब्दोंमें—जहां उपमेयमें, उपमानका भेद होने पर भी, कुछ कल्पित आरोप कर लिया जाय, वहां उत्प्रेक्षालंकार माना जाता है।

देवी-स्तुति

राग मारू

(१५)

दुसह दोष-दुख दलनि, करु देवि दाया।
बिस्व-मूलाऽसि, जनसानुकूलासि, कर सूलधारिनि महामूलमाया॥१॥
तड़ित गर्भाङ्ग सर्वाङ्ग सुन्दर लसत, दिव्यपर भव्य भूषन बिराजैं।
बाल मृग मंजु खंजन बिलोचिनि, चन्द्रवदनि लखि कोटि रति मार लाजैं २
रूप-सुख साल-सीमाऽसि, भीमाऽसि रामाऽसि वामाऽसि वर बुद्धिबानी।
छमुख-हेरम्ब-अंबासि, जगदम्बिके, संभु-जायासि जै जै भवानी॥३॥
चंड-भुजदंड-खंडनि, बिहंडनि महिष, मुंड-मद-भंग-कर अंग तोरे।
सुंभ निःसुंभ कुम्भीस रन केसरिनि, क्रोध-वारीधि अरि-वृन्द बोरे॥४॥
निगम आगम अगम गुर्वितव गुन कथन, उर्विधर करत जेहि सहस जीहा।
देहि मा, मोहि पन प्रेम यह नेम निज, राम घनस्याम तुलसी पपीहा॥५॥

पदच्छेद—मूला + असि। सानूकूला + असि। सीमा + असि। भीमा + असि। रामा + असि। वामा + असि। अम्बा + असि। जगत् + अम्बिके। जाया + असि।

शब्दार्थ - मूला = जड़। असि = हो। महामूल माया = परा प्रकृति। छमुख = षड़ानन, स्वामी कार्तिकेय, जिन्होंने तारक राक्षस का बध किया था। भीमा = भयंकरी। रामा = सुन्दरी, रमणीया। जाया = स्त्री। केसरिनि = सिंहनी। गुर्वि = बड़ा भारी। उर्विधर = पृथ्वी धारण करनेवाले शेष नाग। जीहा = जीभ।

भावार्थ—हे देवि! तुम दुःसह दोष और दुःखों को दमन करनेवाली हो, मुझपर कृपा करो। तुम इस संसार की आदि स्थान हो, भक्तों पर कृपा

करनेवाली हो, दुष्टों के संहार करने के लिये हाथ में त्रिशूल धारण किये रहती हो, और माया को उत्पन्न करनेवाली परा प्रकृति हो ॥ १ ॥ तुम्हारे सुन्दर शरीर के प्रत्येक अङ्ग में बिजली सी कौंध रही है, दिव्य (जो कभी न जीर्ण हो, न मैला) वस्त्र धारण किये हो और सुन्दर आभूषण शोभायमान हो रहे हैं। तुम्हारे नेत्र मृग-शावक और खंजन के नेत्रों के समान हैं, और मुख चन्द्रमा जैसा। तुम्हें देख कर करोड़ों काम और रति लज्जित होते हैं ॥ २ ॥ तुम सौन्दर्य, आनन्द और शील की मर्यादा हो, और दुष्टों के लिये भीषण रूप-धारिणी हो। तुम्हीं लक्ष्मी और तुम्हीं पार्वती हो। अधिक क्या, सरस्वती भी तुम्ही हो। तुम षड़ानन और गणेश की माता हो, जगज्जननी हो, शिवजीकी गृहिणी हो, हे भवानी, तुम्हारी जय हो, जय हो ॥ ३ ॥ चंड दैत्य के भुजदंडों के टुकड़ टुकड़े करनेवाली और महिषासुर को मारनेवाली हो। मुण्ड राक्षस के गर्व को खर्व कर तुम्ही ने उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग भङ्ग किये हैं। शुंभ और निःशुंभ दैत्यरूपी गजराजों के लिये तुम रण-सिंहिनी हो। तुमने अपने क्रोध-रूपी समुद्र में शत्रुओं के झुण्ड के झुण्ड डुबो दिये हैं ॥ ४ ॥ वेद-शास्त्र और हजार जीभवाले शेष तुम्हारा गुण-गान करते हैं, किन्तु उसका पार पा जाना उनके लिये बड़ा कठिन है। हे माता! तुलसीदास को एक वर दे दो और वह यह कि मेरा प्रण, प्रेम और नेम श्री रामचन्द्रजी में वैसा ही हो—जैसा कि पपीहे का श्याम घनघटा में होता है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) चंड, मुंड, महिषासुर, शुंभ और निःशुंभ—ये सब बड़े पराक्रमी और घोरकर्मा दैत्य थे। महिषासुर तो शिवजीका ही अंशावतार माना जाता है। भगवती चंडी ने इन सबका बध किया था। इनकी विस्तृत कथा देवी-भागवत नाम के पुराण में लिखी है।

(२) 'राम घनस्याम तुलसी पपीहा'—पपीहा कूप, सरोवर, नदी या समुद्र का जल नहीं पीता, केवल स्वाती नक्षत्र में बरसे हुए जल को पीता है। उसी प्रकार तुलसीदासजी घनश्याम राम को छोड़ कर और किसी देवी-देवता को नहीं भजना चाहते। यदि यह कहा जाय कि जो ऐसा ही है, तो फिर गणेश, सूर्य, शिव और देवी की स्तुति क्यों की, तो इसका समाधान यों हो जायगा कि इन सब देवी-देवताओं का गुण-गान लक्ष्य मानकर नहीं किया। राम-रूपी स्वाती-जल

के अर्थ ही इन्हें साधन मानकर इनका गुण-गान किया है। अनन्यता और दृढ़ता तो एक रामचन्द्रजी में ही है।

राग रामकली

(१६)

जय जय जगजननि देवि, सुर-नर-मुनि-असुर-सेवि,
भक्ति मुक्ति दायिनि, भय- हरनि कालिका।
मंगल-मुद-सिद्धि-सदनि, पर्वसर्वरीस बदनि,
ताप-तिमिर तरुन तरनि-किरनमालिका ॥१॥
वर्म-चर्म कर कृपान, सूलसेल धनुषबान,
धरनि, दलनि दानव-दल, रन-करालिका।
पूतना पिसाच प्रेत डाकिनि-साकिनि समेत,
भूतग्रह बेताल खग मृगालि-जालिका ॥२॥
जय महेस-भामिनी, अनेक रूप नामिनी,
समस्त लोक स्वामिनी, हिमसैल बालिका।
रघुपति-पद-परमप्रेम, तुलसी यह अचल नेम,
देहु ह्वै प्रसन्न पाहि प्रनत-पालिका ॥३॥

पदच्छेद—सर्वरी + ईस। मृग + अलि।

शब्दार्थ—सेवि = सेव्या, सेवा करनेयोग्य। पर्व = पूर्णिमा। सर्वरीश = निशानाथ, चंद्रमा। तरुन तरनि = मध्याह्नकालीन सूर्य। सेल = सांग। मृगालि = मृग-समूह।

भावार्थ—हे जगन्माता! हे देवि! तुम्हारी जय हो, जय हो। देवता, मनुष्य, मुनि और राक्षस सभी तुम्हारी सेवा करते हैं। तुम भोग्यैश्वर्य और मोक्ष दोनों की ही देनेवाली हो। हे कालिके! तुम अपने भक्तों का भय दूर करनेवाली हो। कल्याण, सुख और अष्ट सिद्धियों की तुम स्थान हो, तुम्हारा मुख पूर्णिमा के चंद्रमा के समान सुन्दर है, तुम दुःख-रूपी अंधकार के नाश करने के लिये मध्याह्न-कालीन प्रचंड सूर्य-किरणों की माला हो ॥१॥ तुम शरीर पर कवच धारण किये हो, और हाथों में तलवार, त्रिशूल, सांग और

धनुष-बाण लिये हो। हे रण करालिके! तुम दैत्यों की सेना का संहार करनेवाली हो। पूतना, पिशाच, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी, भूत, ग्रह और बेताल रूपी पक्षी और मृग-समूह के फँसाने के लिये तुम जाल-रूप हो ॥२॥ हे शिवे! तुम्हारी जय हो, तुम्हारे अनेकों नाम हैं और अनेकों रूप। तुम समस्त ब्रह्माण्ड की अधिष्ठात्री और हिमांचल की कन्या हो। हे भक्तों की रक्षा करनेवाली! मैं, तुलसीदास, श्री रघुनाथ जी के चरणों में अटल प्रेम और अचल नेम चाहता हूं, कृपाकर मुझे यह दे दो और मेरी रक्षा करो ॥३॥

गंगा-स्तुति

राग रामकली

(१७)

जै जै भगीरथ नन्दिनि, मुनि-चय-चकोर-चन्दिनि,
नर नाग-विबुध-बन्दिनि, जय जन्हु-बालिका।
विष्णु-पद सरोजजासि, ईस सीस पर विभासि,
त्रिपथगासि, पुन्यरासि, पाप छालिका ॥१॥
बिमल बिपुल बहसि बारि, सीतल त्रयताप हारि,
भवँर वर बिभंगतर तरंग मालिका।
पुरजन पूजोपहार, सोभित ससि धवलधार,
भजन भव-भार, भक्ति-कल्पथालिका ॥२॥
निज तटवासी बिहंग, जल-थल-चर पसु पतंग,
कीट, जटिल तापस सब सरिस पालिका।
तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुबंस बीर,
बिचरत मति देहि मोह—महिष—कालिका ॥३॥

पदच्छेद—सरोजजा + असि। त्रिपथगा + असि। पूजा + उपहार।

शब्दार्थ—नन्दिनि = दुलारी, पुत्री। चय = झुंड। विबुध = देवता। पद सरोजजासि = चरण कमल से उत्पन्न हुई हो। विभाति = शोभायमान हो रही हो। त्रिपथगासि = पाताल, भूलोक और स्वर्लोक के मार्गों से जानेवाली हो। छालिका = धोनेवाली। बिभंगतर = खूब चंचल। थालिका = थाल्हा, थामला। जटिल = जटाजूट रखाये।

भावार्थ—हे भगीरथ दुलारी ! तुम्हारी जय हो, जय हो। मुनियों के समूह-रूपी चकोरों के लिये तुम चंद्रिका-रूप हो। मनुष्य, नाग और देवता तुम्हारी वंदना करते हैं। हे जान्हवी! तुम्हारी जय हो। तुम विष्णु भगवान् के चरणकमलों से उत्पन्न हुई हो, शिवजी के मस्तक पर विराजती हो; स्वर्ग, भू और पाताल इन तीन मार्गों से तीन धाराओं में होकर जाती हो। तुम पुण्यों की राशि तथा पापोंको धो देने वाली हो ॥१॥ तुम अगाध और स्वच्छ जल को धारण किये हो। वह जल शीतल और दैहिक, दैविक तथा भौतिक इन तीनों तापों का हरने वाला है। तुम सुंदर भँवर तथा खूब चंचल लहरों की माला धारण किये रहती हो। नगर-निवासियों ने अनेक सामग्रियोंसे तुम्हारा जो षोड़शोपचार पूजन किया है उससे चंद्रमा के समान तुम्हारी धवल धारा अधिक शोभा को प्राप्त हो रही है। तुम्हारी धारा संसारके जन्म-मरण-रूपी भार को नाश करनेवाली तथा भक्तिरूपी कल्प वृक्ष के लिये थाल्हा रूप है ॥ २ ॥ तुम्हारे तीर पर पक्षी, जलचर, थलचर, पशु, पतिंगे, कीड़े-मकोड़े, जटाधारी तपस्वी या जो भी रहते हैं, सबको तुम समदृष्टि से पालती-पोसती हो। हे अज्ञान रूपी महिषासुर को संहार करने के लिये काली-रूप गंगे, मुझ तुलसीदास को केवल ऐसी बुद्धि दे दो कि जिससे मैं श्रीरघुनाथजी का नाम-स्मरण करता हुआ तुम्हारे तट पर विचरता फिरूं ॥३॥

टिप्पणी—(१) 'भगीरथ नन्दिनी'—सूर्यवंशी महाराज सगर के साठ हज़ार पुत्र थे। उन्होंने अज्ञानवश योगेश्वर कपिलदेव जी पर यह दोषारोपन कर दिया कि उन्होंने हमारे पिताजी का अश्वमेध का घोड़ा चुरा लिया है, यद्यपि चुराया था मायावी इन्द्र ने। इस पर कपिलदेवजी ने उन सबको योगज्वाला द्वारा भस्म कर दिया। उन लोगों के उद्धार के लिये उनके पौत्र महाराज भगीरथ कठोर तप करके शिवजी से गंगा को भूलोक पर उतार लाये। इसीसे गंगा 'को भागीरथी' कहते हैं।

(२)'जन्हु बालिका'—जब महाराज भगीरथ गंगा को अपने रथ के पीछे पीछे ला रहे थे उस समय रास्ते में ध्यानावस्थित जन्हु ऋषि आसन लगाये बैठे हुए थे। गंगा ने ज्यों ही उनके आश्रम में प्रवेश किया, वह उन्हें चुल्लू में भर कर पी गये। पीछे भगीरथ के विनय करने पर ऋषि ने गंगा को जंघा से निकाल दिया। तभी से गंगा का नाम जान्हवी पड़ गया है।

(३) 'विष्णु-पद-सरोजजासि'--पद १० की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(४) 'त्रय ताप हारि'--मनको शुद्ध करनेवाला, रोगों का नाश करनेवाला और जीव-जन्तु के भय को दूरकरने वाला गंगाका जल है, कहा भी है—

"शरीरञ्च नवच्छिद्रं, व्याधिग्रस्तं कलेवरम्।
औषधं जान्हवीतोयं, वैद्यो नारायणो हरिः॥"

(१८)

जयति जय सुरसरी जगदखिल-पावनी।
विष्णु-पदकंज मकरंद इव अम्बुवर बहसि,दुख दहसि अघवृन्द-विद्राविनी १
मिलित जलपात्र-अज जुक्त-हरिचरनरज,विरजवरवारित्रिपुरारिसिरधामिनी
जन्हु-कन्या धन्य, पुन्यकृत सगर सुत, भूधरद्रोनि-विद्दरनि बहुनामिनी २
जच्छ गंधव मुनि किन्नरोरग दनुज, मनुजे मज्जहिं सुकृत पुंज जुत कामिनी
स्वर्ग-सोपान, विज्ञान-ज्ञानप्रदे, मोह-मद-मदन-पाथोज-हिमजामिनी ॥३॥
हरित गंभीर वानीर दुहुं तीरवर, मध्य धारा बिसद, बिस्व अभिरामिनी।
नील परजंक कृत सयन सर्पेस जनु,सहस सीसावली स्रोत सुर स्वामिनी ४
अमित महिमा,अमित रूप,भूपावली-मुकुट मनि बन्द्य* त्रैलोक पथगामिनी
देहि रघुवीर-पद-प्रीति निरभर मातु, दासतुलसी त्रासहरनि भवभामिनी ५

पदच्छेद—जगत् + अखिल। किन्नर + उरग। पाथः + ज। सीस + अवली। सर्प + ईस। भूप + अवली।

शब्दार्थ—अखिल पावनी = सबको पवित्र करनेवाली। बहसि = धारण करती हो। पुन्य कृत = पवित्र कर दिये। द्रोणि = गुफा या कन्दरा। विद्दरनि = तोड़ने वाली। उरग = सर्प। पाथोज = कमल। वानीर = बेंत। परंजक = पर्य्यंक, पलंग। निरभर = संपूर्ण। भव-भामिनी=शिवप्रिया।

भावार्थ-हे गंगे! तुम्हारी जय हो, जय हो। तुम समस्त संसारको पवित्र करनेवाली हो। तुम विष्णु भगवान् के चरणारविन्द के पराग के समान सुन्दर जल धारण करनेवाली, दुःखोको भस्म करनेवाली, और पाप-समूह को नाश करनेवाली हो॥१॥ भगवान् की चरणरेणु-सहित तुम्हारा जल ब्रह्मा के

---

*'बंदित' भी पाठान्तर है।

कमण्डलु में भरा रहता है। तुम्हारा निर्मल (अथवा विरक्ति उत्पन्न करने वाला) जल शिवजी के मस्तक पर रहा करता है। हे जान्हवी! तुम धन्य हो! तुमने सगर महाराज के साठ हज़ार पुत्रों का उद्धार किया है। तुमने अपने प्रबल वेग से पहाड़ों की कन्दराएँ तोड़ ताड़ डाली हैं। तुम्हारे अनेक नाम हैं ॥२॥ जो यक्ष, गन्धर्व, मुनि, किन्नर, नाग, दैत्य और मनुष्य तुम्हारे जल में स्नान करते हैं, वे अनन्त पुण्यों के भागी और सफल मनोरथ हो जाते हैं। तुम स्वर्ग की निसेनी और ज्ञान-विज्ञान की देनेवाली हो। तुम अज्ञान, अहंकार और कामरूपी कमलों के मुरझा देने के लिये शिशिर ऋतु की रात्रि हो ॥३॥ तुम्हारे दोनों सुन्दर तटों पर हरे और घने बेंत के वृक्ष लगे हैं, बीचमें संसार को प्रसन्न करनेवाली विशाल और स्वच्छ जल-धारा वह रही है। यह दृश्य देख कर यह भाव उठता है कि मानो नीले पलंग पर सहस्र फनवाले शेषनाग सो रहे हैं। तुम्हारे हज़ारों सोते शेष की फनावली की समता करते हैं ॥४॥ तुम्हारी महिमा असीम है, रूप अगण्य है, राजाओं की मुकुट मणियों से, हे त्रिपथगे! तुम सदा वन्दनीय हो, हे शिवप्रिये! हे भव-भय-हारिणी! तुलसीदासको श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में पूर्ण प्रेम दो ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'विष्णु-पद-कंज मकरंद'—पद १०की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(२)'विरजवरवारि'—(१) निर्मल जल (२) वह जल, जिसके पान करने से रजोगुण नष्ट हो जाय और सतोगुण का उदय हो।

(३) 'जन्हु-कन्या'—पद १७ की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(४) 'पुन्य कृत सगर सुत'—पद १७ की पहली टिप्पणी देखिये।

(५) 'नील परजंक कृत सयन सर्पेस जनु' यहां उत्प्रेक्षा अलंकार है। इसका लक्षण १४ पद की तीसरी टिप्पणी में देखिये।

(१९)

हरनि पाप त्रिबिध ताप सुमिरत सुरसरित।
बिलसति महि कल्प-बेलि मुद मनोरथ फरित ॥१॥
सोहत ससि धौल धार सुधा सलिल भरित।
बिमल तर तरंग लसत रघुवर के से चरित ॥२॥

तो बिनु जगदम्ब गंग कलिजुग का करित ?
घोर भव-अपारसिन्धु तुलसी किमि तरित ॥३॥

शब्दार्थ-बिलसत = शोभायमान होती है। कल्पबेलि = कल्पवृक्ष की बेलि, सारी मनस्कामनाएँ पूरी करनेवाली। फरित = फली हुई। करित=करता, यह प्रान्तीय प्रयोग है। तरित = यह भी प्रान्तीय प्रयोग है।

भावार्थ—हे गंगे ! नाम-स्मरण करते ही तुम पापों और तीनों (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) दुःखों को दूर कर देती हो। आनन्द और मनस्कामना रूपी फलों से फली हुई कल्प-लता के समान तुम पृथ्वी पर सुशोभित हो रही हो ॥१॥ अमृतोपम जलसे भरी हुई तुम्हारी धवल धारा चन्द्रमा के समान दृष्टि होती है; इसमें अति स्वच्छ लहरें शुभ्र रामचरित्र की नाईं शोभायमान हो रही हैं ॥२॥ हे जगज्जननी गंगे ! यदि यहां तुम न होतीं, तो न जाने यह कलियुग क्या क्या न कर डालता ? और तो सब हुआ, पर यह तुलसीदास इस अपार संसार-सागर को कैसे पार कर सकता ॥३॥

टिप्पणी—(१) हरनि पाप—गंगाके स्मरण करते ही पाप छू मंतर होजाता है, सामने ठहर ही नहीं सकता—इसपर कविवर पद्माकर का यह क्या ही ओज पूर्ण कवित्त है—

"जैसे तैं न मोकों कहूं नेकहू डरात हुतो, तैसे अब तोसों हौंहू नेकहू न डरिहौं।
कहै पदुमाकर प्रचंड जो परैगो तौ, उमंड करि तोसों भुजदंड ठोकि लरिहौं॥
चलो चलु चलो चलु बिचलु न बीचहीते, कीच बीच नीच तो कुटुम्बहि कचारिहौं।
एरे दगादार मेरे पातक अपार, तोहिं, गंगा की कछार में पछारि छारि करिहौं ॥"
(गंगा-लहरी)

(२०)

ईस-सीस बससि, त्रिपथ लससि, नभ-पताल-धरनि।
सुर-नर-नाग-मुनि-सिद्ध-सुजन-मंगल करनि ॥१॥
देखत दुख दोष-दुरित-दाह-दारिद-दरनि।
सगर-सुवन-साँसति-समनि, जलनिधि जल भरनि ॥२॥

महिमा की अवधि करसि बहु बिधि-हरि-हरनि।
तुलसी करु बानि बिमल, बिमल बारि बरनि ॥३॥

शब्दार्थ—दुरित = पाप। दरनि = नाश करनेवाली। साँसति = कष्ट।

भावार्थ—हे गंगे! तुम शिवजीके शिरपर विराजती हो; आकाश, पाताल और पृथ्वी—इन तीनों मार्गोंसे बहती हुई शोभायमान होती हो। देव, मनुष्य, नाग, मुनि, सिद्ध और संतोंका तुम सदा कल्याण करती हो ॥१॥ दुःखों (धन, जन, प्रिय आदिका वियोग), दोषों (गो-ब्राह्मणहिंसा आदि), साधारण पापों, कष्टों और दारिद्र्य को देखते ही नष्ट कर देती हो। तुमने महाराज सगर के साठ सहस्र पुत्रोंको यम-यातनासे मुक्त किया है। जलनिधि समुद्रमें भी तुम सदा जल भरा करती हो, उसे भी अपना याचक बना रखा है ॥२॥ ब्रह्मा, विष्णु और महेश की तुम्हीं ने अत्यन्त महिमा बढ़ाई है, ये तुम्हारे ही बदौलत ऐसे नामीधामी हुए हैं। हे गंगे! जैसा निर्मल तुम्हारा जल है, वैसी ही निर्मल तुलसीदास की वाणी कर दो, जिससे वह श्री रघुनाथ जी के चरित्र गा सके ॥३॥

टिप्पणी—(१) 'सगर-सुवन-सांसति-समनि—' १७ पद की पहली टिप्पणी देखिये।

(२) 'विधि-हरि-हरनि'—ब्रह्मा के कमंडलु में रहने से, विष्णुके चरणों से निकलने से, और शिव के मस्तक पर विराजने से इन तीनों देवताओं का महत्व पराकाष्ठा को पहुंचा दिया। ब्रह्मा और विष्णु तो पहले से कुछ कुछ विख्यात भी थे, पर स्मशानवासी शंकर को कौन पूछता, यदि उन के मस्तक पर गंगा ने कृपा न की होती।

"लोचन असम अंग भसम चिता की लाइ, तीनों लोकनायक सों कैसे कै ठहरतो।
कहै पदमाकर विलोकि इमि ढंग जाकें, वेद हू पुरान गाँन कैसें अनुसरता॥
बाँधे जटाजूट बैठि परबत कूट माहिं, महा कालकूट कहौं कैसे कै ठहरतो।
पीवै नित भंगै रहै प्रेतन के संगै ऐसे, पूछतो को। नंगै जो न गंगै सीस धरतो॥"

(गंगालहरी)

यमुना-स्तुति
राग बिलावल
(२१)

जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न।
त्यों त्यों सुकृत- सुभट कलि-भूपहिं, निदरि लगे बहु काढ़न ॥१॥
ज्यों ज्यों जल मलीन त्यों त्यों जमगन मुख मलीन है आढ़ न।
तुलसिदास जगदघ जवास ज्यों अनघमेघ लागे डाढ़न ॥२॥

पदच्छेद—जगत्+अघ। अन्+अघ।

शब्दार्थ—सुकृत-सुभट=पुण्य रूपी बड़े बड़े योद्धा। आढ़=आड़, अवलम्ब। जवास=जवासा, जो वर्षा में जल कर सूख जाता है। डाढ़न लागे=जलाने लगे।

भावार्थ—यमुनाजी वर्षा ऋतु में ज्यों ज्यों बढ़ने लगीं, त्यों त्यों सत्य, दया, अहिंसा आदि पुण्य पनप पनप कर योद्धाओं की नाईं सुकृतियों के हृदय से कलिरूपी राजा को निरादर करते हुए निकाल बाहर करने लगे ॥१॥ वर्षाकाल में बाढ़ के कारण ज्यों ज्यों जमुना जी का जल मैला होने लगा त्यों त्यों यमदूतों के मुख पर स्याही फिरने लगी, बेचारे उदास हो गये कि अब हम किसे बांध कर यमलोक ले जायंगे, सब के सब यमुना स्नान कर स्वर्ग जा रहे हैं। उन्हें अब कहीं कोई आसरा न रहा। तुलसीदास कहते हैं, पुण्यरूपी मेघ संसार के पापरूपी जवासे को जला कर भस्म करने लगे अर्थात् यमुना जी के बढ़ते ही पुण्यों की वृद्धि और पापों का क्षय हो गया ॥२॥

टिप्पणी—(१) 'जम गन मुख मलीन' इस प्रसंग पर कविवर ग्वाल ने क्या ही उत्तम कवित्त कहा है—

"ख्याल जमुना के लाख नाके भये चित्रगुप्त,
बैन करुना के बोलि मेरी मति स्वै गई।
कौन गहै कर में कलम, कौन काम करै,
रोस की दवाइत सों रोसनाई ध्वै गई॥
ग्वाल कवि काहे ते न कान दै जमेस, सुनो,
नौकरी चुकाय कहां तेरी आँखि स्वै गई।
लेखा भयो ड्यौढ़े, रोजनामा को सरेखा भया,
खाता भयो खतम, फरद रद ह्वै गई" (यमुना-लहरी)

काशी-स्तुति

राग भैरव

(२२)

सेइय सहित सनेह देह भरि, कामधेनु कलि कासी।
समनि सोक संताप पाप रुज, सकल सुमंगल-रासी॥ १॥
मरजादा चहुंओर चरन बर, सेवत सुरपुर-वासी।
तीरथ सब सुभ अंग रोम सिवलिंग अमित अविनासी॥ २॥
अंतरअयन अयन भल, थन फल, बच्छ बेद-बिस्वासी।
गलकंबल बरुना बिभाति जनु, लूम लसति सरितासी॥ ३॥
दंडपानि भैरव बिषान, मलरुचि खलगन भयदा सी।
लोलदिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा सी॥ ४॥
मनिकर्निका बदन-ससि-सुंदर, सुरसरि सुख सुखमा सी।
स्वारथ-परमारथ-परिपूरन, पंचकोसि महिमा सी॥ ५॥
बिस्वनाथ पालक कृपालुचित, लालति नित गिरिजा सी।
सिद्धि, सची, सारद पूजहिं, मन जुगवत रहति रमा सी॥ ६॥
पंचाच्छरी प्रान, मुद माधव, गव्य सुपंचनदा सी।
ब्रह्म जीव सम रामनाम जुग, आखर बिस्व-बिकासी॥ ७॥
चारितु चरति करम कुकरम करि, मरत जीवगन घासी।
लहत परमपद पय पावन, जेहि चहत प्रपंच उदासी॥ ८॥
कहत पुरान रची केसव निज कर-करतूति कला सी।
तुलसी बसि हरपुरी राम जपु, जो भयो चहै सुपासी॥ ९॥

पदच्छेद—सरिता + असी।

शब्दार्थ—अंतरअयन = अन्तर्गृही, मध्यस्थल। गलकंबल = गाय के गले में लटकती हुई खाल। बरुना = एक नदी। बिभाति = शोभित होती है। लूम = पूँछ। बिषान = सींग। लोलदिनेस = लोलार्क कुंड। त्रिलोचन = काशीमें एक तीर्थ का नाम। लालति = प्यार करती है। सची = इन्द्राणी। माधव = बिन्दुमाधव भगवान्। गव्य = पंचगव्य, गोबर, गोमूत्र, दूध, दही और घृत का सम्मिश्रण, जिसे

पान करने से पापों का प्रायश्चित्त किया जाता है। आखर = अक्षर। चारितु = चारा, घास। प्रपंच = संसार। सुपासी = सुखी।

भावार्थ—इस कलियुग में काशीरूपी कामधेनु का प्रेम-सहित मरण पर्यन्त सेवन करना चाहिये। यह दुःख, क्लेश, पाप और रोग का नाश करने वाली तथा सब प्रकार के कल्याणों की राशि है ॥१॥ इसके चारो ओर जो मर्यादा अर्थात् सीमा खिची हुई है वही इस कामधेनु के चारों चरण हैं। स्वर्ग के देवतागण भी इसके चरणों की सेवा करते हैं। यहां जितने तीर्थस्थान हैं, वह सब इसके अंग प्रत्यंग हैं, और नाशरहित अनन्त शिवलिंग इस के रोम हैं ॥२॥ अन्तर्गृही (काशी का मध्य भाग) इस कामधेनु के रहने के लिये सुंदर शाला है, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष–ये चारों फल इसके चारों थन हैं, वैदिक धर्म में निष्ठा रखनेवाले इसके बछड़े हैं, वे ही इसका दूध पी सकते हैं। वरुणा नदी गलकंबल जैसी शोभा बढ़ा रही है और असी नाम की नदी पूंछ बन कर अपनी निराली ही छटा दिखा रही है ॥ ३ ॥ हाथ में दंड लिये हुए भैरवनाथ इसके सींग हैं, पापकर्मा दुष्ट जनों को यह सदा अपने सींगों से डरवाती रहती हैं। लोलार्क (कुंड) और त्रिलोचन (एकतीर्थ) इसके दोनों नेत्र हैं और कर्णघंटा नाम का स्थान इसके गले में बँधा हुआ घंटा है ॥४॥ मणिकर्णिका तीर्थ ही चन्द्रमा के समान सुंदर मुख है, और गंगाजी के निरंतर बहने से जो सुख उत्पन्न हो रहा है वही इस की शोभा है। सांसारिक और पारलौकिक सुखों से परिपूर्ण जो पंचकोसी परिक्रमा है, वही इस की महिमा हैं ॥ ५ ॥ करुणासिन्धु विश्वनाथ शंकर इसे पालने-पोसने वाले हैं और पा ती-सरीखी इस पर सदा प्यार करती रहती हैं। अष्ट सिद्धियां, सरस्वती और इन्द्राणी इसका पूजन करती हैं, और लक्ष्मी-सरीखी इस का रुख देखती रहती हैं, कि देखें, क्या आज्ञा मिलती है ॥ ६ ॥ "नमः शिवाय" ऐसा जो पंचाक्षरी मंत्र है, वही इस के पंचप्राण (प्राण अपान, उदान, व्यान और समान) हैं। भगवान् विन्दुमाधव ही आनन्द हैं। पंचनद तीर्थ पंचगव्य के समान मनःशुद्धि करनेवाला है। यहां संसार को विकसित करनेवाले राम नाम के 'रकार' और 'मकार' यह दोनों अक्षर इस की चिच्छक्ति हैं ॥७॥ यहां जितने प्राणी मरते हैं, उन सबका सुकर्म-कुकर्म रूपी घास यह गाय चरा करती है। संसार से विरक्त महापुरुष इस

का मोक्ष-रूपी परम पवित्र दूध पिया करते हैं ॥८॥ पुराणों में लिखा है कि भगवान् बिन्दुमाधव ने शिल्पशास्त्र की संपूर्ण कला लगा कर अपने हाथों से इस की रचना की है। हे तुलसीदास, यदि तू सुखी होना चाहता है तो काशी में रह कर निरन्तर श्रीराम नाम जपा कर ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'मरजादा चहुं ओर'—पूर्व-पश्चिम दो योजन और उत्तर-दक्षिण आधा योजन, अर्थात् वरुणा और असी नामकी नदियों के बीच की सीमा।

"द्वियोजनं तु पूर्वं स्यात् योजनार्द्धं तदन्यथा।
वरुणा च नदी चासीत्तयोर्मध्ये वाराणसी ॥" (अग्नि पुराण)

(२) 'करनघंट'—एक ब्राह्मण शिवजी का अनन्य भक्त था। वह शिव के अतिरिक्त किसी देवता का नाम तक नहीं सुनता था। जो कोई उसके आगे विष्णु आदि का नाम ले दे, तो वह कोसों दूर भाग जाता था! उसने अपने कानों में घंटे बांध लिये थे कि जिससे विष्णु आदि का नाम न सुनाई पड़े। जहां वह रहता था, उस स्थान को आजभी 'करन घंटा' के नाम से लोग पुकारते हैं।

(३) 'पंचाक्षरी'—शिव-भक्तोंका यह परम मंत्र है। रुद्रयामल में इस मंत्र के प्रत्येक अक्षर का माहात्म्य इस प्रकार लिखा है:—

"नकारे धनसंपत्तिर्बहुलाभो भविष्यति।
आरोग्यं सफलं कार्यं भवेत्तत्र न संशयः ॥ १ ॥
मकारे निधनं नाशमापदश्च पदे पदे।
न भोगो लभते तस्य तत्सर्वं निष्फलम् भवेत् ॥२॥
शकारे कार्य-सिद्धिश्च सफलं च दिने दिने।
अर्थलाभं भवेन्नित्यं सर्वलाभं भविष्यति ॥ ३ ॥
वकारे धननाशं च तत्सर्वं निष्फलं भवेत्।
अकारें विजयं सौख्यं सर्वलाभं भविष्यति ॥ ४ ॥
यकारे चार्थलाभश्च धन-धान्य समन्वितः।
सौभाग्यं च भवेत्तस्य शुभं भवति सर्वदा" ॥५॥

इसी पंचाक्षरी मंत्रपर किसी कविने क्या ही सुन्दर छप्पय बनाया है—

प्रणव बीज मनु अज अनादि परमान परमपर,
नीलकंठ निरुपम नकार निरगुन निरीहतर।
महादेव मनुमय मकार श्रुति-सार ब्रह्मवर,
शिव शकार साकार सनातन नमो नमोहर।
वेदान्त वेद सुविचारमय वामदेव विज्ञानमय,
जय रस यकार यज्ञाधिपति, अविनाशी कासीस जय॥

(४) इस पद में रूपक अलंकार है।
"उपमेयरु उपमान कों, इक करि कहत जु रूप।
सों रूपक द्वै भांति को, मिलि अभेद तद्रूप॥" (पद्माभरण)

चित्रकूट-स्तुति

राग वसन्त

(२३)

सब सोच-विमोचन चित्रकूट। कलिहरन, करन कल्यान बूट॥१॥
सुचि अवनि सुहावनि आलवाल। कानन विचित्र, बारी बिसाल॥२॥
मन्दाकिनि-मालिनि सदा सींच। वर वारि, विषम नर नारि नीच॥३॥
साखा सुश्रृंग, भूरुह-सुपात। निरझर मधुवर, मृदुमलय बात॥४॥
सुक, पिक, मधुकर, मुनिवर विहारु। साधन प्रसून, फल चारि चारु॥५॥
भव-घोरघाम हर सुखद छाहँ। थप्यो थिर प्रभाव जानकी-नाह॥६॥
साधक-सुपथिक बड़े भाग पाइ। पावत अनेक अभिमत अघाइ॥७॥
रस एक, रहित-गुन-करम-काल। सिय राम लखन पालक कृपाल॥८॥
तुलसी जो राम-पद चहिय प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम॥९॥

शब्दार्थ—बूट=हरा भरा वृक्ष। आलबाल=थाल्हा। बारी=खेतों या वृक्षोंके चारों तरफ लगाये हुए कांटेदार पेड़, जिनसे पशु आदि से उनकी रक्षा रहती है। यह शब्द बुन्देलखंडी है। भूरुह=पेड़। बात=हवा। नाह=नाथ,स्वामी।

भावार्थ—चित्रकूट सब प्रकार की चिंताओं वा दुःखोंसे छुड़ानेवाला है, यह कलियुगका नाश करनेवाला और श्रेयस्कारी हरामरा वृक्ष है। पवित्र

भूमि उस वृक्षके लिये सुन्दर थाल्हा और विचित्र वन,उसे रूंधनेके लिये, बड़ी भारी वारी है ॥२॥ उसे मंदाकिनी-रूपी मालिन सदा अपने उत्तम जल से इस भांति सींचती रहती है, जैसे दुष्ट स्वभाव वाले स्त्री-पुरुष और नीच चांडाल आदि। तात्पर्य यह कि मंदाकिनी में बड़े बड़े पापी और नीच स्नान करते हैं पर उनके दुष्कर्मोंका प्रभाव वृक्ष पर कुछ नहीं पड़ता, वह ज्यों का त्यों हरा-भरा रहता है ॥३॥ यहाँ के सुन्दर शिखर ही इसकी शाखाएँ और वृक्ष सुन्दर पत्ते हैं। यहां जो झरना झरता है वही मानो इसका मकरन्द है और मलय-मिश्रित त्रिविध समीर इसकी कोमलता और सुगंध को सूचना देती है ॥४॥ श्रेष्ठ मुनि जो यहां विहार करते हैं वे ही इस वृक्ष में रमने वाले तोते, कोयल और भौंरे हैं। उनके नाना प्रकार के साधन, इसके फूल और अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष ये ही सुन्दर फल हैं ॥५॥ इस वृक्षकी छाया, कठिन संसार के आवागमन-रूपी कड़ी धूप का नाश कर सुख देती है। इसके प्रभावको जानकी-वल्लभ श्रीरघुनाथजी ने और भी स्थिर कर दिया है ॥६॥ साधक-रूपी सुन्दर बटोही बड़े सौभाग्यसे तृप्त होकर अनेक प्रकार के मनोवांच्छित सुख इस वृक्ष के नीचे, प्राप्त करते हैं। ॥७॥ यह सदा अखंड एक रस तथा अविद्या-जन्य सत्व, रज और तमोगुण एवम् कालकर्म से रहित है। जो इसका निरन्तर आश्रय लेता है, उसे माया, काल और कर्म व्यापते नहीं हैं। कृपालु सीता, राम और लक्ष्मण जिसके रक्षक हैं, भला उसका ऐसा प्रभाव क्यों न हो! ॥८॥ हे तुलसीदास! जो श्रीरघु-नाथजी के चरणों में प्रेम चाहता है, तो बेखटके चित्रकूट पर्वतका नियमपूर्वक सेवन कर ॥९॥

टिप्पणी—(१) 'साधन'—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगके अनुसार कई प्रकार के साधन हैं। शम, दम, तितिक्षा, शांति, विरक्ति, विवेक आदि अथवा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि आदि एवं नाम-स्मरण, श्रवण, कीर्तन, सख्य, दास्य, आत्मनिवेदन आदि नाना प्रकार के साधन हैं।

(२) 'थप्यो थिर प्रभाव जानकी-नाह'—चित्रकूट के माहात्म्य के संबंध में श्रीरामचन्द्रजी ने बृहद्रामायण में स्वयं श्रीमुख से कहा है—

"गिरि श्री चित्रकूटाख्यो, यत्र मंदाकिनी नदी। तयोर्मध्ये सुविस्तीर्णं त्रिंशद्धनुषमायता॥
एतत्क्षेत्रं [illegible] । [illegible] ॥"

राग कान्हरा

(२४)

अब चित, चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल-मगु, विलसत बढ़त मोह-माया-मलु ॥ १ ॥
भूमि बिलोकु राम-पद अंकित, बन बिलोकु रघुबर-विहारथलु।
सैल-स्रंग भवभंग हेतु लखु, दलन कपट पाखंड दंभ दलु ॥ २ ॥
जहँ जनमे जग जनक जगतपति, विधि-हरि-हर परिहरि प्रपंच छलु।
सकृत प्रवेस करत जेहि आस्रम, विगत विषाद भये पारथ नलु ॥ ३ ॥
न करु विलम्ब विचार चारुमति, बरष पाछिले सम अगिले पलु।
मंत्र सो जाइ जपहि, जो जपि भे, अजर अमर हर अचै हलाहलु ॥४॥
रामनाम जप-जाग-करत नित, मज्जत पय पावन पीवत जलु।
करिहैं राम भावतो मन को, सुख, साधन, अनयास महाफलु ॥ ६ ॥
कामद-मनि कामता-कलपतरु सो जुग जुग जागत जगती तलु।
तुलसी तोहिं विसेषि बूझिये, एक प्रतीति प्रीति एकै बलु ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—भवभंग=संसार के आवागमन से छुटकारा। पारथ=पार्थ, प्रथा के पुत्र युधिष्ठिर आदि। नल=दमयंती के पति महाराज नल। अचै=पीकर। सकृत=एकबार। कामद=सब इच्छाएं पूरी करनेवाला।

भावार्थ—हे चित्त! अब भी चेतजा और चित्रकूट को चल। कलियुग ने क्रोध कर कल्याण के मार्गों का लोप कर दिया है और नित्य अज्ञान, अविद्या और पापोंकी वृद्धि हो रही है ॥ १ ॥ श्रीरामजी के चरणों से चिह्नित वहां की भूमि का तथा उनकी विहार-स्थली वाले वन का दरसन कर। वहाँ कपट, पाखंड और दंभकी सेनाके नाश करनेवाले पर्वत के शिखरों का दर्शन करके सांसारिक चक्र से तू छुटकारा पा जायगा ॥ २ ॥ जहां पर सृष्टिकर्त्ता और विश्व-भर्त्ता ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने प्रपंच और छल छोड़ कर जन्म लिया है और आश्रममें एक बार प्रवेश करते ही युधिष्ठिर आदि पांडवों तथा महाराज नल का सारा क्लेश दूर हो गया ॥ ३ ॥ वहां जाने में अब देर मत कर। अपनी सुंदर बुद्धिसे भला विचार तो कर कि जितने वर्ष बीत गये, वह त

अब आने के नहीं, पर तेरी आयु के जितने पल शेष हैं, उन्हें गत वर्षों के समान मान अर्थात् एक एक पलको एक एक वर्ष की नाईं बहुमूल्य समझ, मौतको सिर पर नाचता हुआ समझकर, संसार से विरक्त हो, चित्रकूट का आश्रय ले। वहाँ जाकर उस रामतारकमंत्र को जप जिसे जपकर शिवजी कालकूट विष पीने पर भी, अजर अमर हो गये ॥ ४ ॥ जो तू वहाँ निरन्तर रामनाम स्मरण-रूपी यज्ञ और पयस्विनी के पवित्र जल में स्नान करता रहेगा तथा उसके जल का पान करता रहेगा, तो श्रीरामजी अवश्य तेरी मनस्कामना पूरी कर देंगे और इस सुगम साधनके बदले तुझे अनायास ही चारों फल देंगे ॥ ५ ॥ वहां जो कामतानाथ पर्वत है, वही स्वर्गीय चिंतामणि, और कल्पवृक्ष है। वह युग युग पृथ्वी पर जगमगाता रहा है। वैसे तो चित्रकूट सभीके लिये सुखदायक है, किन्तु हे तुलसीदास, तुझे विशेष कर उसके विश्वास, स्नेह और भरोसे पर निर्भर रहना चाहिए, इसीसे तेरी बनेगी ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'राम-पद-अंकित'—जिन चरणारविन्दों की रजके स्पर्श से पाषाणी अहल्या दिव्य देह प्राप्तकर स्वर्ग को चली गयी, उनसे चिह्नित भूमि क्या जीव के पाप-संताप को दूर न कर सकेगी ? अवश्य ।

(२) 'जहँ जनमे···कुल'—चित्रकूटमें महर्षि अत्रि और उनकी परम पतिव्रता साध्वी स्त्री अनुसूया ने पुत्र-कामना से घोर तप किया। ब्रह्मा, विष्णु और शिवने उनको दर्शन दिये और वर मांगने को कहा। अनुसूया ने यह वर मांगा कि मेरे गर्भसे तुम्हारे समान पुत्र जन्म लें। देवताओं को 'तथास्तु' कहना पड़ा। तीनों देवताओं ने, अपना अपना निर्दिष्ट कार्य छोड़कर अनुसूया के गर्भ से जन्म लिया। ब्रह्मा के अंश से चंद्रमा, विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय और शिव के अंश से दुर्वासा का जन्म हुआ ।

(३) 'पारथ'—जब दुर्योधन ने जुए में पांडवोंका सर्वस्व हरण कर लिया और उनको नगर से निकाल दिया, तब बेचारे भटकते भटकते चित्रकूटमें आये और वहां तप करके उसके प्रभाव से सुखी हुए। वृहद्रामायणमें लिखा है—

"चित्रकूटे शुभे क्षेत्रे, श्रीरामपद भूषिते ।
तपश्चचार विधिवद्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥"

(४) 'नल'—जब राजा नलने अपना सारा राज्य जुएमें हार दिया तब

उन्हें भी पांडवों की तरह दमयंती के साथ वन वन भटकना पड़ा। उनका भी दुख इसी चित्रकूटमें दूर हुआ। बृहद्रामायणमें लिखा है—

"दमयंतीपतिर्वीरोराज्यं प्राप्य हताशुभः।
मंदाकिनी पुण्यतमा गंगा त्रैलोक्यविश्रुता॥"

(५) 'हर अचे हलाहल'—३ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(६) गुसाईं तुलसीदासजी को चित्रकूट विशेष प्रिय था। इन्होंने रामचरितमानसमें चित्रकूटका जो वर्णन किया है वह देखते ही बनता है। उसमें की दो चार चौपाइयां उद्धृत किये विना जी नहीं मानता। देखिये—

"सैल सुहावन कानन चारू। करि केहरि मृग विहंग विहारू॥
नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रि-तिया निज तप बल आनी॥
सुरसरि धारि नाम मंदाकिनी। जो सब पातक पोतक डाकिनी॥
× × × × ×
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चूक न घात मार मुठभेरी॥"

हनुमत्-स्तुति

राग धनाश्री

(२५)

जयति अंजनी-गर्भ-अंभोधि-संभूत-विधु, विबुध-कुल-कैरवानन्दकारी।
केसरी-चारु-लोचन-चकोरक-सुखद, लोकगन सोक-संतापहारी॥१॥
जयति जय बालकपि केलि कौतुक उदित चंडकर-मंडल ग्रासकर्त्ता।
राहु-रवि-सक्र पवि-गर्व खर्वीकरन, सरन, भयहरन जय भुवन-भर्त्ता॥२॥
जयति रनधीर रघुवीरहित देवमनि, रुद्र-अवतार संसार-पाता।
बिप्र-सुर-सिद्ध-मुनि-आशिषाकार-वपु विमल गुन-बुद्धि-वारिधि-विधाता॥३॥
जयति सुग्रीव सिच्छादि रच्छन-निपुन, बालि-बलसालि-बध-मुख्यहेतू।
जलधि-लंघन, सिंह सिंहिका-मद-मथन, रजनिचर नगर-उत्पात-केतू॥४॥
जयति भूनन्दिनी-सोच-मोचन विपिन-दलन घननादबस बिगतसंका।
लूमलीला-अनल-ज्वालमाला-कुलित, होलिकाकरन लंकेस-लंका॥५॥

जयति सौमित्रि-रघुनंदनानंदकर, रिच्छ-कपि-कटक-संघट-विधायी।
बद्ध वारिधि-सेतु अमर-मंगल हेतु, भानुकुल-केतु-रणविजयदायी ॥६॥
जयति जय वज्रतनु दसन नख मुख विकट, चंड-भुजदंड तरुसैल पानी।
समर-तैलिक जंत्र तिल-तमीचर-निकर, पेरि डारे सुभट घालि घानी ॥७॥
जयति दसकंठ-घटकरन-वारिद-नाद कदन-कारन, कालिनेमि-हंता।
अघटघटना-सुघट सुघट-विघटन बिकट, भूमि पाताल-जल-गगन-गंता ॥८॥
जयति विस्त्र-विख्यात बानैत-विरुदावली, विदुष बरनत वेद बिमल बानी।
दास तुलसी-त्रास समन सीतारमन, संग सोभित राम राजधानी ॥९॥

पदच्छेद—कैरव + आनंद। आशिष + आकार। माज्ञा+आकुलित।
नंदन+आनन्दकर।

शब्दार्थ—अंभोधि = समुद्र। कैरव = कुमोदिनी। चंडकर = प्रचंड किरण वाले सूर्य। पवि = वज्र। खर्वीकरन = कम कर देनेवाले। पाता = रक्षक। बलसालि = महा पराक्रमी। भूनन्दिनी = सीताजी। घननाद = मेघनाद। आकुलित = आर्त्त। तैलिक जंत्र = कोल्हू। तमीचर = राक्षस। पेरि डारे = पेल डाला। घटकरन = कुंभकर्ण। कदन=नाश। अघट घटना-सुघट = असंभव बात को संभव कर देनेवाले। सुघट-विघटन = संभव को असंभव करनेवाले। बानैत = बाना। विदुष = पंडित।

भावार्थ—हे हनुमानजी, तुम्हारी जय हो। तुम अंजनी के गर्भ-रूपी समुद्र से चंद्ररूप उत्पन्न होकर देवकुलरूपी कुमुद पुष्पों को प्रफुल्लित करने वाले हो। जिस प्रकार चंद्रोदय होने से कुमोदिनी के फूल खिल उठते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे दर्शन मात्र से देवतागण प्रसन्न हो गये। केशरी के सुंदर नेत्र-रूपी चकोरों को तुम आनन्द देनेवाले और समग्र लोकों का शोक-संताप हरनेवाले हो ॥१॥ तुम्हारी जय हो, जय हो। तुम ने बचपन में ही बाल भाव से, उदयकालीन प्रचंड सूर्य के मंडल को लाल खिलौना समझ कर, निगल लिया था। उस समय तुम ने राहु सूर्य इन्द्र और उसके वज्र का मान-मर्दन कर दिया था। हे शरणापन्नों के दुःख हरनेवाले! हे विश्व के स्वामी तुम्हारी जय हो ॥२॥ तुम्हारी जय हो। तुम रणभूमि में डटे रहनेवाले हो, तुमने सदा श्रीरामचन्द्रजी का हित किया है, तुम चिंतामणि रूप (एकादश) रुद्र रूप और संसार के रक्षक हो। तुम्हारा शरीर मानों वाड़व,

देवता, सिद्ध और मुनियों के आशीर्वचन की मूर्त्ति है अर्थात् इन सबके आशीर्वाद से तुम सदा मंगल-मूर्त्ति हो। तुम शुद्ध सात्विक गुणों और बुद्धि के समुद्र तथा विधाता हो ॥३॥ तुम्हारी जय हो। तुम ने सुग्रीव को उसके हित की शिक्षा दी है, उसकी रक्षा में बड़ा कौशल दिखाया है। महा बलवान् बालि के मरवाने के मुख्य कारण भी तुम्ही हो। समुद्र के लांघने वाले, सिंहिका राक्षसी के मर्दन करने में सिंह-रूप तथा दानवों की लंकापुरी में उपद्रव मचाने को केतुरूप भी तुम्ही हो ॥४॥ तुम्हारी जय हो। तुमने श्रीसीताजी की चिन्ताएं दूर कर दी थीं और अशोक वन उजाड़ने पर निःशंक हो मेघनाद के पाश में अपने को बँधवा लिया था। तुमने अपनी पूंछ की लीला से अग्नि की ज्वालमाला से व्याकुल रावण की लंकापुरीमें होली सी मचा दी थी ॥५॥ तुम्हारी जय हो। तुम राम और लक्ष्मण को आनन्द देने वाले, रीछ और बंदरों की सेना को एकत्रित कर समुद्र का पुल बांधने वाले, देवताओं के लिये कल्याण-रूप तथा सूर्यकुल-केतु श्रीरघुनाथजी को संग्राम में विजय-लाभ करनेवाले हो ॥६॥ तुम्हारी जय हो, जय हो। तुम्हारा शरीर, दांत, नख और विकराल मुख वज्र के समान पुष्ट हैं। तुम्हारे भुजदंड बड़े ही प्रचंड हैं। वृक्षों और पर्वतों को तुम हाथों से उठानेवाले हो। तुमने संग्राम-रूपी कोल्हू में राक्षसों के समूह और भारी भारी योद्धा-रूपी तिलों को डाल डाल कर घानी की नाईं पेल डाला है ॥७॥ तुम्हारी जय हो। रावण कुंभकर्ण और मेघनाद के नाश कराने के कारण तुम्ही हो, कालिनेमि राक्षस को भी तुम्हीं ने मारा है। तुम असंभव को संभव और संभव को असंभव कर दिखाने वाले हो। तुम बड़े ही भयानक हो। पृथ्वी, पाताल और आकाश सभी स्थानों में तुम्हारी गति है ॥८॥ तुम्हारी जय हो। तुम जगत-उजागर हो। वीरता का बाना सदा ही कसे रहते हो। तुम्हारी गुणावली पंडित और वेद शुद्ध वाणी से गाते हैं। तुम तुलसीदास के भव-भय को नाश करनेवाले हो। अयोध्या में श्रीसीतारमण रामचन्द्र के साथ, हे हनुमानजी, तुम निरन्तर शोभायमान रहते हो ॥९॥

टिप्पणी—(१)'उदित चंड कर मंडल'—वाल्मीकि-रामायण में लिखा है कि एक बार अमावस के दिन हनुमान् जी सूर्य को लाल फल जान कर उसे खाने के लिये दौड़ गये। देखते देखते प्रचंड सूर्य को लपक लिया। उस दिन ग्रहण

भी था। बेचारा राहु निराश हो इंद्र के पास पहुंचा और बोला आज मैं क्या खाऊँ? मेरा अहार तो किसी दूसरे ही ने उड़ा दिया! यह सुनकर इन्द्र दौड़ा आया। इन्द्र और राहु को देख कर हनुमान् जी उन्हें खाने को दौड़े। इतने में इन्द्र ने उनकी ठोढ़ी पर ऐसे जोर से वज्र मारा कि वह मूर्च्छित हो गये और वज्र भी टूट गया। तभी से उन का नाम 'हनुमान' पड़ा।

(२) 'रुद्रअवतार'—एक बार शिवजी ने श्रीरघुनाथजी से कहा कि मैं आपकी दासभाव से सेवा करना चाहता हूं, मुझे यह वर दीजिये। रघुनाथजी ने शिवजी को यह वर दे दिया। कालान्तरमें हनुमान के रूप में शिवजी ने रामचन्द्रजी की दास्यभक्ति प्राप्त की। हनुमानजी एकादश रुद्र माने जाते हैं।

(३) 'सुग्रीव सिच्छादि रच्छन निपुन'—हनुमानजी ने सूर्य से विद्याभ्यास किया था। दक्षिणा-रूपमें सूर्य ने हनुमानजी से यह वर मांग लिया था कि तुम सदा हमारे पुत्र सुग्रीवकी रक्षा करना। जब तक सुग्रीव को राज्य नहीं मिला, तब तक बराबर यह उसकी रक्षा करते रहे।

(४) 'सिंहिका-मद-मथन'—सिंहिका नामकी एक राक्षसी समुद्रमें रहती थी। इसका यही काम था कि जो जीव-जन्तु आकाश या समुद्र पर हो जाता हो, उसकी परछांई पकड़ कर उसे खा जाय। यही चाल इसने हनुमानजी के साथ खेली। पर बेचारी की इनके आगे न चली और मुफ्त में उसे प्राणोंसे हाथ धोने पड़े।

(५) 'कालनेमि'—यह बड़ा मायावी था। जब लक्ष्मणजी को मेघनादकी शक्ति लगी थी और हनुमानजी संजीवनी बूटी लेने जा रहे थे, तब रावण की सलाह से, इसने साधुका भेष धारण कर हनुमान जी के साथ छल किया। किन्तु भेद खुल जाने पर हनुमानजी ने इसे पूंछमें लपेट कर यमधाम भेज दिया।

(६) 'सीतारमन...राजधानी'—रामजी का राज्याभिषेक हो जाने पर सुग्रीवादि वानर अपने अपने घर चले गये, पर हनुमान जी सदा अयोध्या में ही रहे।

(७) 'जयति अंजनी गर्भ......संतापहारी'—में रूपक अलंकार है। इसका लक्षण २२ पद की चौथी टिप्पणी में देखिये।

(२६)

जयति मर्कटाधीस मृगराज-विक्रम, महादेव मुद मंगलालय कपाली।
मोहमद-कोह-कामादि-खल संकुला, घोर संसार-निसि किरन माली ॥१॥

जयति लसदञ्जनादितिज कपि-केसरी-कस्यप-प्रभव जगदार्त्तिहर्त्ता ।
लोक-लोकप-कोक-कोकनद-सोकहर, हंस हनुमान कल्यानकर्त्ता ॥२॥
जयति सुविसाल विकराल विग्रह, वज्रसार सर्वांग भुजदंड भारी ।
कुलिसनख दसनवर लसत, बालधि बृहद, बैरि-सस्त्रास्त्रधर कुधरधारी ॥३॥
जयति जानकी-सोच-संताप-मोचन, रामलछमनानंद-वारिज-विकासी ।
कीस-कौतुक-केलि, लूम-लंका-दहन, दलन कानन तरुन तेजरासी ॥४॥
जयति पाथोधि-पाषान-जलजानकर, जातुधान-प्रचुर-हर्ष-हाता ।
दुष्ट रावन-कुंभकरन-पाकारिजित-मर्मभित्, कर्म परिपाक दाता ॥५॥
जयति भुवनैकभूषन, विभीषनवरद, विहित कृत राम संग्राम साकी ।
पुष्पकारूढ़ सौमित्रि-सीता-सहित, भानु-कुल-भानु-कीरति-पताका ॥६॥
जयति पर-जंत्रमंत्राभिचार-ग्रसन, कारमन कूट कृत्यादि-हंता ।
साकिनी-डाकिनी-पूतना-प्रेत बैताल-भूत-प्रमथ-जूथ-जंता ॥७॥
जयति वेदान्तविद विविध-विद्या-विसद, वेद वेदांगविद ब्रह्मवादी ।
ग्यान-विग्यान-वैराग्य-भाजन विभो, बिमल गुन गनति सुकनारदादी ॥८॥
जयति काल-गुन-कर्म-मायाकथन, निस्चल ग्यान व्रतसत्यरत धर्मचारी ।
सिद्ध-सुरवृन्द-जोगींद्र सेवित सदा, दास तुलसी प्रनत भयतमारी ॥९॥

पदच्छेद—मर्कट + अधि + ईस । मंगल + आलय । लसत् + अंजना + अदिति । जगत + आर्त्ति । सस्त्र + अस्त्र । लछमन + आनंद । पाक + अरि । भुवन + एक । पुष्पक + आरूढ । मंत्र + अभिचार । कृत्या + आदि ।

शब्दार्थ—कपाली = कपाल धारण करनेवाले शिवजी । किरनमाली = सूर्य । अंजनादिति = अंजनी-रूपी अदिति । कोकनद = कमल । हंस = सूर्य । बालधि = पूँछ । कुधर = पहाड़ । जातुधान = राक्षस । हाता = हंता, नाशक । पाकारि-जित् = पाकदैत्य को मारनेवाले इंद्र और तिन्हें जीतनेवाला मेघनाद । मर्मभित् = मर्मस्थान को तोड़नेवाला । परिपाक = फल । साका = यश । अभिचार = मारण, उच्चाटन आदि प्रयोग । कारमन = जंत्रमंत्रद्वारा मार डालना । कृत्या = प्राणघातक देवी । साकिनी डाकिनी = चुड़ैल, योगिनी । प्रमथ = शैवगण । तमारी = सूर्य ।

भावार्थ—हे हनुमानजी, तुम्हारी जय हो। तुम बन्दरों के राजा, सिंह के समान वीर, देवताओं में श्रेष्ठ, आनंद और कल्याण के स्थान तथा कपाली (शिवजी) के अवतार हो। अज्ञान, अहंकार, क्रोध, काम आदि दुष्टों से व्याप्त भयंकर संसाररूपी रात्रि के नाश करनेवाले तुम साक्षात् सूर्य हो॥ १॥ तुम्हारा जन्म अंजनी-रूपी अदिति (देवताओं की माता) और केशरीरूपी कश्यप प्रजापति से हुआ है; तुम संसार के कष्टों के दूर करनेवाले हो। लोक और लोकपालरूपी चकवा तथा कमलों का दुःख हरनेवाले, हे कल्याणमूर्त्ति हनुमान जी, तुम सूर्य हो॥२॥ तुम्हारी जय हो। तुम्हारा शरीर बड़ा भारी और भयंकर है, प्रत्येक अंग वज्र का सार लेकर बनाया गया है। भारी भारी भुजाएं, वज्र के समान नख और सुन्दर दांत शोभायमान हो रहे हैं। तुम्हारी पूंछ बड़ी लम्बी है, शत्रुओं के दमन करने के लिये नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लिये रहते हो। तुम पर्वतों को भी धारण किया करते हो॥३॥ तुम्हारी जय हो। तुम श्रीसीताजी के शोक-संताप को हरनेवाले और राम-लक्ष्मण के आनंद-रूपी कमलों को प्रफुल्लित करनेवाले हो। बंदर-स्वभाव से लीला-पूर्वक ही, पूंछ से लंका जला देनेवाले, अशोक वन को उजाड़ने वाले, हे हनुमान जी, तुम भभकते हुए तेज के पुंज हो, सूर्य हो॥४॥ तुम्हारी जय हो। तुम समुद्र पर पत्थर का पुल बांधनेवाले, राक्षसों के बड़े भारी आनंद के नाश करनेवाले, दुष्ट रावण, कुंभकर्ण और मेघनाथ के मर्मस्थानों को तोड़नेवाले तथा उनके कर्मों के फल को देनेवाले हो॥५॥ संसारशिरोमणे, तुम्हारी जय हो। तुम विभीषण को (रामभक्तिरूपी) वर देनेवाले और श्रीरामजी के साथ संग्राम में बड़े बड़े यशपूर्ण कार्य करनेवाले हो। लक्ष्मण और सीता-सहित पुष्पक विमान पर विराजमान सूर्यवंश के सूर्य श्रीरामचन्द्रजी की यश-रूपी पताका के समान तुम सुशोभित हुए थे॥६॥ तुम्हारी जय हो। शत्रुओं से किये हुए यंत्रमंत्रमय अभिचार अर्थात्, मोहन-उच्चाटन आदि प्रयोगों के तुम नाशक हो। तुम गुप्त मारण प्रयोग के एवं प्राणघातिनी कृत्या आदि देवियों के नाश करनेवाले हो। तुम शाकिनी, डाकिनी, पूतना, प्रेत, बेताल, भूत और प्रमथ आदि भयंकर जीवोंके यंता अर्थात् सारथी या शासक हो॥७॥ तुम्हारी जय हो। तुम वेदान्त शास्त्र के ज्ञाता, नाना प्रकार की विद्याओं में विशारद, वेद और वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष) के

जाननेवाले तथा ब्रह्मवादी अर्थात् ब्रह्म-निरूपण करनेवाले हो । तुम ज्ञान, वैराग्य और आत्म-ज्ञान के सत्पात्र हो । शुकदेव और नारद आदि देवर्षि तुम्हारे ऐश्वर्य तथा गुणावली को सदा गाया करते हैं ॥८॥ तुम्हारी जय हो । तुम काल, त्रिगुण (सत्व, रज और तम), कर्म (संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण) और अविद्या के नाश करनेवाले हो, अर्थात् तुम इन से स्वयं मुक्त एवं दूसरों को मुक्त करनेवाले हो । तुम सदा शान्त रहते हो । एक ज्ञान ही तुम्हारा व्रत है । सत्य में रमते तथा धर्म पर चलते हो । सिद्ध और देव-समूह एवं योगी तुम्हारी निरंतर सेवा किया करते हैं । हे हनुमान जी, तुलसीदास तुम्हें प्रणाम करता है, इसलिये कि तुम उसके भव-भयरूपी अंधकार के लिये सूर्यरूप हो ॥९॥

टिप्पणी—(१) 'काल गुन कर्म माया'—(१) काल —पल, विपल, घड़ी, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, अयन, संवत्सर, युग आदि । काल अव्यक्त माना गया है । महाप्रलय इसका एक रूप ही है । (२) गुण—सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण । न्यूनाधिक परिमाण में यह गुण प्रत्येक जीव में रहा करता है । सत्प्रवृत्ति सत्व से, भोग-विलासेच्छा रज से और अज्ञान, निद्रा, क्रोध आदि तमोगुण से उत्पन्न होता है । (३) कर्म—कर्म चार प्रकार के हैं—सकाम, निष्काम, प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा शुभ और अशुभ । विकर्म, कर्म और अकर्म ये भी इसके भेद हैं । फिर भी कर्मरहस्य महा गहन है ! (४) माया—आत्म में अनात्म तथा अनात्म में आत्म का रोपण करनेवाली अविद्या । जहां तक मनवाणी की गति है, वहां तक इसका साम्राज्य है । जैसे—

"गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ॥"

(रामचरितमानस)

(२७)

जयति मंगलागार संसारभारापहर वानराकारविग्रह पुरारी ।
राम-रोपानल-ज्वालमाला-मिष ध्वांतचर-सलभ-संहारकारी ॥१॥
जयति मरुदञ्जनामोद-मंदिर, नतग्रीव सुग्रीव-दुःखैक-बन्धो ।
जातुधानोद्धत-क्रुद्ध-कालाग्निहर, सिद्ध-सुर-सज्जनानंद-सिन्धो ॥२॥
जयति रुद्राग्रनी, बिस्वविद्याग्रनी, बिस्वविख्यातभट चक्रवर्ती ।
सामगाताग्रनी कामजेताग्रनी, रामहित रामभक्तानुवर्ती ॥३॥

जयति संग्रामजय रामसंदेसहर, कौसला-कुसल-कल्यानभाषी।
राम विरहार्क-संतप्त-भरतादि-नरनारि-सीतलकरन कल्पसाषी ॥४॥
जयति सिंहासनासीनसीतारमन निरखि निर्भरहरष नृत्यकारी।
राम-संभ्राज सोभा-सहित सर्वदा तुलसिमानस-रामपुर-विहारी ॥५॥

पदच्छेद—मंगल + आगार। भार + अपहर। वानर + आकार। रोष + अनल। मरुत् + अंजना। दुःख + एक। जातुधान + उद्धत। काल + अग्नि। सज्जन + आनंद। सद + अग्रनी। विद्या + अग्रनी। गाता + अग्रनी। जेता + अग्रनी। भक्त + अनुवर्ती। विरह + अर्क। सिंहासन + आसीन।

शब्दार्थ-मंगलागार = मंगल अर्थात् कल्याणके स्थान। पुरारी = पुर राक्षसके शत्रु शिवजी। ध्वांतचर = अन्धेरे में चलने फिरने वाले, राक्षस। सलभ = पतिंगे। नतग्रीव = गर्दन नीची किये, दीन। उद्धत = उद्दण्ड, गँवार। अग्रनी = श्रेष्ठ। सामगाता = सामवेद का गान करनेवाला। संदेसहर = सदेसा लेजाने वाला दूत। विरहार्क = वियोगरूपी सूर्य। निर्भर = पूर्ण।

भावार्थ—हे हनुमानजी, तुम्हारी जय हो। तुम कल्याण के स्थान संसार के भार को हरनेवाले, वानर-रूप और साक्षात् रुद्र-रूप हो। तुम श्रीरामचन्द्र जी की क्रोध रूपी अग्नि की ज्वालामाला के बहाने से दैत्यरूपी पतिंगों को भस्म करनेवाले हो ॥१॥ तुम्हारी जय हो। तुम पवनदेव और अञ्जनी माता के आनन्द के मन्दिर अर्थात् उन्हें आनन्द प्रदान करनेवाले हो। नीची गर्दन किये हुए, दीन सुग्रीव की विपत्तिमें तुम सच्चे सहायक हुए थे। तुमने राक्षसों की प्रचण्ड क्रोधरूपी प्रलय-कालाग्नि का नाश किया था। और सिद्धों, देवताओं और सज्जनों को अगाध समुद्र के समान आनन्द दिया था ॥ २ ॥ तुम्हारी जय हो। तुम एकादश रुद्रों में, और समस्त संसार के विद्वानों में श्रेष्ठ हो। संसार में प्रसिद्ध और योद्धाओं के सम्राट् हो। सामवेद के गायकोंमें तथा कामदेव के जीतने वालोंमें अग्रगण्य हो। तुम श्रीरामचन्द्रजो के हितकारी और राम भक्तों के रक्षक हो ॥ ३ ॥ तुम्हारी जय हो। तुम युद्धों में विजय लाभ करनेवाले, श्रीरघुनाथजी का संदेसा (जानकीजी के पास) ले जानेवाले और अयोध्या की कुशल-मंगल कहनेवाले हो। तुम रामचन्द्रजी के वियोग-रूपी सूर्य से जलते हुए भरत आदि स्त्री-पुरुषों को शीतल (प्रसन्न) करने के लिये मूर्तिमान कल्पवृक्ष हो ॥४॥ तुम्हारी जय हो। तुम राज्य-सिंहासन

पर विराजमान जानकी-वल्लभ रामचन्द्रजी को देख देख कर पूर्णआनन्द के मारे नाचने वाले हो। जैसे तुम महाराज रामचन्द्रजी के साथ शोभा-सहित विराजमान हुए थे, उसी प्रकार तुलसीदास की मानस-रूपी अयोध्या में सदा विहार करते रहो ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'मरुदंजना'—कहते हैं, हनुमानजी पवनदेव के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। केसरी वानर की स्त्री अंजनी एक दिन शृंगार किये हुए खड़ी थी। इतने में पवनदेव निकले और वह उसके अनुपम रूप-लावण्य पर मुग्ध हो गये। उन्हीं के वीर्य से अञ्जनी के गर्भ से हनुमानजी का जन्म हुआ। इसी से इनको 'पवन-कुमार' या वातात्मज कहते हैं।

(२) रुद्राग्रनी'—२५ पद की टिप्पणी देखिये।

(३) 'राम-संम्राज......विहारी'—यहां तुलसीदासजी हनुमानजी से यह नहीं मांगते कि केवल तुम्हीं मेरे हृदय में निवास करो किंतु रामराज्याभिषेक की शोभा सहित मेरे हृदय में विहार करो, अर्थात् मुझे तुम्हारे ऐश्वर्य से कोई प्रयोजन नहीं, मैं तो राम-माधुर्योपासक हूं, मुझे वही छवि-छटा चाहिए।

(२८)

जयति वात-संजात विख्यात विक्रम, बृहद्बाहु बल विपुल बालधि बिसाला।
जातरूपाचलाकार विग्रह लसत, लूम विद्युल्लता ज्वालमाला ॥ १ ॥
जयति बालार्क वर-बदन, पिंगल नयन, कपिस-कर्कस-जटाजूटधारी।
विकट भृकुटी, वज्र दसन नख, वैरि-मद-मत्त-कुंजर पुंज कुंजरारी ॥ २ ॥
जयति भीमार्जुन-व्यालसूदन-गर्वहर, धनंजय-रथ-त्राण-केतू।
भीष्म-द्रोण-करणादि पालित कालदृक सुजोधन-चमू-निधन हेतू ॥ ३ ॥
जयति गतराजदातार हंतार, संसार-संकट-दनुज-दर्पहारी।
ईति अति भीत-गृह-प्रेत-चौरानल-व्याधिबाधा-समन घोर मारी ॥ ४ ॥
जयति निगमागम व्याकरन करन लिपि, काव्य कौतुक कला कोटि सिंधो।
सामगायक भक्त-काम दायक, वामदेव, श्रीराम प्रिय-प्रेम-बन्धो ॥ ५ ॥
जयति धर्मांसु-संदग्ध-संपाति नवपच्छ-लोचन-दिव्य देहदाता।
कालकलि पापसंताप-संकुल सदा, प्रनत तुलसीदास तात-माता ॥ ६ ॥

पदच्छेद—जातरूप+अचल+आकार। विद्युत्+लता। बाल+अर्क। कुंजर+अरि। भीम+अर्जुन। करन+आदि। चौर+अनल। निगम+आगम। घर्म+अंसु।

शब्दार्थ—वात-संजात=पवन से उत्पन्न, हनुमानजी। वालधि=पूँछ। जातरूपाचल=सुवर्ण का पहाड़, सुमेरु। व्यालसूदन=गरुड़। धनंजय=अर्जुन। ईति=खेतीकी विघ्न बाधायें, जो छः प्रकार की होती हैं—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टीडी, मूषक, तोते और राजाक्रमण। घोरमारी=महामारी नामकी बीमारी। निधन=नाश। घर्मांशु=प्रखर किरणवाले सूर्य। संकुल=व्याप्त।

भावार्थ—हे पवन-पुत्र! तुम्हारी जय हो। तुम्हारा पराक्रम प्रसिद्ध है, तुम्हारे भुजदण्ड विशाल हैं, बल असीम है, और पूँछ बड़ी लम्बी है। सुमेरु पर्वत की नाईं तुम्हारा शरीर सुशोभित हो रहा है और पूंछ बिजली की लता के समान अथवा अग्नि के समान जगमगा रही है ॥१॥ जय हो! तुम्हारा सुन्दर मुख उदय-कालीन सूर्य के समान है, नेत्र पीले रंग के हैं, और भूरे तथा कठोर जटाओं का मुकुट सा तुम्हारे शिर पर बँध रहा है। तुम्हारी भौंहें टेढ़ी और दांत वज्र जैसे हैं। तुम अपने नखों से सिंह के समान शत्रु-रूपी मतवाले हाथियों को विदीर्ण करनेवाले हो ॥२॥ तुम्हारी जय हो। तुम भीम, अर्जुन और गरुड़ के गर्व को खर्व करनेवाले एवं अर्जुन के रथ की पताका पर बैठ कर उसकी रक्षा करनेवाले हो। तुम भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य्य से रक्षित तथा कालदृष्टि के समान दुर्योधन की प्रचण्ड सेना के परास्त करने में मुख्य कारण हो ॥३॥ तुम्हारी जय हो। तुम सुग्रीव के गये हुए राज्य को फिर दिलानेवाले, संसार के दुःखों के दूर करनेवाले और दैत्यों का मान-मर्दन करनेवाले हो। ईति, महाभय, ग्रह, प्रेत, चोर, अग्निकांड, रोग, बाधाओं और महामारी आदि के भी संहारक तुम्हीं हो ॥४॥ वेद, शास्त्र और व्याकरण को लिपिबद्ध करनेवाले अथवा उनपर भाष्य रचनेवाले और काव्य के दशांगों एवं चौंसठ कलाओं के समुद्र तुम्ही हो। तुम सामवेद के गानेवाले, भक्तों के मनोरथ पूरे करनेवाले और साक्षात् शिवरूप हो। प्रेम-वत्सल भगवान् रामचन्द्रजी के तुम हितू हो। तुम्हारी जय हो ॥५॥ सूर्य के तेज से जले हुए सम्पाति नाम के गीध को नये पंख, नेत्र, और दिव्य शरीर के देनेवाले भी तुम्ही हो। और कलिकाल के पाप-सन्तापों से पूर्ण इस शरणागत तुलसीदास के माता-पिता हो। तुम्हारी जय हो, जय हो ॥६॥

टिप्पणी—(१) 'वात-संजात'— २७ पद की पहली टिप्पणी देखिये।

(२) 'भीम'—भीम और हनुमान के सम्बन्ध की, महाभारत में, दो कथाएँ प्रसिद्ध हैं। (१) वनवास के समय एक दिन भीमसेन को मार्ग में एक बड़ा भारी बन्दर, आड़ा लेटा हुआ, मिला। भीमसेन की गर्जना से बन्दर की आँख खुल पड़ी। भीमसेन ने उससे कहा—भाई! मार्ग से हट जाओ। बन्दर ने कहा—मैं बूढ़ा हूं, उठने-बैठने में कष्ट होता है, तुम्हीं मेरी पूंछ हटा कर क्यों नहीं चले जाते? भीमसेन ने सारी शक्ति लगा कर पूंछ उठाई, पर वह टस से मस न हुई। यह जानने पर, कि यह बन्दर हनुमान है, भीमसेन ने उसे साष्टांग प्रणाम किया। (२) एकबार भीमसेन ने हनुमानजी से कहा—मुझे आप अपना वह रूप दिखाइये, जो राम-रावण युद्ध में धारण किया था। हनुमानजी ने कहा—मेरा वह रूप बड़ा ही विकराल है, तुम देखते ही डर जाओगे। जब भीमसेन ने गर्ववश आग्रह किया, तब हनुमानजी अपने प्रचण्ड रूप में देखते देखते प्रकट हो गये। भीमसेन की आंखें बन्द हो गईं, शरीर थर थर कांपने लगा। हाथ जोड़ कर उनके चरणों पर गिर पड़े।

(२) 'अर्जुन'—महाभारत के युद्ध में जब अर्जुन कर्ण के रथ पर बाण चलाते तब उनका रथ कोसों दूर जा पड़ता और कर्ण के बाण से अर्जुन का रथ ज़रा सा खिसकता। यह देख कर अर्जुन को अपने बल-पराक्रम पर बड़ा गर्व हुआ। अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण यह बात समझ गये। उन्होंने हनुमानजी से रथ की ध्वजा पर से हट जाने को कहा। हनुमानजी हट गये। अब कर्ण के बाण से अर्जुन का रथ बड़ी दूर जा गिरा। अर्जुन घबरा कर भगवान् से बोले—यह क्या हुआ? भगवान ने कहा—तेरी क्या शक्ति है! यह पराक्रम हनुमान का था। इस समय वह तेरे रथ की ध्वजा पर नहीं हैं। यदि मैं भी यहां से हट जाता, तो न जाने, तेरा रथ कहां गिरता! अर्जुन लज्जा के मारे पानी पानी हो गये।

(३) 'व्यालसूदन'—एक बार विष्णु भगवान् ने गरुड़ को हनुमान के बुलाने की आज्ञा दी। हनुमान ने गरुड़ से कह दिया—आप चलिये, मैं पीछे से आ जाऊंगा और आपसे पहले ही पहुंचूंगा। गरुड़ को अपनी गति का बड़ा गर्व था। दौड़ते हुए भगवान् के पास पहुंचे, तो देखते क्या हैं कि हनुमान वहां पहले से ही बैठे हैं। गरुड़ का सारा घमण्ड मिट्टी में मिल गया। यह कथा स्कन्दपुराण में है।

(४) 'निगमागम······सिन्धों'—हनुमानजी ने सूर्य भगवान् से सारी विद्याएँ पढ़ी थीं। वेदों और शास्त्रों पर भाष्य, पिंगल की टीका, काव्यों पर टिप्पणियां तथा वेदांगों पर भी कई ग्रन्थ इन्होंने लिखे थे। हनुमन्नाटक, हनुमत् ज्योतिष आदि कुछ ग्रन्थ आज भी मिलते हैं। कहते हैं, चित्रकाव्य के आदि आविष्कर्त्ता यही थे।

(५) 'सम्पाति'—यह जटायु गीध का छोटा भाई था। एकबार दोनों होड़ लगा कर सूर्यमण्डल के पास गये। जटायु बुद्धिमान था, अतः जब वह सूर्य का तेज न सह सका, तब आधी दूर से लौट आया, पर सम्पाति घमण्ड के मारे सूर्य के अत्यन्त समीप पहुंच गया। पंख झुलस जाने के कारण धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। जब बन्दर सुग्रीव की आज्ञा से सीताजी के खोजने को गये, तब समुद्र पर सम्पाति ने उन्हें सीताजी का पता बताया और हनुमानजी की कृपा से उसे नये पंख, नेत्र और दिव्य शरीर प्राप्त हो गया।

(२९)

जयति निर्भरानन्द-सन्दोह कपिकेसरी, केसरी-सुवन भुवनैकभर्त्ता।
दिव्य भूम्यंजना-मंजुलाकर-मणे, भक्त-संताप-चिन्तापहर्त्ता ॥ १ ॥
जयति धर्मार्थ कामापवर्गद विभो, ब्रह्म लोकादि-वैभव-विरागी।
वचन-मानस कर्म-सत्य-धर्मव्रती, जानकीनाथ-चरनानुरागी ॥ २ ॥
जयति बिहगेस-बलबुद्धि-बेगाति-मद-मथन, मनमथ-मथन ऊर्ध्वरेता।
महानाटक-निपुन-कोटि-कविकुल-तिलक, गानगुन-गरब गन्धर्व जेता ॥३॥
जयति मन्दोदरी-केस-कर्षन विद्यमान दसकंठ भट-मुकुट मानी।
भूमिजा-दुःख-संजात-रोषांतकृत जातना जंतु कृत जातुधानी ॥४॥
जयति रामायन-स्रवन-संजात-रोमांच लोचन सजल सिथिल बानी।
रामपदपद्म-मकरंद-मधुकर पाहि दास तुलसी सरन सूलपानी॥

पदच्छेद—निर्भर + आनन्द। सुवन + एक। भूमि + अंजना। मंजुल + आकार। चिन्ता + अपहर्ता। धर्म + अर्थ। काम + अपवर्ग। वेग + अति। चरन + अनुरागी। रोष + अंतकृत।

शब्दार्थ—निर्भर = पूर्ण। संदोह = समूह। आकर = खानि। अपवर्ग = मोक्ष। बिहगेश = गरुड़। मनमथ = कामदेव। ऊर्ध्वरेता = योग द्वारा ऊपर

चढ़ा कर सुखा दिया है वीर्य जिसने, जितेन्द्रिय। जेता=विजयी। भूमिजा= सीताजी। संजात=उत्पन्न। सूलपानी=त्रिशूलधारी शिवजी।

भावार्थ—हे हनुमानजी! तुम्हारी जय हो। तुम पूर्णानन्दके समूह, बानरों में साक्षात् सिंह, केशरीके पुत्र और संसार के एक मात्र स्वामी हो। तुम अञ्जनी-रूपी दिव्य पृथ्वी की रम्य खानि से निस्सृत मणि हो और इसीसे तुम भक्तों के संतापों और चिंताओं का सदा नाश किया करते हो॥ १॥ हे विभो! तुम्हारी जय हो; तुम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के देनेवाले और ब्रह्मलोक से लेकर यावत् जो ऐश्वर्य और सुख हैं, उन्हें तिनके की तरह मानने वाले हो। तुम मन, वचन और कर्म से सत्यव्रत के पालनेवाले तथा श्री जानकी-वल्लभ रामचन्द्रजी के चरणारविन्दों के परम भक्त हो॥ २॥ जय हो। तुम गरुड़ के बल वीर्य, वेग और गर्व के हरनेवाले और कामदेव के विनाशक आदिब्रह्मचारी हो। तुम हनुमन्नाटक आदि बड़े बड़े नाटकों के रचयिता और उनके अभिनय में कुशल, करोड़ों महाकवियों के कुल में शिरो-मणि तथा संगीत-विद्या में गंधर्वों का सिर नीचा करनेवाले हो॥ ३॥ जय हो। तुम महा अभिमानी योद्धाओं में शिरोमणि रावण के सामने उसकी स्त्री मंदो-दरी के बाल खींचनेवाले हो। तुमने श्रीजानकीजी के दुःख से उत्पन्न क्रोध के वश हो राक्षसियों को ऐसा क्लेश दिया, जैसा यमराज मर्त्यलोक के प्राणियों को दिया करता है॥ ४॥ हे भक्त शिरोमणे! तुम्हारी जय हो। श्रीरामचरित्र सुनने से तुम्हारा शरीर पुलकित हो जाता है, आंखों में प्रेमाश्रु भर आते हैं, गला गद्गद हो जाता है। तुम श्रीरामचन्द्रजी के चरण-कमलों के पराग-पान करनेवाले रसिक भ्रमर हो। हे त्रिशूलधारी रुद्ररूप हनुमान जी! तुलसीदास तुम्हारी शरण है, भवभय से उसकी रक्षा करो॥ ५॥

टिप्पणी—(१) 'विहगेस'—२८ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(२) 'महानाटक'—हनुमान् जी ने एक बड़ा भारी नाटक लिख-कर, श्रीराम-चरित्र वर्णन किया था। उसका यथेष्ट अधिकारी न पाकर आपने उसे समुद्रसात् कर दिया। कहते हैं, उसका कहीं कहीं का अंश बच रहा और उसीका दामोदर मिश्रने संकलन करके वर्त्तमान हनुमन्नाटक का निर्माण किया।

(३) 'मंदोदरी-केस-कर्षण'—महावीर हनुमानजी के विक्रम-चरित्र के

वर्णन में एक स्त्री का "केश-कर्षण" प्रसंग कुछ खटकता सा है, यद्यपि ग्रन्थकारने भक्ति-प्रेमवश ही इसे लिखा है।

(४) कहते हैं, जहां कहीं भी रामायण की कथा वांची जाती है, वहां हनुमान जी उसे सुनने को आ पहुँचते हैं।

राग सारंग

(३०)

जाके गति है हनुमानकी।
ताकी पैज पूजि आई, यह रेखा कुलिस पषान की॥ १॥
अघटित-घटन, सुघट-विघटन ऐसी विरुदावलि नहिं आन की।
सुमिरत संकट-सोच-विमोचन, मूरति मोद-निधान की॥ २॥
तापर सानुकूल गिरिजा, हर, लषन, राम अरु जानकी।
तुलसी कपि की कृपा-विलोकनि, खानि सकल कल्यान की॥३॥

शब्दार्थ—ति=गआशा-भरोसा। पैज=प्रतिज्ञा। अघटित=असंभव। सुघट=संभव। विघटन=बिगाड़ देने वाले। विरुदावलि=गुणावली।

भावार्थ—जिसे सब प्रकार से एक हनुमानजी का ही आश्रय है, उसकी सारी प्रतिज्ञाएं पूरी हो जाती हैं, यह सिद्धान्त इतना पक्का और अमिट है, जितनी कि वज्र या पत्थर पर की लकीर॥ १॥ हनुमानजी असंभव घटना को सम्भव तथा सम्भव को असम्भव कर दिखाते हैं। क्या ऐसा यशस्वी बाना किसी दूसरे का होगा? हमें तो आशा नहीं। इनका स्मरण करते ही कष्ट और चिन्ताएं दूर हो जाती हैं, क्योंकि इनका रूप ही आनन्द का भाण्डार है॥ २॥ इनपर पार्वती, शिव, लक्ष्मण, श्रीराम और जानकी सदा कृपा किया करती हैं। हे तुलसीदास! हनुमानजी की कृपादृष्टि सब प्रकार के कल्याणों की खानि हैं॥ ३॥

राग गौरी

(३१)

ताकिहै तमकि ताकी ओर को।
जाको है सब भांति भरोसो कपि केसरी-किसोर को॥ १॥
जन-रंजन अरिगन-गंजन मुख-भंजन खल बरजोर को।
बेद पुरान प्रगट पुरुषारथ सकल सुभट सिरमोर को॥ २॥

उथपे-थपन, थपे उथपन पन, बिबुधवृन्द बन्दिछोर को।
जलधि लाँघि दहि लंक प्रबल दल*-दलन निसाचर घोरको ॥३॥
जाको बालविनोद समुझि जिय डरत दिवाकर भोर को।
जाकी चिबुक-चो चूरन किय रद-मद कुलिस कठोर को ॥४॥
लोकपाल अनुकूल बिलोकिबो चहत बिलोचन-कोर को।
सदा अभय, जय मुदमंगलमय जो सेवक रनरोर को ॥५॥
भक्त-कामतरु नाम राम परिपूरन चंद चकोर को।
तुलसी फल चारों करतल जस गावत गई बहोर को ॥६॥

शब्दार्थ—तमकि = गुस्सा हो कर। केसरी-किसोर = केशरी के पुत्र हनुमान। उथपे = पदच्युत। थप्यो = पद पर बिठा दिया। रनरोर = युद्ध में धीरज धरने वाले। गई बहोर = खोई वस्तु को फिर दिलानेवाले।

भावार्थ—जिसको सब प्रकार से केशरीनंदन हनुमानजी का विश्वास है, भला उसको तरफ क्रोधभरी कुदृष्टि से कौन देखेगा ? ॥१॥ हनुमानजी-सरीखा भक्तों को प्रसन्न रखनेवाला, शत्रुओं के दल को नष्ट करनेवाला और दुष्टों का मुख चूर चूर करनेवाला संसार में और कौन है ? इनका पराक्रम वेदों और पुराणों में प्रत्यक्ष दृष्टि आता है। इनके समान फिर भला सब योद्धाओं में श्रेष्ठ दूसरा कौन है ॥२॥ इनके सिवाय किसने पदच्युतों को स्थापित और राजाधिराजों को राज्यच्युत किया ? किसने जेलखाने में बन्द बेचारे देवताओं को छुटकारा दिया ? किसने समुद्र लाँघ कर लंका जलाई और बड़े बड़े बलवान भयंकर राक्षसों का नाश किया ? ॥३॥ जिनकी बाल-क्रीड़ा समझ कर आज भी प्रातःकाल का सूर्य थर-थर कांपा करता है और जिनकी ठोड़ी की चोट ने कठोर वज्र के दांतों का गर्व खर्व कर दिया ॥४॥ उन हनुमानजी की कृपादृष्टि बड़े बड़े लोकपाल भी चाहा करते हैं। जो रणधीर महावीर का सेवन करता है, वह सदा निःशंक रहता है, और आनंद-मंगलमय विजय उसके सामने खड़ी रहती है ॥५॥ षोड़शकला-संपन्न श्रीरामचन्द्र को अनिमेष दृष्टि से देखनेवाले हनुमानरूपी चकोर का नाम भक्तों के लिये कल्पवृक्ष के समान है। हे तुलसी-दास ! जो गई हुई चीज़ को फिर से दिला देनेवाले समर्थ हनुमानजी का कीर्तन करता है, उसकी हथेली पर अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सदा धरे रहते हैं ॥६॥

*पाठान्तर 'बल' है

टिप्पणी--(१) 'डरत दिवाकर भोर को'—२५ पद की टिप्पणी देखिये। (२) 'रदमद कुलिस कठोर को'—२५ पदकी टिप्पणी देखिये।

राग बिलावल

(३२)

ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान हठीले।
साहब कहूँ न रामसे, तोसे न उसीले ॥१॥
तेरे देखत सिंहके सिसु मेढक लीले।
जानत हौं कलि तेरेऊ मन गुनगन कीले ॥२॥
हाँक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले।
सो बल गयो किधौं भये अब गर्वगहीले ॥३॥
सेवक को परदा फटे तू समरथ सीले।
अधिक आपु ते आपुनो सनि मान सहीले ॥४॥
साँसति तुलसीदास की सुनिसुजस तुही ले।
तिहूँकाल तिनको भलो जे राम रँगीले ॥५॥

शब्दार्थ—उसीले=वसीला, सहायक, सही करनेवाला। कीले=निःशक्त कर दिये, बांध दिये। बंधन=अंग अंग के जोड़। सीले=टांके लगा दे। सांसति=यातना, कष्ट।

भावार्थ—हे हठी, हे सत्याग्रही हनुमान, तेरी ऐसी समझ तो न चाहिए, क्योंकि श्रीराम-सरीखे न तो कहीं कोई स्वामी हैं, और न तेरे समान सेवक। तात्पर्य यह कि, तुम दोनों ही—स्वामी और सेवक—परम दयालु, परम उदार और परम समर्थ हो, किन्तु मेरी बार को चुप साध बैठे हो। राजाधिराज रघुनाथजी के मौनव्रत पर मुझे इतना नहीं कहना है, जितना कि तेरी समझ पर, क्योंकि तू बड़ा हठीला है, अपने भक्तों का कष्ट बरबस दूर किया करता है ॥१॥ देख तो, तेरे देखते देखते मुझ सिंह-शावक को कलियुगरूपी मेढक निगले लेता है। जान पड़ता है, कराल कलिकाल ने कदाचित् तेरे मन और गुणों को कील दिया है, तेरी उदारता, जन-वत्सलता और सामर्थ्य, पर अपनी मोहर लगा दी है ॥२॥ तेरी हुंकार सुनते ही रावण के अंग अंग के जोड़ ढीले पड़ जाते थे, सो वह सामर्थ्य, वह पराक्रम आज कहां गया! या तो

तेरे शरीर में अब वह बल नहीं रहा, या तुझे कुछ घमंड आ गया है ॥३॥ तेरे सेवक का पर्दा फट रहा है, कृपा कर उस में टाँके लगा दे, क्योंकि तू तो बड़ा समर्थ है। भाव यह कि, मेरी लाज जा रही है, तुझ-सरीखे समर्थ के आगे भी मेरी इज्जत आबरू न बची तो फिर हो चुका! पहले तो, यदि मैं भूलता नहीं हूं तो, तेरा यह स्वभाव था कि तू अपने से अधिक अपने सेवक की सुनता और मानता था, पर अब क्या हो गया? क्या प्रकृति में ही कुछ अंतर आ गया ॥४॥ तुलसीदास की यातना सुनकर उसे दूर कर दे, और तू ही यश का भागी बन जा, वैसे तो जो राम-रंगीले हैं, राम-भक्त हैं, उनका तीनो काल (भूत, वर्त्तमान, भविष्यत्) बना बनाया है, कल्याण है। मेरी तो राम-कृपा से कभी न कभी बन ही जायगी, पर यदि अभी तूने मेरी सुन ली, तो तुझे भी बहती गंगा में हाथ धोने का पुण्य मिल जायगा ॥५॥

टिप्पणी—(१) कहते हैं, एक बार तत्कालीन बादशाह ने गुसाईं तुलसीदास जी को बुला कर उनसे कहा कि महात्माजी, कुछ करामात दिखाओ, क्योंकि तुम तो एक बड़े भारी पहुंचे हुए फकीर सुने जाते हो। इसपर उन्होंने उत्तर दिया, बाबा, मैं तो सिवा राम नाम के और कोई करामात नहीं जानता। बादशाह ने यह समझ कर कि यह गुस्ताखी कर रहा है, इन्हें जेल में बंद कर दिया। यह पद हनुमानजी की विनय में वहीं पर बनाया गया है। 'तेरे देखत...लीले' और 'सेवक को परदा फटे......सीले' इन दो चरणों से यह प्रसंग सिद्ध होता है। किन्तु, हमारी राय में, यह पद साधारणतः कलियुग के मारे तंग हो कर लिखा गया है।

(२) *'मन गुनगन कीले'*—मंत्रशास्त्रवेत्ता, मंत्रों के प्रभाव से, सिंह, सर्प और दूसरे हिंसक जीवों के मुहँ बंद कर देते हैं। ऐसा करने से वह काट नहीं सकते। इसी को 'कीलना' कहते हैं।

(३३)

समरथ सुअन समीर के रघुवीर पियारे।
मोपर कीबो तोहि जो करि लेहि भिया रे ॥१॥
तेरी महिमा ते चलैं चिंचिनी-चिया रे।
अँधियारो मेरी बार क्यों त्रिभुवन-उजियारे ॥२॥

केहि करनी जन जानि कै सनमान किया रे।
केहि अघ औगुन आपने कर डारि दिया रे ॥३॥
खाई खोंची माँगि मैं तेरो नाम लिया रे।
तेरे बल, बलि, आज लौं जग जागि जिया रे ॥४॥
जो तोसों होतौ फिरौं मेरो हेतु हिया रे।
तौ क्यों बदन देखावतो कहि बचन इया रे ॥५॥
तोसो ग्यान-निधान को सर्वग्य बिया रे।
हौं समुझत साई-द्रोह की गति छार छिया रे ॥६॥
तेरे स्वामी राम से, स्वामिनी सिया रे।
तहँ तुलसी के कौनको काको तकिया रे ॥७॥

शब्दार्थ—भिया = भैया। चिंचिनीचिया = इमली के बीज। खोंची = भीख। इया = यार, मित्र। बिया = दूसरा। तकिया = आश्रय।

भावार्थ—हे सर्वशक्तिमान् पवनकुमार, हे रामजी के प्यारे, इस संकट के समय जो कुछ तुझे मुझपर करना हो, सो भइया करले, बाकी न रख ॥ १ ॥ सुना है कि, तेरे प्रताप से इमली के चियें भी सिक्कों के स्थान पर चल जाते हैं! फिर मेरे ही लिये, हे तीनों लोक में प्रकाश फैलानेवाले, क्यों इतना अन्धेरा छा रखा है ? अब, सब को तो शरण में ले लिया, पर मुझे ही क्यों सामने से हटाते फिरते हो ? ॥ २ ॥ पहले कौन सी अच्छी करनी समझ कर मेरी गणना अपने दासों में की थी, मेरा सम्मान किया था, और अब किन पापों और अवगुणों से मुझे अलग फेंक दिया, अपनाकर भुला दिया ? ॥ ३ ॥ मेरी वृत्ति पूछते हो, तो मैंने सदा तुम्हारा नाम ले लेकर भीख माँगी और खायी। तुम्हारी बलैया लेता हूं, तुम्हारे ही बल भरोसे मैं आज तक संसार में उजागर होकर जीवित रहा हूं, नहीं तो अब तक मेरा नाम-निशान भी न मिलता ॥ ४ ॥ जो मैं तुम से मुख फेर लेता (यह समझ कर कि जब तुम्हारी मुझपर प्रीति नहीं है, तो मैं भी तुमसे क्यों प्रेम करूं) तो मेरा हृदय उसमें कारण होता, गवाही देता और आपस के दोस्तों-जैसी भली बुरी बातें कह कह कर तुम्हारे आगे क्यों अपना मुहँ दिखाता फिरता ॥ ५ ॥ तुम्हारे समान ज्ञानी और सर्वान्तर्यामी संसार में दूसरा कौन है, तुम स्वयं

समझ सकते हो कि मेरा तुम्हारे साथ हृदय से कैसा वर्त्ताव है, और इतना मैं भी जानता हूं कि स्वामी के साथ द्रोह करनेवाले की गति विष्टा का नरक है ॥ ६ ॥ तुम्हारे स्वामी श्रीरामचन्द्रजी तथा स्वामिनी श्रीसीता-जी सरीखी हैं, उनके दरबार में सिवा तुम्हारे तुलसीदास का और कौन है, उसे और किस का सहारा है, एक तुम्हीं अपने स्वामी-स्वामिनी के पास उसे पहुंचा सकते हो ॥ ७ ॥

(३४)

अति आरत, अति स्वारथी, अति दीन दुखारी।
इन को विलगु न मानिये, बोलहिं न विचारी ॥ १ ॥
लोक-रीति देखी सुनी, व्याकुल नर नारी।
अतिवरषे अनवरषेहूं, देहिं दैवहिं गारी ॥ २ ॥
नाकहि आये नाथ सों, सांसति भय भारी।
कहि आयो, कीबी छमा, निज ओर निहारी ॥ ३ ॥
समै सांकरे सुमिरिये, समरथ हितकारी।
सो सब विधि ऊबर* करै अपराध बिसारी ॥ ४ ॥
बिगरी सेवक की सदा, साहबहिं सुधारी।
तुलसी पर तेरी कृपा, निरुपाधि निरारी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—विलगु=बुरा। गारी=गाली। नाकहि आये=नाको दम आ जाने पर। सांकरा=कष्ट। ऊबर=रक्षा। निरारी=न्यारी, निराली।

भावार्थ—अति पीड़ित, अति स्वारथी, अति दीन और अति दुखी, इनके कहने का बुरा न मानना चाहिये, क्योंकि यह भले बुरे का विचार करके नहीं बोलते, जो मन में आया, सो कह डालते हैं ॥ १ ॥ संसार में यह बात प्रत्यक्ष में देखी जाती है और सुनते भी आ रहे हैं कि पानी के खूब बरसने पर और बिल्कुल न बरसने पर बेचारे दैव को व्याकुल लोग गालियां सुनाते हैं, यदि उनकी गालियों का परमेश्वर ख़याल करने लगे, तो हो चुका ॥ २ ॥ जब कलि की यातना और संसार के भारी भय से मेरा नाको दम आ गया, तभी मैंने तुम से भला-बुरा कहा। अब कृपा कर, अपनी दीन-वत्सलता की ओर देख

*पाठान्तर ऊपर।

कर मुझे क्षमा कर दो ॥ ३ ॥ कष्ट के समय लोग समर्थ और हितू का ही स्मरण करते हैं और वह भी, उन के सारे अपराध भुला कर, उन्हें बचा लेता है ॥ ४ ॥ सेवक से जो जो भूलें हो जाती हैं, स्वामी उन्हें ठीक कर लेता है, यह कुछ नई बात नहीं है, ऐसा सदा से होता चला आ रहा है, और फिर तुलसीदास पर तो तुम्हारी निराली ही कृपा है, उसमें किसी भांति की कोई बाधा ही नहीं। ५ ॥

टिप्पणी—(१) कहते हैं, जब बादशाह ने गुसाईं तुलसीदासजी को जेल में बन्द कर दिया, तब लाखों बन्दरों ने बादशाह के महलों में उपद्रव मचाना शुरू कर दिया। देखते देखते बन्दरों ने सारा राजसी ठाटबाट ध्वस्त कर दिया। अब तो बादशाह की आंखें खुलीं। गुसाईंजी के पैरों पर गिर पड़ा और उपद्रव बन्द कराने की प्रार्थना की। इसी प्रसंग पर गुसांईजी ने ३४ और ३५ पद रचे हैं। वैसे साधारण रीतिसे यह पद कलियुग पर ही घटते हैं।

(३५)

कटु कहिये गाढ़े परे, सुन समुझि सुसाईं।
करहिं अनभलेउ* को भलो आपनो भलाई ॥१॥
समरथ सुभ † जो पाइये, वीर पीर पराई।
ताहि तकैं सब ज्यों नदी, वारिधि न बुलाई ॥२॥
अपने अपने को भलो, चहैं लोग लुगाई।
भावै जो जिहि तिहि भजे, सुभ असुभ सगाई ॥३॥
बाँह बोल दै थापिये, जो निज बरिआई।
बिन सेवा सों पालिये, सेवक की नाईं ॥४॥
चूक चपलता मेरियै, तू बड़ो बड़ाई।
होत आदरे ढीठ है, अति नीच निचाई ॥५॥
बंदिछोर बिरुदावली, निगमागम गाई।
नीको तुलसीदास को, तेरियै निकाई ॥६॥

शब्दार्थ—गाढ़े परे = कष्ट पड़ने पर। सगाई = नाता। बरिआई = ज़बरदस्ती। निकाई = भलाई।

*पाठान्तर 'अनभले'। †पाठान्तर 'सुभी'।

भावार्थ—जब कष्ट आ पड़ता है, तभी भला-बुरा कहा जाता है, और जहां तक मुझे मालूम है अच्छे स्वामी अपनी भलाई से उस बुरे सेवक का भी समझ बूझ कर भला कर देते हैं ॥ १ ॥ सर्वशक्तिमान् अच्छे और पराक्रमी स्वामी को पाकर कष्ट भाग जाते हैं, और उस स्वामी की ओर सब लोग यों टक लगाये देखा करते हैं, जैसे समुद्र के पास बिना बुलाये ही नदियाँ दौड़ दौड़ कर आती हैं ॥ २ ॥ संसार में स्त्री-पुरुष सब अपनी अपनी भलाई चाहते हैं और जिसे जो अच्छा लगता है, उसी को वह भजता है। यह उपासना शुभ और अशुभ के नाते से देखी गई है। भाव यह कि, तू हनुमानजी को ही क्यों भजता है, और देवी देवताओं को क्यों नहीं भजता, तो इसका उत्तर यही है कि मेरी भलाई-बुराई एक उन्हीं पर निर्भर है, मुझे और से क्या मतलब ॥ ३ ॥ जिसे तुमने अपने हठ से अभय वचन देकर रख लिया हैं, उसे अपने सेवक की तरह पालो भी, चाहे वह तुम्हारी सेवा करे या न करे, सेवक तो होही चुका॥४॥ जितनी भूल और चंचलता है, वह सब मेरी ही है। तुम तो बड़े हो, और तुम्हारी बड़ाई भी इसी में है कि मुझ जैसे अपराधियों को क्षमा प्रदान करो। यह तो सर्वमान्य बात है कि आदर करने से नीच भी ढीठ हो जाता है और नीचता करने लगता है ॥ ५ ॥ वेद और शास्त्र ऐसा गाते हैं कि तुम बंधनों से छुड़ानेवाले हो। यदि तुमने अपनी स्वाभाविक भलाई पर खयाल करके मेरा भला कर दिया, तो समझ लो, मेरी सब तरह से बन गयी, अन्यथा मैं तो किसी योग्य नहीं हूं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) ३२ पद की पहली टिप्पणी 'बंदि छोर विरुदावली' से और भी स्पष्ट हो जाती है

राग गौरी

(३६)

मंगल-मूरति मारुत-नन्दन। सकल-अमंगल-मूल-निकन्दन ॥१॥
पवनतनय संतन-हितकारी। हृदय बिराजत अवध-बिहारी ॥२॥
मातु-पिता गुरु गनपति सारद। सिवा समेत संभु, सुक नारद ॥३॥
चरन बंदि बिनवौं सब काहू। देहु रामपद-नेह-निबाहू ॥४॥
बंदौं राम लखन-वैदेही। जे तुलसी के परम सनेही ॥५॥

भावार्थ—हे पवनपुत्र हनुमानजी, तुम कल्याण-स्वरूप हो। तुम सारे अनिष्टों को जड़ से उखाड़नेवाले हो ।। १ ।। तुम पवन के पुत्र हो और साधु जनों का हित करनेवाले हो। अवधविहारी रामचन्द्रजी सदा तुम्हारे हृदय में निवास किया करते हैं ।।२।। अब मैं माता, पिता, गुरुदेव, गणेश, सरस्वती, पार्वती, शंकर, शुकदेव, नारद ।। ३ ।। और सब देवी-देवताओं के चरणों में प्रणाम करता हूं और यह मांगता हूं कि श्रीरघुनाथजी के प्रति मेरा प्रेम सदा एकसा रहे ।। ४ ।। श्री राम, लक्ष्मण और जानकीजी को मैं, सबसे पीछे, प्रणाम करता हूं। तुलसीदास के परम प्रेमी और सर्वस्व यही हैं ।।५।।

टिप्पणी—(१) 'मारुत-नन्दन' के बाद 'पवन-तनय' शब्द आ जाने से पुनरुक्ति दोष भास रहा है।

(२) 'मातु पिता······नेह निबाहू' में कवि ने सिंहावलोकन किया है।

(३) इस पद में, हनुमानजी के बाद अन्य देवी-देवता और फिर राम-लक्ष्मण तथा जानकी की वन्दना में शृंखला टूट जाने से कुछ शैथिल्य सा आ गया है।

लक्ष्मण–स्तुति

राग दण्डक

(३७)

लाल लाड़िले लखन हित हौ जन के।
सुमिरे संकटहारी, सकल सुमंगलकारी,
पालक कृपालु अपने पन के ।।१।।
धरनी–धरनहार, भंजन–भुवनभार,
अवतार साहसी सहसफन के ।।
सत्यसंध, सत्यव्रत, परमधरमरत,
निरमल करम वचन अरु मन के ।।२।।
रूप के निधान, धनु–बान पानि,
तून कटि, महावीर विदित, जितैया बड़े रन के ।।
सेवक–सुख–दायक, सबल, सब लायक,
गायक जानकीनाथ गुनगन के ।।३।।

भावते भरत के, सुमित्रा माता के दुलारे,
चातक चतुर राम स्याम घन के॥
वल्लभ उर्मिला के, सुलभ सनेहवस,
धनी धन तुलसी से निरधन के॥४॥

शब्दार्थ—सहसफन = शेषनाग । तून = तरकस । भावते = प्यारे । वल्लभ = प्रिय, पति ।

भावार्थ—हे प्यारे लखनलाल जी! तुम श्रीराम-भक्तों के हित करनेवाले हो। स्मरण करते ही दुःख दूर कर देते हो। तुम सब प्रकार के कल्याण करनेवाले, अपनी प्रतिज्ञा को पालने वाले तथा दासों पर कृपा करनेवाले हो॥ १॥ पृथ्वी को थामने वाले, संसार का भार दूर करनेवाले, पराक्रमी शेषनाग के तुम अवतार हो। अपनी प्रतिज्ञा एवं व्रत को सत्य करनेवाले, परम धर्म के प्रेमी और मन, वचन तथा कर्म से अत्यन्त विशुद्ध हो॥ २॥ सौन्दर्य के तो स्थान ही हो। हाथों में धनुष और बाण लिये और कमर में तरकस कसे हुए हो। तुम परम प्रसिद्ध वीर हो। तुमने बड़े बड़े संग्रामों में विजय लाभ किया है। तुम भक्तों को सुख देनेवाले, पराक्रमी, सर्व कार्य करने के योग्य और श्रीजानकी-वल्लभ रामचन्द्र जी की गुणावली के गानेवाले हो॥३॥ तुम भरत के प्यारे, सुमित्रा और जानकीजी के दुलारे तथा राम-रूपी श्याम मेघ के चतुर चातक, महारानी उर्मिला के पति, भक्तिवश सहज ही सुगम और तुलसी-सरीखे रंक को राम-भक्ति-रूपी धन देने के लिये धनी के समान हो॥ ४॥

टिप्पणी—(१) 'सब लायक'—राम-वनवास के समय राजनीति के वक्तृत्व में, पंचवटी में श्रीरामचन्द्रजी से तत्वज्ञान सम्बन्धी प्रश्न पूछने में, योगियों को भी दुर्लभ सेवा धर्म के निर्वाह में, मेघनाद के साथ वीरता-प्रदर्शन में, तथा जनवत्सलता आदि में श्रीलक्ष्मणजी की सर्व योग्यता प्रकट होती है।

(२) 'भावते भरत के'—भरतजी का लक्ष्मण पर कितना प्रेम था, यह इन चौपाइयों से भली भांति प्रकट हो जायगा—

अहह धन्य लछमन बड़भागी। राम पदारविंद अनुरागी॥
कपटी कुटिल नाथ मोहिं चीन्हा। ताते संग न मोहिं प्रभु लीन्हा॥

(रामचरित मानस)

(३) इस पदमें कविने माधुर्य और ऐश्वर्य का बड़ाही विचित्र मिश्रण किया है।

राग धनाश्री

(३८)

जयति लछमनानंत भगवंत भूधर, भुजगराज,
भुवनेस, भूभारहारी।
प्रलै पावक महाज्वालमाला–वमन,
समन–संताप लीलावतारी ॥१॥
जयति दासरथि, समर–समरथ, सुमित्रा–सुवन,
सत्रुसूदन, रामभरत बंधो।
चारु चंपक बरन, बसन भूषन धरन,
दिव्यतर भव्य लावन्य-सिंधो ॥२॥
जयति गाधेय-गौतम-जनक-सुख-जनक,
विस्व-कंटक-कुटिल-कोटि-हंता।
बचन–चय–चातुरी–परसुधर–गरवहर,
सर्वदा राम भद्रानुगंता ॥३॥
जयति सीतेस–सेवासरस, विषयरस–
निरस, निरुपाधि धुरधर्मधारी।
बिपुलबलमूल सार्दूलविक्रम जलदनाद–
मर्दन, महावीर भारी ॥४॥
जयति संग्राम-सागर-भयंकर-तरन,
रामहित-करन बरबाहु–सेतू।
उर्म्मिला-रवन, कल्यान-मंगल-भवन,
दासतुलसी दोस–दवन हेतू ॥५॥

पदच्छेद—लछमन + अनंत। भुवन + ईस। लीला + अवतारी। रामभद्र + अनुगन्ता। सीता + ईस।

शब्दार्थ—वमन = उगलनेवाले । भव्य = कांतिमय, सुन्दर ! गाधेय = गाधि-पुत्र विश्वामित्र । जनक = (१) विदेह महाराज जनक (२) उत्पन्न करने वाले । हंता = नाश करनेवाले । चय = समूह । परसुधर = परशुराम। अनुगंता = पीछे पीछे चलनेवाले, आज्ञाकारी । जलदनाद = मेघनाद । दमन-हेतू = दमन करनेके कारण ।

भावार्थ—लक्ष्मणजी की जय हो—जो अपरिमित, सर्वैश्वर्य-सम्पन्न, पृथ्वी को धारण करनेवाले शेषनाग, अखिल ब्रह्मांड के स्वामी, संसार के भार को दूर करनेवाले, प्रलय काल की अग्नि की भयंकर ज्वालाएं उगलनेवाले, दुःखों के विनाशक और अपनी लीला से ही अवतार धारण करनेवाले हैं ॥ १ ॥ दास-रथि लक्ष्मणजी की जय हो—जो रणांगण में शक्तिमान्, सुमित्रा महारानी के पुत्र, शत्रुओं के विनाशकर्त्ता, और श्रीराम तथा भरत के प्यारे भाई हैं । जिनके कान्तिमय शरीर का रंग चंपे के फूल के समान है, जो दिव्य वस्त्र और अलंकार धारण किये हैं, और सौन्दर्य के साक्षात् समुद्र हैं ॥ २ ॥ विश्वामित्र, गौतम और मिथिलाधिपति महाराज जनक को आनंद उत्पन्न करनेवाले, संसार के लिये करोड़ों कुटिल कांटे के समान दुष्ट राक्षसों को मारने वाले, चतुराई-भरी बातों से ही परशुरामजी का गर्व खर्व कर देनेवाले और सदा श्रीरामचन्द्रजीके पीछे पीछे जानेवाले लक्ष्मणजी की जय हो ॥ ३ ॥ श्री जानकी-वल्लभ रामजी की सेवामें अनुरक्त, सांसारिक भोग-विलासों से विरक्त, निष्कंटक भक्तिधर्म की धुरी को धारण करनेवाले, अनंत शक्ति के आदिस्थान, पराक्रम में सिंह के समान, मेघनाद को चूर चूर करनेवाले ऐसे महावीर लक्ष्मण जी की जय हो ॥ ४ ॥ भयंकर रण-रूपी समुद्र को पार कर जानेवाले अर्थात् रणविजयी, श्रीरामजी के हित के अर्थ अपनी सुन्दर भुजाओं का पुल बनाने वाले अर्थात् अपने बाहुबलसे कठिनसे कठिन कार्य सम्पादन करनेवाले, उर्मिला-वल्लभ, कल्याण और मंगल के स्थान तथा तुलसीदास के पापों के नाश करने में मुख्य कारण ऐसे श्रीलक्ष्मणजी की जय हो ॥ ५ ॥

टिप्पणी–(१) 'गाधेय...जनक'–सुबाहु आदि राक्षसों के मारने से विश्वा-मित्र को, श्रीरामजी से सिफारिश कर अहल्या को शापमुक्त करवाने से गौतम को, और रंगभूमि में वीरोक्ति से साहस देकर निराश जनक को आनंद प्रदान करने वाले।

(२) 'वचन चय चातुरी'–परशुरामजी को व्यंगमय वचन सुनाकर गर्व रहित

कर देना लक्ष्मणजी का ही काम था। यह प्रसंग हनुमन्नाटक और रामचरितमानस में बड़ी ही विचित्रता से अंकित किया गया है।

(३) 'सीतेस-सेवा सरस'—लक्ष्मणजी सीतारामजी की सेवा किस अनन्यता के साथ करते थे, इसे गुसाईं तुलसीदासजी के ही मुखसे सुन लीजिये—

'सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं॥'

(४)'विषय-रस निरस'—लक्ष्मणजी ने वनवास के समय बराबर १४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य और जागरण का नियम निभाया था।

भरत-स्तुति

(३६)

जयति भूमिजा-रवन-पदकंज-मकरंद-रस-
रसिक-मधुकर-भरत भूरिभागी।
भुवन-भूषन, भानुवंस-भूषन, भूमिपाल-
मनि, रामचन्द्रानुरागी ॥१॥
जयति विबुधेस-धनदादि दुर्लभ महा
राज संम्राज*-सुख-प्रद-विरागी।
खड्ग-धाराव्रती-प्रथमरेखा प्रगट
सुद्धमति जुवति-पति-प्रेमपागी ॥२॥
जयति निरुपाधि भक्तिभाव-जंत्रित हृदय,
बन्धु-हित चित्रकूटाद्रि—चारी।
पादुका-नृप सचिव पुहुमि-पालक परम
धरम-धुर-धीर, बरवीर भारी ॥३॥
जयति संजीवनी-समय—संकट हनूमान
धनुबान—महिमा बखानी।
बाहुबल बिपुल, परमिति पराक्रम अतुल,
गूढ़ गति जानकी-जानि जानी ॥४॥

---

* पाठान्तर 'सम्भ्राज'।

जयति रन-अजिर गंधर्व-गन-गर्वहर,
फिर किये रामगुनगाथ-गाता ।
मांडवी-चित्तचातक नवाम्बुद-बरन,
सरन तुलसीदास अभय-दाता ॥५॥

पदच्छेद—रामचंद्र + अनुरागी । विबुध + ईस । धनद + आदि । चित्रकूट + अद्रि । नव + अम्बुद ।

शब्दार्थ—बिबुधेस = इन्द्र । संम्राज = साम्राज्य । प्रथम रेखा = सर्व-शिरोमणि । जंत्रित = अधीन । अद्रि = पर्वत । पुहुमि = पृथ्वी । संजीवनी = संजीवनी बूटी । परमिति = प्रमाण । अजिर = अंगण, आंगन । गाता = गायक । मांडवी= भरतजी की पत्नी ।

भावार्थ—बड़भागी भरतजी की जय हो—जो श्रीजानकीवल्लभ रामचन्द्रजी के चरणारविन्दों का पराग पान करने के लिये रसिक भ्रमर हैं, जो संसार में श्रेष्ठ, सूर्यवंशावतंश, और राजाओं में शिरोमणि रघुनाथजी के परम प्रेमी हैं ॥ १ ॥ भरतजी की जय हो—जो इन्द्र और कुवेर आदि लोकपालों को भी दुर्लभ हैं, ऐसे महाराज्य एवं साम्राज्य के आनन्द को जिन्होंने छोड़ दिया, जिनका सेवा-व्रत तलवार की धार के समान महा कठिन है, ऐसे महात्माओं में भी जो सर्वश्रेष्ठ गिने जाते हैं, और जिनकी निर्मल बुद्धि-रूपी स्त्री श्रीराम-रूपी पति के प्रेम में लौलीन है ॥ २ ॥ जय हो भरतजी की—जो निष्कंटक भक्तिभाव के अधीन हो कर प्रिय भाई रामचंद्रजी के लिये चित्रकूट पर्वत पर पैदल गये, जो रघुनाथजी की चरणपादुका-रूपी राजा के मंत्री बन कर पृथ्वी का पालन करते रहे और जो परमधर्म की धुरी को धारण करनेवाले तथा बड़े बड़े वीरों में श्रेष्ठ हैं ॥ ३ ॥ संजीवनी बूटी लाने के अवसर पर जब हनुमानजी को कष्ट जान पड़ा, अर्थात् जब वह भरतजी के वाण से व्यथित हो पृथ्वी पर गिर पड़े, तब उन्होंने इनके धनुपवाण की बड़ी बड़ाई की, यही जिनकी प्रचंड भुजाओं का सबसे बड़ा प्रमाण है, जिनका पराक्रम अनुपम है, और जिनकी गूढ़ गति केवल सीतारमण-रामचन्द्रजी ही जानते हैं, ऐसे भरतजी की जय हो ॥ ४ ॥ जिन्होंने रणभूमि में गन्धर्वों का गर्व खर्व कर दिया और फिर

उन्हें श्रीराम-कथा का गानेवाला बनाया, उन भरतजी की जय हो। महारानी मांडवी के मन-रूपी पपोहे के लिये जो नवीन मेव-वर्ण हैं, ऐसे अभय-दान देने-वाले भरतजी की शरण तुलसीदास है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'राज संन्राज······विरागी'—रामचरितमानस में यह वैराग्य और भी स्पष्ट कर दिया गया है—

'तेहि पुर भरत बसहिं बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा।
रमा-विलास राम-अनुरागी। तजहिं बमन इव जन बड़ भागी॥'

(२) 'सुद्ध मति···पागी'—इस पद से पातिव्रत धर्म और अनन्यनिष्ठा का सिद्धान्त निष्पन्न होता है। इन अनन्योपासकों के प्रति भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (श्रीमद्भगवद्गीता)

(३) 'चित्रकूटाद्रिचारी'—भरतजी का चित्रकूट जाने का दृश्य गुसाँई तुलसीदासजी की ही चौपाइयों में देख लीजिए--

अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता॥
+ + + + + + + +
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रवाह जल अलिगति जैसी॥
+ + + + + + + +
हरषहिं निरखि राम-पद-अंका। मानहुँ पारस पायेहु रंका॥
रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुवर मिलन सरिस सुख पावहिं॥"

(४) 'पादुका नृप-सचिव'—धन्य है!

"नित पूजत प्रभु पांवरी, प्रीति न हृदय समाति।
माँगि माँगि आयसु करत राज-काज बहु भाँति॥" (रामचरितमानस)

(५) 'संजीवनी समय'—जब हनुमानजी शक्ति-आहत लक्ष्मणजी के लिये संजीवनी बूटी लेकर लौट रहे थे, तब भरथजी ने यह समझा कि यह कोई मायावी राक्षस है और इसी अनुमान पर उन्हें एक वाण मार दिया। हनुमानजी मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े। पीछे राम-नाम जान कर उन्हें हृदय से लगा लिया।

(६) 'गूढ़ गति'—गूढ़ गति यह है—

'सगुन-छीर अवगुन-जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥
भरत-हंस रविबंस-तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन-दोष बिभागा॥'

(रामचरितमानस)

(७) 'रन अजिर गंधर्व गुन गर्वहर'—भरतजी के ननिहाल केकय देश पर एक वार गंधर्वों ने आक्रमण किया। भरतजी ने जा कर उन्हें परास्त कर दिया।

(८) गुसाईं तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में भरतजी का जितना गुणगान किया है, उतना श्रीरामचन्द्रजी का भी नहीं किया। वास्तव में, भरत भरत ही थे। यदि किसी का चरित्र लांछन-रहित कहा जा सकता है, तो भरतजी का ही। अहा!

'जो न जनम जग होत भरत को। अचर सचर चर अचर करत को।'

(रामचरितमानस)

शत्रुघ्न—स्तुति

राग धनाश्री

(४०)

जयति जय सत्रु-करि-केसरी सत्रुहन,
सत्रुतम-तुहिनहर-किरनकेतू।
देव-महिदेव-महिधेनु-सेवक सुजन-
सिद्ध-मुनि-सकल-कल्यान हेतू॥१॥
जयति सर्वांग सुन्दर सुमित्रा-सुवन,
भुवन-विख्यात भरतानुगामी।
वर्मचर्मासि धनु-बान-तूनीर-धर
सत्रु-संकट-समन यत्प्रनामी॥ २॥
जयति लवनाम्बुनिधि-कुम्भसंभव महा
दनुज-दुर्जनदवन दुरितहारी।
लछमनानुज भरत-राम-सीता-चरन-
रेनु-भूषित भाल-तिलकधारी॥ ३॥

जयति स्नुतिकीर्ति-वल्लभ सुदुर्लभ सुलभ
नमत नर्मद भक्तिमुक्तिदाता।
दासतुलसी चरन-सरन सीदत विभो,
पाहि दीनार्त्त संताप-हाता ॥४॥

पदच्छेद-सर्व + अंग। भरत + अनुगामी। चर्म + असि। लवन + अम्बुनिधि। लछमन + अनुज। दीन + आर्त्त।

शब्दार्थ—करि = हाथी। तुहिन = पाला। किरनकेतु = सूर्य। महिदेव = ब्राह्मण। वर्म = कवच। चर्म = ढाल। तूनीर = तरकस। लवन = लवणासुर नामका एक राक्षस, जिसे मथुरा में शत्रुघ्नजी ने मारा था। कुम्भसंभव = घड़े से उत्पन्न होने वाले अगस्त्य ऋषि। दुरित = पाप। स्नुतिकीर्त्ति = शत्रुघ्नजी की पत्नी। नर्मद = सुख देनेवाले। सीदत = कष्ट पा रहा है। पाहि = रक्षा करो। हाता = हरनेवाले।

भावार्थ—शत्रु-रूपी हाथियों के नाश करने को सिंह के समान शत्रुघ्नजी की जय हो, जय हो—जो शत्रु-रूपी अंधकार और पाले को दूर करने के लिये साक्षात् सूर्य हैं, और देव, ब्राह्मण, पृथ्वी, गाय, भक्त, संत, सिद्ध और मुनियों के जो कल्याण-कारण अर्थात् श्रेय करनेवाले हैं ॥१॥ जिनका सर्वाङ्ग लावण्यमय हैं, जो सुमित्रा के पुत्र जगत्-प्रसिद्ध और भरतजी के आज्ञानुवर्ती हैं, जो कवच ढाल, तलवार, धनुष-बाण और तरकस धारण किये हैं, और जो शत्रुओं से किये हुए दुःखों का नाश करने वाले हैं. उन शत्रुघ्नजी को मैं प्रणाम करता हूं ॥२॥ लवणासुर-रूपी समुद्र को पान कर जानेवाले अगस्त्य के समान शत्रुघ्नजी की जय हो। बड़े बड़े दुष्ट राक्षसों का संहार करनेवाले, पापोंके हर्त्ता, लक्ष्मणजी के छोटे भाई, और भरत, राम और सीता के चरणारविन्दों की रजका, मस्तक पर, सुन्दर तिलक धारण करनेवाले शत्रुघ्नजी की जय हो ॥३॥ महारानी श्रुतिकीर्ति के प्राणवल्लभ, भगवद्विमुखों को दुर्लभ तथा हरिभक्तों को सुलभ, प्रणाम करते ही सुख, और भक्तों को श्रीराम-भक्तिप्रदान करनेवाले शत्रुघ्नकी जय हो—हे प्रभो ! यह तुलसीदास तुम्हारे चरणों की शरण में आकर भी क्लेश पा रहा है। हे दीन-दुखियों के सन्ताप के हरनेवाले ! इसकी (तुलसीदासकी) रक्षा करो ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'लवन'–यह मथुरा का राजा था। इसने अपने अत्याचारों से गो–ब्राह्मणों को जब तंग कर डाला, तब श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से, शत्रुघ्नजी ने जाकर इसे अपने अतुल पराक्रम से मार डाला।

(२) कदाचित् गुसाईं तुलसीदासजी ने अपने प्रबल शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य के नाश करवाने के लिये शत्रुघ्नजी के अपरिमेय पराक्रम का वर्णन किया है।

श्रीसीता–स्तुति

राग केदारा

(४१)

* कबहुंक अम्ब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥१॥
दीन सब अँगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥२॥
बूझि हैं 'सो है कौन' कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥३॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव–नाथ–गुनगन गाइ॥४॥

---

* श्री बैजनाथ जी–सम्पादित विनयपत्रिका की प्रति में यह पद अधिक मिलता है।

जयति श्रीजानकी भानुकुल-भानु की,
प्रानपिय वल्लभे, तरनिभूप॥
राम आनन्द चैतन्यघन विग्रहा-सक्ति,
आल्हादिनी साररूप॥ १॥
चित चरन चिन्तन जेहि धरत ही दूर हो,
काम भय कोह मद मोह माया।
रुद्र-विधि-विष्णु-सुर-सिद्ध-बन्दित पदं,
जयति सर्वेश्वरी रामजाया॥ २॥

शब्दार्थ—अम्ब = माता। सुधि = स्मरण। द्याइबी = दिला दीजियेगा। चलाइ = छेड़कर। मलीन = मैला, उदास। अघाइ = पूरा। प्रभु-दासी-दास = रामजी की दासी तुलसी, तिनका दास (तुलसीदास)। बिगरिऔ = बिगड़ी बात भी।

कर्म जप जोग विग्यान वैराग्य लहि,
मोच्छ हित जोगि जे प्रभु मनावैं।
जयति वैदेहि सब सक्ति-सिर-भूषने,
ते न तव दृष्टि बिनु कबहुँ पावैं ॥ ३ ॥
कोटि ब्रह्मांड जगदीस को ईस जेहि,
निगम मुनि बुद्धि ते अगम गावैं।
विदित यह गाथ अहदान कुलमाथ सो,
नाथ तव दान ते हाथ आवैं ॥ ४ ॥
दिव्य सतवर्ष जप ध्यान जब सिव धर्‍यो,
राम गुरुरूप मिलि पथ बतायो।
चितै हित लीन लखि कृपा कीनी तबै,
देवि, अति दुर्लभहिं दरस पायो ॥ ५ ॥
जयति श्रीस्वामिनी, सीय सुभनामिनी,
दामिनी कोटि निज देह दरसैं।
इन्दिरा आदि दै मत्त गजगामिनी,
देव-भामिनि सबै पाँय परसैं ॥ ६ ॥
दुखित लखि भक्त बिनु दरस निज रूप तप,
यजन जप जतन ते सुलभ नाहीं।
कृपा करि पूर्न नवकंजदल–लोचना,
प्रगट भई जनक नृप-आंजर माहीं ॥ ७ ॥
रमित तव विपिन प्रिय प्रेम प्रगटन करन,
लंकपति व्याज कछु खेल ठान्यो।
गोपिका-कृष्ण तव तुल्य बहु जतन करि,
तोहिं मिलि ईस आनंद मान्यो ॥ ८ ॥

भावार्थ—हे माता, कभी मौका हो तो, मेरी भी श्रीरामचन्द्रजी को याद दिला देना और यह कुछ करुणा की बात छेड़ देने से बन जायगा ॥१॥ याद दिलाना हो तो, यों दिलाइयेगा कि एक आपकी दासी (तुलसी) का दास जो बड़ा ही दीन, सर्व साधनों से रहित, दुर्बल, मैला-कुचैला और पूरा पापी है, आप का नाम ले ले कर पेट भरता है ॥२॥ यदि प्रभु पूछ बैठें कि वह कौन है, तो मेरा नाम लेकर दशा जता देना। मुझे विश्वास है कि, कृपालु रामचन्द्रजी के इतना सुन लेने मात्र से ही मेरी सारी बिगड़ी बात बन जायगी ॥३॥ हे जगज्जननी श्रीजानकीजी, यदि आपने वचनों से ही इस दास की प्रभु के आगे कुछ सिफ़ारिश कर दी, तो यह तुलसीदास आप के स्वामी की गुणावली गाता गाता संसार-सागर पार कर जायगा ॥४॥

टिप्पणी—(१) श्रीजानकीजी रघुनाथजी की आल्हादिनी शक्ति हैं। उनके कह देने मात्र से ही जीव सच्चिदानन्द परमात्मा का सामीप्य प्राप्त कर लेता है।

(२) 'करुन-कथा'—करुणा रस भगवान का द्रव-स्वरूप है। साहित्य में भी यह सब रसोंका मूल और प्रधान माना गया है।

'रसेषु करुणारसः।

माता में वात्सल्य और करुणा का स्वाभाविक निवास होता है, इसीसे कविने 'अम्ब' 'करुन' और 'वचन-सहाइ' का सार्थक समावेश किया ऐसा जान पड़ता है।

(४२)

कबहुं समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी।
जन कहाइ नाम लेत हौं, किये पन चातक ज्यों प्यास प्रेम-पानकी॥१॥

हीन तव सुमुख के संग रहि रंक सो,
विमुख जो देव नहिं नाह नेरो।
अधम-उद्धरिनि यह जानि गति सरन तव,
दास तुलसी भयो आय चेरो ॥ ६ ॥

यह पद और किसी प्रति में नहीं पाया जाता। इसकी रचना गुसाईंजी के पदों से बिल्कुल भिन्न है। शिथिलता भी जहां तहां देखने में आती है। अतः यह पद विनयपत्रिका में नहीं रखा जा सकता।

सरल प्रकृति आपु जानिए करुना-निधान की।
निजगुन अरिकृत अनहितौ दास-दोष सुरति चित रहत न दिये दानकी।।२।।
बानि बिसारनसील है मानद अमान की।
तुलसीदास न बिसारिये मन क्रम बचन जाके सपनेहुं गति न आनकी।।३।।

शब्दार्थ—प्रपन = प्रतिज्ञा। अनहितौ = बुराई। सुरति = स्मरण। बिसारनसील = भूलने की।

भावार्थ—हे जानकी माता, कभी अवसर पाकर श्रीरामचन्द्रजी को मेरी याद दिला देना। देखिये, उनका दास कहा कर मैं उनका नाम लेता हूं। मैं चातक की तरह उनके लिये प्रतिज्ञा किये बैठा हूं। मुझे उनके प्रेम-जल के लिये बड़ी प्यास लग रही है॥ १॥ यह तो आप जानती ही हैं कि करुणानिधान रघुनाथजी की प्रकृति बड़ी सरल है। उन्हें अपना गुण, शत्रुका किया हुआ अनिष्ट, सेवक के अपराध और दिये हुए दान कभी याद ही नहीं रहते॥ २॥ उनकी आदत भूल जाने की है। जिसका कहीं सम्मान नहीं होता, उसे वह मान दिया करते हैं, पर यह भी भूल जाते हैं! यह सब कहने का मतलब यह है कि, कहीं वे, यदि आपने याद न दिलायी तो, अपने स्वभावानुसार इस तुलसीदास को भी न भूल जायँ कि जिसको मन से, वचन से और कर्म से सिवा उनके, स्वप्न में भी किसी दूसरे का आश्रय नहीं है।।३।।

श्रीराम-स्तुति

(४३)

जयति सच्चिद्व्यापकानन्द यत्, ब्रह्म विग्रह-व्यक्त लीलावतारी।
विकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोचबस, विमल गुन-गेह नर-देहधारी।।१।।
जयति कोसलाधीस कल्यान कोसलसुता, कुसल कैवल्य-फल चारु चारी।
वेद-बोधित कर्म-धर्म-धरनी-धेनु, विप्र-सेवक साधु-मोदकारी।।२।।
जयति रिषि-मखपाल, समन सज्जन साल, सापबस मुनिबधू-पापहारी।
भंजि भवचाप दलि दाप भूपावली, सहित भृगुनाथ नतमाथ भारी।।३।।
जयति धार्मिक-धुर धीर रघुवीर गुरु-मातु-पितु-बंधु-बचनानुसारी।
चित्रकूटाद्रि विन्ध्यादि दंडकविपिन, धन्यकृत पुन्यकानन-बिहारी।।४।।

जयति पाकारिसुत-काक-करतूति-फलदानि, खनि गर्त्त गोपित विराधा।
दिव्य देवी वेष देखि लखि निसिचरी जनु बिडंवित करी विस्वबाधा ॥५॥
जयति खर-त्रिसिर-दूषन चतुर्दस-सहस-सुभट-मारीच-संहारकर्त्ता।
ग्रध्र—सबरी-भक्ति-विवस करुनासिंधु चरित, निरुपाधि त्रिविधार्तिहर्त्ता ॥६॥
जयति मद अंध कुकबंध बधि, बालि बलसालि बधि, करन सुग्रीव राजा।
सुभट मर्कट-भालु-कटक-संघट सजत नमत पद रावनानुज निवाजा ॥७॥
जयति पाथोधि-कृत सेतु कौतुक हेतु काल-मन-अगम लई ललकि लंका।
सकुल सानुज सदल दलित दसकंठ रन, लोक—लोकप किये रहित—संका ॥८॥
जयति सौमित्रि—सीतासचिव—सहित चले पुष्पकारूढ़ निज राजधानी।
दासतुलसी मुदित अवधवासी सकल, राम भे भूप वैदेहि रानी ॥९॥

पदच्छेद—सत् + चित्। व्यापक + आनंद। लीला + अवतारी। कोसल + अधीस। भूप + अवली। वचन + अनुसारी। चित्रकूट + अद्रि। विन्ध्य + अद्रि। पाप + अरि। त्रिविध + आर्त्ति। रावन + अनुज। स + अनुज। पुष्पक + आरूढ़।

शब्दार्थ—विग्रह = मूर्त्ति। व्यक्त = प्रकट। कैवल्य = मोक्ष। मखपाल = यज्ञ की रक्षा करनेवाले। साल = कष्ट देनेवाले। नतमाथ = मस्तक झुका दिया है जिन्होंने, विनीत। अद्रि = पर्वत। खनि = खोद कर। गर्त्त = गड्ढा। गोपित = छिपा दिया। पाकारि-सुत = इन्द्र का पुत्र जयन्त। त्रिविधार्त्ति = तीन प्रकार के दुःख—दैहिक, दैविक, भौतिक। संघट = समुदाय। निवाजे = निहाल कर दिये। पाथोधि = समुद्र। ललकि = उमंग पूर्वक।

भावार्थ—श्रीरामचन्द्रजी की जय हो। जो शुद्ध सत्तास्वरूप, चैतन्य, व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी, आनंदस्वरूप ब्रह्म हैं। वह मूर्त्तिमान हो कर लीला करने के लिये अव्यक्त से व्यक्त अर्थात् साकार रूप से प्रकट हुए हैं। जब ब्रह्मा प्रभृति देवता और सिद्ध, दैत्यों के अत्याचार से व्याकुल हो गये, तब उनके संकोच से आपने विशुद्ध गुण-विशिष्ट नर-शरीर धारण किया ॥१॥ जय हो—जो कोसल-नरेश महाराज दसरथ और कल्याणस्वरूपिणी महारानी कौसल्या के यहां मोक्ष के सुन्दर चार फलों के रूप में प्रकट हुए, अर्थात् राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य और सालोक्य इन चारों

मुक्तियों के रूप में उत्पन्न हुए। आपने वेदोक्त कर्म एवं धर्म, पृथ्वी, गो, ब्राह्मण, भक्त, और साधुजनों को आनंद दिया ॥२॥ जिन्होंने ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के यज्ञ की, राक्षसों से, रक्षा की, संतों के सतानेवाले दुष्टों का दमन किया, पाषाणमूर्त्ति अहिल्या के पापों को दूर कर दिया। शिवजी के धनुष को तोड़ कर अभिमानी राजाओं का गर्व खर्व कर दिया और विजयी परशुराम के ऊंचे मस्तक को झुका दिया, उन श्रीरामचन्द्रजी की जय हो ॥३॥ गुरु, माता, (कैकयी), पिता और भाई के वचन मान कर जिन रघुनाथजी ने धर्म का भार धैर्य के साथ धारण किया, जिन्होंने चित्रकूट तथा विन्ध्याचल और दण्डक वन को कृतकृत्य कर दिया, ऐसे पवित्र वन में विहार करनेवाले श्रीरघुनाथजी की जय हो ॥४॥ जिन्होंने इंद्र के काक-रूप छली पुत्र जयन्त को उसकी करनी का यथेष्ट फल दिया, जिन्होंने गड्ढा खोद कर उस में विराध राक्षस को गाड़ दिया, देव-सुंदरी का रूप धारण किये सूर्पणखा को, राक्षसी समझ कर, जिन्होंने कुरूप कर दिया, मानो संसार भर को कष्ट पहुंचानेवाले बाधास्वरूप रावण की विडम्बना का अपमान किया, उन श्रीरामचन्द्रजी की जय हो ॥५॥ खर, त्रिशिरा, दूषण, उनकी चौदह हजार सेना तथा मारीच के मारनेवाले, भक्ति के अधीन होकर जटायु गृद्ध और शबरी का उद्धार करनेवाले, करुणा-सागर, लांछना-रहित चरित्रवाले और संसारिक तीनों तापों के हरनेवाले श्री रामचन्द्रजी की जय हो ॥६॥ जिन्होंने मदांध दुष्ट कबन्ध का बध किया, महा बलवान बालि को मार डाला, सुग्रीव को राजा बनाया, बड़े बड़े वीर बंदरों और रीछों की फौज इकट्ठी कर सुसज्जित की, और शरणागत विभीषण को निहाल कर दिया, उन श्रीरामचन्द्रजी की जय हो ॥७॥ केवल लीला के ही लिये जिन्होंने समुद्र पर पुल बना डाला, काल के मनको भी अगम, अजेय लंका को उमंग में लपक लिया और रावण को उसके बंशसहित, भाईसहित और सेनासहित रण में नष्ट कर तीनों लोकों एवं लोकपालों को निर्भय कर दिया, ऐसे श्रीरामचन्द्रजी की जय हो ॥८॥ जो लंका-विजय कर लक्ष्मण, जानकीजी और सुग्रीवादि मंत्रियों समेत पुष्पक विमान पर चढ़ कर अपनी राजधानी अयोध्या को लौटे और जिन रामचन्द्रजी के राजा होने पर तथा सीताजी के रानी होने पर समस्त अयोध्यावासी परम प्रसन्न हो गये. उन श्रीरघुनाथजी की जय हो ॥९।

टिप्पणी—(१) 'विमलगुन'—ऐश्वर्य, कृपा, न्याय, सौलभ्य, सौशील्य, सौजन्य, क्षमा, कारुण्य, उदारता, श्री, ह्री, तेज, वीर्य आदि ईश्वरीय दिव्यगुण। इन्हीं गुणों से संयुक्त होने के कारण परमेश्वर का नाम 'सगुण ब्रह्म' पड़ा है। 'सगुण' में मायात्मक त्रिगुण का समावेश नहीं है।

(२) 'साप बस मुनि वधू'—अनिन्द्य सुंदरी अहिल्या महर्षि गौतम की स्त्री थी। उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध हो कर एक दिन इंद्र, जब कि गौतम संध्या-वंदन करने को बाहर गये थे, गौतम का रूप धारण कर अहिल्या के पास गया। उसने उससे रतिदान माँगा। कुसमय समझ कर अहल्या ने पहले तो अस्वीकार किया, किन्तु पतिव्रता होने के कारण कपट वेषधारी इन्द्र के साथ उसे संभोग करना पड़ा। इतने में गौतम आ गये। उन्होंने, योगदृष्टि से सब रहस्य जान कर, इन्द्र को यह शाप दिया कि तेरे शरीर में एक सहस्र भग हो जायँ और अहल्या को यह शाप दिया कि तू पत्थर की मूर्त्ति हो जा। पीछे क्रोध शांत होने पर दोनों के शाप का प्रतीकार इस प्रकार बतला दिया कि श्रीरामजी के चरणों के स्पर्श से अहल्या का उद्धार हो जायगा और जब रामचंद्रजी शिवजी का धनुष तोड़ेंगे, तब इन्द्र के सहस्र भग सहस्र नेत्रों में परिणत हो जायँगे।

(३) 'पाकारि सुत काक'—एक दिन चित्रकूट में सीताजी के दिव्य सौन्दर्य पर इन्द्र का पुत्र जयंत मोहित हो गया। कौए का रूप धारण कर वह उनके स्तनों में चोंच मारने लगा। स्तनों से रुधिर की धार बहती देख कर रघुनाथजी ने उसपर एक सींक का बाण चलाया। बेचारा बाण के भय से समस्त ब्रह्माण्ड में भागता फिरा, पर कहीं भी त्राण न हुआ। लाचार हो रामचंद्रजी की शरण में आया। प्रभु ने उसके प्राण तो न लिये, पर एक आंख का बना कर छोड़ दिया।

(४) 'देखि लखि'—'देखना' और 'लखना' एक ही अर्थ के बोधक होते हैं, इससे यहां पुनरुक्ति दोष की संभावना हो सकती है, किन्तु यहां पर ऐसा नहीं है। 'देख' का अर्थ तो देखना ही है, पर 'लखि' का अर्थ 'समझ कर' जान पड़ता है। देखना और विचार कर, ध्यान पूर्वक समझ कर, होने के कारण पुनरुक्ति दोष नहीं आ सकता।

(५) 'गीध'—जटायु से तात्पर्य है। इसने सीताजी के छुड़ाने के लिये रावण

से युद्ध कर प्राण-त्याग किया था। रामचंद्रजी ने, अपने पिता के समान, इसका दाह-संस्कार किया था।

(४४)

जयति राज-राजेन्द्र राजीवलोचन,
राम नाम कलि-कामतरु, साम*साली।
अनय-अंभोधि-कुम्भज, निसाचर-निकर-
तिमिर-घनघोर-खर-किरनमाली ॥१॥
जयति मुनिदेव, नरदेव दसरत्थ के,
देव-मुनिवन्द्य किय अवध-वासी।
लोकनायक, कोक-सोक-संकट-समन,
भानुकुल-कमल-कानन-विकासी ॥२॥
जयति सिंगार-सर तामरस-दामद्युति देह,
गुनगेह विस्वोपकारी।
सकल सौभाग्य-सौंदर्य-सुखमारूप,
मनोभव कोटि गरबापहारी ॥३॥
जयति सुभग सारंग सुनिखंग सायक
सक्ति चारु चर्मासि वर वर्मधारी।
धर्मधुरधीर रघुबीर भुज-बल अतुल
हेलया दलित भूभार भारी ॥४॥
जयति कलधौत मनि मुकुट, कुण्डल,
तिलक-झलक भलिभाल, विधु-वदन सोभा।
दिब्य भूषन बसन, पीत उपवीत,
किय ध्यान कल्यान भाजन न को भा ॥५॥
जयति भरत-सौमित्रि-सत्रुघ्न-सेवित
सुमुख सचिव-सेवक-सुखद, सर्वदाता।

---

* पाठान्तर 'स्याम'।

अधम, आरत दीन पतित पातक-पीन
सकृत नतमात्र कहि पाहि पाता ॥६॥
जयति जय भुवनदसचारि जस जगमगत
पुन्यमय धन्य जय रामराजा ।
चरित-सुरसरित कवि-मुख्य-गिरि निःसरित,
पिवत, मज्जत मुदित सत-समाजा ॥७॥
जयति वर्नास्रमाचारपर नारि-नर
सत्य-सम-दम-दया-दान-सीला ।
विगत दुख-दोष संतोष सुख सर्वदा
सुनत गावत राम-राजलीला ॥८॥
जयति वैराग्य-विग्यान-वारांनिधे,
नमत नर्मद पाप-ताप-हर्त्ता ।
दासतुलसी चरन सरन संसय-हरन देहि
अवलंब वैदेहि-भर्त्ता ॥९॥

पदच्छेद—राजा + इन्द्र । विस्व + उपकारी । गरव+अपहारी । चर्म + असि । वर्न+आस्रम + आचार ।

शब्दार्थ—राजीव = कमल । अनय = अन्याय । अंभोधि = समुद्र । खर = तीक्ष्ण । किरनमाली = सूर्य । कोक = चकवा । तामरस = कमल । दाम = माला । मनोभव = कामदेव । सारंग = धनुष । निखंग = तरकस । चर्म = ढाल । वर्म = कवच । हेलया = लीलापूर्वक । कलधौत = सुवर्ण । पीन = मोटा, पुष्ट । सकृत = एक बार । वारांनिधे=समुद्र । नर्म = आनन्द । भर्त्ता = पति ।

भावार्थ—राजराजेश्वरों में इन्द्र के समान, कमलनेत्र, जिनका नाम 'राम' है, कलियुग में कल्पवृक्षस्वरूप, साम्य धर्मानुवर्त्ती, अन्याय-रूपी समुद्र को सोख जानेवाले महर्षि अगस्त्य के समान, तथा दैत्य-समुदाय-रूपी प्रगाढ़ और भयंकर अन्धकार के लिये प्रचंड सूर्य के समान श्रीरामचन्द्रजी की जय हो ॥१॥ मुनि, देव और राजाओं के स्वामी दासरथि ने अवध-निवासियों को ऐसा श्रेष्ठ और पूज्य बना दिया कि उन्हें देवता और मुनि भी प्रणाम करने लगे । ऐसे

लोकपाल-रूपी चकवों के शोक और संताप को नाश करनेवाले और सूर्यवंश-रूपी कमल के बन को प्रफुल्लित करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी की जय हो ॥ २ ॥ शृंगाररूपी सरोवर में कमलों की माला के समान जिनके शरीर की शोभा हो रही है, जो समस्त दिव्य गुणों के धाम हैं, विश्वामित्र का हित करनेवाले हैं, समग्र सौभाग्य, लावण्य और शोभायुक्त रूप से करोड़ों कामदेवों का मान भंजन करनेवाले हैं, उन श्रीकौशल-किशोर की जय हो ॥ ३ ॥ सुन्दर धनुष, तरकस, वाण, शक्ति, ढाल, तलवार और श्रेष्ठ कवच को धारण करनेवाले, धर्म की धुरी (भार) को उठाने में धीर, रघुकुल में वीर और अपने भुजदंडों के प्रचण्ड प्रताप से लीलापूर्वक ही पृथ्वी के भारी भार अर्थात् राक्षसों का नाश करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी की जय हो ॥ ४ ॥ मणि-जटित सुवर्ण का मुकुट मस्तक पर धारण किये, कानों में कुण्डल पहिने, भालस्थली पर तिलक की सुन्दर झलक सहित, चन्द्रमा के समान लावण्यमय मुखवाले, विचित्र अलंकार और वस्त्र युक्त, तथा पीला यज्ञोपवीत धारण किये हुए श्रीरघुनाथजी का ध्यान करके कौन कल्याण का भागी नहीं हुआ है ? भाव यह कि, इस ध्यान के प्रभाव से सभी अधिकारी हुए हैं ॥ ५ ॥ भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न से सेवित सुमुख-सुमंत प्रभृति मंत्रियों और भक्तों को सर्वप्रकार का सुख देनेवाले, नीच, दुखी, दीन, पतित और बड़े बड़े पापियों को, केवल एकबार प्रणाम करने पर और इतना ही कहने पर कि "रक्षा करो," संसार सागर से तार देनेवाले श्री रामचन्द्रजी की जय हो ॥ ६ ॥ जिनकी पवित्र कीर्त्ति-कौमुदी चौदहों लोकों में जगमगा रही है, जो धन्य हैं ऐसे, श्रीराजा रामजी की जय हो। जिनकी कथा-रूपी जान्हवी आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि-रूपी हिमालय पर्वत से निकली है और जिसे पान कर और जिसमें स्नान कर संत-समाज सदा प्रफुल्लित रहता है, उन रघुनाथजी की जय हो ॥ ७ ॥ वर्णाश्रम विहित आचार पर चलनेवाले, शम, दम, दया और दान करनेवाले, दुखों और पापों से रहित, सदा संतोषी और सुखी स्त्री-पुरुष, जिनके राज्य की लीला गाते और सुनते हैं, उन रामचन्द्रजी की जय हो ॥ ८ ॥ जो वैराग्य और ज्ञान-विज्ञान के समुद्र हैं, जो प्रणाम करनेवालों को आनन्द प्रदान करते हैं, उनके पापों और संतापों को हर लेते हैं, उन रामचन्द्रजी की जय हो। हे जानकी-वल्लभ! हे संशय-शमन! यह सब सुन समझ कर तुलसीदास आपकी शरण में आया है, कृपा कर उसे अपने चरणों का सहारा दीजिये ॥ ९ ॥

टिप्पणी--(१) 'शृंगार'---भक्तवर बैजनाथजी कुरमी ने शृंगार का यह लक्षण लिखा है—

"बुधि बिलास जुत जहं रहै, रति को पूरन अंग।
ताहि कहत सिंगार रस, केवल मदन प्रसंग॥"

(२) 'तामरस दाम दुति'—शृंगार-सरोवर में प्रफुल्लित कमल, बैजनाथ जी के अनुसार, यह हैं—

"दुति, लावन्य, सुरूप, सोइ सुन्दरता रमनीय।
कान्ति, मधुर मृदुता बहुरि, सुकुमारता गनीय॥"

(३) 'सकृत नतमात्र'—यहां बाल्मीकीय रामायण का यह श्लोक स्मरण आ जाता है--

"सकृदेव प्रपन्नाय, तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो, ददाम्येतद्व्रतं मम॥"

इसी से मिलता-जुलता गीता का भी निम्नलिखित श्लोक है --

"सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वां सर्वपापेभ्यो: मोक्षयिष्यामि मा शुचः

(४) 'वरनाश्रम'—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह चारो वर्ण और ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ और संन्यास यह चारो आश्रम हैं।

(५) 'वारांनिधे'—यह पद संस्कृत व्याकरण से अशुद्ध हैं। 'वारिणाम् निधि' अथवा 'वारिनिधि' शुद्ध हैं। किंतु आर्ष प्रयोग होने के कारण गुसाईं जी के प्रयोग-दोष में नहीं आ सकते।

(६) 'संशय'—अविद्या से तात्पर्य है।

राग गौरी

(४५)

श्री रामचन्द्र कृपालु भजुमन हरन-भवभय दारुनं।
नवकंज-लोचन, कंजमुख, करकंज, पद कंजारुनं॥ १॥
कंदर्प अगनित अमित छवि, नवनील नीरद सुन्दरं।
पट पीत मानहुं तड़ित रुचि सुचि नौमि जनक सुतावरं॥२॥

भजु दीनबन्धु दिनेस दानव-दैत्य वंस-निकंदनं* ।
रघुनंद आनंदकंद कोसलचंद दसरथ-नन्दनं ॥ ३ ॥
सिर मुकुट कुण्डल तिलक चारु उदारु अंग विभूषनं ।
आजानुभुज सर-चाप-धर, संग्राम-जित-खरदूषनं ॥ ४ ॥
इति वदति† तुलसीदास संकर-सेष-मुनि-मन-रंजनं ।
मम हृदय-कंज-निवास करु, कामादि खल-दल-गंजनं ॥५॥

पदच्छेद--कंज+अरुनं । काम+आदि ।

शब्दार्थ- नीरद = मेघ । नौमि = नमस्कार करता हूं । उदारु = सुन्दर । आजानु बाहु = घुटनों तक लम्बी भुजाएं । जित = इसका अर्थ 'जीता हुआ' (परास्त) नहीं, किंतु विजेता अर्थात् जीतनेवाला है । वदति = कहता है, प्रार्थना करता है ।

भावार्थ- हे मन ! कृपालु श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण कर । वह संसार के दारुण भय को दूर करनेवाले हैं, जन्म-मरण के चक्र से मुक्त कर देनेवाले हैं । उनके नेत्र कमल के समान हैं, मुख, हाथ और चरण भी लाल कमल के सदृश हैं ॥ १ ॥ उनका सौन्दर्य अगणित कामदेवों के समान है और शरीर नवीन नील मेघ जैसा सुन्दर है; पीताम्बर (शरीर रूपी मेघ के बीच में) बिजली की सुन्दर चमक के समान शोभित हो रहा है, ऐसे पुण्यश्लोक जानकी-रमण रघुनाथजी को मैं नमस्कार करता हूं ॥२॥ हे मन ! दोनों के मित्र सूर्य के समान प्रचंड तेजस्वी, दानव और दैत्यों के कुल के समूल नाश करनेवाले, आनंदकंद, कोशलदेशमें चन्द्र के समान देदीप्यमान, दसरथनन्दन रघुनाथ जी का भजन कर ॥३॥ जिनके मस्तक पर मुकुट, कानों में कुण्डल, माथे पर सुन्दर तिलक और अंग-प्रत्यंग में भव्य भूषण सुशोभित हो रहे हैं, जिनकी भुजाएं घुटनों तक हैं, जो धनुष और बाण लिये हैं, जिन्होंने रणभूमि में खर और दूषण नाम के राक्षसों को जीत लिता है ॥ ४ ॥ जो शिव, शेष और मुनियों के मन को प्रसन्न करनेवाले तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि प्रबल

* पाठान्तर—तीसरे और चौथे चरण में हेरफेर मिलता है । कहीं 'सिर मुकुट खर दूषन', पहले है, तो कहीं 'भजु दीनबन्धु....नंदनं ।'

† पाठान्तर-'वंदति' ।

शत्रुओं के नाशक हैं, वह श्रीरघुनाथजी, तुलसीदास कहते हैं, मेरे हृदय-कमल में निवास करें ॥ ५ ॥

टिप्पणी–(१) 'कंजमुख'–जिस कमल की मुख के साथ उपमा दी गई है, उसे नीला कमल समझना चाहिये ।

(२) 'नवकंज लोचन.........कंजारुणं'—इससे माधुर्य भावकी अच्छी सूचना मिलती है ।

(३) 'कंद'—मेघ ।

(४) यह पद बहुत ही प्रसिद्ध है । श्रीरामानंदी वैष्णवजन तो इसे आरती के समय नित्य ही गाया करते हैं ।

रामकली

(४६)

सदा राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु, राम जपु मूढ़ मन, वार वारं ।
सकल सौभाग्य-सुख-खानि जिय जानि सठ, मानि विश्वास वद वेदसारं ॥१॥
कोसलेन्द्र नव-नीलकंजाभतनु, मदन-रिपु-कंजहृदि-चंचरीकं* ।
जानकीरवन सुखभवन भुवनैक प्रभु समर-भंजन परम कारुनीकं ॥२॥
दनुज-बन-धूमधुज पीन आजानुभुज, दंड कोदंडवर चंड बानं ।
अरुन कर चरन मुख नैन राजीव गुनऐन बहु मैन-सोभा-निधानं ॥३॥
बासनावृन्द-कैरव—दिवाकर काम क्रोध-मद-कंज-कानन तुषारं ।
लोभ-अति-मत्त-नागेन्द्र-पंचाननं भक्तहित हरन संसार-भारं ॥४॥
केसवं क्लेसहं केस-वंदित पदद्वंद मंदाकिनी-मूलभूतं ।
सर्वदानंद—संदोह मोहापहं घोर संसार–पाथोधि पोतं ॥५॥
सोक–संदेह–पाथोदपटलानिलं× पाप–पर्वत–कठिन कुलिसरूपं ।
संतजन–कामधुक–धेनु विस्रामप्रद नाम कलि-कलुष भंजन अनूपं ॥६॥
धर्म कल्पद्रुमाराम हरिधाम–पथि–संवलं मूलमिदमेव एकं ।
भक्ति-वैराग्य–विग्यान–सम–दान–दम नाम–आधीन साधन अनेकं ॥७॥

---

* इस चरण में छंदोभंग है । यदि 'जयति कुसलेन्द्र' कर दिया जाय, तो ठीक हो जायगा ।

× पाठान्तर–'अनिलं' ।

तेन तप्तं, हुतं, दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं ।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिसमनवद्यमवलोक्य कालं ॥८॥
सुपच खल भिल्ल जमनादि हरिलोकगत नामबल विपुल मति मलिनपरसी।
त्यागि सब आस-संत्रास भवपास-असि निसित हरिनाम जपु दासतुलसी ॥९॥

पदच्छेद—कोसल+इन्द्र। कंज+आभ। भुवन+एक। क+ईस। सर्वदा+आनन्द। मोह+अपहं। पटल+आविलं। कल्पद्रुम+आराम। मूलम्+इदम्+एव। दत्तम्+एव+अखिलं। नाम+अमृत। कृतम्+अनिशम्। अनवद्यम्+अवलोक्य। जमन (यवन)+आदि।

शब्दार्थ—वद = बोल। कंजाभ = कमल के समान आभा वा कांति। हृदि = हृदय में। कारुनीक = करुणामय। धूमधुज = अग्नि। पीन = पुष्ट। कोदंड = धनुष। चंड = प्रचंड, तेज। मैन = कामदेव। कैरव = कुमोदिनी। तुषार = पाला। नागेन्द्र = गजेन्द्र। पंचानन = सिंह। केस = क (ब्रह्मा) और ईश (शिव)। पाथोधि = समुद्र। पोत = जहाज। पाथोद = मेघ। पटल = समूह। आराम = उद्यान। संबल = कलेवा, राह-खर्च। तप्तं = तप किया। हुतं = हवन किया। दत्तम् = दान दिया। पास = फंदा। निसित = पैनी।

भावार्थ—हे मूर्ख मन ! सदा सर्वदा बार बार श्रीराम नाम का स्मरण कर। वह 'सर्व सौभाग्य और सुखों की खानि है' ऐसा जी में समझ कर और 'वेदों का सार है' ऐसा मान कर सदा कहा कर ॥१॥ कोसलेश श्रीरामचन्द्रजी नवीन नीले कमल की कांति के समान हैं। वह शिवजी के हृदय-कमल में रमनेवाले भ्रमर हैं। वह जानकी-वल्लभ, आनंदघन, समस्त ब्रह्माण्ड के एकमात्र स्वामी, संग्राम में (दुष्टों के) नाशकर्त्ता और महान् करुणामय हैं ॥२॥ वह दैत्यों के वन के लिये अग्नि के समान हैं। पुष्ट और घुटनों तक लम्बे भुजदंडों में धनुष और प्रचंड बाण धारण किये हैं। उनके हाथ, चरण, मुख और नेत्र लाल कमल के सदृश हैं। वह सर्वगुण सपन्न तथा अनेक कामदेवों के सौन्दर्य के भांडार हैं ॥३॥ शुभाशुभ कामनाओं की समूह जो कुमोदिनी है, उसे मुर्झा देने के लिये वह सूर्य-रूप हैं, अर्थात् वह सभी ऐहिक और पारलौकिक इच्छाओं का नाश कर देते हैं, और ऐसा होने पर जीव आवागमन के चक्र से छूट कर मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार वह काम, क्रोध, अहंकार प्रभृति

कमलवन को सुखा देने के लिये पाला हैं, लोभरूपी मदोन्मत्त गजेन्द्र के लिये सिंह तथा भक्तों के कल्याणार्थ संसार के भार-रूप राक्षसों के दमन करनेवाले हैं ।।४।। उनका नाम केशव है, वह क्लेशादि के नाशक हैं, ब्रह्मा और शिव से उनके युगल चरणारविन्द वन्दित किये जाते हैं, जो गंगाजी के उद्‌गम-द्वार हैं, सदा आनंद के समूह, अविद्या के विनाशक, और भयंकर संसार-सागर के पार जाने के लिये जहाज हैं ।।५।। रघुनाथजी शोक और अविद्यारूपी मेघ-समूह को छिन्न-भिन्न करने के लिये वायु-रूप, और पाप रूपी कठिन पहाड़ को तोड़ने-फोड़ने के लिये वज्ररूप हैं। संतो को कामधेनु के समान शान्ति देनेवाला तथा कलियुग में किये गये पापों का नाश करनेवाला उपमा-रहित उनका नाम है ।।६।। यह नाम धर्म-रूपी कल्पवृक्ष का उद्यान, साकेतधाम जानेवाले पथिकों के लिये मार्ग-व्यय के समान और यही एक मूलाधार है। भक्ति, वैराग्य, ज्ञान-विज्ञान, शम, दम, दान प्रभृति अनेक मुक्ति के साधन इसी नाम के अधीन हैं, बिना राम-नाम के ये सब साधन सिद्ध ही नहीं हो सकते ।।७।। कराल कलिकाल निकट आता हुआ देख कर जिसने दिनरात श्रीराम-नाम-रूपी अमृत का पान किया, वास्तव में, उसीने तपश्चर्या की हवन किया, सर्वस्व दान दिया और सारा कर्म-काण्ड विधिवत् संपादित किया, क्योंकि बिना भगवन्नाम के स्मरण किये, ये सब साधन करने न करने के बराबर हैं ।।८।। बड़े बड़े पापकर्मा चांडाल, दुष्ट, भील, यवन आदि केवल नाम के प्रताप से विष्णुलोक चले गये। इससे हे तुलसीदास! सारी आशाएँ, और भय छोड़ कर संसार-रूपी जाल को काट देने के लिये पैनी तलवार के समान राम-नाम का स्मरण कर ।।९।।

टिप्पणी--(१) 'राम जपु राम जपु' आदि--यहां 'राम जपु' पद पांच बार आया है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, यह पांच विषय संसार में आने के कारण हैं। एक एक के नाश करने के लिये, मनको 'राम जपु' पद से चेतावनी दी गई ऐसा जान पड़ता है।

(२) 'कामधुक धेनु'--कलियुग में रामनाम के प्रभाव से सभी प्रकार के सुख-साधन प्राप्त हो सकते हैं। विष्णुपुराण में लिखा है--

'ध्यायन् कृते, यजन् यज्ञैस्त्रेतायां, द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ श्रीहरि-कीर्त्तनात्।।'' अथवा--

'कलियुग केवल नाम अधारा। जानि लेहि जो जानिहारा।।' पुनश्च--

"हरेर्नामैव नामैव, नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव, नास्त्येव गतिरन्यथा ॥"

(३) 'जमन'—यवन। एक मुसलमान ने मरते दम 'हराम' शब्द कहा था। उसमें 'राम' शब्द आ जाने के कारण, उसकी मुक्ति हो गई।

(४७)

ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।
हरन दुखद्वंद्व गोविंद आनंदघन ॥१॥
अचरचर रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत, इति बासना-धूप दीजै।
दीप निजबोध गत कोह मदमोह तप प्रौढ़ अभिमान-चितवृत्ति छीजै ॥२॥
भाव अतिसै विसद प्रवर नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम-संतोषकारी।
प्रेम ताम्बूल गत सूल संसय सकल, बिपुलभव-बासना-बीजहारी ॥३॥
असुभ-सुभकर्म घृतपूर्न दस वर्तिका, त्याग-पावक सतोगुन प्रकासं।
भक्ति-वैराग्य-बिग्यान-दीपावली, अर्चि नीराजनं जग-निवासं ॥४॥
बिमल हृदि-भवन कृत सांति परजंक सुभ, सयन बिस्राम श्रीराम राया।
छमा-करुना प्रमुख तत्र परिचारिका जत्र हरि तत्र नहिं भेद माया ॥५॥
यहै आरती-निरत सनकादि स्रुति सेष सिव देवरिषि अखिल मुनि तत्व-दरसी।
करै सोइ तरै परिहरै कामादि मल बदति इति अमल मति दास तुलसी ॥६॥

शब्दार्थ—निज बोध = आत्मज्ञान। कोह = क्रोध। छीजै = क्षीण हो जाती है। वर्त्तिका = बत्ती। नीराजन = आरती। राया = राजा। परजंक = पर्य्यङ्क, पलंग। तत्त्वदरसी = आत्मानुभवी।

भावार्थ—हे मन! रघुवंश के वीरवर श्रीरामचंद्रजी की आरती इस प्रकार कर। देख, वह रागद्वेष आदि दुखों के नाश-कर्ता, इन्द्रियों के स्वामी और आनंद की वर्षा करनेवाले हैं ॥१॥ भगवान् जड़ और चैतन्य सबमें सदा रमते हैं, इस वासना (इच्छा, सुगंध) की धूप दे, इस धूप के करने से तेरा सारा मायात्मक अज्ञान दूर हो जायगा। धूप के बाद दीप दिखाना होता है सो अपने आत्मज्ञान का दीपक जला कर क्रोध, अहंकार और अज्ञान के अंधकार का नाश कर दे। आत्मबोध के दीपक के प्रकाश में मनोवृत्तियां आप ही

आप क्षीण हो जायंगी ॥२॥ अब अत्यन्त निर्मल और श्रेष्ठ भाव का नैवेद्य भगवान् के आगे निवेदन कर। यह भाव-रूपी नैवेद्य लक्ष्मीकान्त नारायण को परम संतोष देगा। फिर, शोक और सर्व अज्ञान एवं अपार संसार की बासनाओं के बीज का नाशकर्त्ता जो 'प्रेम' है, उसका ताम्बूल बनाकर अर्पण कर ॥३॥ इसके अनन्तर शुभ और अशुभ कर्मरूपी घी में डूबी हुई दश (पंच कर्मेन्द्रिय और पंच ज्ञानेन्द्रिय) बत्तियों को त्याग-रूपी आग से जला कर सतोगुण-रूपी प्रकाश कर। इस प्रकार भक्ति, वैराग्य और विज्ञानरूपी दीपावली की आरती जगन्निवास प्रभु के आगे अर्पण कर ॥४॥ आरती कर चुकने पर निर्मल हृदयरूपी भवन में शान्ति-रूपी पलंग बिछा कर इसपर महाराज रामचंद्रजी को शयनकरा कर विश्राम करा। इस शयनागार में क्षमा, करुणा प्रभृति दासियों को सेवा करने के लिये नियत कर। देख, जहां भगवान् विश्राम करेंगे, वहां अविद्या नहीं रहती, सारी भेदबुद्धि जाती रहती है ॥५॥ सनक-सनंदन-सनातन-सनत्कुमार, शुकदेव, शेष, शिव, नारद और समस्त तत्त्ववेत्ता पारदर्शी मुनि इस उपर्युक्त आरती में सदा संलग्न रहते हैं। निर्मल बुद्धिवाले परम ज्ञानियों का सेवक तुलसी कहता है कि जो कोई भी इस आरती को करता है, वह काम आदि पापों से मुक्त हो जाता है ॥६॥

टिप्पणी—(१) आरती के छः अंग होते हैं–(१) धूप (२) दीप (३) नैवेद्य (४) ताम्बूल (५) आरती और (६) शयन।

(२) 'धूप'—साधारणतः देवदारु, गूगुल, कपूर, अगर, घृत, शर्करा आदि से धूप तयार की जाती है। यहां क्षमा, दया, मुदिता, करुणा, शान्ति, तितिक्षा, भक्ति आदि सुगंधित द्रव्यों से धूप प्रस्तुत की गई है।

(३) चित्तवृत्ति—चित्त की सहस्त्रों वृत्तियां हैं। यही जीव को जन्म-मरण के चक्र में डालती हैं। चित्त-वृतियों के निरोध को ही योगियों ने 'योग' का मुख्य लक्षण माना है। योग-सूत्रों का प्रथम सूत्र इसका प्रमाण है—

'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।'

(४) 'असुभ······प्रकासं'—त्याग प्राप्त हो जाने पर दशो इन्द्रियां अपने अपने विषय को छोड़ कर सतोगुणी वृत्ति धारण कर लेती हैं। त्याग से वे 'अन्त-मुखी' हो जाती हैं।

(५) 'यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया'—कामिनी, कांचन और परमेश्वर एक साथ नहीं रह सकते। रहीम कहते हैं—

'जिन नैननि प्रीतम बसे, तहँ किमि और समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरि जाय॥' अथवा—
'रहैं क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैननि में हरि-रस छायो, तहँ भावै किमि कोय॥ इत्यादि'
(भारतेन्दु)

(६) इस आरती के करने से अविद्या का नाश हो जाता है, संशय दूर हो जाता है, और कर्मों का अन्त हो जाता है। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे॥'

(७) इस पद में रूपक अलंकार है।

(४८)

हरति सब आरती आरती राम की।
दहन दुख दोष, निर्मूलिनी काम की॥ १॥
सुभग सौरभ धूप दीपवर मालिका।
उड़त अघ-विहँग सुनि ताल करतालिका॥ २॥
भक्त-हृदि-भवन, अग्यान-तम-हारिनी।
बिमल बिग्यानमय तेज-बिस्तारिनी॥ ३॥
मोह-मद-कोह-कलि-कंज-हिमजामिनी।
मुक्ति की दूतिका देह-दुति-दामिनी॥ ४॥
प्रनत-जन-कुमुद-वन-इन्दु-कर-जालिका।
तुलसी अभिमान-महिषेस बहु कालिका॥ ५॥

शब्दार्थ—आरती=(१) दुःख (२) नीराजन। मालिका=माला, पंक्ति। जामिनी=रात्रि। प्रनत=शरण में आये हुए। इन्दुकर=चन्द्रमा की किरणें। महिषेस=महिष नाम का एक दैत्य, जिसे काली ने मारा था।

भावार्थ—श्रीरामचन्द्रजी की आरती सब क्लेश को हर लेती है। दुःख और पापों को जला देती हैं तथा काम अर्थात् इच्छाओं को जड़ से उखाड़ कर फेंक देती हैं ॥ १ ॥ वह सुन्दर सुगन्धयुक्त धूप और श्रेष्ठ दीपकों की माला है। इस आरती के अवसर पर हाथों से जो ताली बजाई जाती है, उससे पाप-रूपी पक्षी उड़ कर भाग जाते हैं ॥२॥ वह भक्तों के हृदय-रूपी भवन में बसने वाले अविद्या-रूपी अन्धकार को हरनेवाली और निर्मल ज्ञान-रूपी प्रकाशको फैलाने वाली है ।'३॥ वह अज्ञान, अहंकार, क्रोध और कलियुग-रूपी कमलों के नाश करने के लिये जाड़े की रात है, मुक्ति-नायिका से मिला देने के लिये दूती है, और उसके शरीर की दीप्ति बिजली के सदृश है ॥४॥ वह शरणागत भक्त-रूपी कुमोदिनी-वन को प्रफुल्लित करने के लिये चन्द्रमा की किरणों की माला है, और तुलसी के अभिमान-रूपी महिपासुर के लिये अनंत कालिकाओं का रूप है ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'आरती आरती'—यहां यमकालंकार है। जहां एक ही शब्द कई बार आवे, पर उसका अर्थ भिन्न भिन्न हो, वहां यमकालंकार होता है। यहां पहली आरती से पीड़ा और दूसरी से नीराजन का बोध होता है।

(२) 'अघ विहँग'—जीव-रूपी किसान जो शुभ कर्म-रूपी खेती करता है, उसे पाप-रूपी पक्षी चुन जाते हैं। इस प्रेमपरा आरती के प्रभाव से पक्षी निकट नहीं आ सकते, उड़ कर भाग जाते हैं।

(३) 'मुक्ति की दूतिका'—कर्मकांडियों और ज्ञानियों को मुक्ति-रूपी नायिका एक प्रकार से दुर्लभ ही है। किन्तु यह प्रमपरा आरती दूती बन कर मुक्ति-रूपी नायिका को सहज ही उन्हें मिला देती है।

(४) 'महिषेस'—महिषासुर शिवजी के अंश से उत्पन्न हुआ था। यह बड़ा ही प्रबल और प्रचण्ड दैत्य था। जब इसे कोई देवता न जीत सका, तब काली ने इसका संहार कर संसार में शान्ति स्थापित की। इसकी सविस्तर कथा देवीभागवत में है।

हरिशंकरी पद

(४६)

दनुज-वन-दहन गुन-गहन गोविन्द नंदादि-आनंद-दाताऽविनासी।
संभु सिव रुद्र संकर, भयंकर भीम घोर तेजायतन क्रोध-रासी ॥१॥

अनंत भगवन्त जगदंत-अन्तक-त्रास-समन श्रीरमन भुवनाभिरामं ।
भूधराधीस जगदीस ईसान विग्यानघन ग्यान-कल्यान-धामं ।।२।।
वामनाव्यक्त पावन परावर विभो, प्रगट परमात्मा प्रकृति-स्वामी ।
चन्द्रसेखर सूलपानि हर अनघ अज अमित अविछिन्न वृषभेस गामी ।।३।।
नील जलदाभतनु स्याम बहु काम छवि, राम राजीवलोचन कृपाला ।
कंबु-कर्पूर-वपुधवल निर्मल मौलि, जटा सुर-तटिनि, सित सुमन माला ।।४।।
वसन किंजल्कधर चक्र-सारंग-दर-कंज-कौमोदकी अति विसाला ।
मार-करिमत्त-मृगराज त्रैनैन हर, नौमि अपहरन-संसार-जाला ।।५।।
कृष्ण करुनाभवन दवन कालीय खल, बिपुल कंसादि निर्वंन्सकारी ।
त्रिपुर-मद-भंगकर मत्तगज-चर्मधर, अन्धकोरग-ग्रसन पन्नगारी ।।६।।
ब्रह्म व्यापक अकल सकलपर परमहित, ग्यान गोतीत गुन वृत्ति-हर्त्ता ।
सिंधुसुत गर्व-गिरि-वज्र, गौरीस भव दच्छ-मख अखिल-विध्वंसकर्त्ता ।।७।।
भक्तिप्रिय भक्तजन कामधुक-धेनु हरि हरन दुर्घट बिकट बिपति भारी ।
सुखद नर्मद वरद, विरज अनवद्यऽखिल*, बिपिन-आनंद-बीथिन-बिहारी ।।८।।
रुचिर हरिसंकरी नाम मंत्रावली, द्वन्द्वदुख हरनि आनंदखानी ।
विष्णु-सिव-लोक-सोपान सम सर्वदा वदति तुलसीदास विसद बानी ।।९।।

पदच्छेद—नंद+आदि । दाता+अविनाशी । तेज+आयतन । जगत+अंत । भुवन+अभिरामं । भुधर+अधीस । जगत्+इस । वामन+अव्यक्त । पर+अवर । अन्+अघ । जलद+आभ । कंस+आदि । अंधक+उरग । पन्नग+अरी (अरि) । गौरी+ईस । अनवद्य+अखिल । मंत्र+अवली ।

शब्दार्थ—तेजायतन तेज के स्थान, परम तेजस्वी । जगदन्त=संसार के नाशकर्त्ता । अन्तक=काल । अव्यक्त=अप्रकट । प्रकृति=माया । अनघ=पुण्यमय । अविछिन्न=पूर्ण, अखंड । राजीव=कमल । किंजल्क=कमल-केसर । सारंग=धनुष । दर=शंख । कौमोदकी=गदा । मार=कामदेव । नौमि=नमस्कार करता हूं । दवन=दमन करनेवाले । उरग=सांप । पन्नगारि=गरुड़ । सिंधु सुत=जलंधर । नर्म=आनंद । विरज=विरक्त । आनन्द-विपिन=काशी । वदति=प्रार्थना करता है ।

*पाठान्तर 'अनवद्याखिला'

प्रसंग—इस पद के एक पक्ष में विष्णु का और दूसरे पक्ष में शिव का स्तवन किया गया है। इससे गुसाईं तुलसीदासजी का 'हरि-हरैक्य' भाव पूर्णतः प्रकट होता है।

भावार्थ—

विष्णु-पक्ष—दैत्य-रूपी वन जलानेवाले, गुणों के वन अर्थात् सर्वगुण विशिष्ट, इन्द्रियों के नियन्ता, नंद उपनन्द आदि व्रजगोपों को आनन्द देने वाले और जिनका कभी नाश न हो, ऐसे विष्णु भगवान् हैं।

शिव-पक्ष—भगवान् शंभु, शिव, रुद्र और शंकर आदि नामों से प्रख्यात हैं। वह बड़े ही भयंकर, महान् तेजस्वी और क्रोध के पुञ्ज हैं ॥ १ ॥

विष्णु-पक्ष—समस्त ब्रह्माण्डों को आनंद देनेवाले, लक्ष्मीकान्त विष्णु-भगवान् का अन्त नहीं है। वह संसार के नाश करनेवाले काल के भय को दूर करनेवाले हैं।

शिव-पक्ष—जगन्नाथ ईशान भगवान् कैलाश पर्वत के स्वामी, ज्ञान-विज्ञान के स्थान तथा कल्याण के धाम हैं ॥ २ ॥

विष्णु-पक्ष—वामन-अवतार लेनेवाले, अप्रकट, पवित्र, जड़-चैतन्य अथवा लोक-परलोक के स्वामी, प्रत्यक्ष परमात्मास्वरूप और माया-पति विष्णु भगवान् हैं।

शिवपक्ष—भगवान् चन्द्रशेखर, हाथ में त्रिशूल धारण करनेवाले, त्रिलोक, के संहारकर्ता, पुण्यश्लोक, अजन्मा, अनन्त, अखण्ड और संसार के कल्याणार्थ नन्दी नाम के बैल पर चढ़नेवाले हैं ॥ ३ ॥

विष्णुपक्ष—श्रीरामजी के श्याम शरीरकी कान्ति नीले मेघके समान है, शोभा अनेक कामदेव जैसी है, नेत्र कमल के सदृश हैं, और वह कृपा के स्थान ही हैं।

शिवपक्ष—शिवजी का धवल शरीर शंख और कपूर के समान निर्मल है। मस्तक पर जटा-जूट बँधा है। गंगाजी शोभित हो रही हैं, और सफेद फूलों की माला धारण किये हैं ॥ ४ ॥

विष्णुपक्ष—कमल-केसर के समान पीताम्बर धारण किये, तथा शङ्ख, चक्र, धनुष, पद्म और बड़ी भारी गदा लिये विष्णु भगवान् हैं।

शिवपक्ष—कामदेव-रूपी हाथीके मारने के लिये सिंहरूप, तीन नेत्र

वाले, जगज्जंजाल (जन्म-मरण) के नाशकर्त्ता शिवजी को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

विष्णुपक्ष—नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण करुणा के स्थान, कालियनाग के दमनकर्ता और कंस-सरीखे अनेक दुष्टों को निर्वंश कर देनेवाले हैं।

शिवपक्ष—त्रिपुर दैत्य का गर्व खर्व करनेवाले, मतवाले हाथी का चमड़ा पहिननेवाले, और अन्धक दैत्य-रूपी सर्प को भक्षण करने के लिये गरुड़-रूप भगवान् शङ्कर हैं ॥ ६ ॥

विष्णुपक्ष—विष्णु भगवान् ब्रह्म, सर्व-व्यापी, कला-रहित, सबसे परे, परमहितू, ज्ञान (परिमित) और इन्द्रियों से परे अर्थात् भिन्न और मायात्मक गुणों (सत्त्व, रज और तम) की वृत्तियों से छुड़ानेवाले हैं।

शिवपक्ष—जलन्धर के गर्व-रूपी पर्वत को तोड़ने के लिये गौरी-वल्लभ भगवान् शङ्कर वज्ररूप हैं। वह दक्षप्रजापति के संपूर्ण यज्ञ के नाश करने वाले हैं ॥ ७ ॥

विष्णुपक्ष—विष्णु भगवान् को भक्ति ही प्यारी है, भक्तों के लिये तो आप कामधेनु ही हैं अर्थात् उनके सारे मनोरथ पूरे कर देते हैं, और उनकी बड़ी बड़ी कठिन और भयङ्कर विपत्ति दूर कर देते हैं।

शिवपक्ष—आनन्दवन काशी की वीथियों (मार्गों) में विहार करनेवाले शिवजी सुख, आनन्द और वर देनेवाले, विरक्त और विकार-रहित हैं ॥८॥

माहात्म्य—विष्णु और शिव के नाम-मन्त्रों की यह सुन्दर पंक्ति राग-द्वेषादि दुःखों की हरनेवाली, आनन्द की राशि और सदा विष्णुलोक तथा शिव-लोक जाने के लिये सीढ़ी के समान है। यह बात तुलसीदास शुद्ध वाणी से कहता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'वामन'—दानवीर राजा वलिसे तीन पैर पृथ्वी के वदले त्रिलोक लेने के लिये विष्णु भगवान् ने वामन अवतार धारण किया था। पृथ्वी का साम्राज्य देवताओं को दिया गया, क्योंकि वे वेचारे वलिके आगे तेजहीन हो गये थे और इधर वलि को वामन भगवान् ने निर्द्वन्द्व करके अपना परम भक्त वना लिया। उसका दानाभिमान भी चूर चूर होगया। एक कार्य के करने में कई कार्य सध गये।

(२) 'पर अवर'—इसके कई अर्थ हो सकते हैं, जैसे 'परमार्थ और स्वार्थ' 'परलोक और लोक' 'चैतन्य और जड़' 'अव्यक्त और व्यक्त' आदि।

(३) 'प्रकृति स्वामी'—यहाँ गीता का यह श्लोक स्मरण आ जाता है—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥" और भी—
पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होय ?

(४) 'सुरतटिनी......माला'—इसके दो अर्थ हो सकते हैं, एक तो यह कि, मस्तक पर गंगाजी और हृदय पर सफेद फूलों की माला है, और दूसरा यह कि गंगाजी सफेद फूलों की माला के समान शोभित हो रही हैं ।

(५) 'कालिय'—यमुना में कालिय नाम का एक बड़ाही भयंकर सर्प रहता था । श्रीकृष्ण ने उसे नाथ कर अपने वश में कर लिया और वह यमुना छोड़कर समुद्र में चला गया । यह कथा श्रीमद्भागवत में है ।

(६) अंधक—यह बड़ाही उपद्रवी और बलवान् दैत्य था । इसे शिवजी ने मारा था ।

(७) 'सिंधु-सुत'—सिंधुसुतसे तात्पर्य जलन्धर से है । यह बड़ाही प्रतापी राजा था । इसने सारे देवताओं को अपने वश में कर लिया था । शिवजी इसे मारने को उद्यत हुए, पर जीत न सके, क्योंकि इसकी स्त्री वृन्दा बड़ी पतिव्रता थी । बल-पूर्वक विष्णु ने इसका सतीत्व नष्ट कर दिया और तब शिवजी जलंधर को मार सके । वृन्दा ने इस छल के लिये विष्णुको यह शाप दिया कि कालांतर में मेरा पति रावण का अवतार लेकर तुम्हारी स्त्री का हरण करेगा ।

(८) 'दच्छ मख'—शिवजी की प्रथम स्त्री सती दक्षप्रजापति की कन्या थीं । एकबार दक्ष ने एक यज्ञ किया । कुछ वैमनस्य हो जाने के कारण उसने अपने जामातृ शिवको निमंत्रण न दिया । पितृस्नेह-वश विना बुलाये ही, सती यज्ञ देखने को चली गयीं । वहां सब देवताओं के बीच में शिव का बलिभाग न देख कर उन्हें बड़ा क्रोध आया और वह पिता को दुर्वचन कहती हुई योगाग्नि में जल कर भस्म हो गईं । यह समाचार सुनकर शिवजी ने वीरभद्र को भेजा और उन्होंने दक्ष का सम्पूर्ण यज्ञ विध्वंस कर दिया । पीछे शिवजी ने प्रसन्न होकर यज्ञ का पुनरुद्धार किया । यह कथा शिवपुराणादि में विस्तारपूर्वक है ।

(९) 'मंत्रावली'—शिव अथवा विष्णु के प्रत्येक नाम के आदि में प्रणव जोड़

देने और उस नाम में चतुर्थी विभक्ति लगा देने से मंत्र बन जाता है, जैसे "ॐ हरये नमः" "ॐ शिवाय नमः" आदि ।

(५१)

भानुकुल कमल रवि, कोटि कंदर्प-छवि, कालकलि-व्यालमिव वैनतेयं ।
प्रबल भुजदंड परचंड को दं-धर, तूनवर विसिख बलमप्रमेयं ॥ १ ॥
अरुन राजीवदल-नैन सुखमा-ऐन, स्याम तन कान्ति वर वारिदाभं ।
तप्त कांचन-वस्त्र-सस्त्र विद्या निपुन, सिद्ध सुर-सेव्य पाथोजनाभं ॥ २ ॥
अखिल-लावन्य गृह विस्व-विग्रह परम प्रौढ़ गुनगूढ़ महिमा उदारं ।
दुर्द्धर्ष दुस्तर दुर्ग स्वर्ग-अपवर्ग-पति भग्न संसार पादप-कुठारं ॥ ३ ॥
सापबस मुनिबधू-मुक्तकृत विप्रहित, जग्य-रच्छन-दच्छ पच्छकर्ता ।
जनक नृप-सदसि सिवचाप-भंजन, उग्र भार्गवागर्व गरिमापहर्ता ॥४॥
गुरु-गिरा-गौरव अमर-सुदुस्त्यज, राज्य त्यक्त सहित सौमित्रि-भ्राता
संग जनकात्मजा मनुजमनुसृत्य अज, दुष्ट-बध-निरत त्रैलोक्यत्राता ॥५॥
दंडकारन्य—कृतपुन्य पावन चरन, हरन मारीच-मायाकुरंगं ।
बालि बलमत्त गजराजइव केसरी, सुहृद सुग्रीव-दुख-रासिभंगं ॥ ६ ॥
रिच्छ मरकट विकट सुभट उद्भट समर, सैल-संकास-रिपु-त्रासकारी ।
बद्ध पाथोधि सुर-निकर-मोचन सकुल दलन दससीस-भुजबीस भारी ॥७॥
दुष्ट-बिबुधारि-संघात-अपहरन महि-भार, अवतार कारन अनूपं ।
अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूप-रूपं ॥ ८ ॥
सेष-स्रुति-सारदा-संभु-नारद-सनक गनत गुन अंत नहिं तव चरित्रं ।
सोई राम कामारि-प्रिय अवधपति सर्वदा दासतुलसी-त्रास-निधि वहित्रं ॥९॥

पदच्छेद—व्यालम् + इव । बलम् + अप्रमेयं । वारिद + आभं । गरिमा + अपहर्ता । जनक + आत्मजा । मनुजम् + अनुसृत्य । दण्डक + अरन्य । बिबुध + अरि । काम + अरि ।

शब्दार्थ—कंदर्प = कामदेव । वैनतेय = गरुड़ । तून = तरकस । विसिख = बाण । अप्रमेय = अनुपम । वारिदाभं = मेघ के समान । पाथोज = कमल । —विग्रह = मूर्ति । अपवर्ग = मोक्ष । भार्गव = परशुराम । अनुसृत्य = अनुसरण

करके। संकास=समान। सुमिरामि=स्मरामि, स्मरण करता हूँ। वहित्रं नाव, बाहर।

भावार्थ—सूर्यवंश-रूपी कमल को प्रफुल्लित करने के लिये जा सूर्यरूप हैं, जिनका सौन्दर्य करोड़ों कामदेवों के समान है, जो कलिकाल-रूपी सांप के ग्रसने के लिये साक्षात् गरुड़ हैं, जो अपने प्रबल भुजदंडों में प्रचंड धनुष और बाण धारण किये हैं, तरकस बाँधे हैं और जिनका बल अनुपम हैं॥ १ ॥ लाल कमल जैसे जिनके नेत्र हैं. सौन्दर्य के जो स्थानही हैं, जिनके श्यामल शरीर की कांति मेघ के समान है, तपे हुए लाल सुवर्ण के सदृश जो पीताम्बर पहिने हैं, शस्त्र-विद्या में कुशल और सिद्धों और देवताओं से जो सदा पूज्य हैं तथा जिनकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ है॥ २॥ जो समग्र सौन्दर्य के धाम, संसार ही जिनकी मूर्ति हैं, अर्थात् जो विराट स्वरूप हैं, बड़े ही चतुर, गुप्त गुणवाले और बड़ेही महत्त्वशाली हैं, जिन्हें कोई भी नहीं जीत सकता, जिनकी महिमा का पार कोई भी नहीं पा सकता, जो बड़ेही दुर्गम हैं, स्वर्ग और मोक्ष के स्वामी और संसार (जन्म-मरण, अविद्या) रूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़ने के लिये कुठाररूप हैं॥ ३॥ जिन्होंने गौतम मुनि की स्त्री अहल्या को शाप से छुड़ा दिया, जो ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की यज्ञरक्षा में बड़े कुशल और अपने भक्तों का पक्ष लेनेवाले हैं, जिन्होंने महाराज जनक की सभा में शिवजी का धनुष तोड़ डाला और महान् तेजस्वी परशुराम के गर्व और महत्व का नाश कर दिया॥ ४॥ देवता भी जिसे बड़ी कठिनता से भी नहीं छोड़ सकते ऐसे राज्य को जिन्होंने केवल पिता के बचनों का महत्त्व रखने के लिये तृणवत् छोड़ दिया, लक्ष्मण और जानकी को साथ लेकर, अजन्मा, पूर्ण परब्रह्म होकर भी, मनुष्यों के समान लीला करते हुए, जो संसार की रक्षा के लिये दुष्ट रावण आदि राक्षसों के संहार में संलग्न हो गये।।५।। जिन्होंने अपने चरणारविन्दों से दण्डकवन को पवित्र कर दिया, और मृगरूपी मारीच की सारी माया हर ली, जो महान् बलवान बालिरूपी मतवाले हाथी के लिये सिंहरूप हैं, और मित्र सुग्रीव के समस्त दुःखोंके नाशकर्त्ता हैं॥ ६॥ भयंकर और बड़े भारी शूरवीर रीछ और बंदरों को साथ लेकर जिन्होंने पर्वताकार शत्रुओं को संग्राम में भयभीत कर दिया, समुद्र को बांध लिया, देवताओं के समूह को (रावणके कारागार से) मुक्त किया और दससिर तथा भारी भारी बीस

भुजाओंवाले रावण को वंशसहित नष्ट कर दिया ॥ ७ ॥ दुष्ट और देवताओं के शत्रुओं के समूह जो पृथ्वी पर भार के समान थे, उनके मारने के लिये अनुपम कारण-विशिष्ट अवतार लेनेवाले, निर्मल निर्दोष, अद्वय, मायात्मक गुणों से रहित, दिव्यगुण-संयुक्त, परब्रह्म और नराकार राजराजेश्वर का मैं स्मरण करता हूं ॥ ८ ॥ शेष, वेद, सरस्वती, शिव, नारद, सनकादिक जिनके गुण गाते हैं, किन्तु जिनके चरित्र का पार नहीं पा सकते, वही शिवजी के प्यारे अयोध्याधीश श्रीरामचंद्रजी इस तुलसीदास को त्रासरूपी समुद्र से तार देनेके लिये सदा सर्वदा नौकारूप हैं ॥ ९ ॥

टिप्पणी-(१) 'साप बस मुनि बधू'-४३ पद की दूसरी टिप्पणी देखिए।

(२) 'भार्गव'-भृगुवंशी होनेके कारण परशुरामको भार्गव संज्ञा दी गई है।

(३) 'दंडकारण्य कृत पुन्य'—दंडकवन शापित था। इसमें कोई भूल कर भी नहीं जाता था। पतित-पावन प्रभु रामचंद्रजीने इसे परम पवित्र कर दिया।

(५१)

जानकीनाथ रघुनाथ रागादि-तम-तरनि तारुन्यतनु तेजधामं।
सच्चिदानंद आनंदकंदाकरं विस्व-विश्राम रामाभिरामं ॥१॥
नीलनव-वारिधर सुभग सुभकांतिकर पीत कौसेय वर वसनधारी।
रत्न-हाटक-जटित मुकुट मंडित मौलि भानु-सत-सहस उद्योतकारी ॥२॥
स्रवन कुंडल,भाल तिलक, भ्रू रुचिर अति,अरुन अंभोज लोचन बिसालं।
वक्र ×अवलोक त्रैलोक्य-सोकापहं मार-रिपु-हृदय-मानस-मरालं ॥३॥
नासिका चारु, सुकपोल, द्विज बज्रदुति, अधर बिंबोपमा, मधुरहासं।
कंठ दर, चिबुक वर, वचन गंभीरतर, सत्य संकल्प, सुरत्रास नासं ॥४॥
सुमन सुविचित्र नवतुलसिकादल-युतं मृदुल बनमाल उर भ्राजमानं।
भ्रमत आमोदवस मत्तमधुकर-निकर, मधुरतर मुखर कुर्वन्ति गानं ॥५॥
सुभग श्रीवत्स केयूर कंकनहार किंकिनी-रटनि कटितट रसालं।
वाम दिसि जनकजासीन-सिंहासनं कनक-मृदुवल्लिवत + तरु तमालं॥६॥
आजानुभुजदंड कोदंड-मंडित बाम बाहु, दच्छिन पानि बानमेकं।
अखिल मुनि निकर सुर सिद्ध गंधर्व वर नमत नर नाग अवनिप अनेकं॥७॥

× पाठान्तर "वक्र"। + पाठान्तर "वल्लिमिव"

अनघ † अविछिन्न सर्वग्य सर्वेस खलु सर्वतोभद्र दाताऽस्माकं।
प्रनतजन खेद-विच्छेद-विद्या-निपुन नौमि श्रीराम सौमित्रिसाकं ॥८॥
जुगल पदपद्म सुखसद्म पद्मालयं चिन्ह कुलिसादि सोभातिभारी।
हनुमन्त-हृदिविमलकृत परममंदिर सदा दासतुलसी सरन सोकहारी॥९॥

पदच्छेद—राग+आदि। सत्+चित+आनंद। कंद+आकरं। राम+अभिरामं। सोक+अपहं। विम्ब+उपमा। जनकजा+आसीन। अन्+अघ। सर्व+ईस। सर्वतः+भद्र। दाता+अस्माकं। पद्मा+आलय। सोभा+अति।

शब्दार्थ—कंदाकर=मेघों की खानि वा राशि। पीत कौसेय=पीताम्बर, पीला रेशमी वस्त्र। हाटक=सुवर्ण। उद्योत=प्रकाश। वक्र=टेढ़ी, तिरछी। मार-रिपु=शिवजी। द्विज=दांत। वज्र=हीरा। बिम्ब=बिम्बाफल, जो लाल रंग का होता है। दर=शंख। मुखर=शब्दायमान। कुर्वन्ति=करते हैं। केयूर=बाजूबंद। आसीन=विराजमान। बल्लि=लता। नमत=नमस्कार करते हैं। अवनिप=पृथ्वी के पालनेवाले, राजे। अविछिन्न=पूर्ण, अखंड। खलु=निश्चय पूर्वक। अस्माकं=हमारे। साकं=समेत। पद्मा=लक्ष्मी।

भावार्थ—श्रीजानकी-वल्लभ रघुनाथजी रागद्वेषादिरूपी अंधकार के नाश करने के लिये सूर्यरूप, तरुण शरीरवाले, तेजके स्थान, सच्चिदानंद, आनंद के मेघों की खानि, संसार को शान्ति प्रदान करनेवाले और परम सुंदर हैं ॥ १ ॥ नीले नवीन मेघ के समान उनके शरीर की कान्ति है, सुंदर रेशमी पीताम्बर धारण किये हैं, और मस्तक पर रत्नों से जड़ा हुआ सुंदर मुकुट शोभायमान हो रहा है। वह सैकड़ों सूर्यके समान प्रकाश करनेवाले हैं ॥ २ ॥ कानों में कुंडल पहिने, माथे पर केसरका तिलक लगाये, सुंदर भौंह तथा लाल कमल के समान बड़े बड़े नेत्रवाले, तिरछी चितवन से देखते हुए तीनों लोकों का दुःख दूर करनेवाले एवं शिवजीके हृदयरूपी मानसरोवर में विहार करनेवाले हंस-रूप हैं ॥ ३ ॥ उनकी नाक बड़ी ही सुन्दर है, कपोल मनोहर है, दांत हीरे की तरह चमकते हैं, होठ लाल लाल बिम्बाफल के समान हैं, मुसक्यान मधुर है, कंठ शंख के समान है, ठोढ़ी परम सुंदर और वाणी बड़ी ही गंभीर है। वह सत्यसंध और देवताओं के भयको दूर करने

† पाठान्तर "अनवद्य"

वाले हैं ॥ ४ ॥ उनके हृदय पर रंग-विरंगे फूलों और तुलसीके नवीन पत्रों की कोमल वनमाला सुशोभित हो रही है। उस माला की सुगंध में मतवाले भौंरों का समूह, मधुर गुंजार करता हुआ, उड़ रहा है ॥ ५ ॥ उनके हृदय पर श्रीवत्स का चिह्न है, बाहुओं पर बाजूबन्द, हाथों में कंकण और हृदय पर हार शोभायमान हो रहा है। कटि-भाग में करधनी का निराला ही मधुर शब्द हो रहा है। वाम भाग की ओर श्रीजानकीजी सिंहासन पर विराजी हैं। ऐसा जान पड़ता है, मानो तमालवृक्ष के समीप सुवर्णलता शोभित हो रही हो ॥ ६ ॥ उनकी भुजाएं घुटनों तक लम्बी हैं। बाएँ हाथमें धनुष और दाहिने हाथ में एक बाण लिये हैं; संपूर्ण मुनि-मंडल, देव, सिद्ध, श्रेष्ठ गंधर्व, मनुष्य, नाग और अनेक राजे महाराजे उनको प्रणाम करते हैं ॥ ७ ॥ वह पुण्यश्लोक, अखंड, सर्वज्ञ, सबके स्वामी और निश्चयपूर्वक हम, सेवकों, को कल्याण प्रदान करनेवाले हैं। ऐसे भक्तोंके कष्ट के नाश करने की कला में कुशल लक्ष्मण-सहित श्रीरामचंद्रजीको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ८ ॥ जिनके दोनों चरण-कमल आनंद के धाम और कमलाके निवास-स्थान हैं, अर्थात् जिन चरणों की सदा ही लक्ष्मी सेवा किया करती हैं, वज्र आदि ४८ चिन्होंसे जो बड़ी शोभा को प्राप्त हो रहे हैं, और जिन्होंने भक्तवर हनुमानजी के निर्मल हृदय को अपना उत्तम मंदिर बना रखा है, अर्थात् जो सदा हनुमानजीके हृदय में बसते हैं, ऐसे शोक–हर्त्ता श्रीरामचन्द्रजी की चरणों की शरण में यह तुलसीदास है ॥९॥

टिप्पणी—(१) 'वनमाल'—कुंद, मदार, कमल, मालती और तुलसी की, पैरों तक लटकती हुई, मालाको वनमाला कहते हैं।

(२) 'कुलिसादि'—विष्णु भगवान् के दक्षिण चरण में २४ और वाम चरण में २४ चिह्न हैं। महारामायण में प्रत्येक चिह्न के ध्यान का भिन्न भिन्न फल लिखा है। कविवर लाला भगवानदीनजी ने "श्री रामचरणाङ्क माला" में इन सब चिह्नों का बड़ा ही विशद वर्णन किया है।

(५२)

*कौसलाधीस जगदीस जगदेकहित, अमित गुन बिपुल बिस्तार लीला।
गायन्ति तव चरित सुपवित्र स्रुति सेष सुक, संभु सनकादि मुनि मननसीला ।१।

---

* यह दशावतारी-पद 'गीतगोविन्द' काव्य की निम्नलिखित अष्टपदी की छाया पर रचा गया जान पड़ता है— [देखो पृ० १६२]

वारिचर-वपुष धरि भक्त-निस्तारपर, धरनिकृत नाव महिमातिगुर्वी ।
सकल जग्यांसमय उग्र विग्रह क्रोड़, मर्दि दनुजेस उद्धरन उर्वी ॥२॥
कमठ अति विकट तनु कठिन पृष्ठोपरी, भ्रमत मंदर कंडु-सुख मुरारी ।
प्रगटकृत अमृत, गो, इन्दिरा, इन्दु, बृंदारकावृन्द-आनन्दकारी ॥३॥
मनुज-मुनि सिद्ध-सुर नाग-त्रासक दुष्ट, दनुज द्विजधर्म-मरजाद-हर्त्ता ।
अतुल मृगराज-वपु धरित, विद्दरित अरि, भक्त प्रहलाद-अहलाद-कर्त्ता ।४॥
छलन बलि कपट बटुरूप बामन ब्रह्म, भुवन पर्जंत पद तीन करनं ।
चरन-नख-नीर त्रैलोक-पावन परम, विबुध-जननी-दुसह सोक हरनं ॥५॥
छत्रियाधीस करि-निकर-नर-केसरी, परसुधर विप्र-ससि-जलदरूपं ।
बीस भुजदंड दससीस खंडन चंडवेग सायक नौमि राम भूपं ॥६॥
भूमिभर-भार-हर प्रगट परमातमा ब्रह्म नररूपधर भक्तहेतू ।
वृष्णि-कुल-कुमुद-राकेस राधारमन कंस-वंसाटवी धूमकेतू ॥७॥

'प्रलय पयोधि जले धृतवानसि वेदम् । विहित वहित्र चरित्रमखेदम् ॥
केशव धृत मीन शरीर, जय जगदीश हरे ॥१॥
क्षिति रति विपुलतरे तव तिष्ठति पृष्ठे । धरणिधरण किणचक्र गरिष्ठे ॥
केशव धृत कच्छप रूप, जय जगदीश हरे ॥२॥
बसति दशन-शिखरे धरणी तव लग्ना । शशिनि कलंक कलेव निमग्ना ॥
केशव धृत शूकर रूप, जय जगदीश हरे ॥३॥
तव कर कमलवरे नखमद्भुत शृंगम् । दलित हिरण्यकशिपु-तनु भृंगम् ॥
केशव धृत नरहरि रूप, जय जगदीश हरे ॥४॥
छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुत वामन । पदनख नीर जनित जन पावन ॥
केशव धृत वामनरूप, जय जगदीश हरे ॥५॥
क्षत्रिय रुधिरमये जगदपगतपापम् । स्नपयसि पयसि शमित भवतापम् ॥
केशव धृत भृगुपतिरूप, जय जगदीश हरे ॥६॥
वितरसि दिक्षु रणे दिग्पति कमनीयम् । दशमुख मौलि बलिं रमणीयम् ॥
केशव धृत रघुपतिरूप, जय जगदीश हरे ॥७॥

प्रबल पाखंड महि-मंडलाकुल देखि निंद्यकृत अखिल मख-कर्म-जालं।
सुद्ध बोधैक घनग्यान गुनधाम अज बौध-अवतार वंदे कृपालं ॥८॥
कालकलिजनित मलमलिन मन सर्वनर मोह-निसि-निबिड़जमनांधकारं।
विष्णुजस पुत्र कलकी दिवाकर उदित दासतुलसी हरनबिपतिभारं ॥९॥

पदच्छेद—कोमल+अधीस। जगत्+ईस। जगत्+एक। महिमा+अति। जग्य (यज्ञ)+अंस। दनुज+ईस। पुष्ट+उपरि। मुर+अरि। छत्रिय+ अधीस। राका+ईस। वंस+अटवी। मंडल+अकुल। बोध+एक। जमन (यवन)+ अंधकारं।

शब्दार्थ—गायंति=गाते हैं। वारिचर=मत्स्य। वपुषधर=शरीर धारण करनेवाले। निस्तारपर=उद्धार करनेवाले। गुर्वी=बड़ी। क्रोड़=पेट। उर्वी= पृथ्वी। कंडु=खुजलाहट। इंदिरा=लक्ष्मी। वृन्दारक=देवता। मृगराज= नृसिंह। बटु=ब्रह्मचारी। पर्जंत=पर्य्यन्त, तक। बिबुधजननी=देवताओं की माता अदिति। ससि=शस्य, धान्य। नौमि=नमस्कार करता हूं। राकेस= चंद्रमा। अटवी=वन। धूमकेतू=अग्नि निबिड़—सघन, अत्यधिक। कलकी=कल्कि।

भावार्थ—हे कोसलेश, हे जगन्नायक, जगत् के एक मात्र हितकारी, आपने अपने अनेक गुणों की अपार लीला फैलाई है। आपके परम पावन चरित्र को चारो वेद, शेष, शुकदेव, शिव, सनकादिक और विचारशील ध्यानावस्थित मुनि गाते हैं ॥१॥

वहसि वपुषि विशदे वसनं जलयाभम्। हलहति भीति मिलित यमुनाभम् ॥
केशव धृत हलधर रूप, जय जगदीश हरे ॥८॥
निन्दसि यज्ञविधेरहह: श्रुतिजातम्। सदय हृदयं दर्शित पशु घातम् ॥
केशव धृत बुद्ध शरीर, जय जगदीश हरे ॥९॥
म्लेच्छ निवह निधने कलयसि करवालम्। धूम्रकेतुमिव किमपि करालम् ॥
केशव धृत कल्कि शरीर, जय जगदीश हरे ॥१०॥
श्री जयदेव कवेरिदमुदितमुदारम्। शृणु सुखदं शुभदं भवसारम् ॥
केशव धृत दशविध रूप, जय जगदीश हरे ॥११॥

मत्स्य--आपने मत्स्यरूप धारण कर अपने भक्तों के उद्धार के अर्थ पृथ्वी की नौका बनाई, नहीं तो महाप्रलय में आपके भक्तों का चिह्न भी न मिलता। आप की महिमा अपार है।

वाराह—आप सब प्रकार के यज्ञों के अंशरूप हैं। आपने महान् भयंकर शरीरवाले हिरण्याक्ष दैत्य का मर्दन कर के शूकर रूप से पृथ्वी का उद्धार किया है, नहीं तो आज हिरण्याक्ष से हरी गई पृथ्वी का पता तक न लगता ॥ २ ॥

कूर्म—हे मुरारे! आपने अत्यन्त भयंकर कच्छप का रूप धारण कर (समुद्र मथन के अवसर पर) रसातल को जाते हुए मंदराचल को अपनी पीठ पर रख लिया। उस समय पर्वत के घूमने से आपको खुजलाहट का आनंद प्राप्त हुआ था। आपने समुद्र में से अमृत, कामधेनु, लक्ष्मी और चन्द्रमा को उत्पन्न किया। आपने यह सब करके देवताओं के समूह को आनन्द दिया ॥३॥

नृसिंह—आपने अनुपम नृसिंह का शरीर धारण कर प्रबल शत्रु हिरण्यकशिपु को विदीर्ण किया, क्योंकि वह दुष्ट दैत्य मनुष्य, मुनि, सिद्ध, देव और नागों को भयभीत किये रहता था। आपने उसका वध करके अपने भक्त प्रहलाद को आह्लादित कर दिया ॥ ४ ॥

वामन—आपने वामन ब्रह्मचारी का रूप धर कर राजा बलि को छल लिया। पहले उससे तीन पैर पृथ्वी मांगी, पर लेते समय तीनों लोकों को तीन पैरसे नाप लिया। नापते समय आपके चरणन-नख से तीनो लोकों को पवित्र करने वाला जल नि कला, जो गंगा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आपने इन्द्रका राज्य उसे लौटाकर देवताओं की माता अदिति को प्रसन्न कर दिया ॥ ५ ॥

परशुराम—आपने सहस्रबाहु आदि क्षत्रिय राजारूपी हाथियों के समूह को सिंह के समान विदीर्ण कर दिया। आपने ब्राह्मणरूपी धान्य हराभरा करने के लिये मेघ बन कर परशुराम अवतार धारण किया।

राम—दश शिर और बीस भुजदंड वाले रावण को जिन्होंने अपने प्रचंड बाणों से चूर चूर कर दिया, ऐसे श्रीराज-राजेश्वर रामचन्द्रजी को मैं प्रणाम करता हूं ॥ ६ ॥

कृष्ण—पृथ्वी के भारी भार के हरने के लिये आप, परमात्मा, परब्रह्म होकर भी भक्त-उद्धरणार्थं मनुष्य-रूप होकर प्रकट हुए। हे वृष्णि वंशरूपी

कुमोदिनी को प्रफुल्लित करनेवाले चंद्ररूप श्रीराधारमण! आप कंसादि दैत्यरूपी वन जलाने के लिये अग्निस्वरूप हैं॥ ७॥

बुद्ध—बड़े बड़े पाखंडों और दंभो से संसार को व्याकुल देखकर आपने यज्ञादि कर्मकाण्डों का अकाट्य खंडन कर उन्हें तिरस्कृत कर दिया। ऐसे निर्मल बोधस्वरूप, ज्ञानघन, सर्वगुण-संपन्न, जन्म-रहित, कृपालु बुद्ध भगवान् की मैं वन्दना करता हूं॥ ८॥

कल्कि—सारे मनुष्य इस कलिकाल-जन्य पापों से मलिन हो रहे हैं। आप, अविद्यारूपी रात्रि में म्लेच्छरूपी सघन अन्धकार के नाश करने के लिये सूर्योदय की नाईं विष्णुयश नामक ब्राह्मण के यहां पुत्ररूप से कल्कि-अवतार धारण करेंगे। हे नाथ! आप तुलसीदास के (जन्म-मरणरूपी) विपत्ति के भार को दूर करें॥ ९॥

टिप्पणी—(१) 'वारिचर......गुर्वी'—यह महाप्रलय के अवसर का मत्स्य-आख्यान न केवल आर्यों के इतिहास में वरन् बाइबिल और कुरान में भी रूपान्तर से प्रसिद्ध है।

(२) 'जग्यांसमय,—यज्ञ का अर्थ कर्म होता है। भगवान् सब कर्मों के भोक्ता और साक्षी हैं। इसीसे आपका नाम यज्ञपति है।

(३) 'कमठ......मुरारी'—विष्णु के कच्छप अवतार धारण करने के दो कारण हैं—एक तो यह कि जब दैत्यों से देवता हार गये तब विष्णु भगवान् ने यह सोचा कि समुद्र में से अमृत निकालना चाहिये, जिसे पीकर रणभूमि में राक्षसों के हाथ से देवता न मरें और दूसरा यह कि समुद्र में से लक्ष्मी भी निकल आयें, क्योंकि दुर्वासा ऋषि के शाप से लक्ष्मी समुद्र में चली गयीं थीं और बिना उनके सारा संसार दुखी था।

(४) 'छलन......वामन'—वामन भगवान् के इस छल-प्रसंग पर कविवर बिहारी ने क्याही सूक्ति कही है—

> 'छ्वै छिगुनी पहुँचो गिलत, अति दीनता दिखाइ।
> बलि-बामन को ब्यौंति सुनि, को बलि तुम्है पत्याइ॥'

(५) 'भूमिभार भारहर'—इस कथन की पुष्टि गीता इस प्रकार कर रही है—

'परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे ॥'

(६) 'प्रगट परमात्मा ब्रह्म'—श्रीकृष्ण षोड़शकला-सम्पन्न पूर्णब्रह्म हैं। यथा—

'एते चांशकला पुंसः, कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्–(श्रीमद्भागवत)

(७) 'बुद्ध-अवतार'—कुछ लोगों के मत से बौद्धमत नास्तिक मत है, किंतु ऐसा नहीं है । स्वयं बुद्ध भगवान् ने कहा है कि 'आत्मा ब्रह्म का अंश है,' 'पूर्ण ब्रह्म परमात्मस्वरूप हैं' आदि। यहां पर गुसाईंजी ने बुद्ध भगवान् का बड़ेही श्रद्धापूर्ण विशेषणों के साथ स्मरण किया है । गुसाईंजी की यह उदारता धन्य है !

(५२)

सकल सौभाग्य-प्रद सर्वतोभद्र-निधि, सर्व, सर्वेस, सर्वाभिरामं ।
शर्व-हृदि कंज-मकरंद मधुकर रुचिर रूप, भूपालमनि नौमि रामं ॥१॥
सर्वसुख-धाम, गुनग्राम, विस्रामपद, नाम सर्वासपद मति पुनीतं ।
निर्मलं, सान्त, सुविसुद्ध, बोधायतन, क्रोध-मद हरन, करुना-निकेतं ॥२॥
अजित, निरुपाधि, गोतीतमव्यक्त, विभुमेकमनवद्यमजमद्वितीयं ।
प्राकृतं प्रगट परमातमा परमहित, प्रेरकानन्त वन्दे तुरीयं ॥३॥
भूधरं सुन्दरं श्रीवरं, मदन-मद-मथनं सौन्दर्य-सीमातिरम्यं ।
दुष्प्राप्य*, दुष्प्रेक्ष्य†, दुस्तर्क्य, दुष्पार‡, संसारहर सुलभ मृदुभाव गम्यं ॥४॥
सत्यकृत, सत्यरत, सत्यव्रत, सर्वदा, पुष्ट संतुष्ट संकष्टहारी ।
धर्मवर्मनि ब्रह्मकर्म-बोधैक, विप्रपूज्य ब्रह्मन्यजनप्रिय मुरारी ॥५॥
नित्य, निर्मम, नित्यमुक्त, निर्मान, हरि, ग्यानघन, सच्चिदानंद मूलं ।
सर्वरच्छक सर्वभच्छकाध्यच्छ, कूटस्थ, गूढ़ार्चि भक्तानुकूलं ॥६॥
सिद्ध–साधक–साध्य, वाच्य–वाचक रूप, मंत्र जापक जाप्य, सृष्टि-स्रष्टा।
परम कारन, कंजनाभ, जलदाभतनु, सगुन-निर्गुन सकल दृश्य-द्रष्टा ॥७॥

*पाठान्तर 'दुःप्राप्य' । †पाठान्तर 'दुःप्रेक्ष्य' । ‡पाठान्तर 'दुःपार' ।

व्योम-व्यापक, विरज ब्रह्म वरदेस वैकुंठ, वामन बिमल ब्रह्मचारी ।
सिद्ध-वृन्दारकावृन्दवंदित सदा खंडि पाखंड-निर्मूलकारी ॥८॥
पूरनानंदसंदोह अपहरन संमोह-अग्यान गुन-सन्निपातं ।
वचन-मन-कर्म-गत सरन तुलसीदास त्रास-पाथोधि इव कुंभजातं ॥९॥

पदच्छेद——सर्व+ईस । सर्व+अभिरामं । सर्व+आस्पद+अति । बोध+आयतन । गोतीतम्+अव्यक्त । विभुम्+एकम् । अनवद्यम्+अजम्+अद्वितीयं । प्रेरक+अनंत । सीमा+अति । बोध+एक । भच्क्र+अध्यच्क्ष । गूढ+अर्चि । भक्त+अनुकूलं । जलद+आभ । वरद+ईस ।

शब्दार्थ——सर्वतोभद्र=सब प्रकार से कल्याणरूप । शर्व=शिवजी । नौमि=नमस्कार करता हूं । ग्राम=समूह । सर्वास्पद=सबके पात्र । बोधायतन=ज्ञान के स्थान । अनवद्य=निर्दोष । तुरीय=निर्गुण ब्रह्म । दुःप्रेक्ष्य=जो कठिनाई-से देखा जाय । वर्म=कवच । निर्मम=मोह-ममता-रहित । कूटस्थ=विकार-रहित । साध्य=लक्ष्य । वाच्य=जिसका वर्णन किया जाय । जाप्य=जिसका जप किया जाय । वृन्दारक=देवता । सन्दोह=समूह । पाथोधि=समुद्र । कुंभ-जात=अगस्त्य ऋषि ।

भावार्थ——सब प्रकार के सौभाग्य के देनेवाले, सब प्रकार से कल्याण के भाण्डार, विराट रूप, अखिलेश्वर, सबको आनन्द देनेवाले, शिवजी के हृदय-कमल के पराग को पान करने के लिये भ्रमर-रूप, लावण्यमय रूपवान्, तथा राजाओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ हे भगवन्, आप सब प्रकार के सुखों के स्थान, गुणों के पुंज, शान्ति के देनेवाले, बड़े ही पवित्र और सर्वस्व-दायक नामवाले, शुद्ध, शान्त, अत्यन्त विमल, परम ज्ञानके स्थान, क्रोध और अहंकार के विनाश-कर्त्ता तथा करुणा के धाम हैं ॥ २ ॥ आप को कोई जीत नहीं सकता । आप उपाधि-रहित, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से परे, अप्रकट, समर्थ, केवल, दूषण-रहित, अजन्मा और अद्वितीय हैं । ब्रह्म होने पर भी कामों के लिये प्राकृत (नर-शरीर) रूप धारण करनेवाले, परम हित-कारी, प्रेरणा करनेवाले, अनन्त और निर्गुणरूप श्रीरामचन्द्रजी की मैं वन्दना करता हूं ॥३॥ आप पृथ्वी को धारण करने वाले, सुन्दर, लक्ष्मी-कान्त, कामदेव के सौन्दर्य-जन्य अहंकार को खर्व करनेवाले, लावण्य की सीमा अर्थात् आपसे अधिक सुन्दर कोई भी नहीं है, और बड़े ही मनोहारी हैं । आप बड़ी बड़ी

कठिनाइयों से मिलते हैं, कठिनता से दर्शन देते हैं, तर्कना तो आपके पास पहुंचही नहीं सकती, आपके ज्ञान के पारंगत होना महान् दुर्लभ है; आप संसार के हरनेवाले अर्थात् जीव को जन्म-मरण से छुड़ानेवाले, भक्तों को अनायास ही प्राप्त हो जानेवाले और प्रेम-माधुरी से वश में होनेवाले हैं ॥४॥ आप सत्य के उत्पादक, सत्य में अनुरक्त, सत्यसन्ध, सदाही पुष्ट अर्थात् दिव्य सामर्थ्यवान्, सन्तोषी और कष्टों के हरनेवाले हैं। धर्म ही आपका कवच है, आप परा और अपरा विद्या के ज्ञान में अद्वितीय हैं, अर्थात् ज्ञानकाण्ड और कर्म-काण्ड के रहस्यों के एकही जानकार हैं, ब्राह्मणों के आराध्य, ब्राह्मणों और भक्तों के वल्लभ, मुर दैत्य के शत्रु हैं ॥५॥ हे हरे ! आप अविनाशी, मोह-ममता से निर्लिप्त, सदा मुक्त, मान-रहित, ज्ञान-विग्रह, सच्चिदानन्द और जगत् के आदि कारण हैं। आप सबकी रक्षा करनेवाले, सबके लय करनेवाले यमराज के स्वामी, निर्विकार, अत्यन्त तेजवाले और भक्तों पर कृपा करनेवाले हैं ॥६॥ आप ही सिद्ध साधक और साध्य हैं। आपही वाच्य और वाचक हैं, आप ही मंत्र, जापक और जाप्य हैं। आप ही सृष्टि हैं और आप ही सृष्टा ! आप कारण के भी कारण हैं। आप की नाभि से कमल की उत्पत्ति है। आपका शरीर मेघ के समान है। आप सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं। इसी प्रकार आप ही दृश्य हैं और आप ही दृष्टा ॥ ७ ॥ आकाशभर में आप ही रम रहे हैं, रजोगुण आदि से निर्लेप हैं, ब्रह्मा आदि वर देनेवाले देवताओं के आप स्वामी हैं। आपका नाम बैकुंठ, वामन और विशुद्ध ब्रह्मचारी हैं। सिद्ध और देवताओंके समूह सदा आपकी वंदना किया करते हैं। आप पाखंड का खंडन कर उसे निर्मूल करनेवाले (बुद्ध अवतार) हैं ॥ ८ ॥ आप अखंड आनंद की राशि और अविद्या-जन्य तीनों गुणों के, त्रिदोष के नाश करनेवाले हैं। वचन, मन और कर्म से जो यह तुलसीदास आपकी शरण में आया है, उसके (भव) भयरूपी समुद्र के सोख जाने के लिये आप साक्षात् अगस्त्य ऋषि के समान हैं ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'गोतीतम्'—मन और इन्द्रियों की जहां तक पहुँच है, वहां तक माया ही माया है, जैसे—

"गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥"

ब्रह्म तक मन, वाणी और इंद्रियों की गति ही नहीं—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'— (श्रुतिः)

(२) 'मृदु भावगम्यं'–इसका पुष्टीकरण गुसाईंजी ने 'रामचरितमानस' में यों किया है–

रामहिं केवल प्रेम पियारा। तथा—
'प्रेम ते प्रगटि होहिं भगवाना।'

(३) 'विप्र-पूज्य'–इसके दो अर्थ हो सकते हैं–(१) ब्राह्मणों से पूज्य, ब्राह्मण जिनकी पूजा करते हैं। (२) ब्राह्मण जिन्हें पूज्य हैं, जो ब्राह्मणों की पूजा करते हैं।

(४) "सिद्धसाधक......द्रष्टा"––यहां अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का निरूपण किया गया है। सृष्टि-स्रष्टा एवं दृश्य-द्रष्टा का ऐक्य अद्वैत सिद्धांत के अंतर्गत अध्यासवाद से प्रमाणित होता है। गुसाईंजी ने मायावाद का यत्र तत्र खूब ही वर्णन किया है, जैसा कि इस पुस्तक में आगे पाया जायगा, पर जीव और ब्रह्म की एकता उन्होंने कहीं भी नहीं दिखाई। शांकरवाद की तरह उनका सिद्धान्त केवल ज्ञानमय नहीं है, उसमें जो भक्ति का अखंड राज्य है, वह सोने में सुगंध का काम कर रहा है।

(५४)

विस्व-विख्यात, विस्वेस, विस्वायतन, विस्वमरजाद, व्यालारिगामी।
ब्रह्म, वरदेस, वागीस, व्यापक, विमल, बिपुल बलवान, निर्वानस्वामी ॥१॥
प्रकृति, महतत्व, शब्दादि, गुन, देवता, व्योम, मरुदग्नि, अमलाम्बु, उर्वी।
बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्रान, चित्तातमा, काल, परमानु, चिच्छक्ति गुर्वी ॥२॥
सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि! व्यक्तमव्यक्त गतभेद, विष्णो।
भुवन भवदंग कामारि-वन्दित पदद्वन्द्व मन्दाकिनी-जनक, जिष्णो ॥३॥
आदिमध्यान्त, भगवंत! त्वं सर्वगतमीस, पश्यंति ये ब्रह्मवादी।
जथा पट-तन्तु, घट-मृत्तिका, सर्प-स्रग, दारुकरि, कनक-कटकांगदादी ॥४॥
गूढ़, गम्भीर, गर्वघ्न, गूढार्थवित्, गुप्त, गोतीत, गुरु, ग्यान-ग्याता।
ग्येय, ग्यानप्रिय, प्रचुर गरिमागार, घोर संसारकर पार-दाता ॥५॥
सत्यसंकल्प, अतिकल्प, कल्पान्तकृत, कल्पनातीत, अहि-तल्पवासी।
वनज-लोचन, वनज-नाभ, वनदाभ-वपु, वनचर-ध्वज-कोटि-लावन्यरासी ॥६॥

सुकर, दुष्कर, दुराराध्य, दुर्व्यसनहर, दुर्ग, दुर्द्धर्ष, दुर्गार्त्तिहर्त्ता।
वेदगर्भार्भकादभ्र-गुनगर्व, अर्वागपर-गर्व निर्वाप-कर्त्ता ॥७॥
भक्त-अनुकूल, भवसूल-निर्मूलकर, तूलअघ-नाम पावक-समानं।
तरल तृष्णातमी-तरनि, धरनीधरन, सरन-भयहरन, करुनानिधानं ॥८॥
बहुल वृन्दारकावृन्द-वंदारु-पद-द्वन्द्व मन्दार-मालोर-धारी।
पाहि मामीस सन्ताप-संकुल सदा दासतुलसी प्रनत रावनारी ॥९॥

पदच्छेद—विस्व + ईस। विस्व + आयतन। व्याल + अरि। वरद + ईस। वाक् + ईस। मरुत् + अग्नि। अमल + अम्बु। चित्त + आत्मा। परम + अणु। चित् + शक्ति। सर्व + एव + अत्र। त्वत् + रूप। व्यक्तम् + अव्यक्त। भवत् + अंग। काम + अरि। मध्य + अंत। सर्वगतम् + ईस। कटक + अंगद + आदि। गूढ + अर्थ। गरिमा + आगार। कल्प + अंत। कल्पना + अतीत। वनद + आभ। दुः + कर। दुः + आराध्य। दुर्ग + आर्ति। वेदगर्भ + अर्भक + अदभ्र। अर्वाक् + अपर। माला + उर। माम् + ईस। रावन + अरि।

शब्दार्थ—आयतन = स्थान। व्यालारि = गरुड़। वागीस = वाणी के स्वामी। निर्वाण = मुक्ति। व्योम = आकाश। उर्वी = पृथ्वी। चिच्छक्ति = चैतन्य शक्ति, प्राणशक्ति। जनक = उत्पन्न करनेवाले, पिता। जिष्णु = सर्वविजेता। पश्यन्ति = देखते हैं। स्रग = माला। दारुकरि = लकड़ी का बना हुआ हाथी। कटक-अंगद = कड़े, बाजू आदि। गरिमा = महिमा। तल्प = शैय्या। वनज = कमल। वनद = मेघ। वनचरध्वज = मीनकेतु, कामदेव। निर्वाप = नाश। वेदगर्भ = ब्रह्मा। अर्भक = बालक। अदभ्र = बहुत। वंदारु = वंदनीय। मंदार = पुष्प विशेष। पाहि = रक्षा करो। माम् = मुझे।

भावार्थ—हे नाथ ! आप जगत्-उजागर, अखिल ब्रह्माण्ड-नायक, विराटरूप, जगत् की मर्यादा और गरुड़ पर जानेवाले हैं। आप ब्रह्म हैं। वर देनेवाले देवताओं के भी आप स्वामी हैं। वाणी के अधिष्ठाता, सर्वव्यापक, निर्मल, महान् बलवान् और मुक्ति के स्वामी भी आप ही हैं ॥१॥ महामाया, महत्तत्व, शब्द, रूप रस, गन्ध, स्पर्श, सत्व, रज, तमोगुण, सर्वदेव, आकाश, वायु, अग्नि (तेज), निर्मल जल और पृथ्वी, बुद्धि, मन, दशो इन्द्रियां, पंचप्राण, चित्त, आत्मा, काल, परमाणु, बड़ी चैतन्य शक्ति आदि जो कुछ प्रकट और अप्रकट है, वह सब

हे राजराजेश्वर ! हे विष्णु भगवान् ! आप ही का रूप है। आप अभेद रूप से सब में रम रहे हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड आप ही का अंग है। हे सर्वविजेता ! आपके दोनों चरणों की शिवजी वंदना करते हैं और यही चरण गंगाजी के उत्पादक हैं ॥३॥ हे भगवन्, आपही आदि हैं, आपही मध्य और आपही अन्त। जो ब्रह्मवादी ज्ञानी जन हैं, वे आपको, हे ईश, सर्वव्यापी देखते हैं। जैसे वस्त्र में तंतु, घड़े में मिट्टी, सांपमें माला, लकड़ी के बने हुए हाथी में लकड़ी और कड़े बाजू आदि में सोना देखा जाता है, उसी प्रकार आप विश्व में दिखाई देते हैं ॥ ४ ॥ आप गूढ़, गम्भीर, अहंकार के नाशक, गुप्त रहस्यों के जाननेवाले, गुप्तरूप, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से परे, महान् ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान, ज्ञान-वल्लभ, बड़ी महिमा के भाण्डार, और इस भयंकर संसार से तार देनेवाले हैं ॥ ५ ॥ आपका सङ्कल्प सत्य है अर्थात् जो विचारते हैं, उसे कर दिखाते हैं, महा कल्प और कल्प के प्रलयकारी हैं, मन-वाणी के विचार से परे हैं और शेष-शैय्या पर निवास करनेवाले हैं। आपके नेत्र कमल के समान हैं। नाभिसे कमल की उत्पत्ति हुई है। शरीर की कान्ति (नीले) मेघ के समान है और करोड़ों कामदेवों के सदृश आप सौन्दर्य्य की राशि हैं ॥ ६ ॥ भक्तोंको सुलभ किन्तु दुष्टोंको आप दुर्लभ हैं । आपकी आराधना बड़ी कठिनता से पूरी होती है। दुर्गुणों का आप नाश कर देते हैं। आप दुर्गम (कठिनाई से मिलने वाले) दुर्द्धर्ष और घोर दुःखोंके नाशक हैं। ब्रह्मा के पुत्र सनकादिक को जो अपनी परा और अपरा विद्या का गर्व था उसे खर्व करनेवाले भी आपही हैं ॥ ७ ॥ आप भक्तों पर अनुग्रह करनेवाले, और सांसारिक (जन्म-मरण-जन्य) कष्टोंको जड़ से उखाड़नेवाले हैं। आपका (राम) नाम पापरूपी रूई के जलाने के लिये अग्निरूप है। चंचल तृष्णा-रूपी अन्धकारके नाश करने के लिये आप सूर्यरूप हैं। आप पृथ्वी को (शेषरूप से) धारण करनेवाले, शरणागतों के भयको दूर करनेवाले तथा करुणा के स्थान हैं ॥ ८ ॥ आप के दोनों चरणों की बहुत से देवताओं के समूह वन्दना करते हैं। आप मंदारकी माला हृदय पर धारण किये रहते हैं। हे रावणके शत्रु श्रीरघुनाथजी ! सदा सन्ताप से व्याकुल मैं, तुलसीदास, आपको प्रणाम करता हूँ । हे नाथ ! मेरी रक्षा कीजिये ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'प्रकृति'—महामाया; इसीके चक्र में पड़कर सच्चिदानंद-स्वरूप जीव आत्म-दृष्टि भूल गया ;

(२) 'चित्त'--चित्त छः अंशों में विभक्त है—योग, विराग, स्मरण, ज्ञान, विज्ञान और उच्चाटन। 'बुद्धि' भी छः अंशों में विभक्त है—जप, यज्ञ, तप, त्याग, आचार और अध्ययन। 'मन' के छः अंश यह हैं—कर्म, अकर्म, विकर्म, नियम, संकल्प और विकल्प। 'अहंकार' के विभाग इस प्रकार किये गये हैं—मान, क्रोध, ईर्ष्या, पारुष्य, उपहिंसा और दृढ़ वैराग्य। इसी मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार के समूह को 'अन्त:करण चतुष्टय' कहते हैं।

(३) 'प्रान'—प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान, ये पंचप्राण हैं।

(४) 'पट तन्तु……कांगदादी—ये सब उदाहरण मायावाद के अनुसार दिये गये हैं। ५३ पदकी चौथी टिप्पणी देखिए।

(५) 'वेद गर्भ……कर्ता'—एक बार सनकादि ने अपने पिता ब्रह्माजीसे पराविद्या-सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे। जब ब्रह्माजी उन प्रश्नों का यथेष्ट उत्तर न दे सके, तब इन्हें बड़ा गर्व हुआ। ब्रह्माके स्मरण करते ही विष्णु भगवान् हंस के रूप में वहां तुरंत प्रकट हो गये। सनकादिक ने हंस से पूछा—'तू कौन है ?' बस, इसी 'तू कौन है' पर हंस भगवान् ने सारी पराविद्या का निचोड़ कह सुनाया। सनकादिक का अभिमान चूर चूर हो गया। निम्बार्क संप्रदाय के आदि-आचार्य यही हंस भगवान् माने जाते हैं।

(५५)

त-संतापहर विस्व-विस्रामकर राम कामारि अभिरामकारी।
सुद्ध बोधायतन सच्चिदानंदघन सज्जनानन्द-वर्द्धन खरारी ॥१॥
सील-समता-भवन विषमता-मति-समन राम रामारमन रावनारी।
खड्गकर चर्मवर-वर्मधर, रुचिर कटि तून, सर-सक्ति सारंगधारी ॥२॥
सत्यसंधान निर्वानप्रद सर्वहित सर्वगुन-ग्यान-विग्यानसाली।
सघन-तम-घोर-संसार-भर-सर्वरी-नाम-दिवसेस-खर-किरनमाली ॥३॥
तपन तीच्छन तरुन, तीव्र तापघ्न तपरूप तनभूप तमपर तपस्वी।
मान-मद-मदन-मत्सर मनोरथ-मथन मोह-अंभोधि मंदर मनस्वी ॥४॥
वेद-विख्यात, बरदेश, वामन, विरज, विमल, बागीस, बैकुंठस्वामी।
काम-क्रोधादिमर्दन विवर्द्धन छिमा सांति-विग्रह विहगराज-गामी ॥५॥

परम पावन पाप-पुंज-मुंजाटवी-अनलइव निमिष निर्मूलकर्त्ता।
भुवन-भूषन, दूषनारि, भुवनेस, भूनाथ, स्रुतिमाथ, जय भुवनभर्त्ता ॥६॥
अमल, अबिचल, अकल, सकल, संतप्त-कलि-विकलता-भंजनानंदरासी।
उरगनायक-सयन तरुनपंकज-नयन छीरसागर-अयन सर्ववासी ॥७॥
सिद्ध-कवि-कोविदानंद-दायक पदद्वंद्व मंदात्ममनुजैर्दुरापं।
यत्र संभूत अतिपूत जल सुरसरी दर्सनादेव अपहरति पापं ॥८॥
नित्य, निर्मुक्त, संयुक्तगुन, निर्गुनानंद, भगवंत नियामक* नियंता।
विस्व-पोषन-भरन विस्व-कारन-करन, सरन तुलसीदास त्रास हंता ॥९॥

पदच्छेद—काम + अरि । बोध + आयतन । सत् + चित् + आनंद । सज्जन + आनंद । मुंज + अटवी । दूषन + अरि । भुवन + ईस । भंजन + आनंद । खर + अरि । रावन + अरि । दिवस + ईस । वरद + ईस । कोविद + आनंद । मंद + आत्म । दर्सनात् + एव । निर्गुन + अनंत ।

शब्दार्थ—खरारि = खर राक्षस के शत्रु । रामारमन = लक्ष्मी के पति । चर्म = ढाल । वर्म = कवच । सर्वरी = रात्रि । खर किरन = तीक्ष्ण किरण । तमःपर = अविद्या से परे । अंभोधि = समुद्र । विरज = विरक्त । वागीस = वाणी के स्वामी । विहगराज = गरुड़ । मत्सर = द्वेष । उरगनायक = शेषनाग । मंदात्म = पापी । दुराप = कठिनता से प्राप्य । पूत = पवित्र ।

भावार्थ—हे श्रीरामजी, आप संतों के संताप हरनेवाले, संसार में शान्ति स्थापित करनेवाले तथा शिवजी को आनंद देनेवाले हैं। आप आत्मज्ञान के स्थान, सत, चित और आनंद की राशि, संतोंके आनंद को बढ़ाने वाले और खर दैत्यके शत्रु हैं ॥ १ ॥ हे रामजी, आप शील और समता के स्थान, वैषम्य बुद्धि (भेदभाव) के नाशक, लक्ष्मी के पति और रावण के शत्रु हैं। आप हाथ में तलवार, ढाल, वाण, धनुष और शक्ति लिये रहते हैं। कवच धारण किये हैं तथा कमर में तरकस कसे हैं ॥ २ ॥ आप सत्य-संकल्प, मुक्तिदाता, सर्वहितकारी, सर्व दिव्य गुण-संपन्न और ज्ञान-विज्ञानसे पूर्ण हैं। आपका नाम प्रगाढ़ अंधकार-पूर्ण संसार रूपी रात्रि के अंत करने के लिये प्रचंड किरणोंवाला सूर्य है ॥ ३ ॥ आपका तेज बड़ा ही तीक्ष्ण है,

* यहां एक मात्रा बढ़ती है।

संसार के नित्य नूतन और प्रचंड ताप-संतापों के आप नाशकर्ता हैं। राजा का शरीर होने पर भी आप का रूप तपोमय है। आप अविद्या से परे और तपःशील हैं। मान, मद, काम, मत्सर, मनस्कामना और मोहरूपी समुद्र के मथने के लिये आप मंदराचल हैं और विचारशील हैं ॥ ४ ॥ बेदों में प्रसिद्ध, वर देनेवाले, देवताओं के स्वामी, वामन, विरक्त, निर्मल, वाणी के अधिष्ठाता और वैकुंठनाथ हैं। आप काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर के नाशक, क्षमाके बढ़ानेवाले, शान्तिस्वरूप और गरुड़ पर आरूढ़ हो जाने वाले हैं ॥ ५ ॥ आप परम पवित्र और पापपुंज-रूपी मूंज के वन को पल भर में भस्म करनेवाले अग्निरूप हैं। आप ब्रह्माण्ड-शिरोमणि, दूषण दैत्य के शत्रु, जगन्नाथ, पृथ्वी-पति, वेद के मस्तक और समस्त लोकों के पालनेवाले हैं। आप की जय हो ॥ ६ ॥ आप विकार-रहित, एक रस, कला-रहित, कला-पूर्ण कलियुग के ताप से तपे हुए जीवों की व्याकुलता हरनेवाले और आनंद घन हैं। आप शेषनाग पर सोते हैं। आप के नेत्र कमल के समान हैं। क्षीर समुद्र में निवास करते हैं और घट घट में रमते हैं ॥ ७ ॥ सिद्धों, कवियों और विद्वानों को सुख देनेवाले आपके दोनों चरण पापियों को परम दुर्लभ हैं। आपके चरणों की पवित्रता के सम्बन्ध में कहना ही क्या है। जहां से परम पावन गंगाजी का आविर्भाव हुआ है और जिन गंगाजी के दर्शनमात्र से समस्त पाप दूर हो जाते हैं फिर उनके जनक, आपके चरण, क्यों न पतित-पावन होंगे ॥ ८ ॥ आप अविद्या से सदा मुक्त, दिव्य गुण-विशिष्ट, मायात्मक गुणों से रहित, अनंत ऐश्वर्य आदि षड्गुण-संपन्न, नियमों के विधायक और सब पर शासन करनेवाले हैं। आप संसार के पालने-पोसनेवाले, जगत् के आदि कारण (कारण के भी कारण) और शरण में आये हुए तुलसीदास के भय को हरनेवाले हैं ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'मान मद......मंदर'— श्रीरामचन्द्रजी अपने भक्तोंके हृदय से मान-मद-काम-क्रोधादि विषय निकालकर वहां आत्म-ज्ञान रूपी अमृत भर देते हैं।

(२) 'दर्सनादेव अपहरति पापं'— गंगाजी दर्शन मात्र से तो जीवके पाप हर लेती हैं, पर स्नान कनेसे क्या करेंगी ! शेख रंगरेजिनके मतसे तो जीव शिवरूप हो जायगा। देखिये, इस पर इनका क्याही भावपूर्ण कवित्त है—

"ज्योंही भौंह भीजी आंखि ताकिहै जु तोजिये से,
जीबी कहै ज्याइहै अमर पद आइ लै।
अबर पखारे ते दिगंबर बनै है ताहि,
छलक छुआये गजछाल तन छाइलै॥
'सेख' कहै आपी कोऊ जैनी है कि जापी बड़ो,
पापी है तो नीर पैठि नागन खवाइ लै।
अंग बोरि गंगमें निहंग ह्वैकै वेगि चालि,
आगे आउ मैल धोइ बैल गैल लाइ लै॥'

(५६)

दनुजसूदन, दयासिंधु, दंभापहन, दहन दुर्दोष, दुष्पापहर्त्ता।
दुष्टतादमन, दमभवन, दुःखौघहर, दुर्ग-दुर्वासना नासकर्त्ता॥ १॥
भूरिभूषन, भानुमन्त, भगवन्त, भव-भंजनाभयद, भुवनेस भारी।
भावनातीत भववंद्य*, भवभक्तहित, भूमिउद्धरन, भूधरन-धारी॥ २॥
वरद†बनदाभ वागीस विस्वातमा, विरज, वैकुण्ठ-मंन्दिर-विहारी।
व्यापकं व्योम, वंदारु‡वामन§ विभो, ब्रह्मविद्, ब्रह्म, चिंतापहारी॥३॥
सहज सुन्दर, सुमुख, सुमन, सुभ, सर्वदा, सुद्ध, सर्वग्य, स्वच्छन्दचारी।
सर्वकृत, सर्वभृत, सर्वजित्, सर्वहित, सत्य-संकल्प, कल्पान्तकारी॥ ४॥
नित्य, निर्मोह, निर्गुन, निरंजन, निजानंद, निर्वान, निर्वानदाता।
निर्भरानंद, निस्कंप, निस्सीम, निर्मुक्त, निरुपाधि, निर्मम, विधाता॥५॥
महामंगलमूल, मोद-महिमायतन, मुग्ध-मधु-मथन, मानद, अमानी।
मदनमर्दन, मदातीत, मायारहित, मंजु मानाथ, पाथोजपानी॥ ६॥
कमल लोचन, कलाकोस, कोदंडधर, कोसलाधीस, कल्यानरासी।
जातु-धान-प्रचुर-मत्तकरि-केसरी, भक्तमन-पुण्य आरन्यवासी॥७॥

---

*पाठान्तर 'बांदि'। †पाठान्तर 'वर बदन'। ‡ पाठान्तर 'बन्द्यांघ्रि'।
§पाठान्तर 'पावन'।

अनघ, अद्वैत, अनवद्य, अव्यक्त, अज, अमित,अविकार, आनंदसिंधो।
अचल, अनिकेत, अविरल, अनामय, अनारंभ, अंभोदनादहन-बंधो॥ ८॥
दासतुलसी खेदखिन्न आपन्न इह, सोकसंपन्न, अतिसै सभीतं।
प्रनतपालक राम, परम करुनाधाम, पाहि मामुर्विपति, दुर्विनीत॥ ९॥

पदच्छेद— दंभ+अपहन। दुःख+ओघ। भंजन+अभयद। भुवन+ईस। भावना+अतीत। वनद+आभ। वाक्+ईस। विस्व+आत्मा। अन्+आमय। चिंता+अपहारी। कल्प+अंत। निज+आनंद। निर्भर+आनंद। महिमा+आयतन। मद+अतीत। कोसल+अधीस। अन्+आरंभ। माम्+उर्वि।

शब्दार्थ—अपहन=नाशकर्त्ता। दुर्ग=कठिन। अतीत=रहित, परे। भव=शिवजी। वनद=मेघ। व्योम=आकाश। वंदारु=वन्द्य, वन्दनीय। मुग्ध=मूढ़। मंजु=सुन्दर। मा=लक्ष्मी। निर्भर=पूर्ण। पाथोजपानी=कमल है हाथमें जिनके। करि=हाथी। अनवद्य=दूषण-रहित। अनामय=रोग-दोष-रहित। अम्भोदनाद=मेघनाद। दन=नाशक। इह=संसार। माम्=मुझे। उर्वि=पृथ्वी।

भावार्थ—हे श्रीरामचन्द्रजी! आप दैत्यों के नाशकर्त्ता, दया के समुद्र, पाखंडोंके दूर करनेवाले, बुरे बुरे पापों के भस्म करनेवाले और उनके हर्त्ता हैं। आप दुष्ट-भावके विनाशक, इन्द्रियदमनके स्थान अर्थात् जितेन्द्रियोंमें श्रेष्ठ, दुःख-समूहके हरनेवाले और कठिन तथा बुरी वासनाओंके नाशकर्त्ता हैं॥ १॥ आप अनेक अलंकार पहिने, सूर्यके समान प्रकाशमान्, ऐश्वर्य आदि छः दिव्यगुण-संयुक्त, संसार के जन्म-मरण से छुड़ानेवाले, अभयवर देनेवाले और ब्रह्माण्ड-नायक ब्रह्मा आदिमें शिरोमणि हैं। आप भावनाओंसे परे अर्थात् इन्द्रिय-जन्य ज्ञानसे बाहर हैं। शिवजी आपकी वंदना करते हैं, और शिवभक्तों के आप हितकारी हैं। आप भूमिका उद्धार करनेवाले और पर्वत (गोवर्द्धन) के धारण करनेवाले हैं॥ २॥ हे वरद, आपका शरीर मेघके समान है। आप वाणीके अधिष्ठाता, विराट् रूप, रजोगुणादिसे रहित, और वैकुंठ के मंदिर में नित्य विहार करनेवाले हैं। आप आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं, सबसे वन्दनीय, वामन अवतारधारी, सर्व-शक्तिमान, ब्रह्मवेत्ता, स्वयं ब्रह्मरूप और चिंताओं के दूर करनेवाले हैं॥३॥ आप स्वभाव से ही सुन्दर हैं। आपका मुख सुन्दर और मन शुद्ध है, सदा मंगलस्वरूप, निर्मल, सर्वज्ञ और स्वतंत्र

विहार करनेवाले हैं। आप सब कर्मों के करनेवाले, सबके भरन-पोषण करने-वाले, सबके विजेता, सर्वहितकारी, सत्यप्रतिज्ञ और प्रलय के करनेवाले हैं ॥४॥ आप नित्य हैं, मोह-रहित हैं, निर्गुण हैं, अव्यय हैं, अपनी आत्मामें ही आनंद करनेवाले, मुक्तिस्वरूप और मुक्तिके प्रदान करनेवाले हैं। आप पूर्ण आनंदरूप, अटल, मर्यादा-रहित, मायासे निर्लिप्त, उपाधि-रहित, मोह-ममता से निर्लेप और सबके उत्पादक हैं ॥ ५ ॥ आप बड़े बड़े कल्याणोंके आदि कारण, आनंद और महत्त्व के स्थान मूढ़ मधु दैत्य के मारनेवाले, मान प्रदान करनेवाले, किन्तु स्वयं मान-रहित हैं। आप कामदेव के नाशक, मद से रहित, माया से परे, सुंदरी लक्ष्मी के वल्लभ और हाथमें कमलको लेनेवाले हैं ॥६॥ आपके नेत्र कमल के समान हैं। कलाओं के तो आप भाण्डार ही हैं। अर्थात् आप चौसठों कलाओं में कुशल हैं। हे कोसलाधीश ! आप धनुष के धारण करनेवाले और मंगल की राशि हैं। दैत्यरूपी बड़े बड़े मतवाले हाथियों के पछाड़ने के लिये आप साक्षात् सिंह हैं। आप भक्तों के मनको पवित्र कर देनेवाले और वन में निवास करनेवाले हैं ॥ ७ ॥ आप पाप-रहित, अद्वैत, निर्दोष, अप्रकट, अजन्मा, अपार, विकार-रहित और आनन्द के समुद्र हैं। आप एक रस है। निवासस्थान आपका कोई भी नहीं अथवा आप सर्वत्र, एक ही काल में, रमनेवाले हैं। आप परिपूर्ण, सांसारिक रोगों से निर्लेप, अनादि और मेघनाद के मारनेवाले लक्ष्मण जीके भाई हैं ॥ ८ ॥ यह तुलसीदास इस संसारमें दुःखोंसे दुखी, आपत्ति-ग्रस्त शोकमय और अत्यंत भयातुर हो रहा है। हे प्रणतपालक, हे परम करुणा के स्थान, हे पृथ्वी पति राम, मुझ दुर्विनीतको बचाइये ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'अभयद'— ४४ पदकी तीसरी टिप्पणी देखिये।

(२) 'भूधरनधारी'—यह तो प्रसिद्ध ही है कि जब इन्द्रने कुपित होकर व्रजपर सात दिन तक मूसलाधार वृष्टि की थी, तब श्रीकृष्णने गायों और गोपोंकी रक्षा करनेके लिये गोवर्द्धन पर्वतको उठाकर उसका छत्र तान लिया था। तभीसे श्रीकृष्ण का नाम 'गिरिवरधारी' या 'गिरिधर गोपाल' पड़ा है।

(३) 'मदन-मर्दन'— अपने अनुपम और अप्राकृत नित्य सौन्दर्य द्वारा कामदेवका गर्व खर्व करनेवाले। भागवतमें भी 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' वाक्यसे यह सिद्ध होता है। अथवा, योगेश्वर रूपसे कामवासनाओंके नाश करनेवाले।

(४) 'दुर्विनीतं'—श्रीबैजनाथजीने इस शब्दको श्रीरामजीका विशेषण माना है और इसका अर्थ उनपर इस प्रकार घटाया है "किसीकी भय करिके नम्र नहीं होते हो।" किंतु यह 'माम्' तुलसीदासका विशेषण है, ऐसा मानना अधिक युक्तिसंगत होगा।

(५७)

देहि सतसंग निजअंग श्रीरंग ! भवभंग-कारन सरन-सोकहारी।
येतु भवदंघ्रिपल्लव समाश्रित सदा, भक्तिरत विगतसंसय मुरारी ॥१॥
असुर, सुर, नाग, नर, जच्छ, गंधर्व, खग, रजनिचर, सिद्ध ये चापि अन्ने
संत-संसर्ग त्रैवर्गपर परमपद, प्राप निष्प्राप्य गति त्वयि प्रसन्ने ॥ २ ॥
वृत्र, बलि, बान, प्रहलाद, मय, व्याध, गज, गृद्ध, द्विजबन्धु, निजधर्मत्यागी।
साधुपद-सलिल-निर्धूत-कल्मष सकल, स्वपच जवनादि कैवल्य भागी॥३॥
सांत, निरपेच्छ, निर्मम, निरामय, अगुन, सब्दब्रह्मैकपर, ब्रह्मग्यानी।
दच्छ, समदृक, स्वदृक विगत अति स्वपरमति परमरति विरति तव चक्रपानी ४
बिस्व-उपकारहित व्यग्र चित सर्वदा त्यक्तमदमन्यु कृत पुन्यरासी।
यत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अज सर्व हरि सहित गच्छन्ति छीराब्धिवासी ॥ ५ ॥
वेद-पयसिंधु सुविचार-मन्दरमहा अखिल-मुनिवृन्द निर्मथनकरता।
सार सतसंगमुद्धृत्य इति निश्चितं वदति श्रीकृष्ण वैदर्भिभरता ॥ ६ ॥
सोक संदेह भय हर्ष तम तर्षगन साधु सद्युक्ति-विच्छेदकारी।
जथा रघुनाथ-सायक निसाचर-चमू-निचय-निर्दलन पटु बेगभारी ॥ ७ ॥
यत्र कुत्रापि मम जन्म निजकर्मबस भ्रमत जगजोनि संकट अनेकम्।
तत्र त्वद्भक्ति सज्जन-समागम सदा भवतु मे राम, विस्राममेकम् ॥ ८ ॥
प्रबल भव-जनित त्रैव्याधि-भैषज भगति भक्त भैषज्यमद्वैतदरसी।
सन्त-भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं किमपि, मति मलिन कह दासतुलसी ९

परिच्छेद—भवत्+अंघ्रि। च+अपि। जवन+आदि। तत्र+एव। छीर+अब्धि। सतसंगम्+उद्धृत्य। निः+आमय। ब्रह्म+एक। सत्+युक्ति। बिस्राम्+एकम्। कुत्र+अपि। भैषज्यम्+अद्वैत।

शब्दार्थ—अंघ्रि चरण=। अन्ने=अन्ये, दूसरे। च=और। अपि=भी। त्रैवर्ग=धर्म, अर्थ और काम। त्वयि=तुम्हारे। निर्धूत=धुला हुआ, स्वच्छ।

कैवल्य=मुक्ति। समदृक=समभावसे देखनेवाला। स्वदृक=आत्म- द्रष्टा। मृत्यु=क्रोध। तिष्ठन्ति=रहते हैं। शर्व=शिवजी। गच्छन्ति=जाते हैं। छीराब्धि=क्षीराब्धि, क्षीर सागर। उद्धृत्य=निकालकर। वैदर्भि-भरता=रुक्मिणीके पति। तर्ष=वासना। चमू=सेना। निचय=पुञ्ज। पटु=कुशल। यत्र कुत्रापि=जहाँ कहीं भी। भवतु=हो। भेषज=औषधि। किमपि=कोई भी॥

भावार्थ—हे श्रीरंग! मुझे सत्संग दीजिये, क्योंकि वह आपकी प्राप्तिका एक प्रधान साधन है॥ वह संसारके जन्म-मरण-रूपी चक्रका नाश करनेवाला और आपकी शरणमें आये हुए जीवोंके दुःखोंका हरनेवाला है। जो सदा आपके चरण पल्लवके भरोसे रहते हैं और आपकी भक्तिमें जिनकी लौ लगी रहती है, हे मुरारी! उनके सारे संदेह (अविद्या-जन्य) दूर हो जाते हैं॥१॥ दैत्य, देव, नाग, मनुष्य, यक्ष, गंधर्व, पक्षी, राक्षस, सिद्ध तथा और भी जितने जीव हैं, वे सब सन्तोंके संगके प्रभावसे अर्थ, धर्म और कामसे परे उस परम-पद, मुक्तिको (अनायास ही) पाते हैं, जो अन्य साधनोंसे प्राप्त नहीं हो सकती, केवल आपके प्रसन्न होनेसे मिलती है॥२॥ वृत्रासुर, बलि, बाणासुर, प्रह्लाद, मय, व्याधा (वाल्मीकि आदि), गजेन्द्र, गीध (जटायु) और अपने ब्राह्मणोचित धर्म-कर्म को छोड़ देनेवाला अजामिल तथा चांडाल यवन आदि सन्तोंके चरणोदकसे अपने समस्त पापोंको धोकर मोक्षपदके अधिकारी हो गये॥३॥ जो शान्त, निरीह (जिन्हें किसी बातकी इच्छा नहीं है), मोह-ममतासे रहित, निरुपाधि, सत्त्व, रज और तमोगुणसे रहित, शब्दब्रह्म अर्थात् वेदोपनिषद्के ज्ञाताओंमें मुख्य और ब्रह्मवेत्ता हैं, जो कुशल, समदृष्टा, आत्मदर्शी और अपनी-पराई-बुद्धिसे मुक्त (सबको एक भावसे देखनेवाले) हैं, और हे चक्रपाणे! जो आपके परम भक्त और संसारसे विरक्त हैं॥४॥ जगत्की भलाईके लिये जिनका चित्त सदा व्याकुल रहता है, जिन्होंने अहंकार और क्रोधको तिलांजलि दे दी है, और पुण्योंका समूह कमाया है, ऐसे संत महात्मा जहाँ रहते हैं उनके पास, आपसे आप, ब्रह्मा और शिवको साथ लेकर क्षीरसमुद्र-वासी श्रीहरि भगवान् दौड़े हुए जाते हैं॥५॥ वेद क्षीर समुद्र हैं, विवेक मन्दराचल है और उसे मथनेवाले हैं समस्त मुनियोंके समूह। मथनेपर उसमें से क्या निकला? सत्संग-रूपी सार, अमृत। (यह केवल रूपक ही नहीं है) इसे रुक्मिणीवल्लभ श्रीकृष्ण ने निश्चय करके कहा है। सारांश यह है कि समग्र

वेदों का सार एक सत्संग है, इसीके बल-भरोसे जीव सहज ही दुर्लभ मुक्ति को प्राप्त कर सकता है ॥६॥ साधुओं का सदुपदेश, शोक, भय, हर्ष, अविद्या और वासनाओं के समूह इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर देता है, जैसे श्रीरघुनाथ जी के बाण राक्षसों की सेना के समूह को कौशल और बड़े वेग से नष्ट करने वाले हैं ॥ ७ ॥ हे रामजी ! अनेक कष्ट भोगता हुआ और संसार की समस्त योनियों में घूमता हुआ, अपने कर्म के अधीन, जहां कहीं मेरा जन्म हो, वहां 'आप की भक्ति और सन्तों का समागम' बस यही एक मेरा विश्राम हो ॥८॥ सांसारिक त्रिविध (भौतिक, दैहिक और दैविक) रोगों के दूर करने के लिये आप की भक्ति ही एक मात्र औषधि है और वैद्य है समदृष्टा आपका भक्त। मलिन बुद्धिवाले तुलसीदास का तो यह कहना है कि सन्त और भगवान् में रत्ती भर भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'वृत्र'—वृत्रासुर था तो दैत्य, किन्तु परम वैष्णव था। इन्द्र के साथ युद्ध करते समय, इसने सर्वोत्कृष्ट ज्ञान और भक्ति की व्याख्या की थी। यह इन्द्र के वज्र से मारा गया था।

(२) 'बान'—यह राजा बलि का पुत्र था। इसके एक हजार हाथ थे। पहले यह परम शैव थे, किन्तु श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करके, जब इसके केवल चार हाथ रह गये, तब यह भगवद्भक्त हो गया। इसकी पुत्री ऊषा प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध को व्याही गई थी और इसी समय इसके साथ श्रीकृष्ण को लड़ना पड़ा था, क्योंकि इसने अनिरुद्धको, चुपके चुपके, ऊषा के साथ प्रेम करने के अपराध पर, क़ैद कर लिया था।

(३) 'मय'—यह भी एक दैत्य था, पर था पूरा भगवद्भक्त। स्वर्गीय पंडित रामेश्वर भट्ट ने 'मय' का अर्थ सहित लिखा है। किन्तु 'व्याधा, गज, गृद्ध सहित प्रह्लाद', ऐसा अर्थ कुछ युक्ति-संगत नहीं समझ पड़ता। वृत्र से लेकर मय तक गुसाँई जी ने केवल दैत्यों का नामोल्लेख किया जान पड़ता है।

(४) 'द्विज बन्धु'—अजामिल से तात्पर्य है। यह बड़ाही दुराचारी और पापी ब्राह्मण था। इसके कनिष्ठ पुत्र का नाम 'नारायण' था। मरते समय जब

यमदूत इसे बांधने लगे, तब इसने ४।५ बार 'नारायण' को पुकारा। नारायण तो

न आया, पर नारायण भगवान् के पार्षद आ पहुंचे। उन्होंने हठ-पूर्वक यमदूतों से यह कह कर कि यह परम वैष्णव है, इसे छुड़ा लिया।

(५) 'यवन'—४६ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(६) 'स्वपर-मति'—भेद-बुद्धि; यही तो माया है—

'मैं अरु मोर तोर तैं माया।'

(७) 'परमरति'—भक्ति का यही सर्वोत्कृष्ट लक्षण है। शांडिल्य भगवान् अपने-भक्ति सूत्रों के आदि में लिखते हैं—'सा परानुरक्तिरीश्वरे।'

(८) 'सार सतुसंग......वेदभिभरता'—भगवान् कृष्ण ने, श्रीमद्भागवत में श्रीमुख से उद्धव के प्रति कहा है—

'न रोधयति मां योगो, न सांख्यं धर्म उद्धव !
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो, नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञ छंदांसि, तीर्थानि नियमा यमा।
यथावरुंधत्सत्संगः सर्व संगापहोहि माम्॥

(९) 'त्वद्भक्ति सज्जन समागम'—सत्संग और भगवद्भक्ति को गुसाईंजी ने अन्योन्याश्रय माना है।

'बिनु सतसंग विवेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥'

(१०) 'अद्वैत दरसी'—इसका अर्थ 'समदृष्टि से देखनेवाला है', 'जीव-ब्रह्म को एक समझने वाला' नहीं।

(११) 'संत भगवंत......क्किमपि'—इस सिद्धांत की पुष्टि भक्तवर नाभा जी भी कर रहे हैं—

'भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद बन्दन करौं, नासैं विघन अनेक॥'

(५८)

देहि अवलम्ब करकमल कमलारमन दमन-दुख समन-संताप भारी।
अग्यान-राकेस-ग्रासन-विधुंतुद गर्व-काम-करिमत्त-हरि दूषनारी॥ १॥
बपुष ब्रह्माण्ड, सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग, रचित मन दनुज मय-रूपधारी।
बिबिध कोसौघ अति रुचिर मंदिर-निकर सत्वगुन-प्रमुख त्रैकटककारी २॥

कुनप-अभिमान, सागर भयंकर घोर बिपुल अवगाह दुस्तर अपारं।
नक्र-रागादि-संकुल, मनोरथ सकल संग-संकल्प बीची-बिकारम् ॥ ३ ॥
मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहँकार, पाकारिजित् काम बिस्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोधपापिष्ट बिबुधांतकारी ॥ ४ ॥
द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट, दर्प मनुजाद, मद-सूलपानी।
अमितबल परम दुर्जय निसाचर-निकर सहित षड्वर्ग गो जातुधानी ॥५॥
जीव-भवदंघ्रि-सेवक बिभीषन, बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसितचिंता।
नियम-यम सकल सुरलोक-लोकेस लंकेस-बस नाथ! अत्यंत भीता ॥६॥
ग्यान-अवधेस-गृह, गेहिनी भक्ति सुभ, तत्र अवतार भूभार-हरता।
भक्त-संकष्ट अवलोकि पितु-वाक्य कृत गमन किय गहन बैदेहि-भरता ॥७॥
कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट बिकट * ग्यान-सुग्रीव कृत जलधिसेतू।
प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजन-तनय, विषम बन-भवनमिव धूमकेतू ॥ ८ ॥
दुष्ट-दनुजेस निर्बंसकृत दासहित, बिस्वदुख-हरन बोधैकरासी।
अनुज निज जानकी सहित हरि सर्बदा दासतुलसी-हृदय-कमलबासी ॥९॥

पदच्छेद—राका + ईस। दूषन + अरि। कोस + ओघ। पाक + अरि। बिबुध + अंत। मनुज + आद। भवत् + अंघ्रि। दुष्ट + अटवी। लोक + ईस। लंका + ईस। अवध + ईस। भवनं + इव। बोध + एक।

शब्दार्थ—विधुंतुद = राहु। मय = एक मायावी राक्षस। ओघ = समूह। कटक = सेना। कुनप = देह। नक्र = मगर, घड़ियाल। संकुल = पूर्ण। बीची = लहर। दसमौलि = रावण। पाकारिजित् = इन्द्र को जीतनेवाला, मेघनाद। विबुधांतकारी = देवान्तक नाम का राक्षस। गो=इन्द्रिय। जातुधानी=राक्षसी। भवत् + अंघ्रि=आपके चरण। अटवी=वन। गेहिनी = स्त्री। गहन = वन। कैवल्य = मोक्ष। प्रभंजन = वायु। धूमकेतु = अग्नि।

भावार्थ—हे लक्ष्मी-रमण! मुझ, संसार-सागर में डूबते हुए, को अपना कर-कमल का सहारा दीजिए। आप तो दुःखों के हरनेवाले और बड़े बड़े सन्तापों के नाश करनेवाले हैं। हे दूषणारे! आप अविद्या-रूपी चन्द्रमा के ग्रसने के लिये साक्षात् राहु तथा अहंकार और काम-रूपी मतवाले हाथियों के मर्दन

* पाठान्तर 'विपुल'।

करने के लिये सिंह हैं ॥१॥ शरीर-रूपी ब्रह्माण्ड में प्रवृत्ति जो है वही लंका का क़िला है। इसे मनरूपी मायावी मय दैत्य ने निर्माण किया है। इसमें जो अनेक कोश हैं वही (शरीर के कोश पाँच हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय) सुन्दर महल हैं और सतोगुण आदि तीन गुण प्रचंड सेनापति हैं ॥२॥ देहाभिमान ही महा भयंकर, अथाह-अपार और दुस्तर समुद्र है, जहां राग-द्वेष-रूपी घड़ियाल भरे हैं और विषयाशक्ति के संकल्प-विकल्प ही लहरें हैं ॥३॥ (ऐसे भीषण समुद्र के तट पर बसी हुई लंका में) मोहरूपी रावण, अहंकाररूपी कुम्भकर्ण और शान्ति-भंग करने वाले कामरूपी मेघनाद के साथ, अटल राज्य करता है। वहां पर लोभरूपी अतिकाय, मत्सररूपी दुष्ट महोदर, क्रोधरूपी महापापी देवान्तक, ॥४॥ द्वेषरूपी दुर्मुख, दंभरूपी खर, कपटरूपी अकम्पन, दर्परूपी मनुजाद और मदरूपी शूलपाणि नाम के दैत्यों का समूह बड़ा ही पराक्रमी और कठिनता से जीते जाने योग्य है। यहीं नहीं इनके साथ, मोह आदि छः राक्षसों के साथ, इन्द्रियरूपी राक्षसियां भी हैं ॥ ५ ॥ हे नाथ! आपके चरणारविन्दों का सेवक जो यह जीव है वही मानो विभीषण है। यह बेचारा चिंता के मारे, इन दुष्टों से पूर्ण वन में, दिन काट रहा है। यम-नियम-रूपी दसों दिग्पाल और इन्द्र इस रावण के अधीन होकर अत्यन्त भयभीत रहते हैं ॥ ६ ॥ सो हे नाथ! जैसे आप कोसलेश महाराज दसरथ के यहां कौसिल्या के गर्भ से पृथ्वी का भार हरने के लिये सगुण-अवतार लिया था, उसी प्रकार ज्ञानरूपी दशरथ के यहां शुभ भक्तिरूपी कौसिल्या के गर्भ से मोह आदि के नाश करने के लिये, प्रकट हूजिये। हे जानकी-वल्लभ! जिस प्रकार आप भक्तो का कष्ट देख कर पिता की आज्ञा से, वन में गये थे, उसी प्रकार जीव की भव-बाधा हरने के लिये, हृदयरूपी वन में पधारिये ॥ ७ ॥ मोक्ष के जितने कुछ साधन हैं उन्हें रीछ और बन्दर बनाकर ज्ञानरूपी सुग्रीव को साथ लेकर (संसार-रूपी) समुद्र का पुल बांध दीजिए। उत्कट् वैराग्यरूपी पवन-कुमार हनुमानजी विषय-वासना-रूपी वन और महलों को अग्नि के समान जलाकर राख कर देंगे ॥ ८ ॥ हे अखंड ज्ञानस्वरूप रघुनाथजी! हे संसार के दुःख दूर करनेवाले! इस दास जीव, के लिये इस मोहरूपी दुष्ट दैत्य का वंश-सहित नाश कर दीजिए और फिर तुलसीदास के हृदय-कमल में, बेखटके, अपने भ्राता लक्ष्मण और पत्नी श्रीजानकीजी सहित सदा निवास कीजिए ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'वपुष ब्रह्माण्ड'—जो कुछ समस्त ब्रह्माण्ड में है वह सब इस शरीर में हैं। अपना घट ही ब्रह्माण्ड है। कबीरसाहब के शब्दों में—'पिंड ब्रह्माण्ड का एक लेखा' है।

(२) 'प्रवृत्ति लंकादुर्ग'—प्रवृत्ति के होते ही मोह अपना साम्राज्य जमा लेता है।

(३) 'कुनप-अभिमान'—आत्मा 'सत्' है और शरीर 'असत्'—यही विवेक है, इसका प्रतिकूल ज्ञान अविद्या हैं। शरीर और आत्मा का कुछ भी नित्य सम्बन्ध नहीं। "मैं मोटा हू, मैं दुर्बल हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं पंडित हूं" आदि वाक्य देहाभिमान से उत्पन्न होते हैं। आत्मा में तो यह सब बातें घटती नहीं, और देह नाशवन् है। फिर यह सब स्फूर्ति कहां से हुई? अविद्या से, हेर-फेर के ज्ञान से, और मोह से।

(४) 'संग'—संग से तात्पर्य 'आसक्ति' से हैं। यह बड़ीही भयंकर मानी गई है। गीता में लिखा है—

'संगात् संजायेत कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायेत।
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः॥
स्मृतिंभ्रशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'

(५) 'मोह......जातुधानी'—जैसे रावण के राज्य-काल में ये सब राक्षस चैन उड़ाते थे, उसी प्रकार मोहने हृदयमें ज्योंही अड्डा जमाया, त्योंहीं अहंकार, काम, लोभ, मत्सर, क्रोध, द्वेष, दंभ, कपट आदि पनपने लगे और मौज करने लगे।

(६) 'विभीषन......चिंता'—विभीषण किस प्रकार राक्षसों के बीच में रहते थे, इसकी उत्प्रेक्षा गुसाईंजी ने रामायण में क्या ही सुन्दर अंकित की है—

'जिमि दसनन महँ जीभ बिचारा।'

(७) 'दुष्ट दनुजेस......कमलवासी'—जब योग, कर्म, ज्ञान आदि साधनों से जीव का शरीराभिमान दूर हो जाता है और आत्म-ज्ञान की प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है, तभी आत्म-स्वरूप की झलक पाकर वह पराशान्ति को प्राप्त होता है। जब तक शरीराभिमान नहीं छूटा, मोह समूल नष्ट नहीं हुआ, तब तक परम शान्ति की आशा करना व्यर्थ है।

(८) इस समस्त पद में रूपक अलंकार है।

(६) गुसाईंजी का यह रूपक सर्वथा सांगोपांग और उत्तम है । इसी पद के आधार पर एक सज्जन ने 'आत्म-रामायण' लिखी है, पर वह ऐसी जटिल हो गई है, कि पढ़ते समय कोई विशेष आनन्द नहीं मिलता ।

(५६)

दीन-उद्धरन रघुवर्य करुनाभवन, समन-संताप पापौघहारी ।
विमल विग्यान-विग्रह अनुग्रहरूप, भूपवर बिबुध-नरमद खरारी ॥१॥
संसार-कांतार अति घोर गम्भीर घन गहन तरुकर्म-संकुल, मुरारी ।
बासना-बल्लि खर-कंटकाकुल विपुल, निबिड़ बिटपाटवी कठिन भारी ॥२॥
बिबिध चितवृत्ति खग-निकर सेनोल्लूक, काक बक गृद्ध आमिष-अहारी ।
अखिलखल निपुनछलछिद्र निरखतसदा, जीवजनपथिकमन-खेदकारी ॥३॥
क्रोध करिमत्त, मृगराज कंदर्प, मद-दर्प बृक-भालु अति उग्रकर्मा ।
महिष मत्सर क्रूर, लोभ सूकररूप फेरु छल, दंभ-मार्जारधर्मा ॥४॥
कपट मर्कट, विकट व्याघ्र पाखण्डमुख, दुखद मृगव्रात उत्पातकर्त्ता ।
हृदय अवलोकि यह सोक सरनागतं, पाहि मां पाहि, भो विस्वभर्त्ता ॥५॥
प्रवलऽहंकार दुरघट महीधर, महामोह गिरि गुहा निबिड़ांधकारं ।
चित्त बेताल, मनुजाद मन, प्रेतगन रोग, भोगौघ वृश्चिक विकारम् ॥६॥
विषय-सुख-लालसा दंस-मसकादि खल, झिल्लि रूपादि सब सर्पस्वामी ।
तत्र आच्छिप्त तव विषम* माया, नाथ, अंध मैं मंद, व्यालादगामी ॥७॥
घोर-अवगाह भव-आपगा, पापजलपूर, दुष्प्रेक्ष्य, दुस्तर अपारा ।
मकर षड्वर्ग, गो नक्र-चक्राकुला, कूल सुभ-असुभ, दुख तीव्र धारा ॥८॥
सकल संघट्ट पोच, सोचबस सर्वदा दासतुलसी विषम गहन ग्रस्तं ।
त्राहि रघुवंसभूषन कृपाकर, कठिन काल बिकराल-कलित्रास-त्रस्तं ॥९॥

पदच्छेद—पाप + ओघ । खर + अरि । मुर + अरि । कंटक + आकुल । विटप + अटवी । सेन + उलूक । निबिड़ + अंध । मनुज + आद । मसक + आदि । व्याल + अद । चक्र + आकुला । भोग + ओघ ।

शब्दार्थ—विग्रह = मूर्त्ति, रूप । नरमद = सुख देनेवाले । कांतार = वन । खर = तीक्ष्ण । सेन = बाज । फेरु = शृगाल । अटवी = वनस्थली । छिद्र = दोष ।

---

* पाठान्तर 'विषय' ।

करि = हाथी । कन्दर्प = कामदेव । व्रात = समूह । पाहि = रक्षा करो । महीधर = पहाड़ । निबिड़ = घना, बहुत ज्यादा । मनुजाद = मनुष्यको खानेवाला । आच्छिप्त = (आक्षिप्त डाल दिया गया । व्यालाद = गरुड़ । आपगा = नदी । सङ्कट = इकट्ठे । त्रस्तं = डरा हुआ ।

भावार्थ—हे रघुकुल में श्रेष्ठ देवाधिदेव! आप दीन जनों का निस्तार करनेवाले, करुणा के स्थान, सन्ताप के नाशकर्त्ता और पाप-समूह के हरनेवाले हैं। आप शुद्ध आत्मज्ञान के रूप, कृपा की मूर्त्ति, राजाओं में शिरोमणि, देवताओं को सुख देनेवाले और खर नामक दैत्य के शत्रु हैं ॥ १ ॥ हे मुरारी ! यह संसार एक बड़ा ही भयानक और गहरा वन है। यहां कर्मरूपी वृक्ष बड़ी ही सघनता से लगे हैं। इच्छारूपी लताएँ लिपट रही हैं और व्याकुलतारूपी अनेक पैने कांटे बिछ रहे हैं। ओह ! यह ऐसा सघन वृक्षों का महाघोर वन है ! ॥ २ ॥ इस संसाररूपी वन में चित्त की जो अनेक वृत्तियां हैं, वही मांसाहारी बाज, उल्लू, कौए, बगुले, गीध, आदि पक्षियों का समूह है। यह सब के सब बड़े ही दुष्ट और कपट करने में चतुर हैं। यह सदा दोष देखते ही जीवरूपी मुसाफिरों के मन को दुःख दिया करते हैं, बेचारों को कभी सुख-शान्ति नहीं पाने देते ॥ ३ ॥ यहां क्रोधरूपी मतवाला हाथी, कामरूपी सिंह, मदरूपी भेड़िया और गर्वरूपी रीछ हैं। यह सब बड़े ही निर्दय हैं। यही नहीं, यहां मत्सररूपी निर्दय भैंसा, लोभरूपी शूकर, छलरूपी सियार और दम्भरूपी बिलाव भी हैं ॥ ४ ॥ यहां कपट-रूपी विकट बन्दर हैं, पाखण्ड-स्वरूप बाघ हैं, जो सन्तरूपी मृग-समूह को सदा दुःख दिया करते हैं और उपद्रव मचाया करते हैं। हे विश्वम्भर, हृदय में यह (असह्य) कष्ट देख कर मैं आपकी शरण में आया हूँ। हे प्रभो ! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिए ॥ ५ ॥ इस संसाररूपी वन में (जैसे तैसे जीव जन्तुओं से भी बच गया, तो आगे और भी आपत्ति है !) बड़ा विशाल अहंकाररूपी पर्वत है। इसका लांघ जाना अत्यन्त कठिन है। इस पहाड़ में महामोहरूपी गुफा है, जिसके भीतर बड़ा ही अन्धकार है। यहां चित्तरूपी बेताल, मनरूपी मनुष्य-भक्षक राक्षस, रोगरूपी भूत-प्रेतों के समूह और भोग-विलासरूपी बिच्छुओं का (तीक्ष्ण) विष दिखाई देता है ॥६॥ जहां पर विषय-सुख की इच्छाएँ ही मक्खियां तथा मच्छर हैं, और सुख ही तितली हैं, हे स्वामी !

जहां रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषय ही सर्प हैं, वहां हे नाथ ! आप की त्रिगुणात्मिका माया ने मुझ मन्द बुद्धि को लाकर पटक दिया है। (भला मैं कैसे इसे पार कर सकता हूं !) हे गरुड़गामी ! मैं अन्धा हूँ, (ज्ञान-नेत्र नहीं है). आत्म-प्रकाश-हीन हूँ, (अतः पार पाना कठिन है) ॥ ७ ॥ इतना ही नहीं, यहां प्रवृत्ति-रूपी नदी बड़ी ही भीषण और अगाध है। इसमें पाप-रूपी जल भरा है। इसकी ओर देखना सहज नहीं, फिर पार कर जाना तो अत्यन्त ही कठिन है। इसका ओर-छोर ही नहीं जान पड़ता। इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सररूपी मगर रहा करते हैं। जहां-तहां इन्द्रिय रूपी घड़ियालें और जलावर्त भरे पड़े हैं। शुभ और अशुभ कर्म ही इसके दोनों तट हैं। और इसकी दुःखरूपी धारा बड़ी ही कठिन है ! ॥ ८ ॥ हे रघु-वंश-विभूषण ! इन सब नीचों के जमघट्टने मुझे इस वन में कैद कर रखा है। यह तुम्हारा दास, तुलसी, सदा चिंता के मारे घुटा करता है। कृपाकर इस कराल कलिकाल से भयभीत मुझे बचा लीजिए ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'तरु-कर्म'—कर्म के भेद कई प्रकार से किये गये हैं। (१) कर्म, अकर्म और विकर्म (२) शुभ और अशुभ (३) सकाम और निष्काम (४) संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण (५) विधि और निषिद्ध आदि। वृक्ष भी अनेक प्रकार के होते हैं। इसलिये कर्मों की उपमा वृक्षों के साथ दी गई है।

(२) 'कंटकाकुल'—इच्छा पूरी न होने से जो व्याकुलता होती है, वही कांटे हैं।

(३) 'क्रोध'—मनुस्मृति में क्रोध आठ प्रकार का कहा गया है—

पैशून्यं, साहसद्रोहं ईर्ष्याऽसूयार्थ दूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोपिगणोष्टकम् ॥

(४) 'कंदर्प'—काम ; काम दशांग में विभक्त है। मनुस्मृति में लिखा है—

'मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादो स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाद्यं च कामजो दशको गणः ॥'

(५) 'विषम माया'—गीता में लिखा है—

'......गुणमयी मम माया दुरत्यया'।

(६) 'भव-आपगा'-स्वर्गीय पं० रामेश्वर भट्टजी ने इसका अर्थ 'यह संसार रूपी नदी' ऐसा किया है, किंतु संसाररूपी वनमें संसाररूपी नदी यह कुछ

शिथिलता की सूचना दे रहा है। अतएव 'भव' का अर्थ 'प्रवृत्ति' किया जाय, तो ठीक होगा। संसार में प्रवृत्ति का होना उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि नदी का वन में।

(७)'घोर.........तीव्रधारा'—इसी रूपक से मिलता-जुलता एक श्लोक राजर्षि भर्तृहरि का है। वह यह है—

"आशानाम नदी मनोरथजला तृष्णा तरंगाकुला,
रागग्राहवती वितर्क विहगा धैर्य द्रुम-ध्वंसिनी।
मोहावर्त्त सुदुस्तराऽति गहना प्रोत्तुंग चिन्ता तटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगेश्वराः" ॥

(८) इसमें रूपक अलंकार है

(६०)

नौमि नारायनं नरं करुनायनं, ध्यान-पारायनं ग्यान-मूलम्।
अखिल संसार-उपकार-कारन सदय-हृदय तपनिरत प्रनतानुकूलम् ॥१॥
स्याम-नव-तामरस-दामद्युति बपुष छबि, कोटि मदनार्क अगनित प्रकासम्
तरुन रमनीय राजीव-लोचन ललित, बदन राकेस कर-निकर हासम्॥२॥
सकल सौंदर्य-निधि,विपुल गुनधाम,विधि-वेद-बुध-संभु-सेवित अमानम्,
अरुन पदकंज-मकरंद-मन्दाकिनी मधुप-मुनिबृन्द कुर्वन्ति पानम् ॥३॥
सक्र-प्रेरित घोर मदन-मद-भंगकृत, क्रोधगत, बोधरत, ब्रह्मचारी।
मारकण्डेय मुनिवर्यहित कौतुकी बिनहि कल्पांत प्रभु प्रलयकारी ॥४॥
पुन्य बन सैलसरि बदरिकास्रम सदासीन पद्मासनं एक रूपं।
सिद्ध जोगीन्द्र वृन्दारकानंदप्रद, भद्रदायक दरस अति अनूपं ॥५॥
मान मनभंग, चितभंग मद, क्रोध-लोभादि-पर्वतदुर्ग, भुवन-भर्त्ता।
द्वेष मत्सर राग प्रबल प्रत्यूह प्रति, भूरि निर्दय क्रूरकर्म-कर्त्ता ॥ ६ ॥
बिकटतर बक्र छुरधार प्रमदा तीव्र दर्प कंदर्प खर * खड्गधारा।
धीर-गंभीर-मन-पीर-कारक तत्र, के बराका वयं बिगतसारा ॥ ७ ॥

---

*पाठांतर 'नर'।

परम दुर्घट पन्थ, खल-असंगत साथ, नाथ ! नहिं हाथ वर विरति यष्टी।
दर्सनारत दास, त्रसित माया-पास,त्राहि हरि,त्राहि हरि, दास कष्टी† ॥८॥
दासतुलसी दीन, धर्म-संबलहीन, स्रमित अति, खेद मति मोह नासी।
देहि अवलंब न विलंब अंभोज-कर, चक्रधर तेजबल सर्मरासी ॥९॥

पदच्छेद–नार (जल) + अयन। करुना + अयन। प्रनत + अनुकूल। मदन + अर्क। राका + ईस सदा + आसीन। जोगी + इंद्र। वृन्दारक + आनंद। प्रति + ऊह। दर्सन + आरत।

शब्दार्थ–तामरस = कमल। दाम = माला। अर्क = सूर्य। कर-निकर = किरणों का समूह। कुर्वन्ति = करते हैं। सक्र (शक्र) = इन्द्र। कौतुकी = लीला करनेवाले। आसीन = विराजमान्। पद्मासन = योग-शास्त्रानुसार एक आसन। वृन्दारक = देवता। भद्र = कल्याण। प्रमदा = स्त्री। कन्दर्प = कामदेव। वराक = गरीब। विगतसार = क्षुद्र, निर्बल। यष्टी = लाठी। पास = फंदा। संबल = मार्गव्यय, कलेवा। सर्म (शर्म) = कल्याण।

भावार्थ—मैं करुणा के स्थान, ध्यानावस्थित और ज्ञान के कारण श्रीनर-नारायणको नमस्कार करता हूं। वे समस्त संसारके हित करनेवाले, दयालु हृदयवाले, तपःशील और भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं॥ १॥ उनका शरीर नीले और नवीन कमलों की मालाके समान कांतिमय है, सौन्दर्य करोड़ों कामदेवों के समान और दीप्ति अनन्त सूर्यों के सदृश है। उनके नेत्र नवीन विकसित कमल-दलोंके जैसे हैं मुख सुन्दर चन्द्रमा के समान और मन्द मन्द मुसक्यान चंद्र-किरणावलि के जैसी है॥ २॥ वे समस्त सौन्दर्य के भण्डार हैं। मान तो उन के तनिक भी नहीं। ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न नर-नारायणको ब्रह्मा, वेद, पंडित और शिवजी सदा सेते हैं। उनके लाल कमल के समान चरणों से मिश्रित गंगा के पराग को मुनिरूपी भौंरे नित्य पीते हैं॥३॥ वे इन्द्रसे भेजे गये भीषण (दुर्जय) कामदेव के गर्वका खर्व करनेवाले, क्रोध-रहित, शुद्ध आत्मज्ञानी और ब्रह्मचारी हैं। उन्होंने अपने सामर्थ्यसे बिना ही कल्पान्त के मार्कण्डेय मुनि के दिखाने के लिये प्रलयकाल की लीला रची थी॥ ४॥ वे सदा वन, पर्वत और नदी-पूर्ण पवित्र बद्रिकाश्रम में पद्मासन लगाये विराज-मान् रहते हैं। उनका अत्यन्त अनुपम दर्शन सिद्ध, योगीन्द्र और देवताओं

† पाठांतर 'दास जान कष्टी'।

को आनन्द और कल्याण का देनेवाला है ॥ ५ ॥ हे संसार के सूत्रधार! आपके बद्रिकाश्रम के मार्ग में 'मनभंग' नामका पर्वत है, जिसे देखकर बड़े बड़े साहसी भी आगे बढ़ने से हिचकते हैं, और यहाँ अर्थात् मेरे हृदय में अभिमानरूपी मनभंग है अर्थात् अभिमान आते ही सारे उत्साह पर पानी पड़ जाता है। वहाँ 'चितभंग' पर्वत है, तो यहाँ मद ही चितभंग से होड़ लगा रहा है। भला यह कोई सत्कार्य करने देगा! वहाँ जैसे बड़े बड़े कठिन पहाड़ हैं, उसी प्रकार यहाँ क्रोध-लोभ आदि पहाड़ों की समता कर रहे हैं। यहाँपर द्वेष, मत्सर और रागरूपी अनेक भारी भारी विघ्न-बाधाएँ हैं. यह सबके सब बड़े ही निर्दय और दुष्ट हैं ॥ ६ ॥ जैसे बद्रिकाश्रम के मार्गमें लुटेरे लोग पैनी छुरी और तलवारसे पथिकों के गले काट लेते हैं, उसी प्रकार इस हृदय में, कटाक्ष करनेवाली, टेढ़ी नजर से देखनेवाली और काम-रूपी विषभरी तलवार चलानेवाली कामिनी बड़े बड़े धीर और शांत जनों के मन को कष्ट दे रही है, फिर हम बेचारे निर्बलों को पूछता ही कौन है ?॥७॥हे नाथ यह आत्म-दर्शन का मार्ग बड़ा ही दुस्तर है, तिसपर दुष्टों और नीचों का साथ पड़ गया है और हाथ में टेकने के लिये, सहारे के लिये वैराग्यरूपी लकड़ी नहीं है। यह दास आपके दर्शन के लिये घबरा रहा है, उधर माया के फंदे में फँसा तड़पड़ा रहा है। हे नाथ! दास के कष्ट को दूर कर, उसकी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥ ८ ॥ बेचारे तुलसीदास के पास धर्म-रूपी मार्ग-व्यय (कलेवा) भी नहीं है, वह बिल्कुल थक गया है, अत्यन्त कष्ट के मारे उसकी बुद्धि भी मारी गयी है, उधर मोहने धर दबाया है। हे चक्रधारी! हे तेज, बल और आनन्द के पुन्ज! देर न कीजिये, अब मुझे अपने कर-कमल का सहारा शीघ्र दीजिये ॥९॥

टिप्पणी--(१) 'नारायण'—नार नाम जल, उसमें है जिनका भवन, सो 'नारायण'।

(२) 'नर'—नर नाम अर्जुन का है। बद्रिकाश्रम में ध्यान-मग्न नारायण और अर्जुन के स्वरूप विराजमान् हैं।

(३) 'अर्क अगनित प्रकास'—गीता में भी लिखा है—

'दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगवपस्थिता।
यदि भा सदृशी सा स्यात् भासस्तस्य महात्मनः'॥

(४) 'मारकण्डेय......प्रलयकारी'—मारकण्डेय ऋषि ने कठोर तप करने

के बाद भगवान् से यह प्रार्थना की कि मुझे आप प्रलय का दृश्य दिखाइये। बिना ही कल्पान्त के भक्तवत्सल भगवान् को प्रलय-लीला रचनी पड़ी। मार्कण्डेय ने उस समय सारे ब्रह्माण्ड को जलमय देखा, केवल नारायण बालरूप से एक वट पत्र पर खेलते हुए दृष्टि आये।

(५) इस नर-नारायणीय स्वरूप के अन्तर्गत बुद्ध भगवान् के पवित्र दर्शन की भी झलक मिलती है।

(६१)

सकल सुखकन्द आनन्दवन पुन्यकृत, बिंदुमाधव द्वन्द्व-विपतिहारी।
यस्यांघ्रिपाथोज अज संभु सनकादि सुक सेष मुनिवृन्द अलि निलयकारी १
अमल मर्कत स्याम, काम सतकोटि छबि, पीतपट, तड़ित इव जलदनीलम्।
अरुन सतपत्र लोचन, बिलोकनि चारु, प्रनतजन सुखद करुनार्द्रसीलम्॥२॥
काल-गजराज-मृगराज दनुजेस वन-दहन पावक मोह-निसि दिनेसम्।
चारिभुज चक्र कौमोदकी जलज दर, सरसिजोपरि जथा राजहंसम्॥३॥
मुकुट कुण्डल तिलक, अलक अलिव्रात इव, भ्रुकुटि द्विज अधरवर चारुनासा
रुचिर सुकपोल, दर ग्रीव सुखसीव, हरि! इन्दुकर-कुन्दमिव मधुरहासा॥४॥
उरसि बनमाल सुबिसाल, नवमञ्जरी भ्राज श्रीवत्सलांछन उदारं।
परम ब्रह्मन्य, अतिधन्य, गत मन्यु, अज, अमितबल बिपुल महिमा अपारं॥५॥
हार केयूर, कर कनक, कंकन रतन-जटित मनि मेखला कटिप्रदेसं।
जुगल पद नूपुरामुखर कलहंसवत सुभग सर्वांग सौन्दर्य वेसं॥ ६ ॥
सकल सौभाग्य-संजुक्त त्रैलोक्यकी दच्छ दिसि रुचिर वारीस-कन्या।
बसत बिबुधापगा निकट तट सदनवर, नैन निरखंति नर तेऽति धन्या॥७॥
अखिल मंगल-भवन निबिड़-संसय-समन, दमन व्रजनाटवी कष्टहर्त्ता।
बिस्वधृत बिस्वहित, अजित, गोतीत, सिव, बिस्वपालन-हरन, बिस्वकर्त्ता॥८॥
ग्यान-बिग्यान-वैराग्य-ऐस्वर्य-निधि, सिद्धि अनिमादि दे भूरिदानम्।
ग्रसित-भव-व्याल अतित्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारि-यानम्॥९॥

पदच्छेद—यस्य + अंघ्रि। सनक + आदि। करुना + आर्द्र। सरसिज + उपरि। कुन्दम् + इव। वारि + ईस। बिबुध + आपगा। ते + अति। व्रजन + अटवी। अनिमा + आदि। उरग + अरि।

शब्दार्थ—आनन्दवन=काशीसे तात्पर्य है। द्वन्द्व=राग, द्वेषादि। यस्य=जिसके। अंघ्रि=चरण। पाथोज=कमल। निलय=निवास। मर्कत=नीलमणि। सतपत्र=सौ दलवाला कमल। आर्द्र=भीगे हुए। कौमोदकी=गदा। दर=शंख। व्रात=समूह। द्विज=दांत। लांछन=चिह्न। मन्यु=क्रोध। मेखला=करधनी। मुखर=शब्दायमान्। वारीस-कन्या=समुद्र की पुत्री, लक्ष्मीजी। विबुधापगा=देव-नदी गंगाजी। निबिड़=सघन। व्रजन=पाप। अटवी=वनस्थली। गोतीत=इन्द्रियोंसे परे। उरगारि=गरुड़।

भावार्थ—हे बिन्दुमाधव, आप सब प्रकारके सुखोंकी वर्षा करनेके लिये मेघरूप हैं। आपने आनंदवन अर्थात् काशीको पवित्र किया है। आप राग, द्वेषादि जन्य-दुखोंके हरनेवाले हैं। तुम्हारे चरणारविंदोंमें ब्रह्मा, शिव और सनक, सनंदन, सनातन तथा सनत्कुमार और शेष एवं मुनिरूपी भ्रमर सदा वास किया करते हैं ॥ १ ॥ आप स्वच्छ नीलम मणि के समान श्यामसुन्दर हैं, सौ करोड़ कामदेवोंके समान आपका लावण्य है, और पीतांबर धारण किये हैं। यह पीताम्बर कैसा मालूम पड़ता है जैसे नीले आकाश में विद्युच्छटा। आपके नेत्र लाल कमलके समान हैं। चितवन सुन्दर है। भक्तोंको सुख देने वाले और सहज ही करुणासे भीगे रहते हैं ॥ २ ॥ आप कालरूपी हाथीके पछाड़ने के लिये सिंहरूप हैं, राक्षसरूपी वन के जलाने के लिये अग्निरूप तथा अज्ञान-रात्रि के नाश करने के लिये सूर्यरूप हैं। आप चारो हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हैं। आपके कमलस्वरूपी हाथ में श्वेत शंख ता ऐसा शोभित हो रहा है, जैसे कमल के ऊपर राजहंस ॥ ३ ॥ मस्तक पर मुकुट, कानों में कुण्डल, भालस्थली पर (केसरिया) तिलक, भ्रमर-समूह के समान अलकें, टेढ़ी भौंहें, सुन्दर दांत, होठ और नासिका बड़ी ही मनोहर हैं। सुन्दर लोल कपोल और शंख के समान ग्रीवा मानों ये सब आनन्द की सीमा हैं। हे हरे! आप की मंद मुसक्यान चंद्र-किरण एवं कुन्द पुष्प के समान है ॥ ४ ॥ आपके हृदय पर नवीन मंजरियों-सहित विशाल वनमाला और सुन्दर श्रीवत्स का चिह्न शोभायमान् हो रहा है। आप परम ब्रह्मन्य है अर्थात् ब्राह्मणोंकी प्रतिष्ठा करनेवाले हैं, क्रोध तो आपमें लेशमात्र भी नहीं, अजन्मा हैं ही, आपका बल और महत्व अनंत है, ऐसे आपको धन्य है, धन्य है ॥ ५ ॥ हृदय पर हार, भुजाओं पर बाजूबन्द, हाथोंमें रत्नों

से जड़े हुए कंकण और कमर में मणियोंकी करधनी (तागड़ी) धारण किये हैं। आप अपने दोनों चरणों में हंस के समान सुन्दर शब्द करनेवाले नूपुर पहिने हैं। आपके अंग-प्रत्यंग सुन्दर हैं, और सारा वेश ही लावण्यमय है ॥ ६ ॥ सर्व सौभाग्य की मूर्ति तथा तीनों लोकों की शोभा जो लक्ष्मी है, वह आपकी दाहिनी ओर विराजमान् है। आप गंगाजी के समीप सुन्दर मंदिर में निवास किया करते हैं। जो आपके दर्शन करते हैं, वे बड़भागी हैं ॥ ७ ॥ आप सभी प्रकार के कल्याणोंके स्थान, बड़े बड़े संदेहोंके नाश करनेवाले, पापरूपी वनस्थलीके जला देनेवाले और कष्टों के हरनेवाले हैं। आप विश्वको धारण करनेवाले, जगत् के हितकारी, अजित, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से परे, कल्याणमूर्ति और जगत् के उत्पादक, पालक एवं संहारक हैं। अथवा आप ही ब्रह्मा, आप ही विष्णु और आप ही शिव हैं ॥ ८ ॥ आप ज्ञान-विज्ञान (अपरा और पराविद्या), वैराग्य और ऐश्वर्य के भाण्डार हैं। और अणिमा आदि बड़ी बड़ी सिद्धियों के देनेवाले महान् दानी हैं। यह तुलसीदास बहुत ही भयभीत हो रहा है, कारण कि उसे संसाररूपी सांप निगले जाता है, सो हे गरुड़-गामी श्रीरामचन्द्रजी ! कृपा कर उसे बचा लीजिए ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'आनंदवन'—स्वर्गीय पंडित रामेश्वर भट्टजी ने 'आनंदवन' को, विंदुमाधवजी का विशेषण मानकर उसका अर्थ 'आनंद का वन' किया है। किन्तु पूर्वापर देखने से इसका अर्थ काशी सिद्ध होता है। विन्दुमाधवजी काशी में हैं ही और आनंदवन काशी का नाम भी है। अतः यहां 'आनंदवन' से काशी से तात्पर्य है।

(२) 'द्विज'— दांत, दो बार उत्पन्न होने से दांतों का नाम द्विज पड़ा है।

(३) 'इंदुकर कुन्दमिव'—साहित्यकारों ने हास्यरस का वर्ण श्वेत माना है, इसीसे इसकी उपमा चन्द्र-किरणों और कुन्दपुष्प के साथ दी गई है।

(४) 'उरगारियानम्'—यह पद निरर्थक नहीं है। गुसाईंजी भव-व्याल-ग्रसित हैं और गरुड़ सर्पके भक्षक हैं। आप अपने प्रभु रामचन्द्रजी को कष्ट नहीं देना चाहते। संसाररूपी सर्प को खा जाने के लिये वह उनके वाहन ही की मदद चाहते हैं।

राग असावरी

(६२)

* इहै परम फल परम बड़ाई ।
नखसिख रुचिर बिन्दुमाधव-छबि निरखहिं नयन अघाई ॥ १ ॥
बिसद, किसोर, पीन, सुन्दर वपु, स्याम सुरुचि अधिकाई ।
नीलकंज, बारिद, तमालमनि, इन्ह तनु ते दुति पाई ॥ २ ॥
मृदुल चरन, सुभ चिन्ह, पदज नख, अद्भुत उपमाई ।
अरुन नील पाथोज-प्रसव जनु, मनिजुत दल-समुदाई ॥ ३ ॥
जातरूप मनि-जटित मनोहर, नूपुर जन-सुखदाई ।
जनु हर-उर हरि बिबिध रूप धरि, रहे वर भवन बनाई ॥ ४ ॥

---

* नखशिख-सम्बन्धी एक पद महात्मा सूरदासजी का भी देख लीजिये-
" करि मन नन्दनंदन ध्यान ।

सेइ चरन सरोज सीतल, तजि विषै-रस-पान ॥ १ ॥
जानु जंघ त्रिभंग सुन्दर, कलित कंचन-दंड ।
काछिनी कटि पीत पट दुति कमल केसर खंड ॥ २ ॥
मनु मराल प्रवालछौना किंकिनी कल राव ।
नाभि हृद रोमावली अलि चले सैन सुभाव ॥ ३ ॥
कंठ मुक्तामाल मलयज उर बनी वनमाल ।
सुरसरी के तीर मानो, लता स्याम तमाल ॥ ४ ॥
बाहु पानि सरोज-पल्लव, गहे मुख मृदु बैनु ।
अति बिराजत वदन बिधुपर, सुरभि- रंजित रेनु ॥५॥
अरुन अधर कपोल नासा, परम सुंदर नैन ।
चलित कुंडल गंडमंडल, मनहुं निरतत मैन ॥ ६ ॥
कुटिल कच भ्रू तिलक रेखा, सीस सिखि श्रीखंड ।
मनु मदन धनु सर संधाने, देखि घन-कोदंड ॥ ७ ॥
सूर श्रीगोपाल की छवि, दृष्टि भरि भरि लेत ।
प्रानपति की निरखि सोभा, पलक परनि न देत ॥ ८ ॥ (सूर-सागर)

कटितट रटति चारु किंकिनि-रव, अनुपम बरनि न जाई।
हेम-जलज-कल-कलित-मध्य जनु, मधुकर मुखर सुहाई ॥ ५ ॥
उर बिसाल भृगुचरन चारु अति, सूचत कोमलताई।
कंकन चारु बिबिध भूषन बिधि, रचि निज कर मनलाई ॥ ६ ॥
गज-मनिमाल बीच भ्राजत कहि जाति न पदक-निकाई।
जनु उडुगन-मण्डल बारिदपर, नवग्रह रची अथाई ॥ ७ ॥
भुजगभोग-भुजदण्ड कञ्ज, दर, चक्र, गदा बनि † आई।
सोभासीव ग्रीव चिबुकाधर, बदन अमित छबि छाई ॥ ८ ॥
कुलिस कुन्द-कुडमल दामिनि-दुति, दसनन देखि* लजाई।
नासा-नैन-कपोल ललित स्रुति, कुण्डल भ्रू मोहि भाई ॥ ९ ॥
कुञ्चित कच सिर मुकुट भाल पर, तिलक कहौं समुझाई।
अलप तड़ित जुग रेख इन्दु महँ, रहि तजि चंचलताई ॥ १० ॥
निर्मल पीत दुकूल अनूपम, उपमा हिय न समाई।
बहु मनिजुत गिरि नील सिखर पर, कनक-बसन रुचि राई ॥ ११ ॥
दच्छ भाग अनुराग-सहित इन्दिरा अधिक ललिताई।
हेमलता जनु तरु तमाल ढिग, नील निचोल ओढ़ाई ॥ १२ ॥
सत सारदा सेष स्रुति मिलि कै× सोभा कहि न सिराई।
तुलसिदास मतिमन्द द्वन्द्वरत कहै कौन बिधि गाई ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—पीन = पुष्ट। वपु = शरीर। पदज = पैर से उत्पन्न, अँगुली। पाथोज = कमल। प्रसव = उत्पन्न। जातरूप = सुवर्ण। मुखर = शब्दायमान्। निकाई = सुन्दरता। अथाई = बैठने की जगह (बुंदेलखण्डी)। भोग = सर्प-शरीर। कुलिस = यहां हीरे से तात्पर्य है, बज्र से नहीं। कुड्मल = कली। कुञ्चित = टेढ़े, घुँघुराले। इन्दिरा = लक्ष्मी। निचोल = वस्त्र।

भावार्थ—हे मन! इस शरीर का बड़ा भारी फल और महिमा इतनी ही है, कि तू अपना सहज स्वभाव अर्थात् चंचलता छोड़कर एक क्षण उन्हीं भगवान् बिन्दुमाधव की, नख से शिख तक, शोभा देख ॥१॥ जो निर्मल, किशोर, पुष्ट और सुन्दर शरीरवाले हैं, और जिनके श्याम शरीर की सुन्दरता असीम है। ऐसा

---

† पाठान्तर 'बन'। * पाठांतर 'पेख'। × पाठांतर 'करि'।

जान पड़ता है कि नीले कमल, (श्याम) मेघ, तमाल और (नीलम) मणि ने, मानों, इन्हीं के शरीर से आभा प्राप्त की है ॥ २ ॥ जिनके कोमल चरणारविन्दों में सुन्दर चिह्न हैं, अँगुलियों और नखों की तो कुछ विचित्र ही उपमा है, मानों लाल और नीले कमलों से रत्न-युक्त पत्तों का समूह उत्पन्न हुआ हो ! ॥ ३ ॥ सोने के, रत्नों से जड़े हुए नूपुर मन को मोहनेवाले और भक्तों को आनन्द देनेवाले हैं। वे ऐसे जान पड़ते हैं, मानों शिवजी के हृदय में अनेक रूप धारण कर विष्णु भगवान् सुन्दर मन्दिर बनाकर निवास कर रहे हों ॥ ४ ॥ कमर में जो करधनी का सुन्दर शब्द हो रहा है, वह अनुपम ही है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। (फिर भी, किसी प्रकार, यों उत्प्रेक्षा हो सकती है) सोने के कमल की सुन्दर कलिकाओं के बीच भ्रमरों का मनहरण शब्द (गुंजार) हो रहा हो ॥ ५ ॥ प्रशस्त वक्षःस्थल में, चौड़ी छाती में, जो भृगुमुनि के चरण का अङ्क है, वह वक्षःस्थल की कोमलता बतला रहा है। कंकन आदि नाना प्रकार के गहने, जो अंगों में पहिने हैं, वे मानों ब्रह्मा ने चित्त लगा कर अपने हाथ से बनाये हैं ॥ ६ ॥ गजमोतियों की माला के बीच में रत्नों की चौकी की सुन्दरता वर्णन नहीं की जा सकती। (फिर भी इस प्रकार उत्प्रेक्षा घट सकती है कि) मानों (नीले) मेघ पर ताराओं की मण्डली के बीच में नवग्रहों ने बैठने का स्थान बनाया हो। यहां, नीले मेघ के समान हुआ शरीर, तारागणों की मंडली हुई गजमोतियों की माला और रंग-बिरंगे रत्न हुए नव-ग्रहों के बैठने का स्थान ॥७॥ सर्प के शरीर-जैसे भुजदण्डों में, कमल, शंख, चक्र, और गदा शोभायमान् हो रहे हैं। ग्रीवा सुन्दरता की सीमा है, और ठोढ़ी तथा होठों-सहित मुख की सुन्दरता असीम ही है ॥ ८ ॥ दाँतों की ओर देख कर हीरे, कुन्द-कलियाँ और बिजली की चमक शर्मीली हो जाती है। नासिका, नेत्र, कपोल, सुन्दर कानों में कुण्डल और भौंहें मुझे बड़ी प्यारी लगती हैं ॥९॥ शिर पर घूँघरवाले बाल हैं, तिनपर मुकुट बँधा हुआ है। इधर माथे पर केसरिया तिलक निराली शोभा दे रहा है। उसे समझा कर कहता हूं, मानों बिजली की दो छोटी छोटी रेखाएं चन्द्रमा के मण्डल में अपनी सहज चंचलता छोड़ कर बस रही हों ॥ १० ॥ शरीर पर स्वच्छ पीताम्बर धारण किये हैं, जो उपमा-रहित है, जिसकी उपमा मन में समाती ही नहीं। (फिर भी इस प्रकार कुछ कुछ कल्पना की जाती है कि) मानों अनेक मणि-सम्पन्न नीले पर्वत

के शिखर पर सोने-जैसा वस्त्र शोभायमान् हो रहा हो ॥ ११ ॥ दाहिनी ओर प्रेम-सहित लक्ष्मीजी विराजमान् हैं। वह ऐसी सुशोभित हो रही हैं, जैसे तमाल वृक्ष के समीप, नीला वस्त्र ओढ़े हुए स्वर्ण-लता बैठी हो ॥ १२ ॥ सैकड़ों सरस्वती, शेषनाग और वेद, सब मिलकर, इस शोभा का वर्णन करते हुए, इसका पार नहीं पा सकते। फिर भला रागद्वेषादि में फँसा मूढ़ तुलसीदास किस प्रकार गा कर इस दिव्य शोभा का वर्णन कर सकता है ॥१३॥

टिप्पणी—(१) 'किशोर'--१५ और १६ वर्ष के बीच की अवस्था।

(२) 'नील कंज.........पाई'—यहां प्रतीप अलंकार है ॥ इसके पांच भेद हैं। 'प्रतीप' शब्दका अर्थ है 'उलटा'। प्रथम प्रतीप का लक्षण अलंकार-मंजूषा में इस प्रकार दिया है—

जहं प्रसिद्ध उपमानके ,पलटि करिय उपमेय।
तासों प्रथम प्रतीप कवि, वरनत बुद्धि अजेय ।।

(३) इस पदके 'अरुननील......समुदाई'—'जनु हर उर बनाई'—'हेमजलज ......सुहाई'—'जनु उड़गन... ...अघाई'—'अलय..... चंचलताई'—'वहुमनि ......रुचिराई'—'हेमलता......ओढ़ाई'—आदि में उत्प्रेक्षा अलंकार है। इसका लक्षण १४ पद की टिप्पणी में दिया जा चुका है।

(४) 'गजमनि'—यहां मणि का अर्थ 'मुक्ता' किया गया है, क्योंकि हाथियों के मस्तक से मोती निकलता है, मणि नहीं।

(५) 'नवग्रह'—प्रत्येक ग्रह का भिन्न भिन्न रंग माना गया है, जैसे सूर्य का श्वेत, मंगल का लाल, बृहस्पति का पीला, शुक्र का श्वेत, शनिका काला आदि। उधर रत्न भी नौ प्रकार के होते हैं। जैसे श्वेत रंग का हीरा, नील रंग का नीलम, लाल रंगका माणिक आदि। इसीसे रत्नों और ग्रहों की यहां तुलना की गई है।

राग जयति श्री

(६२)

मन, इतनोई या तनु को परम फलु।
सब अँग सुभग बिन्दुमाधव-छवि, तजि सुभाव, अवलोक एक पलु ॥१॥
तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु, नख-दुति हृदय-तिमिर-हारी।
कुलिस, केतु, जव, जलज रेख वर, अंकुस मन-गज-बसकारी ॥२॥

कनक-जटित मनि नूपुर मेखल, कटि-तट रटति मधुर बानी ।
त्रिबली उदर, गँभीर नाभि सर, जहँ उपजे बिरंचि ग्यानी ॥३॥
उर बनमाल, पदक अति सोभित, बिप्र चरन चित कहँ करषै ।
स्याम तामरस-दाम-बरन वपु, पीत बसन सोभा बरषै ॥ ४ ॥
कर कंकन केयूर मनोहर, देति मोद मुद्रिक न्यारी ।
गदा, कंज, दर, चारु चक्रधर, नाग-सुण्ड-सम भुज चारी ॥ ५ ॥
कम्बुग्रीव छबिसीव, चिबुक, द्विज, अधर अरुन उन्नत नासा ।
नव राजीव नैन, ससि आनन, सेवक-सुखद बिसद हासा ॥ ६ ॥
रुचिर कपोल, स्रवन कुण्डल, सिर मुकुट सुतिलक भाल भ्राजै ।
ललित भृकुटि, सुन्दर चितवनि, कच निरखि मधुप-अवली लाजै ॥७॥
रूप-सील-गुन-खानि दच्छ दिसि, सिंधु-सुता रत-पद-सेवा ।
जाकी कृपा-कटाच्छ चहत सिव, बिधि, मुनि, मनुज, दनुज, देवा ॥८॥
तुलसिदास भव-त्रास मिटै तब, जब मति इहि स्वरूप अटकै ।
नाहिंत दीन मलीन हीनसुख, कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भटकै ॥९॥

भावार्थ—हे मन ! इस शरीर का सबसे बड़ा लाभ केवल इतना ही है कि नखसे शिख तक सुन्दर अंगवाले श्रीविन्दुमाधवजी की झांकी को एकक्षण के लिये अपने चपल स्वभाव को छोड़कर अर्थात् स्थिरता से, देख ॥१॥ जिनके कोमल चरण नवीन विकसित लाल कमलके समान हैं और नखों की प्रभा हृदय के अन्धकार को, अज्ञानको, नाश करनेवाली है । जिन चरणों में बज्र, पताका, जौ, कमल आदि, सुन्दर रेखाएँ एवं अंकुश का चिह्न मन-मतंगको वशमें करनेवाला है ॥२॥ पैरोंमें रत्नों से जड़े हुए सोने के नूपुर धारण किये हैं और कमर में करधनी मधुर स्वर से बज रही है । पेट पर तीन रेखाएँ पड़ी हैं। नाभि मानों एक गहरा सरोवर है जहां से ब्रह्मा जैसे प्रसिद्ध ज्ञानी प्रकट हुए हैं ॥ ३ ॥ हृदय पर वनमाला और तिसके बीचमें मणियोंकी चौकी बड़ी ही शोभायमान् हो रही है, वहीं भृगु-चरण का चिह्न मनको बरबस खीचें लेता है। नीले कमल के फूलों की माला के समान जिनके शरीर का रंग है, उसपर पीताम्बर तो मानों सुन्दरता की वर्षा ही कर रहा है, चारो ओर सुन्दरता बिखरा रहा है ॥४॥ हाथों में कङ्कन और बाजूबंद मन के हरनेवाले हैं और अँगूठी

निराला ही आनंद दे रही है। हाथी की सूड़-जैसे भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हैं ॥ ५ ॥ शङ्ख के सदृश ग्रीवा सुन्दरता की सीमा है। सुन्दर ठोढ़ी, दांत, लाल लाल होठ, ऊँची (सुढार) नाक, नवीन कमल के समान नेत्र, चन्द्रमा-जैसा मुख-मंडल और मंद मुसक्यान भक्तों को सुख देने वाली है ॥६॥ जिनके कपोल सुन्दर हैं, कानों में कुंडल, मस्तक पर मुकुट और माथे पर सुन्दर तिलक शोभित हो रहा है, सुन्दर (कटीली) भौंहें और सुन्दर चितवन हैं और जिनके श्याम केश देखकर भौंरों की पंक्ति लज्जित हो जाती है, अर्थात् भौंरे अपने को बालों की श्यामता के आगे कुछ भी नहीं समझते ॥ ७ ॥ जिनके चरणोंकी सेवामें अनुरक्त, सौन्दर्य, शील और गुणोंकी खानि लक्ष्मीजी दाहिनी ओर विराजमान् हैं। जिनकी कृपा-दृष्टि शिव, ब्रह्मा, मुनि, मनुष्य, दैत्य और देवता भी चाहते हैं ॥ ८ ॥ तुलसीदासका संसार-जन्य भय (जन्म-मरण) तभी दूर हो सकता है, जब उसकी बुद्धि इस स्वरूप में उलझ जाय, नहीं तो दीन, मलीन और निरानन्द होकर वह करोड़ों जन्म तक वृथा ही भटकता फिरेगा, फिर मरेगा और जन्म लेगा, कभी शांति न मिलेगी ॥ ९ ॥

टिप्पणी--(१) 'नखदुति हृदय......हारी'—इस तमच्छेद के सम्बन्ध में सूरदासजी भी लिख गये हैं—

'श्रीवल्लभ-नख-चंद-छटा बिनु, सब जग मांझ अंधेरो।'

(२) भगवान् के दाहिने और बायें चरण में चौबीस चौबीस चिह्न हैं। लक्ष्मीजी के दाहिने चरण में वे चिह्नहैं, जो भगवान् के बायें चरण में हैं और बाये में वे हैं जो उनके दाहिने में हैं।

(३) 'विप्र चरन'—महर्षि भृगु से प्रहार की गई लात।

(४) 'जब मति......अटकै'—इस अटकन या उलझन पर रसिकवर हरिश्चन्द्र क्या खूब लिख गये हैं।

"मोहि मोहि मोहनमई री मन मेरो भयो, हरीचंद भेद न परत कछु जान है। प्रान भये कान्हमय, कान्ह भये प्रानमय, हिय में न जानि परै कान्ह है कि प्रान है।

राग वसन्त

(६४)

वन्दों रघुपति करुना-निधान। जाते छूटै भव-भेद-ग्यान ॥ १ ॥
रघुवंस-कुमुद-सुखप्रद-निसेस। सेवत पद-पंकज अज-महेस ॥२॥
निज भक्त-हृदय-पाथोज-भृंग। लावन्य वपुष अगनित अनंग ॥३॥
अति प्रबल मोहतम-मारतंड। अग्यान-गहन-पावक प्रचंड ॥ ४ ॥
अभिमान-सिंधु-कुंभज उदार। सुररंजन भंजन-भूमिभार ॥ ५ ॥
रागादि-सर्पगन-पन्नगारि। कंदर्प-नाग-मृगपति मुरारि ॥ ६ ॥
भव-जलधि-पोत चरनारविंद। जानकी-रमन आनन्द-कन्द ॥ ७ ॥
हनुमन्त-प्रेम-बापी-मराल। निष्काम कामधुक गो दयाल ॥ ८ ॥
त्रैलोक-तिलक गुनगहन राम। कह तुलसिदास बिस्राम-धाम ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—निसेस = निसा + ईस, चन्द्रमा। अज = ब्रह्मा। पाथोज = कमल। गहन = वन। कुम्भज = अगस्त्य ऋषि। पन्नगारि = सांपोंके शत्रु, गरुड़। कंदर्प = कामदेव। नाग = हाथी। मुरारि = मुर दैत्य के शत्रु, विष्णु भगवान्। पोत = नौका। कामधुक = कामधेनु, मनचाही वस्तु देनेवाली गाय। तिलक = श्रेष्ठ।

भावार्थ—मैं करुणालय रघुनाथजी की वन्दना करता हूं कि जिससे मेरी संसारी बुद्धि का नाश हो जाय, 'तू मैं' का भेद दूर हो जाय ॥१॥ श्रीरामचन्द्रजी रघुकुलरूपी कुमुद पुष्प को चंद्रमा के समान प्रफुल्लित करनेवाले हैं, और उनके चरणारविन्दों की सेवा ब्रह्मा और शिव भी किया करते हैं ॥२॥ वह अपने भक्तों के हृदय-कमल में भौंरे के समान निवास करते हैं। उनके शरीर का सौन्दर्य अनेक कामदेव के समान है ॥३॥ वह बड़े प्रचंड अज्ञानरूपी अंधकार के नाश करने के लिये सूर्यरूप और अविद्यारूपी वन के भस्म करने के लिये अग्निरूप हैं ॥४॥ वह अहंकाररूपी समुद्र के सोख जाने के लिये साक्षात् अगस्त्य हैं, और देवताओं को सुख देनेवाले तथा पृथ्वी के भारस्वरूप दैत्यों के मारनेवाले हैं ॥५॥ राग-द्वेषादि-रूपी सांपों के लिये तो वह गरुड़ ही हैं, अर्थात् उनके सामने रागद्वेषादि की एक भी नहीं चलती, और कामरूपी हाथी के मर्दन के लिये सिंह हैं। मुर

नामक दैत्य मारने से उनका 'मुरारि' नाम पड़ गया है ॥६॥ उनके चरण-कमल संसार-सागर से तारने के लिये नौकारूप हैं। ऐसे श्रीजानकी-वल्लभ, आनंद की वर्षा करनेवाले हैं ॥७॥ वह हनुमानजी की प्रेमरूपी बावड़ी में हंस के समान विहार करनेवाले, और निरीह भक्तों के लिये कामधेनु के समान परम दयालु हैं ॥८॥ तुलसीदास का यही कहना है कि तीनों लोकों के शिरोमणि, गुणों के वन अर्थात् सर्वगुणालंकृत श्रीरामचंद्रजी ही शान्ति के स्थान हैं, उन्हीं की सेवा करने से जीव को सुख शान्ति मिल सकतीहै, अन्यथा नहीं ॥९॥

टिप्पणी -- (१) 'करुना'—भक्तवर बैजनाथजीने 'करुणा' का यह लक्षण दिया है —

'सेवक-दुखतें दुखित ह्वै, स्वामि विकल ह्वै जाइ।
दुःख निबारै सीघ्र ही, 'करुना' गुन सो आइ॥'

(२) 'भवभेद ग्यान'—'यह मेरा है, वह तेरा है' ऐसा ज्ञान ही भेदात्मक ज्ञान है। यथा—

'अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम्' । अथवा—
'मैं अरु मोर तोर तैं माया।'

(३) 'जानकी-रमन आनंदकंद'—श्रीजानकी-सहित रामचंद्रजी ही आनंदकंद हैं, क्योंकि जानकीजी आल्हादिनी शक्ति हैं और विना उनके आल्हाद अर्थात् आनंद कहां?

(४) गुसांईजी ने इस पद तक वंदना की है। अब आगे के पद से विनय का आरंभ करेंगे।

राग भैरव

(६५)

राम राम रटु † राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।
रामनाम-नवनेह-मेह को, मन! हठि होहि पपीहा ॥१॥
सब साधन-फल कूप सरित सर, सागर-सलिल निरासा।
रामनाम-रति-स्वाति-सुधा-सुभसीकर प्रेमपियासा ॥२॥

† पाठांतर 'रमु'।

गरजि तरजि पाषान बरषि पवि, प्रीति परखि जिय जानै।
अधिक अधिक अनुराग उमँग उर, पर परमिति पहिचानै ॥३॥
रामनाम-गति, रामनाम मति, रामनाम-अनुरागी।
ह्वै गये, हैं, जे होहिंग,* त्रिभुवन तेइ गनियत बड़भागी ॥४॥
एक अंग मग अगम गवन कर, बिलमु न छिन छिन छाहैं।
तुलसीहित अपनो अपनी दिसि, निरुपधि, नेम निवाहैं ॥५॥

शब्दार्थ—हठि=जबरदस्ती। सीकर=बूंद। पवि=बज्र। परमिति= पूरी सीमा। निरुपधि=निर्विघ्न।

भावार्थ—हे जीभ! तू सदा राम राम रटा कर और राम राम जपा कर। हे मन! तू भी राम-नाम में, नित्य नवीन प्रेमरूपी मेघ के लिये, जैसे बने तैसे, पपीहा बन जा ॥१॥ जैसे पपीहा कुवाँ, नदी, तालाब और समुद्र तक के पानी की आशा न रख कर स्वाति नक्षत्र में बरसे हुए जल की केवल एक बूंद चाहता है, न मिले तो प्यासा ही मर जाता है, उसी प्रकार तू भी मुक्ति के सारे साधनों और उनके फलों की आशा न कर, केवल राम-नाम की भक्तिरूपी, अमृत के समान, मधुर बूँद के लिये लव लगाये रह ॥२॥ देख, पपीहे की कैसी कठिन परीक्षा है। उसका प्रेमी मेघ पहले गरजता है, डाँट-डपट बतलाता है, फिर ओले बरसाता है, इतने पर भी न मानने पर, प्रीति कम न करने पर, बज्र गिराता है। इन सब बातों में उत्तीर्ण हो जाने पर वह चातक के प्रेम की पूर्ण सीमा परख लेता है और यह समझ जाता है कि ओह! इसके हृदय में मेरे लिये कितनी अधिक प्रीति है, तब कहीं बेचारे को स्वाति की बूंद मिलती है ॥३॥ इसी प्रकार तू भी (हजारों विघ्न-बाधाएं आने पर भी) राम-नाम की ही शरण ग्रहण कर, राम-नाम में ही बुद्धि लगा और राम नाम का ही प्रेमी बन। रामनाम के ऐसे जितने अनन्य भक्त हो गये हैं, हैं, और जो आगे होंगे, वही बड़भागी हैं, त्रिलोक में उन्हीं का नाम अमर रहेगा॥४॥ यह एकांगी मार्ग बड़ा ही कठिन है। देख, भाग्यवशात् तुझे यह मार्ग चलने को मिल जाय तो क्षण-क्षण पर छाया लेने के लिये, सुस्ताने के लिये, ठहर ठहर कर देर न करना। हे तुलसीदास! यदि तुझे अपना भला करना है,

* पाठान्तर 'होहिंगे आगे'। किंतु यहां छंदोभंग होता है।

तो वह अपनी ओर से प्रभु में निष्कंटक प्रीति निबाहने से ही होगा, अन्यथा नहीं ॥९॥

टिप्पणी—(१)'पपीहा'—इस संबंध में गुसाईंजी राम चरितमानस में लिखते हैं—

"चातक रटनि घटे घटि जाई । पै प्रियतम सब ओर भलाई ।"

'चातक सुतहिं पढ़ावहीं, आन नीर मति लेय ।
मम कुल यहीं सुभाव है, स्वाति बूंद चित देय ॥' (कबीर)

सूरदासजी इस प्रेमी पपीहे को आशीर्वाद दिला रहे हैं—

'बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारो ।
बासर रैनि नांव लै बोलत, भयो विरहज्वर कारो ॥
आपु दुखित पर दुखित जानि जिय, चातक नांव तुम्हारो ।
देखो सकल बिचारि सखी जिय, बिछुरन को दुख न्यारो ॥
जाहि लगै सोई पै जानै, प्रेम-बान अनियारो ।
सूरदास प्रभु स्वाति-बूंद लगि, तज्यो सिंधु करि खारो ॥'

(२) 'गरजि तरजि......पहिचानै,'—जैसी चातक की परीक्षा ली जाती है उसी प्रकार जीवको भी भगवान् परखते और कसते हैं । प्रायः देखा गया है कि शुभ कर्म, विशेषतः भगवत्-साधन, करते ही अनेक विघ्नबाधायें आजाती हैं । कुसंग में पड़ जाना पड़ता है, धन चोरी चला जाता है, स्त्री—पुत्रादि से विछोह हो जाता है, अपमान होता है,जितने कुछ उच्चाटन के साधन हैं, वे सब सामने आते हैं । कच्चे दिलवाले तो ठहर ही नहीं सकते, पीठ दिखाकर इस रण—भूमि से भाग जाते हैं, पर इस तलवार की धार पर जो वीर बाकुँड़े डटे रहते हैं, उन्हींको भगवान् कृपा कर अपनी आत्यन्तिक भक्ति और दुर्लभ मुक्ति देते हैं ।

(३) 'रामनाम गति'—केवल एक आश्रय, जैसा कि श्रीकृष्ण उपदेश दे रहे हैं—

'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो, मोक्षयिस्यामि मा शुचः ॥' (गीता ।)

(४) 'एक अंग मग'—अनन्य मार्ग; गीता में लिखा है—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां, योग-क्षेमं वहाम्यहम् ॥'

रसिक रसखानि कहते हैं—

'इक अंगी बिनु कारनहिं, इक रस, सदा समान।
गनै प्रियहिं सरवस्व जो, सोई प्रेम-प्रमान॥'

(५) 'बिलमु न छिन छिन छाँहँ'—जैसे तेज धूप के मारे बटोही रास्ते में छाया के नीचे ठहरते हुए जाते हैं, उस प्रकार तू मत करना। तेरे लिये छाया क्या है? पुत्र-कलत्र और धन-संपत्ति का सुख, भोग-विलास की समग्र सामग्री एवं विद्या पौरुष आदि का अभिमान। इनके चक्कर में यदि तू पड़ा, तो फिर उस स्थान तक पहुँचने का नहीं, बीच ही में रह जायगा। और फिर थकावट कैसी! मार्ग, निःसंदेह लम्बा है, पर तुझे बेकरारी न आनी चाहिए।

'दूर है मंजिल, अभी से बेकरारी आगई।'

(६) 'निरुपधि'—शुद्ध शब्द निरुपाधि है। इसे आर्ष-प्रयोग कह सकते हैं।

(६६)

राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे।
घोर-भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे॥ १॥
एक ही साधन सब रिद्धि-सिद्धि साधि रे।
ग्रसे कलि-रोग जोग संजम समाधि रे॥ २॥
भलो जो है, पोच जो है, दाहिनो जो बाम रे।
राम-नाम ही सों अंत सब ही को काम रे॥ ३॥
जग नभ-वाटिका रही है फलि फूलि रे।
धुवां कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे॥ ४॥
राम नाम छांड़ि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी परोसो त्यागि मांगै कूर कौर रे॥ ५॥

शब्दार्थ—पोच=नीच। दाहिनो=अनुकूल। बाम=प्रतिकूल। धौरहर=मीनार।

भावार्थ—अरे पगले! राम जप, राम जप, राम जप। देख, इस भयानक संसाररूपी समुद्रसे पार जानेके लिये, जन्म-मरणसे छूटनेके लिये, एक राम-नाम ही नौका है, इसीके सहारे तू मोक्ष पा सकता है, अन्यथा नहीं॥ १॥ इसी एक साधनके बल-भरोसे ऋद्धि-सिद्धियोंको साध ले, क्योंकि फिर दूसरा

साधन नहीं है। देखता नहीं कि कलिकालरूपी (दुःसाध्य) रोगने यम-नियम, योगाभ्यास और समाधिको ग्रस लिया है, अर्थात् यह सब पंगु हो गये हैं, मुक्ति दिलानेमें असमर्थ हैं ॥ २ ॥ अन्त समय एक राम-नाम ही से सब को काम पड़ेगा, चाहे वह भला हो या बुरा, सीधा हो या उलटा ! (जब अन्तकाल राम नामसे काम पड़ेगा, तो अभी से उसके जपनेका अभ्यास क्यों नहीं करता ?) ॥ ३ ॥ यह संसार क्या है, आकाश-वाटिका फूली-फली दिखाई देती है। सारांश, जैसे आकाश में रंग-बिरंगे बादल फूलों के बाग की तरह मालूम पड़ते हैं, वास्तवमें वहाँ कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार इस संसार के सारे सुख केवल भ्रममात्र हैं, विचार करने पर उनकी अस्ति तक नहीं रह जाती। धुएं के धौरहरों की तरह इन मिथ्या पुत्र-कलत्रादि के सुखों को देख कर तू इन भूल-भुलैयों में मत पड़। भाव यह कि सारा संसार धोखे का टट्टी है, जो इसमें फँसा वह गिरा ॥ ४ ॥ राम-नाम सा सुलभ साधन छोड़ कर जो और साधनों की आशा करता है, तुलसीदास कहते हैं, वह उस मूर्ख के समान है जो आगे के परोसे हुए भोजन को छोड़कर एक एक कौर, टुकड़ा टुकड़ा, कुत्ते की तरह मांगता फिरता है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'जोग'— योगके आठ अंग हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। समाधि और फिर निर्विकल्प समाधि लगने पर आत्म-दर्शन होता है।

(२) 'एकही साधन'—इस नाम के समान दूसरा कोई तत्व ही नहीं है। केदारखण्ड में लिखा है—

'राम नाम समं तत्त्वं नास्ति वेदान्त गोचरम्'।

(३) 'जग.........भूलि रे'—इस अनित्यता पर कबीरदास जी कहते हैं—

'पानी केरा बुदबुदा, इस मानुष की जात। देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥
ऐसा यह संसार है, जैसा सेमर फूल। दिन दस के व्योहार में, झूठे रंग न भूल॥
सेवर सुवना सेइया, दुइ ढेंढ़ी की आस। ढेंढ़ी फूटि चटाक दे, सुवना चला निरास ॥'

(४) 'परोसे......कौर रे'—पांडव-गीता में लिखा है—

'वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते। तृषितो जाह्नवीतीरे, कूपं खनति दुर्मतिः ॥'

(६७)

राम राम जपु जिय सदा सानुराग रे।
कलि न बिराग, जोग, जाग*, तप, त्याग रे॥ १॥
राम सुमिरत सब बिधि हीको राज रे।
राम को बिसारिबो निषेध-सिरताज रे॥ २॥
राम-नाम महामनि, फनि जगजाल रे।
मनि लिये फनि जियै, ब्याकुल बिहाल रे॥ ३॥
राम-नाम कामतरु देत फल चारि रे।
कहत पुरान, वेद, पंडित, पुरारि रे॥ ४॥
रामनाम प्रेम परमारथ को सार रे।
रामनाम तुलसी को जीवन अधार रे॥ ५॥

शब्दार्थ—सानुराग = प्रेम-सहित। जाग = याग, यज्ञ। बिधि = कर्तव्य। निषेध = अकर्तव्य। फनि = सांप। पुरारि = शिवजी। परमारथ = मोक्ष।

भावार्थ—हे जीव! सदा प्रेम से राम-नाम जपा कर। इस कलिकाल में सिवा राम नाम के, वैराग्य, योग, यज्ञ, तप और दान कुछ भी सफल नहीं हो सकते और न सध सकते हैं, क्योंकि सभी में एक न एक बाधा लगी है १॥ शास्त्र में विधि और निषेध अर्थात् क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए—ये दो प्रकार के कर्म लिखे हैं। मेरी समझ में राम-नाम का स्मरण करना सारे विधि-कर्मों में श्रेष्ठ है और उसे भुला देना ही निषेध कर्मों में सब से बढ़ कर है; अर्थात् सदा राम-नाम जपना चाहिए, उसे स्वप्न में भी न भुला देना चाहिए॥ २॥ अरे! राम-नाम महामणि है और यह संसार का जाल, जगत्-प्रपंच, सांप है। जैसे सांप की मणि ले लेने से वह व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार राम-नाम स्मरण करने से सांसारिक दुःख आपसे आप मृतप्राय हो जायँगे। सारांश, राम-नाम के प्रताप से संसारी विकार तनिक भी न व्यापेंगे॥ ३॥ अरे! यह राम-नाम कल्पवृक्ष है। यह अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों फलों का देनेवाला है, इस बात को वेद, पुराण, पंडित और शिवजी ने कहा है, केवल मैं हीं नहीं कहता॥ ४॥ राम-नाम भक्ति और

*पाठान्तर 'जोग'।

मुक्ति दोनों का ही सार है और तुलसीदास के लिये तो यह प्राणों का आधार है, बिना राम-नाम के वह क्षण भर भी नहीं जीवित रह सकता ॥ ५॥

टिप्पणी—(१) 'राम-नाम महाफनि.......विहाल रे'—सर्प विषैला होता है और उसका मणि उसके विष का मारक। जो संसार को चाहेगा, वह उसके हाथ मारा जायगा, जन्म-मरण में फँसेगा और जो उसके मणिस्वरूपी राम-नाम पर प्रेम करेगा, वह संसार-सर्प के विष से छूट जायगा।

(२) 'पुरारि'—शिवजी ने सैकड़ों स्थलों पर राम नाम की महिमा गाई है। केदारखंड में कहा है–

'राम नाम समं तत्त्वं नास्ति वेदान्तगोचरम्।
यत्प्रसादात्परां सिद्धिं, संप्राप्तमुनयोऽमलाम्॥

(३) 'जीवन-अधार'—राम चरितमानस में लिखा है—

'प्रान प्रान के, जीवन जी के'।

(६८)

राम राम राम जीह जौलौं तू न जपि है।
तौलौं तू कहूंही जाय तिहूं ताप* तपि है ॥१॥
सुरसरि-तीर बिनु नीर दुख पाइहै।
सुरतरु तरे तोहि दारिद सताइहै ॥२॥
जागत वागत सपने न सुख सोइहै।
जनम जनम जुग जुग जग रोइहै ॥३॥
छूटिवे के जतन विसेष बांधो जायगो।
ह्वैहै विष भोजन जो सुधा-सानि खायगो ॥४॥
तुलसी तिलोक, तिहूं काल तोसे दीन को।
रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को ॥५॥

शब्दार्थ—वागत = फिरते हुए।

भावार्थ—हे जीव ! जब तक तू राम राम जीभ से नहीं कहेगा, तब तक, तू कहीं भी जा, भौतिक, दैविक और दैहिक इन तीनों तापों से जलता ही

* पाठान्तर 'ताय'।

रहेगा, विश्राम न मिलेगा ॥ १ ॥ तू गंगाजी के किनारे बस कर भी बिना पानी के तड़पता रहेगा। कल्पवृक्ष के नीचे भी तुझे दरिद्रता सताती रहेगी। भाव, तू जो कुछ उद्योग करेगा, वह सब निष्फल हो जायगा ॥ २ ॥ जागते, फिरते, सोते और सपने में भी तुझे सुख न मिलेगा। इस संसार में जन्म-जन्म और युग-युग तू रोता ही रहेगा, कभी भी कल न मिलेगा, सुख से न बैठ सकेगा ॥३॥ यदि तू इन दुःखों से छुटकारा पाने का भी यत्न करेगा, तो और-और कस कर बँधता जायगा, सुलझना तो दूर रहा, उलझता ही जायगा। राम-नाम से विमुख होने के कारण, जो तू अमृत मिला हुआ भोजन खाना चाहेगा, वह भी विषमय हो जायगा ॥ ४ ॥ हे तुलसी ! तुझ सरीखे दीन को तीनों लोकों और तीनों कालों में एक राम-नाम ही की शरण है। जैसे मछली को केवल एक जल ही का आसरा है, वैसेही तुझे राम-नाम का भरोसा है ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'छूटिवे के जतन.....जायगो'--जो दही पौष्टिक माना गया है, वही त्रिदोष में मारक समझा जाता है। अनुकूल अवस्था ही कल्याणकारी है।

(२) 'जैसे जल मीन को'—महात्मा सूरदासजी मीन की जलानन्यता पर क्याही सुन्दर पद लिखते हैं–

उपमा नैनानि एक रही।
कवि जन कहत कहत सब आये, सुधि करि नाहिं कही ॥
कह चकोर विधुमुख बिन जीवत, भँवर नहीं उड़ि जात।
हरि-मुख कमल-कोस बिछुरे ते, ठीले कत ठहरात ॥
अधा वधिक व्याधा ह्वै आये, मृगसम क्यों न पलात।
भाजि जाहिं बन सघन स्याम में, जहां न कोऊ घात ॥
खंजन मनरंजन न होहिं ये, कबहुं नहीं अकुलात।
पंख पसारि न हो चपला गति, हरि समीप मुकलात ॥
प्रेम न होहि कौन विधि कहिये, झूठे ही तनु आड़त।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि कबहुँ नें छांड़त ॥

(३) इस पद का सारांश यह है कि राम-सम्मुख होने से प्रतिकूल विषय भी अनुकूल हो जाते हैं और राम-विमुख होने से अनुकूल विषय भी प्रतिकूल हो

जाते हैं। सब आसा-भरोसा छोड़ कर अनन्य निष्ठा से एक राम-नाम से प्रीति जोड़ना जीव का कर्तव्य है।

(६६)

सुमिर सनेह सों तू नाम रामराय को।
संबल निसंबल† को, सखा असहाय को ॥ १ ॥
भाग है अभागेहू को, गुन गुनहीन को।
गाहक गरीब को, दयालु दानि दीन को ॥ २ ॥
कुल अकुलीन को, सुन्यो है वेद साखि है।
पाँगुर को हाथ पाँय, आँधरे को आंखि है ॥ ३ ॥
माय-बाप भूखे को, अधार निराधार को।
सेतु भव-सागर को, हेतु सुखसार को ॥ ४ ॥
पतितपावन राम-नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—संबल = कलेवा, मार्गव्यय। साखि = साक्षी, गवाह। पांगुर = लूला-लँगड़ा। ऊसरो = वह ज़मीन, जहां पर बोने से कुछ भी पैदा न हो।

भावार्थ—हे जीव! तू प्रेमपूर्वक महाराज रामचंद्रजी के नाम का स्मरण कर। उनका नाम (भक्ति-पथ पर जानेवाले) पथिकों के लिये जिनके पास मार्ग-व्यय नहीं है, कलेवा है, और निराश्रय का मित्र है, अर्थात् जिसका कोई सगा सम्बन्धी नहीं है, वह भी राम-नामके प्रतापसे संसार भर को अपना मित्र बना लेता है ॥ १॥ वह भाग्यहीन का भाग्य और मूर्ख का गुण है। भाव यह कि, राम-नाम लेनेवाले, दरिद्र और मूर्ख होने पर भी, सांसारिक समृद्धिशाली और अक्षर-भट्टाचार्यों से कहीं अधिक सौभाग्य-संपन्न और पण्डित हैं। इसी प्रकार वह गरीबों का ग्राहक अर्थात् उनकी कद्र करनेवाला और दीन के लिये दयालु दानी है ॥२॥ वह कुलहीनों (नीच कुलवाले) के लिये (उच्च) कुल और लँगड़े-लूलों का हाथ-पांव तथा अंधों की आंखें है, ऐसा मैंने सुना ही नहीं है, वरन् वेद भी इस बात की साक्षी दे रहा है ॥३॥ वह (राम-नाम) भूखे कंगालों का मा-बाप है और जिनका कहीं ठौर-ठिकाना नहीं

† पाठांतर संबर असंबर।

उनका सहारा हैं। संसार-सागर से पार होने के लिये वह पुल है और सब सुखोंका सार रूप जो ब्रह्मानन्द है, उसे प्राप्त करने का कारण है ॥४॥राम-नाम के समान पतितों का उद्धार करनेवाला दूसरा नहीं हैं। (विश्वास न हो तो प्रत्यक्ष क्यों नहीं देख लेते कि) तुलसी के समान ऊसर, उसे स्मरण करने से, सुन्दर उपजाऊ भूमि हो गया। सारांश यह कि, पहले मेरे हृदय में धर्म-कर्म लेश मात्र भी न था, पर अब राम-नाम के प्रभाव से ज्ञान. भक्ति आदि का पूर्णोदय हो गया हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'सखा असहाय को'—सुग्रीव और विभीषण का कौन संगी साथी था ? राम-नाम-स्मरण के प्रभाव से उन्होंने परब्रह्म] को अपना मित्र बना लिया। यह "सख्य" व्रजवासियोंको भी प्राप्त हुआ था। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

'अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्द गोप व्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानंदं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥

(२) 'गुन गुन हीन को'—काकभुशुण्डिजी ने किस विश्वविद्यालय में विद्या पढ़ी थी ? राम-नाम के प्रभाव से उनकी गणना बड़े बड़े धुरंधर ज्ञानियों में की गई है। गरुड़का मोहभंग आप ही ने किया था।

(३) 'गाहक गरीब को'—इसके उदाहरण 'सुदामा' हैं। अहा ! त्रिलोकीनाथ ने किस प्रकार सुदामा का स्वागत किया था।

'ऐसे बिहाल बिवायन सों भये कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाय ! महा दुख पायो सखा तुम आयो इतै न कितै दिन खोये ॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिके करुनानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुवो नहिं नैननि के जल सों पग धोये ॥ (नरोत्तम दास)

(४) 'कुल अकुलीन को'—व्यास धीवर कन्या से, मतंग मातंगी से, और पराशर चांडाली से पैदा हुए थे, किन्तु राम-नाम के प्रभाव से ये लोग महर्षि माने गये हैं। सत्य है—

'जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई ॥'

(७०)

भलो भली भांति है जो मेरे कहे लागि है।

मन राम-नाम सों सुभाय अनुरागि है ॥ १ ॥

राम नाम को प्रभाव जानि जूड़ी आगि है।
सहित सहाइ कलिकाल भीरु भागि है॥ २॥
राम-नाम सों विराग जोग जप जागि है।
बाम विधि भाल हू न कर्म दाग दागि है॥ ३॥
राम-नाम मोदक सनेह सुधा पागि है।
पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागि है॥ ४॥
राम-नाम काम तरु जोइ जोइ मांगि है।
तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खांगि है॥ ५॥

शब्दार्थ—सहाइ=सहायक, सेना। दागि है=निशान बना देगा, आग में लोहा गरम कर उससे किसी तरह का निशान बना देना 'दागना' कहलाता है। बागि है=घूमता फिरेगा। खांगि है=कमी रहेगी।

भावार्थ—हे मन! यदि तू मेरे कहे पर चल कर, स्वभाव से ही (निष्कपट भाव से) श्रीराम-नाम से प्रेम करेगा, तो तेरा सब प्रकार से भला होगा॥ १॥ रामनाम के प्रभाव से कलिकाल, अपनी सेना समेत, डर कर यों भाग जायगा, जैसे आग के आगे से जूड़ी बुखार॥ २॥ रामनामके प्रभावसे वैराग्य, योग, जप, तप आदि आप ही जाग्रत हो उठेंगे अर्थात् बिना बुलाये तेरे सामने हाजिर हो जायँगे। और प्रतिकूल दैव भी तेरे मस्तक को कर्मके कुअंकों से न दाग सकेगा, (कहा भी है कि 'मेटत कठिन कुअंक भाल के') अर्थात् उसके प्रभाव से तेरे प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण सारे कर्म क्षीण हो जायँगे॥ ३॥ यदि तू राम-नाम-रूपी लड्डू को प्रेमरूपी अमृत में पाग कर खायगा, तो तुझे ऐसा संतोष प्राप्त हो जायगा कि फिर द्वार-द्वार पर न घूमना पड़ेगा, किसी का मोहताज़ न होना पड़ेगा॥ ४॥ देख, राम-नाम कल्पवृक्ष है, इससे हे तुलसीदास! उससे तू जो जो मांगेगा, सो पायेगा। तुझे न तो स्वार्थ की और न परमार्थ ही की कुछ कमी रहेगी; अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सभी मिल जायँगे।

टिप्पणी—(१) 'सुभाय'—निष्काम बुद्धि और निष्कपटरूप से, सहज भाव से।

"सहज सहज सब कोउ कहै, सहज न चीन्है कोय।
जो सहजे साहब मिलै, सहज कहावै सोय॥" (कबीरदास)

(२) 'जानि जूड़ी आगि है'—राम-नाम के प्रभाव से तुझे आग भी ठंडी जान पड़ेगी ! यह भी अर्थ हो सकता है ।

(३) 'सहित सहाई'—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, दंभ, पाखंड आदि कलि महाराज की सेना हैं ।

(४) 'पाइ परितोष······बागि हैं'—गीता में लिखा है—

'यल्लँब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'

अर्थात जिसे पाकर फिर उससे और कोई लाभ बड़ा न दिखाई देगा ।

(७१)

ऐसेहू साहब की सेवा सों होत चोर रे ।
आपनी न बूझ, न कहै को राँड रोर रे ॥१॥
मुनि-मन अगम सुगम माइ बाप सो ।
कृपासिंधु सहज सखा सनेही आप सो ॥२॥
लोक-वेद-विदित बड़ो न रघुनाथ सो ।
सब दिन सब देस, सबहि के साथ सो ॥३॥
स्वामी सवग्य सों चलै न चोरी चार की ।
प्रीति पहिचानि यह रीति दरबार की ॥४॥
काम न कलेस लेस, लेत मान मन की ।
सुमिरे सकुचि रुचि जोगवत जन की ॥५॥
रीझे बस होत, खीझे देत निज धाम रे ।
फलत सकल फल कामतरु-नाम रे ॥६॥
बेंचे खोटो दाम न मिलै न राखे काम रे ।
सोऊ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजाराम रे ॥७॥

शब्दार्थ—चोर होत=जी चुराता है । रोर=रोड़ा पत्थर का टीला, दुखी । चार=नौकर । लेस=तनिक । जोगवत=देखते हैं । रुचि=रुख । निवाज्यो=निहाल कर दिया ।

भावार्थ—अरे ! तू ऐसे भी मालिक की नौकरी बजाने से जी छिपाता फिरता है । अरे ! एक तो तू खुद ही नहीं समझता बूझता और फिर दूसरों

का कहना नहीं मानता ! तू कौड़ी-काम का नहीं है, पत्थरका एक टीला है ॥१॥ देख जो मुनियों के मन को भी अगम हैं, ध्यान में भी उनके मन में नहीं जाते, वही परब्रह्म परमात्मा साकार श्रीरामचन्द्रजी भक्तों को मा-बाप की नाईं सुलभ हैं, जैसे मां-बाप बालकों की सेवा-शुश्रूषा में सदा तत्पर रहते हैं, वैसे ही श्रीरामजी अपने भक्तों के पीछे पीछे भक्तवत्सलता-वश प्रतिक्षण रहा करते हैं। वह कृपा के तो मानो समुद्र ही हैं, निष्कपट और निष्काम मित्र हैं तथा आप ही आप जीवों पर प्रेम करनेवाले हैं ॥२॥ रघुनाथ-जी से बड़ा कोई भी नहीं है, यह बात लोक और वेद दोनों ही में प्रकट है। और नित्य सर्वत्र सब के साथ वह रहते हैं, जहां देखो तहां रमते हैं ॥३॥ देख, जो मालिक घट-घट की बात जानता है भला उससे नौकर कुछ छिपा सकता है ? (उनकी सेवा भी कुछ कठिन नहीं है) उनके दरबार की यही रीति है कि वहां केवल प्रेम की रीझ-बूझ है, जो प्रेमी होगा वही वहां पैठ सकेगा ॥४॥ उनकी सेवा करने में शरीर को तनिक भी कष्ट नहीं पहुंचता। वह (सर्वज्ञ) स्वामी मन की ही प्रीति और सेवा जान कर मान लेते हैं। उनका नाम लेते ही वह संकोच में पड़ कर अपने सेवक का रुख पहचान लेते हैं, उसे ज़रा सी सेवा के बदले चाहे जो दे देते हैं, तिस पर भी तुर्रा यह कि पीछे संकोच करते हैं कि अरे, हमने तो इसे अभी कुछ भी नहीं दिया। धन्य ! ॥५॥ जिसपर प्रसन्न हो जाते हैं उसके वश में हो जाते हैं और जिसपर नाराज़ होते हैं, उसे अपने 'साकेत-धाम' में भेज देते हैं। दोनों ही हाथ लड्डू हैं। उनका नाम (राम) कल्प वृक्ष के समान है, उससे सारी मनस्कामनाएँ पूरी होती हैं ॥६॥ (अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है) खोटे आदमी को यदि बेचना चाहो तो उसका कुछ दाम नहीं मिलता है और घर में रखो तो कुछ काम नहीं निकलता है, ऐसे तुलसीदास को भी जिन्होंने निहाल कर दिया उन महाराज रामचन्द्र जी की दया पर क्या कहना है ॥७॥

टिप्पणी—(१) 'रांड़ रोर'—इस का यह भी अर्थ हो सकता है कि जो अपने स्वामी की सेवा से जी छिपाता है, अपने धर्म को नहीं समझता है, वह रांड़, विधवा स्त्री, की तरह हो जाता है अर्थात् उसका स्वामी उसे त्याग देता है। व्यभिचारिणी भक्ति भला किस काम की ?

(२) 'सुगम माय बाप सों'—स्वर्गीय पंडित रामेश्वर भट्टजी ने इसका अर्थ

यों किया है कि 'सो वे अपने मां-बाप को सहज में प्राप्त हुए।' हमें यह अर्थ कुछ असंगत सा जान पड़ता है।

(३) 'वेद विदित'—अथर्वण वेद में लिखा है—

'यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः ब्रह्मा विष्णुरीश्वरः ।
यःसर्व वेदात्मा भूर्भुवःस्वस्तस्मै वै नमोनमः' ॥

(४) 'रीझे......धामरे'—चाहे जैसे भजन किया जाय, फल सबका एक ही है। कहा भी है—

'भाव, कुभाव, अनख, आलस हू। राम जपत मंगल दिसि दसहू॥'

(७२)

मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई।
हौं तो साईं-द्रोही पै सेवक-हित साईं ॥१॥
राम सो बड़ो है कौन, मो सों कौन छोटो।
राम सों खरो हैं कौन, मो सों कौन खोटो ॥२॥
लोक कहै राम को गुलाम हौं कहावौं।
ऐतो बड़ो अपराध भो, न मन बावों ॥३॥
पाथ माथे चढ़े तृन तुलसी ज्यों नीचो।
बोरत न वारि ताहि जानि आपु सींचो ॥४॥

शब्दार्थ—खरो=असल, उच्च। खोटो=नकली, नीच। बावों=बाम, ढ़ा। पाथ=पानी। बोरत=डुबोता है।

भावार्थ—श्रीरामचन्द्रजी ने मेरा भला कर दिया, मुझे निहाल कर दिया। क्यों ? इसलिये कि वह स्वयं भले हैं। जो जैसा होता है वह दूसरों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करता है। मैं तो स्वामी के साथ बुराई करनेवाला हूं (इसलिये यह आशा नहीं कि मैंने उन्हें खुश करके उनसे अपना भला करा लिया हो) और स्वामी कैसे हैं, सेवक के हितकारी (बस फिर क्या, बन गई) ॥१॥ भला पूछो तो, रामजी से बड़ा कौन है और मुझसे छोटा कौन है अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ और मैं सर्वनिकृष्ट हूं। इसी प्रकार रामजी के समान कौन खरा है और मुझसा खोटा कौन है ॥२॥ संसार कहता है कि मैं (तुलसी

दास) रामजी का गुलाम हूं, संसार ही क्यों, मैं भी यह कहलवाता हूं। (पर मुझ में राम-गुलाम होने का एक भी लक्षण नहीं है। यह धोखेबाजी क्या कम क़सूर है ?) मैंने इतना बड़ा अपराध कर डाला (झूठे ही लोगों की आंखों में धूल डाल दी), पर धन्य प्रभो ! आपका मन मेरी ओर से तनिक भी न फिरा ॥३॥ हे तुलसी ! देख, जल के मस्तक पर तिनका जैसा नीच चढ़ जाता है, फिर भी वह यह समझ कर कि यह मेरा पाला-पोसा है, उसे डुबोता नहीं है। (इसी प्रकार जीव ईश्वर का कितना भी अपराध क्यों न करे, पर वह, भक्तवत्सलता-वश उसका उद्धार ही करता है) ॥४॥

टिप्पणी-(१) 'एतो बड़ो अपराध भो'—इसका सारांश यह है कि पाखंड के समान दूसरा अपराध नहीं है। पाखंड ही सारे पापों की जड़ है।

(२) 'पाथ......सींचो'—यह चरण अमूल्य है। जन-वत्सलता, उदारता, क्षमा और कृपाका जैसा कुछ समावेश इसमें किया गया है, वह देखते ही बनता है।

(७३)

जागु जागु जीव जड़ ! जोहै जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी ॥ १ ॥
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप रे।
बूड़्यो मृग-वारि खायो जेवरी को सांप रे ॥ २ ॥
कहैं बेद बुध 'तू तो बूझ मन माहिं रे।
दोष-दुख सपने के जागे हू पै जाहिं रे' ॥ ३ ॥
तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहूं ताय रे।
राम-नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ-जड़=मूर्ख। संसृति=संसार। मृगवारि=मृग-तृष्णा का जल। जेठ-बैशाख के महीनों में मृगों को प्रायः धूप की किरणों में जल का भ्रम हो जाता है, उसे पीने को वे दौड़ते हैं, पर वहां रखा ही क्या है ? इसी को 'मृग-जल' कहते हैं। जेवरी=रस्सी। ताय=ताप। ताप=दाह।

भावार्थ-हे मूर्ख जीव ! जाग जाग। और इस संसाररूपी रात्रि को देख, अर्थात् मोहमें कितने दिनों से पड़ा है, अब तो मोह छोड़ दे और इस स्वार्थी संसार की ओर देख। शरीर और घर के मोह को ऐसा (क्षणिक) समझ,

जैसे बादलों के बीच की बिजली, जो क्षण भर में कौंध कर छिप जाती है ॥१॥ (यदि यह कहता है कि जागने में कष्टों का अनुभव होगा तो) सोने और सपने में भी तू संसार के कष्टों को सह रहा है (वहाँ भी तुझे कल नहीं); तू मृग-जल में डुबकियां लगा रहा है, अथवा तुझे रस्सी के सांप (भ्रम) ने डँस लिया है (यह दोनों ही बातें असंभव हैं। मृग-जल और रस्सी के सांप की जब 'अस्ति' तक नहीं, तब वे क्या तो डुबो सकेंगे और क्या डँसेंगे। पर शोक ! तू ऐसा मानता है, इस लिये भोग) ॥ २ ॥ चारों वेद और पंडित कहते हैं और तू भी खूब सोच-विचार कर यह बात समझ ले कि स्वप्न के सारे दुःख और दोष जागने पर ही दूर होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ ३ ॥ हे तुलसी ! संसार के तीनों ताप (भौतिक, दैविक और दैहिक) जागने पर ही, बोधोदय होने पर ही, नष्ट होते हैं और तभी निष्काम बुद्धि अथवा निष्कपट भाव से श्री राम-नाम में पवित्र प्रीति उत्पन्न होती है, अर्थात् जब तक मोह में जीव फँसा रहता है, तब तक उससे भगवान् का भजन नहीं बनता ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'जागु जागु'—आत्म-बोध के सम्बन्ध में श्रीशंकराचार्य जी के निम्नलिखित चार श्लोक क्या ही भावमय हैं—

'माता नास्ति, पिता नास्ति, नास्ति बंधुः सहोदरः ।
अर्थन्नास्ति गृहन्नास्ति, तस्माद् जाग्रत जाग्रत ॥
आशया बध्यते लोको, कर्मणा बहु चिंतयाः ।
आयुः क्षीणं न जानासि, तस्माद् जाग्रत जाग्रत ॥
कामः क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठान्ति तस्कराः ।
ज्ञान रत्नापहाराय, तस्माद् जाग्रत जाग्रत ॥
जन्म दुःखं जरा दुःखं जाया दुःखं पुनः पुनः ।
संसार-सागरं दुःखं, तस्माद् जाग्रत जाग्रत ॥'

महात्मा कबीरदास कहते हैं—

'जागु पियारी, अब का सोवै ।
रैन गई दिन काहे को खोवै ॥
जिन जागा तिन मानिक पाया । तैं बौरी सब सोय गँवाया ॥
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी । कबहुँ न पिय की सेज सँवारी ॥

तैं बौरी बौरापन कीन्हों। भर जोबन पिय अपन न चीन्हों ॥
जागु देख पिय सेज न तेरे। तोहि छांड़ि उठि गये सबेरे ॥
कह कबीर सोई धुन जागे। सब्द-बान उर अंतर लागे ॥'

(२) 'जग जामिनी'—अविद्या अथवा मोह ही संसाररूपी रात्रि है। बिना मोह के संसार में प्रवृत्ति का होना असंभव है। गुसाईंजी ने रामचरितमानसमें लिखा है—

'मोह-निसा सब सोवनहारा। देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा।'

(३) 'मृगजल'—सांसारिक मृगजल क्या है ? पुत्र-कलत्र, धन,धाम, व्यापार, मित्र आदि। यहां 'माया-वाद' का आरोप किया गया है। किन्तु यह विशेषता है कि 'आत्मबोध' होने पर 'रामनाम-सुचि-रुचि' की सूचना दी गयी है।

राग विभास

(७४)

जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव,
जागि त्यागि मूढ़ताऽनुराग श्रीहरे।
करि बिचार, तजि विकार, भजु उदार रामचन्द्र,
भद्रसिंधु दीनबंधु, बेद बदत रे॥ १ ॥
मोह माय कुहू-निसा बिसाल काल बिपुल सोयो *
खोयो सो अनूप रूप स्वप्न जो परे।
अब प्रताप प्रगट ग्यान-भानु के प्रकास, वासना †
सराग मोह द्वेष निबिड़ तम टरे॥ २ ॥
भागे मद मान चोर, भोर जानि जातुधान-
काम कोह लोभ छोभ निकर अपडरे।
देखत रघुबर-प्रताप, बीते संताप पाप,
ताप त्रिविध प्रेम-आप दूर ही करे॥ ३ ॥
स्रवन सुनि गिरा गंभीर, जागे अति धीर बीर,
बर बिराग तोष सकल संत आदरे।

* पाठान्तर 'बिपुल ब्याल सोयो खोयो।' † पाठान्तर 'वास नास राग।'

तुलसिदास प्रभु कृपालु, निरखि जीवजन बिहालु,
भञ्जो भव-जाल परम मंगलाचरे ॥ ४ ॥

पदच्छेद—जानकी + ईस । मूढ़ता + अनुराग । मंगल + आचरे ।

शब्दार्थ—भद्रसिंधु=कल्याण के समुद्र। वदत=(वदति) कहता है। माय=माया। कुहू=अमावस। जातुधान=राक्षस। तोष=संतोष, आनन्द। आचरे=आचरण किया। आप=जल।

भावार्थ—ज्ञानी जनों को श्रीरघुनाथजी की कृपा (मोह-रात्रि से) जगा देती है। (अतएव) जड़ता अर्थात् मोह को छोड़ कर तू जाग और श्रीहरि के साथ प्रीति जोड़। विचार कर के (कि क्या सत् है और क्या असत्) और सारे विकारों को छोड़ कर कल्याण-राशि, उदार रामचन्द्रजी का भजन कर। वह दीनों पर कृपा करनेवाले हैं, ऐसा वेद कहते हैं ॥ १ ॥ मोह-मायारूपी अमावस की रात में तू कब से सो रहा है, कितना अधिक समय निकल गया ! सोते सोते तू ने स्वप्न में पड़ कर अपना "आत्म-स्वरूप" खो दिया ? अब सबेरा हो गया है। सूर्योदय के होते ही कामना, राग, मोह और द्वेषरूपी घोर अन्धकार चंपत हो गया, अर्थात् 'आत्म-बोध' होने पर सारी संसारी वासनाएँ दूर हो गयीं ॥ २ ॥ सबेरा हो गया, यह देख कर अहंकार और मानरूपी चोर भागने लगे और काम, क्रोध, लोभ और क्षोभरूपी राक्षसों के समूह के समूह डर कर आप ही आप हटने लगे। श्रीरघुनाथजी का प्रचण्ड प्रताप देख कर पाप-संताप क्षीण हो गये, और सांसारिक तीनों ताप (भौतिक, दैविक और दैहिक) प्रेमरूपी जल ने शान्त कर दिये ॥ ३ ॥ इस गंभीर वाणी को सुन कर कि 'जानकीस की कृपा जगावती'—धीर वीर सन्त एक दम मोह-निद्रा से जाग उठे और इन्होंने सुन्दर वैराग्य, संतोष आदि सबका आदर किया। हे तुलसीदास ! कृपासिंधु प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने समस्त प्राणियों को व्याकुल देख कर संसार-रूपी जाल छिन्न-भिन्न कर दिया, और परमानन्द प्रदान करने लगे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'सुजान जीव'—मोह-रात्रि से कौन जागते हैं ? सुनिये—

'यहि जग-जामिनि जागहिं जोगी। परमारथ परपंच वियोगी ॥'

'या निशा सर्वभूतानाम्, तस्यां जागर्ति संयमी।' (गीता)

(२)'विपुल काल सोयो'—जब से तेरा 'जीव' नाम पड़ा, तब से बार बार सोता ही चला आ रहा है, आज तक 'चिदानंद' की प्राप्ति का उद्योग नहीं किया।

(३) 'भवजाल भंज्यो...परम मंगलाचरे'—देहाभिमान मोह-ममता आदि के नाश होने पर पराभक्ति और परमानंद का लाभ होता है। इससे 'सर्वे भद्रं पश्यन्तु' की सूचना मिलती है।

(४) गुसाईंजीने 'आत्म-बोध' का कारण 'भगवत्कृपा' को माना है, 'पुरुषार्थ' को नहीं। भक्तिपक्ष में यही तो अंतर है।

राग ललित

(७५)

खोटो खरो रावरो हौं, रावरे सों झूठ क्यों कहौंगो, जानो सब ही के मन की।
करम वचन हिये कहौं न कपट किये, ऐसी हठ जैसी गांठि पानी परे सन की१
दूसरो भरोसो नाहिं, बासना उपासना को, बासव, बिरंचि, सुरनर मुनिगनकी
स्वारथ के साथी मेरे हाथी स्वान लेवा देई, काहू तो न पीर रघुवीर दीन जन की
सांप सभा साबर लबार भये देव दिव्य, दुसह सांसति कीजै आगे ही या तन की
साँचे परौं पाऊँ पान, पंचन में पन प्रमान, तुलसी चातक आस राम स्यामघन की

शब्दार्थ—खोटो खरो=बुरा-भला। बासव=इन्द्र। लेवा देई=परस्पर का ब्यवहार, लेन-देन। साबर=वाममार्गी, मंत्र-तंत्र जाननेवाला। सांसति=सज़ा। पान=बीड़ा, तांबूल।

भावार्थ—मैं बुरा या भला जो कुछ भी हूं सो आपका हूं। मैं आपसे झूठ क्यों कहने चला, क्योंकि आप तो घट-घट की बात जानते हैं, आप से छिपा ही क्या है ? मैं कर्म, वचन और हृदय से यह कहता हूं कि मैं 'आप का हूं'। यह बात, यह गुलामी, इतनी पक्की है जितनी कि पानी पड़े हुए सन की गांठ। भाव, जैसे पानी में पड़े हुए सन की गांठ किसी तरह खुलती नहीं है, उसी प्रकार मैं आप की सेवकाई नहीं छोड़ सकता ॥१॥ मुझे किसी दूसरे देवी-देवता का भरोसा नहीं है और न मुझे इंद्र, ब्रह्मा अथवा देवता, मनुष्य एवं मुनियों की उपासना करने की ही इच्छा है। क्योंकि यह सब मतलब के यार हैं। मेरी इनकी भला कैसे बन सकती है ? जब मैं जन्म भर हाथी-जैसी भारी इनकी सेवा करूंगा, तब यह कुत्ते-जैसा तुच्छ फल देंगे, स्त्री-पुत्र और धन गले

मढ़ देंगे। हे रामजी ! इन सबमें किसी को बेचारे दीनों के साथ ऐसी सहानुभूति नहीं है, जैसी कि आप को है ॥२॥ जो मैं झूठ बोलता होऊँ कि 'मैं राम का गुलाम हूं' तो हे देव! आप तो सर्वज्ञ हैं, मेरे इस शरीरको अपने ही आगे ऐसी यातना दीजिए, जैसे साँप को सभा में झूठे संपेरे की (जो सांप को वश में करने का मन्त्र नहीं जानता है) दुर्गति होती है, अर्थात् उसे सांप काट खाता है, और वह मर जाता है क्योंकि, पाखंड कब तक चल सकता है ! और यदि मैं सच्चा साबित हो जाऊँ (यह सच हो कि मैं 'राम-गुलाम हूं') तो मुझे पंचों के बीच में इस सचाई का एक बीड़ा मिल जाय (भक्तों की सनद मिल जाय)। (सौ बात की बात तो यह है कि) मुझ तुलसीरूपी पपीहे को एक रामरूपी श्याम मेघ का आसरा है ॥३॥

टिप्पणी—(१) इस पद में गुसाईंजी अपनी भावानन्यता की पुष्टि कर रहे हैं। कदाचित् उन्हें यह लालच मिल गयी है कि—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं ददाम्यहम् ॥' (गीता)

(७६)

राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यौ राम
काम यहै नाम द्वै हौं कबहू कहत हौं।
रोटी लूँगा नीके राखै, आगेहू की वेद भाखै,
भलो ह्वै है तेरो ताते आनंद लहत हौं ॥
बांध्यो हौं करम जड़ गरब गूढ़ निगड़*
सुनत दुसह हौं तौ सांसति सहत हौं।
आरत-अनाथ-नाथ कौसलपाल कृपाल,
लीन्हों छीनि दीन देख्यो दुरित दहत हौं ॥२॥
बूझ्यौ ज्योंही, कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वैहौ रावरों जू
मेरो कोऊ कहूँ नाहिं, चरन गहत हौं।
मींजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि
सेवक-सुखद सदा बिरद बहत हौं ॥३॥

*पाठान्तर 'निगड़े'।

लोग कहैं पोच, सो न सोच न संकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति-पांति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे
प्रीतिकी प्रतीति मन मुदित रहत हौं ॥४॥

शब्दार्थ—आगेहू की=परलोक की। निगड़=वेड़ी। साँसति=यातना, कष्ट। दुरित=पाप। मीजों=ठोक दिया, साहस बँधाया। बिरद बहत हौं=बाना लिये रहता हूं। पोच=नीच, तुच्छ। बरेखी=सगाई। खीझे=नाराज होने पर।

भावार्थ—मैं श्रीरामजी का गुलाम हूं। गुरुरूप रामजी ने मेरा नाम 'राम बोला' रक्खा है। मेरी नौकरी क्या है? यही कि दिन भर में कभी न कभी दो एक बार राम राम ऐसा स्मरण कर लेता हूं। जो अच्छी तरह रक्खेंगे तो सिर्फ़ रोटी लूंगा (और कुछ नहीं चाहिए), यह तो हुई इस लोक की बात; अब परलोक की रही सो वेद कह रहे हैं कि (राम-नाम के प्रभाव से) तेरा भला होगा, मुक्ति मिल जायगी। बस इसीसे मैं सदा प्रसन्न और निश्चिन्त रहता हूं। भाव यह कि रामजी की गुलामी करने और उनका नाम लेने से मेरे दोनों लोक सुधार जायँगे यह मुझे दृढ़ विश्वास है ॥१॥ पहले जड़ कर्मों ने मुझे अभिमानरूपी मज़बूत बेड़ियों से कस लिया था। मुझे उस बंधन से ऐसा कष्ट हुआ कि मैं सह न सका। दुखियों-अनाथों के नाथ कृपालु कोसलेश श्रीरामचन्द्रजी ने मुझे कर्म-बंधन से छुड़ा लिया, क्योंकि उन्होंने मुझ दीन को पापों से जलता हुआ पाया ॥२॥ ज्यों हीं उन्होंने मुझसे पूछा कि तू कौन है, तब मैंने कहा, हे नाथ! मेरा कोई कहीं नहीं है। मैं आपका गुलाम होना चाहता हूं और आपके चरणों को इसीसे पकड़ रहा हूं। इसपर गुरुरूप रामजी ने मेरी पीठ ठोंकी, साहस बँधाया और हाथ पकड़ कर मुझे अपना लिया, अपनी शरण में ले लिया। उस दिन से हरिभक्तों को सुख देनेवाला यह वैष्णव-बाना धारण किये रहता हूं, कंठी-तिलक धारण कर अपने को 'राम-दास' मानता हूं ॥३॥ मैं राम का गुलाम हो गया (वर्णाश्रम-धर्म छोड़ कर सब वैष्णवों के साथ खाने-पीने लगा) यह देख कर लोग मुझे नीच कहने लगे। पर मुझे इसकी तनिक भी चिन्ता न हुई और न संकोच ही हुआ, क्योंकि न तो मुझे किसी के साथ ब्याह या सगाई करनी थी और न मुझे जाति-पाँति के ही झगड़ों से कुछ काम है। तुलसी का बनना-बिगड़ना तो रामजी के हाथ में है।

यदि वह खुश रहेंगे तो मुझे सुख मिलेगा और नाराज़ हो जायँगे तो दुःख पड़ेगा, पर मेरा प्रेम और विश्वास उनके चरणों में सदा एक सा बना रहेगा। इसीसे मैं सदा सानंद रहता हूं ॥४॥

टिप्पणी—(१) इस पद में गुसाईंजी ने, एक प्रकार से, अपनी रामकहानी कही है। उन्होंने राम और गुरु में अभेद माना है। इसीलिये कहीं राम और कहीं गुरु, इन दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया है। कबीरदासजी ने तो गुरु को हरि से भी बड़ा माना है। लिखते हैं–

'गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दिये बताय॥
गुरु हैं बड़े गोविंद तें, मन में देखु विचार।
हरि सुमिरै सो बार है, गुरु सुमिरै सो पार॥

(२) 'लोग.........चहत हौं'—इसका पुष्टीकरण कवितावली रामायण के निम्नलिखित छन्दों से भलीभांति हो जाता है—

'धूत कहौ अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारि न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाके रुचै सो कहौ कछु कोऊ।
मांगि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लेबे को एक न देबे को दोऊ॥'

'मेरे जाति पांति न चहौं काहू की जाति पांति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को॥
अतिहीं अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
साहेब को गोत गोत होत है गुलाम को।
साधु कै असाधु कै, भले कै पोच सोच कहा,
का काहू के द्वार परयो, जो है सो है राम को॥

। इन्हीं छन्दोंके आधार पर, किसी किसी के मत से यह बात सिद्ध हो जाती है कि
[गुसाईंजी का ब्याह नहीं हुआ था, वह बालब्रह्मचारी थे।

(७७)

जानकी-जीवन, जग-जीवन,जगत-हित,
जगदीस, रघुनाथ, राजीवलोचन राम।
सरद-विधु-बदन, सुखसील, श्रीसदन,
सहज सुन्दर तनु, सोभा अगनित काम ॥ १ ॥
जग-सुपिता, सुमातु, सुगुरु, सुहित, सुमीत,
सब को दाहिनो, दीनबन्धु काहू को न बाम।
आरतिहरन, सरनद, अतुलित दानि,
प्रनतपाल, कृपालु, पतित-पावन नाम ॥ २ ॥
सकल बिस्व-बन्दित, सकल सुर-सेवित,
आगम-निगम कहैं रावरेई गुनग्राम।
इहै जानिकै तुलसी तिहारो जन भयो,
न्यारो कै गनिबो जहां गने गरीब गुलाम ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—श्रीसदन=लक्ष्मी के निवास करने के स्थान, लक्ष्मीरमण दाहिनो=अनुकूल। बाम=प्रतिकूल। सरनद=शरण देनेवाले। आगम-निगम=शास्त्र और वेद। कै=अथवा। जन=सेवक।

भावार्थ—हे रामजी! आप श्रीजानकीजी के जीवन, संसार के जीवन, जगत के हितू, जगत के स्वामी, रघुवंश के नाथ और कमल के समान नेत्र-वाले हैं। आपका मुख शरद ऋतु के पूर्ण चंद्रमा के सदृश है। आप आनंद देनेवाले हैं। लक्ष्मीजी सदा आपके साथ रमती हैं। आपके शरीर का सौन्दर्य स्वाभाविक और अनेक कामदेवों के समान है ॥ १ ॥ आप जगत के पिता, माता, गुरु, हितकारी, सन्मित्र और सब पर अनुकूल हैं। आप दीनों के सहायक हैं, किसी को भी प्रतिकूल नहीं हैं। आप दुःखों के दूर करनेवाले, शरण देनेवाले अर्थात् अपनानेवाले, अमित दानी, भक्तों के पालनेवाले और कृपालु हैं। आपका नाम पापियों का उद्धार करनेवाला है ॥२॥ समस्त संसार आपकी वंदना करता है, सारे देवता आपकी सेवा करते हैं और वेद तथा शास्त्र सब आपकी ही गुणावली गाते हैं। यही सब तो सोच विचार कर तुलसी-दास आपका सेवक हुआ हैं। अब यह बतलाइये कि आप इसे अलग गिनेंगे या जहां गरीब गुलामों का नाम आता है, वहां गिनेंगे? ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) इस पद में 'जानकीजीवन' 'राजीवलोचन' सरद विधु-वदन, सहज सुंदर तनु'—आदि शब्दों द्वारा माधुर्य तथा 'जगजीवन, जगदीश, जगनहित, जगपिता, दीन-बंधु' आदि शब्दों द्वारा ऐश्वर्य दरसाया गया है।

(२) 'जग-सुपिता......सुमीत' – इसे देख कर निम्नलिखित प्रसिद्ध श्लोक का स्मरण आ जाता है—

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥'

(३) 'न्यारो कै गनिवो' – स्वर्गीय पंडित रामेश्वर भट्ट जी और श्री बैजनाथजी ने इसका यह अर्थ किया है कि 'अलग अर्थात् बड़े बड़े हनुमान आदि सेवकों में'। पर हमें यहां 'बड़े-छोटे' सेवक का अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता। स्पष्ट अर्थ तो यही हो सकता है कि आप मेरी अपने दीन गुलामों में गिनती करेंगे या यों ही मुझसे किनारा किये रहेंगे, भक्तों की पंक्ति में न लेंगे!

राग टोड़ी

(७८)

दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जासों दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ* ॥१॥
सुर नर मुनि असुर नाग साहब तौ घनेरे।
तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नयन फेरे ॥२॥
त्रिभुवन तिहुं काल विदित वेद बदति चारी।
आदि अंत मध्य राम साहबी तिहारी ॥३॥
तोहि मांगि † मांगनो न मांगनो कहायो।
सुनि सुभाव सील सुजसु जाचन जन आयो ४॥

---

* पाठान्तर 'जाहि दीनता कहौं हौं देखौं सोऊ।'
† पाठान्तर 'दीन तोहि मांगि'।
} संभव है, प्रेस की भूल से 'देखौ और सोऊ' के बीच का 'दीन'—'तोहि' के पहले आ गया हो।

पाहन, पसु, बिटप, बिहँग अपने करि लीन्हें ।
महाराज दसरथ के ! रंक राय कीन्हें ॥ ५ ॥
तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो ।
बारक कहिये कृपालु! तुलसिदास मेरो ॥६॥

शब्दार्थ—साहब=स्वामी। घनेरे=बहुतेरे। बदति=कहते हैं। पाहन=पत्थर, यहां अहल्या से तात्पर्य है। बिटप=पेड़, यहां यमलार्जुन से तात्पर्य है। बिहँग=पक्षी, जटायु, गीध और काकभुशुंडि से तात्पर्य है। राय=राजा। बारक=एक बार।

भावार्थ—दीनों पर दया करनेवाला और उन्हें (मनोवांछित) दान देनेवाला (हे राम! आपको छोड़कर) दूसरा कोई नहीं है। मैं जिसे अपनी दीनावस्था सुनाता हूं, उसीको दीन देखता हूं। जो स्वयं दीन है, वह दूसरे की दीनता कैसे दूर कर सकता है? ॥ १ ॥ देवता, मनुष्य, मुनि, दैत्य, सर्प आदि बहुतेरे मालिक हैं, पर कब तक—जब तक आपने अपनी दृष्टि टेढ़ी नहीं की। आपने ज्योंहीं अपनी नज़र फेरी, त्योंही सब अपना अपना रुख बदलने लगे ॥ २ ॥ भूत, वर्तमान और भविष्यत् तथा आकाश, पाताल और भूलोक सर्वत्र ही यह बात प्रकट है और चारो वेद भी कह रहे हैं कि आदि, अन्त और मध्य में, हे रामजी! आपकी ही एकरस प्रभुता है ॥ ३ ॥ आपसे मांग कर कोई फिर भिखमंगा नहीं रहा अर्थात् आपने उसे इतना अधिक दे दिया कि फिर उसे और किसीसे मांगने की आवश्यकता ही नहीं रही। आपका ऐसा (उदार) स्वभाव और शील सुन कर यह दास आपसे मांगने के लिये आया है ॥ ४ ॥ आपने पत्थर (अहल्या), पशु (रीछ, बन्दर आदि), पेड़ (यमलार्जुन) और पक्षी (जटायु, काकभुशुंडि आदि) तक अपनी शरण में लिये हैं। हे महाराज दशरथ के पुत्र! आपने बड़े बड़े रंकों को, नीचों को, राजा बना दिया है ॥ ५ ॥ आप गरीबों को निहाल कर देनेवाले हैं, और मैं आपका गरीब गुलाम हूं (इस नाते से मुझे भी अपना लीजिये)। हे कृपालु! कम से कम एक बार तो इतना कह दीजिये कि "तुलसीदास मेरा है" ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'सुर नर········घनेरे'—कहा भी है—

'जापर कृपा राम की होइ । तापर कृपा करहिं सब कोइ ।'

(२) 'आदि·····तिहारी'—लिखा है—

'आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ।'

(३) 'पाहन'—अहिल्या; ४३ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये ।

(४) 'विटप'—एक बार कुबेर के पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव ने प्रमादवश नारदजी की दिल्लगी उड़ायी । उन्होंने उन लोगों को यह शाप दे दिया कि 'तुम बड़े ही जड़ बुद्धि हो, जाओ वृक्ष हो जाओ'। दोनों आकर गोकुल में अर्जुन वृक्ष हुए ; एक दिन यशोदाजी ने श्रीकृष्ण को, किसी अपराध से, इन वृक्षों से बांध दिया । भगवान् की माया से दोनो पेड़ भर्रा कर गिर पड़े और वृक्ष-योनि छोड़ कर वे दोनों दिव्य यक्ष हो गये । भगवान् ने उन्हें मुक्त कर दिया ।

(५) बिहँग—जटायु; ४३ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये ।

(७६)

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी ।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंज-हारी ॥१॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो ॥२॥
ब्रह्म तू हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो ।
तात, मात, सखा, गुरु तू सब विधि हितु मेरो ॥ ३ ॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक मानियै जो भावै ।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु ! चरन- सरन पावै ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—आरति=पीड़ा । ठाकुर=स्वामी । चेरो=सेवक ।

भावार्थ—हे नाथ ! तू दीनों पर दया करनेवाला है, तो मैं दीन हूं, तू दानी है, तो मैं भिखमंगा हूं । मैं उजागर पापी हूं, तो तू पाप-समूहों का नाश करनेवाला है ॥ १ ॥ तू अनाथों का नाथ है, तो मेरे जैसा अनाथ भी कोई नहीं है । मेरे समान कोई दुःखी नहीं है और तेरे जैसा कोई पीड़ा का हरनेवाला भी नहीं है ॥ २ ॥ तू ब्रह्म है, मैं जीव हूं, तू स्वामी है, मैं सेवक हूं । अधिक क्या, तू मेरा मां-बाप, गुरु, मित्र और सब प्रकार से हितकारी है ॥३॥ मेरे-तेरे अनेक सम्बन्ध हैं, अब जो नाता तुझे अच्छा लगे, सो मान ले । पर बात तो यह है कि, जैसे बने तैसे, हे कृपालु ! यह तुलसीदास आपके चरणों की शरण पा जाये (और कोई इच्छा नहीं है) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'चेरो'—स्वर्गीय पं रामेश्वर भट्टजी ने इसका अर्थ 'चेला' लिखा है। पर यह अर्थ ठीक नहीं है। इसका अर्थ सेवक या गुलाम ही हो सकता है।

(८०)

और काहि मांगिये, को मांगिबो निवारै।
अभिमतदातार कौन, दुख-दरिद्र दारै॥ १॥
धरमधाम राम काम-कोटि-रूप रूरो।
साहब सब बिधि सुजान, दान-खड्ग-सूरो॥ २॥
सुसमय दिन द्वै निसान सबके द्वार बाजै।
कुसमय दसरथ के दानि! तैं गरीब निवाजै॥ ३॥
सेवा बिनु, गुनविहीन दीनता सुनाये।
जे जे तैं निहाल किये फूले फिरत पाये॥ ४॥
तुलसिदास जाचक×-रुचि जानि दान+दीजै।
रामचंद्र चंद्र तू, चकोर मोहिं कीजै॥ ५॥

शब्दार्थ—अभिमतदातार=मनोवांछित फल देनेवाला। दारै=दूर करता है। रूरो=सुंदर। निसान=नगाड़ा। फूले=प्रसन्न।

भावार्थ—हे नाथ! और किस के आगे हाथ फैलाऊं? ऐसा कौन है जो मेरी याचना को (सदा के लिये) दूर कर देगा? और ऐसा कौन सा मनोवाञ्छित फलों का देनेवाला है, जो मेरे दुःख और दरिद्र का नाश कर देगा? भाव यह कि, ऐसा सिवा तेरे मुझे कोई दीखता ही नहीं॥१॥ हे राम! तू धर्म का स्थान और करोड़ों कामदेवों के रूप से कहीं अधिक लावण्यमय है, अर्थात् तेरी उपासना करने से मुझे ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों ही सध जायँगे। फिर तू सब तरह से मेरा मालिक है, चतुर है, और दानरूपी तलवार के चलाने में कुशल है, अर्थात् दान द्वारा भक्तों के सारे दुःख दूर कर देता है॥२॥ अच्छे दिन आने पर तो सभी के दरवाजे पर नगाड़े बजते हैं, सभी उत्सव मनाते हैं, किन्तु हे दासरथे! तू ऐसा दानी है कि तू ने कुसमय में भी दीन जनोंको निहाल कर दिया॥३॥ जिन-जिनको तू ने निहाल किया है, उन्होंने न तो तेरी सेवा ही की है और न

×पाठान्तर 'जाचत'। +पाठांतर 'दानि'

किसी गुण से ही तुझे रिझाया है, पर आज वे सब. केवल अपनी दीनता सुना देने से ही फूले नहीं समाते ॥४॥ अब तुलसीदास भिखारी की इच्छा जान कर उसे भी निहाल कर दे। (उसे और कुछ भी नहीं चाहिए; फिर क्या चाहता है? सुनिये) हे श्रीरामचन्द्र ! तू चन्द्रमा है ही. मुझे चकोर और बना ले। (बस इसीमें मेरी मनस्कामनाएं सफल हो जायँगी) ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'दानखड्गसूरो'—दानवीर। वीर पांच प्रकारके गिनाये गये हैं—

'त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः।
पराक्रम महावीरो धर्मवीर सदास्वतः ॥

(२) 'कुसमय'—यहां वनवास से तात्पर्य है। श्रीरामचन्द्रजी ने वनवास और सीता-हरण के बाद भी जटायु, सुग्रीव, विभीषण, शबरी आदि का उद्धार किया। अपने दुःख भुला दिये पर अपने भक्तों को सदा प्रसन्न ही रखा।

(३) 'चकोर'—चकोर पक्षी चंद्रमा की ओर रात भर टक लगा कर देखा करता है। कहते हैं, यह अपने प्रिय चंद्रमा के विरह में अंगार चुंगता है—

'लगी लगन छूटै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय।
मीठो कहा अँगार में, जाहि चकोर चबाय ॥' (कबीर)

जैसे चकोर का सदा-सर्वदा अखंड एक रस प्रेम चन्द्रमा में रहता है, उसी प्रकार मेरा प्रेम आपपर बना रहे।

(८१)

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर, कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ ! मन जरत त्रिबिध जुर, करत फिरत बौराई ॥१॥
कबहुं जोगरत, भोग-निरत सठ, हठ बियोग-बस होई।
कबहुं मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुं दया अति सोई ॥२॥
कबहुं दीन मतिहीन रंकतर, कबहुं भूप अभिमानी।
कबहुं मूढ पंडित विडम्बरत, कबहुं धर्मरत ग्यानी ॥३॥
कबहुं देव ! जग धनमय रिपुमय, कबहुं नारिमय भासै।
संसृति-सन्निपात *दारुन दुख बिनु हरि-कृपा न नासै ॥४॥

---

* सन्निपात 'सन्निपात'।

संजम जप तप नेम धर्म व्रत, बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास-भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई ॥५॥

शब्दार्थ—जुर = ज्वर। बौराई=पागलपन। बिडम्ब=दम्भ। संसृति = संसार। भेषज = ओषधि। भव = संसार।

भावार्थ—हे रघुनाथजी! आप दीनों के सहायक, आनंद के समुद्र, कृपा करनेवाले अथवा कृपा के आकर (खानि) और करुणा के धारण करनेवाले हैं। हे नाथ! सुनिये, मेरा मन संसार के तीनों तापों से जल रहा है, अथवा इसे त्रिदोष ज्वर हो गया है और इसीसे वह पागलों की तरह बकता फिरता है ॥१॥ कभी तो वह योगाभ्यास करता है और कभी भोगविलासों में फँस जाता है। कभी वह मूढ़ हठपूर्वक वियोग के अधीन हो जाता है कभी मोह के वश हो जाता है, तो कभी नाना प्रकार के द्रोह करता है, और कभी बड़ा दयावान् बन जाता है ॥२॥ कभी दीन, कभी मूर्ख, कभी बड़ा ही कंगाल और कभी घमंडी राजा हो जाता है अर्थात् कभी राजाओं के ऐसे हौसले करता है। कभी मूढ़, तो कभी पंडित बन जाता है। कभी पाखंडी और कभी धार्मिक एवं ज्ञानी बनता है ॥३॥ हे देव! कभी उसे सारा संसार धनमय भासता है तो कभी शत्रुमय। इसी प्रकार कभी कभी वह जगत् को स्त्रीमय देखता है। भाव यह कि जब उसकी जैसी भावना होती है तब उसे सारा संसार तन्मय दीखता है। यह संसाररूपी सन्निपात ज्वर का असह्य दुःख बिना भगवत्कृपा के दूर नहीं हो सकता ॥४॥ यद्यपि संयम, जप, तप, नियम, धर्म, व्रत आदि बहुत सी दवाइयां हैं, किन्तु तुलसीदास का संसार-रूपी रोग (जन्म-मरण अथवा मानसिक वृत्तियां) श्रीरामचन्द्रजी के चरणों के प्रेम बिना दूर नहीं हो सकता ॥५॥

टिप्पणी–(१) इस पद में मन को 'बहुरूपी' बताया है। इसके अनेक रूप-रंग हैं–

'मन के बहुतक रंग हैं छिन छिन बदले सोय।
एकै रंग में जो रहै ऐसा बिरला कोय॥'
मन के मते न चालिये मन के मत अनेक।
जो मन पर असवार है, सो साधू कोइ एक॥ (कबीरदास)

(२)'रंकतर ··· अभिमानी'—मन की प्रवृत्तियाँ जागृत अवस्था ही में नहीं हुआ करतीं, वरन् स्वप्न में भी वे अपना खेल खेला करती हैं। यही हाल संसार का भी है।

'सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ'।। (रामचरितमानस)

(३) 'राम-पद-प्रेमहीन नहिं जाई' — अन्यत्र भी कहा है —

'विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते।

(८२)

मोहजनित मल लाग विविध विधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित, अधिक अधिक लपटाई ॥ १ ॥
नैन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन विषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना मान मद, जीव सहज सुख त्यागे ॥ २ ॥
परनिंदा सुनि स्रवन मलिन भे, बचन दोष पर गाये।
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ-चरन बिसराये ॥ ३ ॥
तुलसिदास व्रत दान ग्यान तप, सुद्धिहेतु स्रुति गावै।
राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु मल† अति नास न पावै ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बासना = कामना। अति नास = समूल नाश।

भावार्थ—माया-मोह(अविद्या) से उत्पन्न हुआ जो अनेक प्रकार का पाप लगा हुआ है, वह करोड़ों यत्न करने पर भी नहीं छूटता। अनेक जन्म से यह चित्त (पाप करने के) अभ्यास में लगा हुआ है, इसलिये वह मल लिपटता ही जाता है, छूटता नहीं है ॥ १ ॥ दूसरों की स्त्रियों की ओर (कामदृष्टि से) देखने से नेत्र मलिन हो गये हैं और विषयों के साथ रहने से यह मन विकारी हो गया है। अहंकार और मानसम्बन्धी कामनाओं से हृदय काला पड़ गया है और सहज आत्मानंद त्याग देने से जीव मलिन हो गया है ॥ २ ॥ दूसरों की निंदा सुन सुन कर कान तथा परापवाद कह कह कर जीभ मलिन पड़ गई है। और अपने स्वामी (श्रीरामजी) के चरण भुला देने से यह मल का भार सब तरह से मेरे पीछे पड़ गया है ॥ ३ ॥ हे तुलसी-दास ! वेद तो यह कहता है कि शुद्धि के लिये व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि अनेक उपाय विद्यमान् हैं, पर मेरा तो यह विश्वास है कि श्रीरामचंदजी के

† पाठान्तर 'अतिमल'।

चरणों के प्रेमरूपी जल के बिना यह (अनेक जन्म-संचित) मल पूर्णतः नहीं धुल सकता, समूल नाश होने का नहीं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'अधिक अधिक लपटाई'—इस मल के छुड़ाने के लिये जो जो उपाय करते हैं, उसमें अभिमान आ जाने से वह भ्रष्ट हो जाता है, और ऐसा होनेसे मल और भी पक्का हो जाता है। सुलझना तो दूर रहा, और भी उलझन होती जाती है।

'ज्यों ज्यों सुरझन को करै, त्यों त्यों उरझत जाय।'

(२) 'अनुराग'—श्रीवैजनाथजी ने अपनी टीका में 'अनुराग' की क्या ही उत्तम परिभाषा लिखी है—

'व्यापकता जो प्रीति की, जिमि सुठि बसन सुरंग।
दृगन द्वार दरसै चटक, सो अनुराग अभंग॥'

(३) 'रामचरन'.... पावै'—लिखा है—

'राम-भक्ति-जल बिनु खगराई। अभ्यंतर मल कबहुं न जाई।'

राग जयतिश्री

(८३)

*कछु ह्वै न आय गयो जनम जाय।
अति दुरलभ तन पाइ, कपट तजि, भजे न राम मन † बचन काय ॥१॥

---

* दो में एकौ तौ न भई !
ना हरि भजे न गृह सुख पाये, वृथा बिहाइ गई ।
ठानी हुती और कछु मन में, औरै आनि ठई ।
अविगत गति कछु समुझि परति नहिं, जो कछु करत दई ॥
सुत-सनेह तिय सकल कुटुम मिलि, निसिदिन होत खई ।
पद-नख-चंद-चकोर-बिमुख मन खात अँगार मई ॥
विषय-विकार-दवानल उपजी, मोह-बयार वई ॥
भ्रमत भ्रमत बहुतक दुख पायो, अजहुं न टेव गई ॥
कहा होत अब के पछताने, होनी सिर बितई ।
'सूरदास' सेये न कृपानिधि, जो सुख सकलमई ॥ (सूर-सागर)

†पाठान्तर 'राम राम'।

लरिकाई बीती अचेत चित, चंचलता चौगुने चाय।
जोबन-जुर जुवती-कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय ॥२॥
मध्य बैस धन हेतु गँवाई, कृषी बनिज नाना उपाय।
राम-बिमुख सुख लह्यो न सपनेहुं, निसि बासर तयो तिहुं ताय ॥३॥
सेये नहिं सीतापति-सेवक साधु सुमति भलि भगति भाय।
सुने न पुलकि तनु, कहे न मुदित मन, किये जे चरित रघुबंसराय ॥४॥
अब सोचत मनि बिनु भुजंग ज्यों, बिकल अङ्ग दले जरा धाय।
सिर धुनि धुनि पछितात मींजि कर, कोउ न मीत हित दुसह दाय ॥५॥
जिन्ह लगि निज परलोक बिगार्‌यौ, ते लजात होत ठाढ़े ठाँय।
तुलसी अजहुँ सुमिरि रघुनाथहिं, तर्‌यो गयंद जाके एक नाँय ॥६॥

शब्दार्थ—जाय = व्यर्थ। मदनबाय = कामरूपी वायु, कामोन्माद। ताय = ताप। भाय = भाव। जरा = बुढ़ापा। दाय = दावानल। नाँय = नाम।

भावार्थ—हाय! कुछ भी तो न बन पड़ा और जन्म यों ही बीता जा रहा है! बड़ा दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर निष्कपट भाव से कभी तन, मन और वचन से रामनाम-स्मरण नहीं किया ॥ १ ॥ लड़कपन तो अज्ञान ही में चला गया, उस समय चित्त में अब से चौगुनी चपलता और प्रसन्नता थी। और जवानीरूपी ज्वर में स्त्रीरूपी कुपथ्य कर बैठा अर्थात् एक तो वैसे ही ज्वर चढ़ा था, तिस पर कुपथ्य कर लिया। फिर क्या, सन्निपात हो गया और सारे शरीर में कामरूपी वायु भर गई, कामोन्माद हो गया ॥ २ ॥ (जवानी ढलने पर) बीच की अवस्था धन कमाने में खोई। धन के लिये खेती, व्यापार आदि अनेक उपाय किये। किन्तु श्रीरामचन्द्रजी से विमुख होने से, उनका भजन न करने से, स्वप्न में भी सुख न मिला, दिनरात संसार के तीनों तापों में जलता ही रहा ॥ ३ ॥ न तो कभी श्रीरामचन्द्रजी के भक्तों एवं ज्ञानी सन्तों ही की भक्ति-भाव से भलीभांति सेवा की और न रोमांच होकर प्रसन्न चित्त से श्रीरघुनाथजी की कथा-वार्त्ता ही सुनी ॥ ४ ॥ अब जब कि बुढ़ापे ने आकर अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल कर दिये हैं, मणि-हीन सर्प के समान सोचा करता हूँ। सिर पटकता हूँ, हाथ मींज-मींज कर पछताता हूँ, पर इस असह्य दावानल के बुझाने के लिये कोई हित मित्र नहीं आता ॥ ५ ॥ जिनके किये

अपना परलोक तक बिगाड़ दिया अर्थात् जिनके लिये अनेक पाप कमाये, वे भी आज पास खड़े होने में शर्माते हैं। हे तुलसी ! तू अब भी उन रघुनाथजी की याद कर, जिनका नाम एक बार ही लेने से गजेन्द्र मुक्त हो गया था ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'तरयो गयंद जाके एक नाय'–एक वार एक तालाब में एक बड़ा भारी मदोन्मत्त हाथी हथिनियों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहा था। इतने में एक मगर ने उसका पैर पकड़ लिया। हाथी ने अपनी सारी शक्ति लगा दी, पर पैर न छुड़ा सका। निःशक्त और निराश होकर उसने भगवान् को पुकारा। 'हरे' कहते ही, गरुड़ को छोड़ कर, भगवान् तुरन्त दौड आये और चक्र-सुदर्शन से ग्राह को काट डाला। हाथी मुक्त हो गया। श्रीमद्भागवत में यह कथा, गजेन्द्रमोक्ष के नाम से, विस्तारपूर्वक है।

(८४)

तौ तू पछितैहै मन मींजि हाथ।
भयो है सुगम तोको अमर-अगम तन, समुझिधौं कत खोवत अकाथ १
सुख-साधन हरि विमुख बृथा, जैसे स्रम फल घृतहित मथै पाथ।
यह विचारि तजि कुपथ कुसंगति, चलि सुपंथ मिलि भले साथ ॥ २ ॥
देखु राम-सेवक, सुनि कीरति, रटहि नाम करि गान गाथ।
हृदय आनु धनुबान-पानि प्रभु, लसै मुनिपट कटि कसे भाथ ॥ ३ ॥
तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब, नाउ रामपद-कमल माथ।
जनि डरपहि तो से अनेक खल, अपनाये जानकी–नाथ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—मींजि = मल कर। अमर = देवता। अकाथ = व्यर्थ। पाथ = जल। पानि = हाथ। भाथ = तरकस।

भावार्थ—हे मन! तुझे हाथ मलमल कर पछताना पड़ेगा। क्योंकि तुझे आज वह (मानव) शरीर सहज ही मिल गया है, जो देवताओं को भी दुलभ है। तनिक विचार तो, अब उसे क्यों व्यर्थ खो रहा है ? ॥ १ ॥ परमेश्वर को भुला कर सुख-प्राप्ति के लिये जितने उपाय करोगे, वह सब ऐसे हैं जैसे कोई घी निकालने के लिये पानी मथ कर केवल श्रमरूपी फल प्राप्त करे। अर्थात् बिना भगवान् की शरण गये हुए किसी भी प्रकार सुख नहीं मिल सकता। यह सोच-समझ कर बुरा मार्ग और बुरों का संग छोड़ दे और सत्मार्ग पर

चल कर सज्जनों का साथ कर ॥ २ ॥ भगवद्भक्तों के दर्शन कर, उनसे हरि-कीर्तन सुन, नाम को रट और राम-कथा का गान कर। हाथ में धनुष-बाण लिये, मुनियों के वस्त्र धारण किये और कमर में तरकस कसे हुए प्रभु रघुनाथ जी का हृदय में ध्यान कर ॥ ३ ॥ हे तुलसीदास! संसार की सारी झंझट छोड़-छाड़ कर श्रीरामजी के चरणारविन्दों पर मस्तक झुका। और तू किसी भांति शंका मत कर, तेरे जैसे अनेक नीचों को श्रीजानकी-वल्लभ रघुनाथजी ने अपनी शरण में लिया है। भाव, तुझे भी अपना लेंगे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'हृदय आनु......नाथ'—यहां गुसाईंजी ने वनवासी वीर-वेषधारी रामचन्द्रजी का ध्यान कहा है। कलिकाल, तथा काम, क्रोधादि शत्रुओं के नाश करने के लिये धनुष, वाण, तरकस आदि का स्मरण कराया गया है। रामरक्षा में भी लिखा है —

'ध्यात्वा नीलोत्पलं श्यामं रामं राजीवलोचनम्।
जानकीलक्ष्मणोपेतं जटा-मुकुटमंडितम् ॥
सासि तूण धनुर्वाणपाणिं नक्तं चरांतकम्।
स्वलीलया जगत्त्रातुमाविर्भूतमजं विभुम् ॥

(२) 'अनेक खल'—जैसे अजामेल,यवन, श्वपच, गणिका आदि।

राग धनाश्री

(८५)

मन, माधव को नेकु निहारहि।
सुनु सठ, सदा रंक के धन ज्यों, छिन छिन प्रभुहिं सँभारहि ॥ १ ॥
सोभा-सील-ग्यान-गुन-मंदिर, सुन्दर परम उदारहि।
रंजन संत, अखिल अघ-गंजन, भंजन विषय विकारहि ॥ २ ॥
जो बिनु जोग, जग्य, व्रत संयम गयो चहै भव पारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसिवासर हरिपद-कमल बिसाराह ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—रंजन = प्रसन्न करनेवाले। अखिल = संपूर्ण। गंजन = नाश करनेवाले।

भावार्थ—हे मन! भगवान् की ओर तनिक देख तो। हे दुष्ट! सुन, जैसे कंगाल दिन रात अपने धन की ही देख भाल में लगा रहता है, उसी प्रकार

तू अपने स्वामी श्रीरामजी की सेवा किया कर ॥ १ ॥ वह सौन्दर्य, शील, ज्ञान और समस्त सद्गुणों के स्थान हैं। वह सुन्दर और बड़े दानी हैं। संतों को प्रफुल्लित करनेवाले, संपूर्ण पापों के नाशकर्त्ता और (इन्द्रियजन्य) विषयों के विकार के दूर करनेवाले हैं ॥ २ ॥ यदि तू बिना ही योग, यज्ञ, और संयम के, संसार-सागर को पार करना चाहता है, तो हे तुलसीदास ! दिनरात श्रीहरि के चरणारविन्दों को मत भूल, सदा उनका ध्यान किया कर ॥३॥

टिप्पणी--(१) 'सदा रंकके धन ज्यों'—एक स्थलपर गुसाईंजीने खूब कहा है—

" कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभी के जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ, निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ॥"

(२) 'जोग'—योग; यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि।

(३) 'व्रत'—शास्त्रोक्त चान्द्रायण, सोमायन, कृच्छ्र, महाकृच्छ्र आदि व्रत।

(८६)

इहै कह्यो सुत वेद नित चहूं।
श्रीरघुबीर-चरन-चिंतन तजि नाहिंन ठौर कहूं ॥ १ ॥
जाके चरन बिरंचि सेइ सिधि पाई संकर हूँ।
सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ ॥ २ ॥
जद्यपि परम चपल श्री संतत, थिर न रहति कतहूँ।
हरि-पद-पंकज पाइ अचल भइ, कर्म वचन मनहूँ ॥ ३ ॥
करुनासिंधु भगतचिन्तामनि, सोभा सेवत हूँ।
और सकल सुर असुर ईस सब, खाये उरग छहूँ ॥ ४ ॥
सुरुचि कह्यो सोइ सत्य, तात ! अति परुष वचन जबहूँ।
तुलसिदास रघुनाथ-बिमुख नहिं मिटै बिपति कबहूँ ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अचल = शान्त। उरग = सर्प। सुरुचि = महाराज उत्तानपाद की छोटी रानी। परुष = कठोर।

प्रसंग--महाराज उत्तानपाद की दो रानियां थीं—सुनीति और सुरुचि। सुनीति के पुत्र ध्रुव थे और सुरुचि के उत्तम। एक दिन राजा, सुरुचि के महल

में, उत्तम को गोद में लिये खिला रहे थे। इतने में ध्रुव भी वहां आ पहुंचे और राजा की गोद में बैठने लगे। विमाता सुरुचि ने कठोर वचन से ध्रुव से कहा—राजा की गोद में बैठना सहज नहीं है। अभी तप करो, तब कहीं राजा की गोद के अधिकारी होंगे। ध्रुव रोते हुए अपनी माता के पास चले आये। माता ने उन्हें तप करने के लिये जो उपदेश दिया है, उसी के प्रसङ्ग का यह पद बना जान पड़ता है।

भावार्थ—(सुनीति कहती है) हे पुत्र ! चारो वेदों ने सदा यही कहा है कि श्रीरघुनाथजी के चरणों का ध्यान किये बिना इस जीव को, कहीं ठौर-ठिकाना नहीं है, विश्राम नहीं है ॥ १ ॥ अरे, जिनके चरणों की सेवा करके ब्रह्मा और शिव ने भी सिद्धियां प्राप्त की हैं, शुक-सनकादिक जीवन्मुक्त होकर (निश्चिन्त) विचर रहे हैं और अब भी उनका भजन किये जा रहे हैं ॥ २ ॥ यद्यपि लक्ष्मी सदा से ही बड़ी चंचला है, कहीं (क्षण भर को भी) ठहरती नहीं है, पर वह भी भगवच्चरणारविन्द पाकर मन, वचन और कर्म से शान्त हो गई हैं। (फिर क्या कारण है कि यह जीव शान्त न हो ?) ॥ ३ ॥ करुणाके समुद्र और भक्तों के लिये चिन्तामणि-स्वरूप रामचंद्रजी की सेवा करने से ही सब शोभा है। और जितने देवता, दैत्य और ऐश्वर्यशाली हैं, उन सबको काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्य इन छः सांपों से डस लिया है। (केवल हरि-भक्त ही अछूते बचे हैं और वही अमर भी हैं) ॥ ४ ॥ हे भैया ! जो (तुम्हारी विमाता) सुरुचि ने तुमसे कहा है (कि अभी तप करो) वह सत्य है, यद्यपि सुनने में वह कठोर वचन है। हे तुलसीदास ! बिना रघुनाथजी की शरण में आये विपत्तियों का नाश होने का नहीं (यह ध्रुव सिद्धान्त है) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) श्रीमद्भागवत में सुनीति ने ध्रुव से इस प्रकार कहा है—

'तमेव वत्साश्रय भक्तवत्सलं, मुमुक्षुभिर्मृग्य पदाब्जपद्धतिम् ।
अनन्यभावे निजधर्म भाविते, मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥
नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनात्, दुःखच्छिदं ते मृगयामि किंचन ।
यो मृग्यते हस्तगृहीत पद्मया, श्रियेतरैरङ्गविमृग्यमाणया ॥'

(२) 'परुष बचन अवह'—हितकारी वचन सुनने में तो कड़वा होता है, पर

उसका फल बड़ा मधुर हुआ करता है । न सुरुचि व्यंग्य भाव से ध्रुव से ऐसा कहती, न वह परमोच्च पद के अधिकारी होते ।

(८७)

सुनु मन मूढ़! सिखावन मेरो ।
हरिपद बिमुख लह्यो न काहु सुख,* सठ ! यह समुझ सबेरो ॥ १ ॥
बिछुरे ससि रवि मन नैननि तें, पावत दुख बहुतेरो ।
भ्रमत स्रमित निसि-दिवस गगन महँ, तह रिपु राहु बड़ेरो ॥ २ ॥
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँपुर सुजस घनेरो ।
तजे चरन अजहूं न मिटत नित, बहिबो ताहू केरो ॥ ३ ॥
छुटै† न बिपति भजे बिनु रघुपति, स्रुति सन्देह निबेरो ।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि, होहु राम कर चेरो ॥ ४ ॥

भावार्थ--हे मूर्ख मन ! मेरी शिक्षा सुन, भगवान् के चरणों से विमुख हो कर किसी को सुख नहीं मिला, हे दुष्ट ! अभी सबेरा ही है, समय है, इस बात को खूब समझ ले । भाव, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है, अब भी भगवान् की शरण में चला जा ॥१॥ जब से चंद्रमा प्रभु (भगवान्) के मन से तथा सूर्य उनके नेत्रों से अलग हुए तब से बड़ा दुःख भोग रहे हैं : रात-दिन आकाश में थके हुए चक्कर लगाते हैं, वहां भी उनका शत्रु राहु पीछा किये रहता है ॥२॥ और यद्यपि गंगाजी देवताओंकी नदी कही जाती हैं, बड़ी ही पवित्र हैं और उनकी कीर्ति तीनों लोकों में छा रही है, पर भगवच्चरणों से प्रथक् होने पर आज तक उनका भी बहना बन्द नहीं हुआ । भाव, वह चंचल ही बनी हैं, शान्त नही हुईं ॥३॥ वेदों ने यह सन्देह दूर कर दिया है कि बिना राम-भजन किये विपत्तियों का नाश नहीं हो सकता । हे तुलसीदास ! इसलिये तू भी सब आशा-भरोसा छोड़कर श्रीरघुनाथजी का सेवक हो जा ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) बिछुरे......नैननितें—स्वर्गीय पंडित रामेश्वर भट्टजी ने इस का यह अर्थ किया है—'हे मन ! सूर्य-चन्द्र (भगवान् के) नेत्रों से अलग हुए ।'

* पाठांतर 'काहू न लह्यो सुख ।'
† पाठांतर 'मिटै ।'

यहां 'मन' सम्बोधन के स्थान पर नहीं आया है, किन्तु वह चन्द्रमा के लिये प्रयुक्त हुआ है। चन्द्र भगवान् का मन है और सूर्य नेत्र। कहा भी है—

'चंद्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत'। (पुरुष सूक्त)

(२) 'रिपु राहु'—जब समुद्र में से अमृत निकला तब देवता और दैत्य उसके लिये आपस में लड़ने लगे। विष्णु भगवान् ने मोहिनी रूप धर कर अमृत का घड़ा अपने हाथ में ले लिया। राक्षस उनके रूप पर मोहित हो गये। एक ओर देवता और एक ओर दैत्य बिठाये गये। अमृत का बांटा जाना देवताओं की पंक्ति से आरम्भ किया गया। राहु नाम का दैत्य विष्णु का कपट समझ गया और सूर्य और चंद्रमा के बीच में आ बैठा। धोखे से मोहिनी ने उसे अमृत भी पिला दिया। पर सूर्य-चंद्र के आंख से इशारे से कि यह दैत्य है भगवान् ने चक्र से उसका सिर उड़ा दिया। मुंड का हो गया राहु, और रुंड का केतु। कहते हैं उसी पुराने बैर से राहु ग्रहण के समय चंद्रमा और सूर्य को दुःख देता है।

(३) 'मिटै······रघुपति'—रुद्रयामल में लिखा है—

'विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते।'

(८८)

कबहूँ मन विस्राम न मान्यो।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो॥१॥
जदपि विषय सँग सह्यो दुसह दुख, बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़, ममता बस, जानत हूं नहिं जान्यो॥२॥
जन्म अनेक किये नाना विधि कर्म-कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिवेक-नीर-बिनु बेद पुरान बखान्यो॥३॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाय सर खनतहिं जनम सिरान्यो॥४॥

शब्दार्थ—सहज सुख = आत्मानन्द। सिरान्यो = बीत गया।

शब्दार्थ—अरे मन! तू ने कभी विश्राम नहीं माना, शान्त होकर न बैठा। आत्मानंद भूल कर दिन-रात चक्कर लगाया करता है और इन्द्रियों की ही खींचतान में लगा रहता है। भाव, जो इन्द्रियां तुझे जिधर खींचती

है, उधर ही चला जाता है ॥१॥ यद्यपि विषयों के साथ तू ने बड़े बड़े दारुण दुःख भोगे हैं, कठिन जाल में फँसा रहा है, फिर भी अरे मूर्ख ! तू उसे नहीं तजता । जान लेने पर भी कुछ नहीं जानता सा रहता है ॥२॥ अनेक जन्मों से तू अनेक प्रकार के कर्म करता चला आ रहा है, उन्हीं के कीच में लिप्त हो गया है, सो यदि हे चित्त ! तुझे स्वच्छ होना है तो विवेक प्राप्त कर, क्योंकि बिना विवेकरूपी जल के तू निर्मल नहीं हो सकता, यह वेद और पुराणों ने कहा है ॥३॥ जैसा प्रेम अपने मित्र, स्वामी, पिता और गुरु के साथ किया जाता है, वैसा तूने प्रसन्न होकर कभी हृदय से भगवान् के साथ नहीं किया । सो हे तुलसीदास ! उस तालाब से कब प्यास बुझ सकती है कि जिस के खोदने में ही सारा जीवन बीत गया ! भाव, क्षणिक सुखों के लिये तू ने सारे जीवन भर जो अनेक प्रकार के साधन किये हैं, उनसे पूर्ण आनंद तुझे प्राप्त होने का नहीं ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'जानत हू नहिं जान्यो'—यह सभी जानते हैं कि एक न एक दिन सब कुछ नाश होने के लिये है, किन्तु मोहवश उनसे विरक्त नहीं होते । देखिये—

'माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकार ।
फूली फूली चुनि लई, कालिह हमारी बार ॥' (कबीरदासजी)

(२) 'विवेक'—क्या सत्य है और क्या असत्य—इस ज्ञान को विवेक कहते हैं।

(८९)

मेरो मन हरिजू ! हठ न तजै ।
निसिदिन नाथ ! देउँ सिख बहु बिधि, करत सुभाउ निजै ॥१॥
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै ।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै ॥२॥
लोलुप भ्रमत गृहपसु ज्यौं जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै† ।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै ॥३॥
हौं हार्‌यौ करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै ।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥४॥

शब्दार्थ—अनुभवति = अनुभव करती है। अनुकूल = प्रसन्न । सूल = कष्ट । भजै = संभोग करती है । गृहपसु = कुत्ता । पदत्रान = जूता । अजै = अजय ।

† यहाँ एक मात्रा बढ़ती है

भावार्थ— हे हरे ! मेरा मन हठ नहीं छोड़ता । हे नाथ ! यद्यपि दिन-रात अनेक प्रकार का इसे उपदेश करता हूं, पर वह अपने ही मन की करता है, प्रकृति, नहीं छांड़ता ॥१॥ जैसे स्त्री संतान-जनने का अनुभव करती है और उस समय उसे अत्यंत असह्य कष्ट होता है, पर वह मूर्खा सारे दुःख को भूल कर फिर (बार बार)प्रसन्न चित्त से दुष्ट पति के पास जाती है, उससे संभोग करती है ॥२॥ और जैसे लालची कुत्ता जहां जाता है वहीं उसके सिर पर जूता पड़ता है, पर वह दुष्ट फिर उसी रास्ते पर जाता है, कभी ज़रा भी नहीं शर्माता ॥३॥ मैं नाना प्रकार के यत्न कर करके हार गया हूं (पर यह मन समझाये नहीं समझता) यह मन अत्यंत बलवान् और न जीतेजाने योग्य है । हे तुलसीदास ! यह तो तभी वश में हो सकता है जब प्रेरणा करनेवाले स्वयं भगवान् इसे रोकें, अन्यथा नहीं ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'करत स्वभाउ निजै'—इस पर सूरदासजी का निम्न लिखित पद बड़ा ही सुन्दर है—

प्रकृति जो जाके अंग परी ।
स्वान पूँछ को कोटिक लागे, सूधी कहुँ न करी ॥
जैसे सुभख नहीं भख छाड़ै, जनमय जौन घरी ।
धोथे रंग जात नहीं कैसहु, ज्यों कारी कमरी ॥
ज्यों अति उसत उदर नहीं पूरत, ऐसी धरनि धरी ।
सुर होइ सो होई सोच नहीं, तैसे ही ऐऊ री ॥

(२) 'अतिसै प्रबल अजय'—गीता में भगवान् ने कहा है—

'असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्' ॥(गीता)
'मन गयंद मानै नहीं, चलै सुरत के साथ ।
दीन महावत क्या करैं, अंकुस नाहीं हाथ ॥ (कबीरदास)

(९०)

* ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परिहरि राम-भक्ति-सुरसरिता आस करत ओसकन की ॥१॥

---

*महामहोपाध्याय पं० सुधाकरजी द्विवेदी-रचित संस्कृतानुवाद देखिये—
'एतादृशी मूढता मनसः ।' (देखो पृष्ठ सं० २४३)

धूम-समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की ।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ॥२॥
ज्यों गच-काँच विलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की ।
टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आनन की ॥३॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति जन की ।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥४॥

शब्दार्थ—गच = भूमि, दीवार । सेन = बाज़ । जड़ = मूर्ख । छति = (क्षति) हानि ।

भावार्थ—इस मन की ऐसी मूढ़ता है कि श्रीराम-भक्ति रूपी गंगा को त्याग कर ओस की बूंदों की आशा करता फिरता है । भाव, भगवदानन्द छोड़कर क्षणिक विषयानन्द की ओर दौड़ता है ॥१॥ जैसे प्यासा पपीहा बहुत सा धुंआ देखकर उसे मेघ समझ लेता है (किन्तु वहाँ जाने पर) न वहां शीतलता ही है और न पानी ही । इतना ही नहीं, आँख मुफ़्त में फोड़ लेता है । भाव, यह जीव जब विषयों की ओर यह समझ कर कि इनके सेवन करने से मेरा दुःख दूर हो जायगा, दौड़ता है, तब उसे सुख के बदले उलटा कष्ट मिलता है ॥२॥ और जैसे मूर्ख बाज़ कांच की दीवार में अपने ही शरीर का प्रतिबिम्ब देख कर उसे दूसरा (प्रतिद्वन्दी) बाज़ समझ, उसपर भूख के मारे अपने मुख की हानि भूल कर जल्दी से टूट पड़ता है । (पर वहां क्या रखा है, उसीका मुख घायल हो जायगा) सारांश यह कि, विषयों में सिवा दुःख के सुख तनिक भी नहीं है ॥३॥ हे कृपा के भंडार ! मैं इस कुचाल का

रामभक्ति-सुरसरितं हित्वा, वांछति कणं कुपयसः ॥
धूमपटलमवलोक्य चातको, बुध्वा यथाभ्रमलसः ।
लभते तत्र न शीतलमम्भो, दृग्वैरिणं च वयसः ॥
श्येनः काचकुट्टिमे दृष्ट्वा, तं बिम्बमतिरभसः ।
पतति तत्र परपतत्रिरूपे, हानिमुपैति च वचसः ॥
मनसः किं वर्णये जड़त्वं, करुणानिधे कुशयसः ।
कृत्वाऽलम् प्रणात्पणं जनस्यापहर, दुःख मति तपसः ॥'

कहां तक बखान करूं, आप तो अपने जनों की दशा जानते ही हैं, क्योंकि आप का नाम अंतर्यामी है। हे प्रभो! तुलसीदास का दारुण दुःख दूर कर दीजिए और ऐसा कर अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा कीजिए, क्योंकि यह आप की प्रतिज्ञा है कि मैं शरणागत की रक्षा करता हूं ॥४॥

टीपणी—(१) परिहरि.........ओस कन की—सूरदासजी यों कहते हैं—

'परम गंगजल छांड़ि पियासो नभ महँ कूप खनावै।'

(२) 'ज्यों गच.......आनन की'—इसे कबीरदासजी इस प्रकार खींच रहे हैं-

दर्पन केरी जो गुफा, सोनहा पैठो धाय।
देखत प्रतिमा आपनी, भूकि भूकि मरि जाय॥

(३) 'निज पन'—बाल्मीकीय रामायण में लिखा है—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतत् व्रतं मम॥'

यह रामानंदियोंमें चरम मंत्र माना गया है।

(६१)

* नाचत ही निसिदिवस मर्‌यो।
तब ही त न भयो हरि! थिर जब तें जिव नाम धर्‌यो॥ १॥

---

* सूरदास जी यों लिखते हैं—

'अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल।
काम-क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ बिषय की माल॥
महामोह को नूपुर बाजत, निन्दा सब्द रसाल।
भरम भर्‌यो मन भयो पखावज, चलत कुंसगति चाल॥
तृष्णा नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया को कटि फैंटा बांध्यो, लोभ तिलक दिय भाल॥
कोटिक कला कांछि देखराई, जलथल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नंदलाल॥'

बलिहारी! नृत्य का सांगोपांग रूपक लिख कर आपने कवि-कल्पना का सजीव चित्रअंकित कर दिया!

बहु वासना विबिध कंचुकि † भूषन लोभादि भर्‌यो।
चर अरु अचर गगन जल थल में, कौन न स्वाँग कर्‌यो ॥ २ ॥
देव दनुज मुनि नाग मनुज नहिं जाँचत कोउ उबर्‌यो।
मेरो दुसह दरिद्र दोष दुख काहू तो न हर्‌यो ॥ ३ ॥
थके नयन पद पानि सुमति बल, संग सकल बिछुर्‌यो।
अब रघुनाथ सरन आयो जन, भव-भय बिकल डर्‌यो ॥ ४ ॥
जेहि गुन तें बस होहु रीझि करि, सो मोहि सब बिसर्‌यो।
तुलसिदास निज भवन-द्वार प्रभु, दीजै रहन पर्‌यो ॥ ५ ॥

शब्दार्थ--थिर=स्थिर, शान्त। जिव=जीव। कंचुकि=अंगिया, नाचने के वस्त्र। स्वांग=तमाशा। उबर्‌यो=बचा, शेष रहा।

भावार्थ—हाय! दिन-रात नाचते-नाचते ही मरा, बार बार जन्मा और बार बार मरा। हे हरे! जबसे आपने "जीव" नाम रखा, तभी से यह कभी शान्त नहीं हुआ ॥ १ ॥ (नाचते समय) नाना प्रकार के इच्छारूपी वस्त्र तथा लोभ आदि अलंकार धारण कर जड़ और चैतन्य एवं पृथ्वी, पाताल और आकाश में ऐसा कौन सा स्वांग बचा जो न किया हो ॥ २ ॥ देवता, दैत्य, मुनि, सर्प, मनुष्य आदि ऐसा कोई भी न रहा, जिससे मैंने कुछ न कुछ मांगा न हो, पर इनमें से किसीने भी मेरा यह (नाचने का, जन्म-मरण का) दारुण दुःख दूर न किया ॥ ३ ॥ नेत्र, पांव, हाथ और बुद्धि और बल सभी थक गये हैं, सबने मुझे अकेला छोड़ दिया, अर्थात् इन्द्रियां भी बिदा ले गयी हैं, अब हे रघुनाथजी! संसार के भय से डरा हुआ आपकी शरण में आया हूं॥४॥ हे नाथ! जिन गुणों पर रीझ कर आप प्रसन्न होते हैं, वह सब मुझे भूल गये हैं, आप कैसे खुश होते हैं, यह मैं नहीं जानता। हे प्रभो! अब आप तुलसीदास को अपने द्वार पर पड़ा रहने दीजिए, और वह कुछ नहीं चाहता ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'जब ते जिव नाम धर्‌यो'— यह जीव परमात्मा का अंश है, जैसा कि गीता में कहा है—

'ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः'

किन्तु माया के आच्छादन से इसमें सत् और चित् तो रहा है, पर आनंद को भूल गया है। इसीसे अनेक यातनायें सहता है, चौरासी लक्ष योनियों में भ्रम रहा है।

† पाठांतर 'कंचुक'

(२) 'जेहि गुन ते बस होहु'—किन गुणों से भगवान् प्रसन्न होते हैं, यह रामायण में लिखा है—

'बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा हरि आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा॥'

(३) 'द्वार......परयो'—कविवर बिहारीलाल भी स्वर में स्वर मिला रहे हैं—

'हरि कीजत तुम सों यहै बिनती बार हजार।
जिहि तिहि भांति डऱ्यो रहौं पऱ्यो रहौं दरबार॥'

(९२)

माधवजू, मोसम मन्द न कोऊ।
जद्यपि मीन पतंग हीनमति, मोहि नहिं पूजैं ओऊ॥ १॥
रुचिर रूप-आहार-बस्य उन्ह, पावक लोह न जान्यो।
देखत बिपति विषय न तजत हौं, ताते अधिक अयान्यो॥ २॥
महामोह-सरिता अपार महँ, संतत फिरत बह्यो।
श्रीहरिचरन-कमल नौका-तजि, फिरि फिरि फेन गह्यो॥ ३॥
अस्थि पुरातन† छुधित स्वान अति ज्यौं भरि मुख पकरै‡।
निज तालूगत रुधिर पान करि, मन संतोष धरै॥ ४॥
परम कठिन भव-व्याल-ग्रसित हौं, त्रसित भयो अति भारी।
चाहत अभय भेक सरनागत, खगपति-नाथ बिसारी॥ ५॥
जलचर-बृन्द जाल-अन्तरगत होत सिमिटि इक पासा।
एकहि एक खात लालच-बस, नहिं देखत निज नासा॥ ६॥
मेरे अघ सारद अनेक जुग, गनत पार नहिं पावै।
तुलसीदास पतित-पावन प्रभु, यह भरोस जिय आवै॥ ७॥

शब्दार्थ—पूजैं=बराबरी करते हैं। ओऊ=वह भी। वश्य=अधीन। अयान्यो=मूर्ख। भेक=मेढ़क। खगपति=गरुड़। सारद=शारदा, सरस्वती।

भावार्थ—हे माधवजी! मेरे समान कोई भी मूर्ख नहीं है। यद्यपि मछली और पतिंगे मूर्ख कहे जाते हैं, पर मेरी बराबरी वे भी नहीं कर सकते, मैं उनसे

† पाठांतर 'पुरानों।' ‡ पाठांतर 'पकऱ्यो, धऱ्यो।'

कहीं बढ़कर मूर्ख हूं ॥ १ ॥ पतिंगे ने सुन्दर रूप देखकर दीपकको आग नहीं समझा और मछली ने आहार के वश हो कर लोहे का कांटा नहीं जाना, दोनों ही बिना जाने जले और फँसे, किन्तु मैं कष्ट देख-देख कर भी विषयसंग नहीं छोड़ता हूं, अतएव मैं उन दोनों से अधिक अज्ञानो हूं ॥ २ ॥ महामोह-रूपी अपार नदी में सदा बहा बहा फिरता हूं, भगवान् के चरण-कमलों की जो नाव है, उसे छोड़ कर बार बार फेन, अर्थात् क्षणिक विषय-सुख, पकड़ता हूं। (यह मूर्खता नहीं तो क्या हैं) ॥ ३ ॥ जैसे भूखा कुत्ता पुरानी, पड़ी हुई, हड्डी को मुँह में भर कर पकड़ता है और तालू में अटक जाने से जो रुधिर बहता है, उसे चाट-चाट कर बड़ा प्रसन्न होता है, यह नहीं समझता कि यह रक्त तो मेरे ही शरीर का है। इसी प्रकार मनुष्य विषयसंग में अपने ही वीर्य-पराक्रम को नाश कर सुखी होता है ॥ ४ ॥ मैं संसाररूपी सांप से डसे जाने के कारण बड़ा ही डरा हुआ हूं, पर गरुड़गामी भगवान् की शरण में न जाकर मेढ़क की शरण में जाता हूं। भाव, जो स्त्री-पुत्रादि स्वयं काल-कलेवा हैं, उनसे अपनी रक्षा कराता फिरता हूं। भला मेरे-सरीखा कोई मूर्ख होगा ? ॥ ५ ॥ जैसे जल में रहनेवाले जीवों के समूह जाल में सिमट-सिमट कर इकट्ठे हो जाते हैं, और लोभवश एक दूसरे को खाते हैं, अपना भावी नाश नहीं देखते (वैसे ही हम सब इस जगज्जाल में फँसे हुए एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते हैं, यह नहीं जानते कि फँसानेवाला कालरूपी धीमर थोड़ी देर में हम सबका स्वाहा कर देगा) ॥ ६ ॥ यदि सरस्वती अनंत युगों तक मेरे पापों की गणना करें, तो भी उनका अन्त न पा सकेगीं। पर तुलसीदास के मन में तो यह पूरा विश्वास है कि उसके स्वामी श्रीरघुनाथजी पतितों का उद्धार करनेवाले हैं। भाव, मेरा भी उद्धार कर देंगे ॥ ७ ॥

टिप्पणी--(१) 'महामोह सरिता'--रामचरितमानस में गुसाईंजी ने इसे और भी सांगोपांग रूप से लिखा है-

'नर तनु भव-बारिधि कहँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥
करनधार सतगुरु दृढ़ नावा। दुरलभ साज सुलभ करि पावा ॥
दोहा—जो न तरइ भवसागर, नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंदमति, आतमहन गति जाइ ॥'

श्रीमद्भागवत में इस प्रकार कहा है--

'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारम् ।
यानुकूलेन नभस्वतेरितं, पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥'

(२) 'खगपति–नाथ' यहां यह शब्द बहुत ही उपयुक्त है । सर्प गरुड़ का भक्षक है । वह अपने स्वामी, विष्णु, की आज्ञा से उसे तुरंत खा जायगा ।
(३)' मेरे ......पावै '—इस पाप- बाहुल्य पर सूरदासजी कहते हैं—

'कोउ न मोसम अघ करिबो कों खैंचि कहत हौं लीको ।
मरियत लाज सूर पतितन में, हम हू ते को नीको ॥'

(९३)

कृपा सो धौं कहां बिसारी राम ।
जेहि करुना सुनि स्रवन दीन-दुख, धावत हौ तजि धाम ॥ १ ॥
नागराज निज बल बिचारि हिय, हारि चरन चित दीन्हों ।
आरत गिरा सुनत खगपति तजि, चलत बिलंब न कीन्हों ॥ २ ॥
दितिसुत-त्रास-त्रसित निसिदिन प्रहलाद-प्रतिग्या राखी ।
अतुलित बल मृगराज-मनुज-तनु दनुज हत्यो स्रुति साखी ॥ ३ ॥
भूप-सदसि सब नृप बिलोकि प्रभु, राखु कह्यो नर-नारी ।
बसन पूरि, अरि-दर्प दूरि करि, भूरि कृपा दनुजारी ॥ ४ ॥
एक एक रिपु ते त्रासित जन, तुम राखे रघुबीर ।
अब मोहिं देत दुसह दुख बहु रिपु कस न हरहु भवपीर ॥ ५ ॥
लोभ-ग्राह, दनुजेस–क्रोध, कुरुराज-बन्धु खल मार ।
तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—नागराज = गजेन्द्र । खगपति = गरुड़ । दितिसुत=हिरण्यकशिपु से तात्पर्य है । त्रसित=भीत, डरा हुआ । मृगराजमनुज=नरसिंहरूप । सदसि= सभा में । दर्प = घमंड । कुरुराजबन्धु = दुर्योधन का भाई दुःशासन । मार = कामदेव । उदार = कृपालु ।

भावार्थ—हे रामजी ! आपने अब उस करुणा को कहां भुला दिया कि जिसे सुन कर आप दीन दुखियों के उद्धार करने के लिये अपना लोभ छोड़ कर दौड़ आते थे ? ॥ १ ॥ जब गजेन्द्र ने अपने पुरुषार्थको ओर देख कर और मन

मार कर आपके चरणों में चित्त लगाया, प्रीति की, तब आप उसकी करुण वाणी के सुनते ही, गरुड़ को वहीं छोड़ कर तुरन्त दौड़ आये, क्षण भर की भी देरी न की ॥ २ ॥ हिरण्यकशिपु से भयभीत प्रहलाद की भी पैज आपने पूरी की, (उसे दिन-रात राम-नाम लेने से उसका पिता हिरण्यकशिपु डांट-दपट बतलाता था, पर वह सत्याग्रही वीर, अनेक यातनाएं सहने पर भी, राम-नाम नहीं छोड़ता था।) आपने महान् बलवान् सिंह और मनुष्य का (नृसिंह) शरीर धर कर उस दैत्य (हिरण्यकशिपु) को मार डाला, इस बात का साक्षी वेद है ॥ ३ ॥ महाराज धृतराष्ट्र की सभा में (दुःशासन के हाथ से अपनी लज्जा जाते देख कर) जब अर्जुन की स्त्री, द्रौपदी, ने पुकार कर कहा कि हे नाथ ! मेरी रक्षा कीजिए, तब हे दैत्यविनाशक ! आपने वहां (उसके शरीर की लाज रखने के लिये) वस्त्रों का ढेर लगा कर तथा शत्रुओं का घमण्ड मिट्टी में मिला कर बड़ी कृपा की ॥ ४ ॥ हे रघुनाथजी ! आप ने इन सब भक्तों की रक्षा, एक ही एक शत्रु से सताये जाने पर, की है, पर यहां मुझे बहुत से शत्रु, एक साथ ही, दारुण दुःख दे रहे हैं। फिर आप मेरी यह सांसारिक यातना क्यों नहीं दूर कर देते ? ॥ ५ ॥ लोभरूपी मगर, क्रोधरूपी दैत्यराज, हिरण्यकशिपु, और दुष्ट कामदेवरूपी दुर्योधन का भाई, दुःशासन, ये सब मुझ तुलसीदास को बड़ा दुःख दे रहे हैं। हे कृपालु रामजी ! मेरे इन शत्रुओं का नाश कीजिए ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'कृपा'—भगवान् की भक्त-वत्सलता पर जो प्रतिज्ञा है, उसे सूरदासजी ने क्या ही ओज से लिखा है—

'हम भक्तन के, भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिग्या मेरी, यह व्रत टरत न टारे ॥
भक्तै काज लाज हिय धरि कै, पाय पयादे धाऊँ।
जहँ जहँ भीर परै भक्तन पै, तहँ तहँ जाइ छुड़ाऊँ ॥
जो मम भक्त सों बैर करत है, सो निज बैरी मेरो।
देखि बिचारि भक्तहित कारन, हांकत हौं रथ तेरो ॥
जीते जीत भक्त अपने को, हारे हार बिचारौं।
सूरदास सुनि भक्त-बिरोधी, चक्र सुदर्शन जारौं ॥

(२) 'नागराज'—८३ पद की टिप्पणी देखिये।

(३) 'दिति सुत......साखी'—प्रह्लाद का सत्याग्रह प्रसिद्ध है। इनका पिता हिरण्यकशिपु इन्हें राम-नाम लेने से रोकता था, और यह बराबर 'राम-राम' कहा करते थे। उसने सब प्रकार से इन्हें रोका, पर यह न माने। अन्त में, उसने एक खम्भे से इन्हें बांध दिया और तलवार लेकर इन्हें मारने को तयार हो गया। भक्तवत्सल भगवान् नृसिंह-रूप से खम्भा फाड़ कर निकल आये और देखते-देखते हिरण्यकशिपु को चीड़-फाड़ डाला। प्रह्लाद की महाभागवतों में गणना है। कवित्त रामायण में गुसाईंजी ने प्रह्लाद पर क्या ही उत्तम छन्द लिखा है—

'आरत-पाल कृपाल जो राम जुहीं सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।
नाम प्रताप महा महिमा अँकरे किये खोटेउ छोटेउ बाढ़े॥
सेवक एक ते एक अनेक भये तुलसी तिहुँ ताप न माढ़े।
प्रेम बड़ो प्रहलादहि को, जिन पाहन ते परमेसुर काढ़े॥'

(४) 'भूप सदसि......दनुजारी'—जब दुर्योधन ने पाण्डवों का सर्वस्व जुए में जीत लिया, तब द्रौपदी को भी दांव पर रखवा लिया। दुःशासन द्रौपदी के केश पकड़ कर उसे भरी सभा में ले आया और लगा उसकी साड़ी खींचने। पांचों पांडव, द्रोणाचार्य, कर्ण आदि सभी बैठे रहे, किसीने दुर्योधन के डर के मारे, बेचारी की मर्यादा न बचाई। तब तो वह करुणासिंधु भगवान् को पुकारने लगी। भगवत्-कृपा से उसकी साड़ी इतनी लम्बी हो गई कि दुःशासन उसे खींचते खींचते थक गया, पर ओर-छोर न पा सका। इस प्रसंग पर अनेक कवियों ने, अतिशयोक्ति के साथ, छंद लिखे हैं। निम्नलिखित एक छन्द देखिये—

'पाय अनुसासन दुसासन के कोप धायो, द्रुपद-सुता को चीर गहे भीर भारी है।
भीषम, करन, द्रोन बैठे व्रतधारी तहां, कामिनी की ओर काहू नेक ना निहारी है।
सुनि कै पुकार धाये द्वारका ते जदुराई, बाढ़त दुकूल खैंचे भुजबल हारी है।
सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है, कि सारी ही कि नारी है कि नारीही की सारी है।

(५) 'लोभ ग्राह......मार'—श्रीवैजनाथजी ने, अपनी टीका में, लोभ आदि का रूपक इस प्रकार बांधा है—

लोभ = ग्राह ; मन = गयन्द ; भव = सागर। क्रोध = हिरण्यकशिपु ; शुद्धचित्त = प्रहलाद। काम = दुःशासन ; बुद्धि = द्रौपदी ; मर्यादा = साड़ी।

(६४)

काहे ते हरि मोहि बिसारो।
जानत निज महिमा मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो ॥१॥
पतित-पुनीत दीनहित असरन-सरन कहत स्रुति चारो।
हौं नहिं अधम सभीत दीन ? किधौं, बेदन मृषा पुकारो ? ॥२॥
खग-गनिका-गज-ब्याध-पांति जहँ, तहँ हौंहूं बैठारो।
अब केहि लाज कृपानिधान, परसत पनवारो फारो ॥३॥
जो कलिकाल प्रबल अति होतो, तुव निदेस तें न्यारो।
तौ हरि रोष भरोस दोष गुन तेहि भजते तजि गारो ॥४॥
मसक बिरञ्चि, बिरञ्चि मसक सम, करहु प्रभाउ तुम्हारो।
यह सामरथ अछत मोहि त्यागहु, नाथ तहां कछु चारो ॥५॥
नाहिन नरक परत मो कहँ डर, जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दासतुलसी प्रभु, नामहु पाप न जारो ॥६॥

शब्दार्थ—मृषा = असत्य। हौंहू = मुझे भी। पनवारो = पत्तल; यह शब्द बुन्देलखण्डी है। गारो = झगड़ा, झंझट। मसक = मच्छर। अछत = होते हुए।

भावार्थ—हे हरे ! मुझे आपने किस कारण से भुला दिया ? हे नाथ ! आप अपनी महिमा और मेरे पाप, इन दोनों ही बातों को जानते हैं. फिर भी आप ने मेरी रक्षा न की ! ॥ १ ॥ चारों वेद कहते हैं कि आप नीचों का उद्धार करने वाले, ग़रीबों के हितू और जिन्हें कोई भी शरण न ले, उन्हें भी शरण देनेवाले हैं, तो क्या मैं नीच, भयभीत या दीन नहीं हूं, अथवा क्या वेदों ने ही यह झूठ-मूठ कह दिया है ? ॥ २ ॥ पक्षी (जटायु गीध), गणिका (पिंगला), हाथी, बहेलिया (वाल्मीकि) आदि इन सबकी जहां पांति थी वहां मैं भी बैठ गया, अथवा आपने वहां मुझे बिठा दिया, अब हे कृपासिंधो ! आपको क्या शर्म आ गयी, जो मेरी परसी हुई पत्तल को फाड़ रहे हैं ? भाव यह है कि, मुझे पूरा भरोसा था कि मैं पापियों की पांति में बैठ कर भोजन करने योग्य हूं और आपने ही मुझे वहां ला बिठाया, पर अब क्या हुआ जो मुझे वह अधिकार न मिल सका, मैं आपकी शरण में न जा सका, संसार-सागर से नतर सका ? ॥ ३ ॥ यदि कलिकाल पराक्रमी होता और आपकी आज्ञा न

मानता होता, तो हम लोग तुम्हारी आशा छोड़ देते, तुम्हारा गुण-गान भी न करते और क्रोध कर उस बेचारे को जो भला-बुरा कहते हैं, सो भी न कहते, बस, सब झंझट छोड़-छाड़ कर उसी का भजन करते, जिससे कम से कम वह विघ्न-बाधा तो न करता ? ॥ ४॥ आप मच्छर से ब्रह्मा और ब्रह्मा से मच्छर बना सकते हैं, ऐसा आप का प्रताप है, पर यह सब सामर्थ्य होते हुए भी आप मुझे त्याग रहे हैं! हे नाथ! इसमें मेरा क्या वश है? भाव, जो चाहे सो कीजिए।।५।। यद्यपि सब प्रकार से हार चुका हूं, मुझे नर्क में जाने का भी कुछ भय नहीं है, किन्तु मुझ तुलसीदास को डर है तो इस बात का है कि, आपके नाम ने भी मेरे पापों को नहीं जलाया अर्थात् आपके नाम में कुछ सामर्थ्य नहीं रहा, नाम मुफ्त में बदनाम होगा, यही डर है, और कुछ नहीं ॥६॥

टिप्पणी—(१)'खग'—४३ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(२) 'गनिका'—पिंगला नाम की एक वेश्या थी। एक दिन जब उसका प्रेमी आधीरात तक न आया और वह शृंगार किये उसकी राह देखती रही, तब उसे बड़ी ही ग्लानि हुई। कहने लगी, यदि जितनी देर तक इसकी राह देखती रही उतनी देर भगवद्भजन करती तो मेरा उद्धार ही न हो जाता। यह विचार कर, उस दिन से वह वेश्यावृत्ति छोड़ कर सच्चे हृदय से राम-नाम जपने लगी। भगवत्कृपा से वह मुक्त हो गई।

(३) 'गज'—८२ पद की टिप्पणी देखिये।

(४) 'व्याध'—वाल्मीकि से तात्पर्य है। यह पहले बहेलिया थे। पीछे सनकादिक के उपदेश से, जीवहिंसा छोड़ कर, भगवद्भजन करने लगे और भजन के प्रताप से महर्षि हो गये। कहा भी है—

'उलटा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भे ब्रह्म समाना॥'

(५) 'मसक......सम'—संभव को असंभव और असंभव को संभव कर दिखानेवाला ईश्वर। वेद प्रमाण है—'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुः'

(९२)

तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं।
जौ जमराज काज सब परिहरि, इहै ख्याल उर अनिहैं॥ १॥

चलि हैं छूटि पुंज पापिन के, असमञ्जस जिय जनिहैं।

देखि खलल अधिकार प्रभू सों, मेरी भूरि भलाई भनिहैं * ॥ २ ॥
हँसि करिहैं परतीति भक्त की, भक्त-सिरोमनि मनिहैं ।
ज्यों त्यों तुलसिदास कोसलपति, अपनायहि पर बनिहैं ॥ ३ ॥

शब्दार्थ--अनिहैं = लायेंगे । खलल = बाधा । भूरि = अधिक । भनिहैं = कहेंगे । मनिहैं = मानेंगे ।

भावार्थ—यदि यमराज सब काम-काज छोड़कर सिर्फ मेरे ही पापों के हिसाब-किताब का विचार मन में लायेंगे, तो भी मेरे पापों और दुर्गुणों का लेखा न कर सकेंगे । भाव, मैंने इतने अधिक पाप कमाये हैं कि यमराज तक उन्हें नहीं गिन सकते ॥ १ ॥ (जब वह मेरे पापों का हिसाब करने लगेंगे, तब उन्हें इधर प्रवृत्त देख कर उधर) पापियों के झुण्ड के झुण्ड क़ैद से छूट कर भागने लगेंगे । तब तो उनके मनमें बड़ी चिन्ता होगी । अपने अधिकार में (मेरे कारण से) बाधा पड़ते देख कर (वह मेरा हिसाब-किताब छोड़ कर) भगवान् से मेरी खूब तारीफ़ कर देंगे (कि तुलसीदासने आपका भजन किया है, उसने एक भी पाप नहीं किया) ॥ २ ॥ भगवान् भी मुसकरा कर मुझ पर विश्वास कर लेंगे (क्योंकि जब स्वयं यमराज की सिफ़ारिश पहुंच गई, तब और सुबूत क्या चाहिये ?) और मुझे भक्तों में शिरोमणि मान लेंगे । सारांश यह कि, हे कोसलेश ! आपको जैसे-तैसे मुझे अपनाना ही पड़ेगा ॥ ३ ॥

टिप्पणी--(१) गुसाईंजी ने इस पद में 'ख्याल' और 'खलल' ये दो फ़ारसी के शब्द प्रयुक्त किये हैं । इनकी अन्यान्य रचनाओं में भी फ़ारसी के शब्द पाये जाते हैं । सूरदासजी ने भी फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया है और ऐसा करना ठीक भी है । जो शब्द बोलचाल में प्रचलित हो गये हैं, उनका बहिष्कार उचित नहीं है ।

(९६)

जो पै जिय धरिहौ अवगुन जनके ।
तौ क्यों कटत सुकृत-नखते मो पै,† बिपुल बृन्द अघ-बनके ॥ १ ॥

---

* इस चरण में चार मात्राएं बढ़ती हैं ।

† इस शब्दको "मुप" करके पढ़ें तो ठीक हो जाता है ।

कहिहै कौन कलुष मेरे कृत, कर्म बचन अरु मनके।
हरि हैं* अमित सेष सारद स्रुति, गिनत एक इक छन† के ॥ २ ॥
जो चित चढ़े नाम-महिमा निज, गुनगन पावन पनके।
तो तुलसिहिं तारिहौ विप्र ज्यों, दसन तोरि जमगनके ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे नाथ! यदि कहीं आप इस दासके दोषोंको मनमें लायेंगे, उनपर ध्यान देंगे, तो मुझसे पुण्यरूपी नखसे पाप रूपी बड़े बड़े वन-समूह कैसे कट सकेंगे? भाव, मेरा पुण्य न होनेके बराबर है, उसके प्रभावसे भला पापोंके भारी भारी जंगल कैसे कट सकते हैं ॥ १ ॥ मैंने जितने पाप, कर्म, बचन और मनसे किये हैं, भला उनका बखान कौन कर सकता है? एक एक क्षणके किये हुए पापोंके लेखा लगानेमें अनेक शेष, सरस्वती और वेद थक जायँगे ॥ २ ॥ हां, जो (मेरे पापोंकी ओर ध्यान न देकर) आपके मनमें अपने नामकी महिमा और उद्धार करनेकी गुणावलीका प्रण आ जाय, तो आप यमदूतोंके दांत तोड़कर तुलसीदास को वैसेही संसार-सागरसे पार कर देंगे, जैसे कि अजामेल ब्राह्मण को किया था ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'नाम-महिमा'—राम-नाम अथवा भगवान्‌के किसी भी नामका माहात्म्य किसीसे छिपा नहीं है। इस सम्बन्धके हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें अनेक प्रमाण भरे पड़े हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु का यह सिद्धान्त था कि—

'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।' तथा—

कलियुग केवल नाम अधारा। जानि लेहि जो जाननि हारा॥

(२) 'गुन गन'—दया, शील, वात्सल्य, सौलभ्य, क्षमा, करुणा, कृतज्ञता सौहार्द आदि भगवान्‌के दिव्य गुण हैं।

(३) 'विप्र'—अजामेल, ५७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(४) 'तौ क्यों कटत......वनके'—यह बड़ी सुन्दर कल्पना है। नखसे वनका काट डालना गुसाईंजी-सरीखे महाकवियोंको सूझ सकता है।

---

* पाठान्तर 'हारहिं'। † पाठांतर 'छिन'।

(९७)

जो पै हरि जनके औगुन गहते।
तौ सुरपति कुरुराज बालि सों, कत हठि बैर बिसहते ॥ १ ॥
जो जप जाग जोग व्रत बर्जित, केवल प्रेम न चहते।
तौ कत सुर मुनिबर बिहाय व्रज, गोप-गेह बसि रहते॥ २ ॥
जो जहं तहं प्रन राखि भक्त को, भजन-प्रभाव न कहते।
तौ कलि कठिन करम-मारग जड़ हम केहि भांति निबहते । ३ ॥
जो सुतहित लिय नाम अजामिल के अघ अमित न दहते।
तौ जमभट साँसति-हर हमसे, बृषभ खोजि खोजि नहते ॥ ४ ॥
जो जगविदित पतितपावन. अति बांकुर बिरद न बहते।
तौ बहुकल्प कुटिल तुलसीसे, सपनेहुं सुगति न लहते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ---कत = क्यों, कैसे। बिसहते = बिसाहते, ठानते । वर्जित = रहित । साँसति – यातना। नहते = जोतते। बांकुर = बांका, अनूठा।

भावार्थ--यदि भगवान् अपने सेवकोंके दोषोंको ही मनमें लाते, तो इन्द्र, दुर्योधन और बालि से क्यों हठपूर्वक शत्रुता कर बैठते ॥१॥ यदि आप जप, यज्ञ, योग, व्रत आदि छोड़कर केवल प्रेम न चाहते, तो देवता और श्रेष्ठ मुनियों को त्याग कर व्रज में गोपों के यहां किसलिये रहते ? ॥२॥ जो आप जहां तहां भक्तों की पैज रखकर भजन का प्रभाव न कहते, तो हम-सरीखे जीव इस कलियुग के कराल कर्म-मार्ग में किस प्रकार चल सकते, कैसे निर्वाह हो सकता ॥ ३ ॥ यदि आपने उस अजामेलके अनन्त पापों को भस्म न किया होता, जिसने पुत्र-भावना से आपका नाम (नारायण) लिया था, तो यमदूत हम जैसे बैलोंको, खोज खोजकर, हल में जोतते ॥४॥ यदि आपने जगत-उजागर, पापियों का उद्धार करनेवाला बांका बाना न लिया होता, तो अनेक कल्पों तक यह दुष्ट तुलसीदास स्वप्न में भी मुक्ति का भागी न होता ॥५॥

टिप्पणी--(१) ९६ और ९७ पद का पूर्वापर संबन्ध है। पहले पद में कहा गया है कि, हे रामजी ! आप अपने जनों के अवगुण चित्त में न लाइये इत्यादि। इस पद में गुसाईंजी को निश्चय हो गया है कि, हमारे स्वामी कभी भक्तों के अवगुणों पर ध्यान नहीं देते।

(२)'सुरपति'—एक बार देवर्षि नारद स्वर्ग से पारिजात पुष्प लाकर रुक्मिणि को दे गये। सत्यभामा (श्रीकृष्ण की दूसरी रानी) ने सौतिया डाह से, उस को लेना चाहा, पर मिले तो कैसे! सत्यभामा के मान करने पर श्रीकृष्ण स्वर्ग में इन्द्र से लड भिड़कर,वहां से पारिजात का वृक्ष ही उखाड़ लाये और सत्यभामा के भवन में उसे लगा दिया। सत्यभामा का हठ और मान यद्यपि अवगुण था, किन्तु भक्तिवश भगवान् ने उसपर कुछ ध्यान न दिया।

(३)'कुरुराज'—दुर्योधन; पांडवों के कारण श्रीकृष्ण भगवान् को कौरवों के विरुद्ध लड़ना पड़ा। द्रौपदीको पांचों भाइयोंके वीच रख लेना, जुवा खेलना आदि पांडवों के प्रत्यक्ष दोष थे, किन्तु उनकी भक्ति देखकर भगवान् ने उनका पक्ष लिया और दुर्योधन से शत्रुता विसाह ली।

(४)'बालि'— सुग्रीव का पक्ष लेकर निरपराध वालिको मारकर रघुनाथजीने उपर्युक्त उदाहरणों की पुष्टि की।

(५) 'व्रजगोपगेह'—इस प्रसंग पर निम्नलिखित सवैया ही काफी है—

'ब्रह्म मैं ढूंढ्यो पुरानन वेदन भेद सुन्यो चित चौगुनं चायन।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कवहूँ वह कैसो स्वरूप औ कैसे सुभायन॥
ढूँढत ढूँढत ढूँढि फिर्यो 'रसखानि' बतायो न लोग-लुगायन।
देख्यो कहाँ? वह कुंज कुटीर में बैठ्यो पलोटत राधिका-पायन'॥

(६) 'अजामेल'—५७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(९८)

ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारि जन के वस, होत सदा यह रीति ॥१॥
जिन बाँधे सुर असुर नाग नर, प्रबल करम की डोरी।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि, बाँध्यो सकत न छोरी ॥२॥
जाकी माया बस बिरंचि सिव, नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाय ग्वाल-जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो ॥३॥
बिस्वंभर, श्रीपति, त्रिभुवनपति, वेद-बिदित यह लीख।

बलि सों कछु न चली प्रभुता, बरु ह्वै द्विज माँगी भीख ॥४॥
जाको नाम लिये छूटत भव-जन्म-मरन दुख-भार।
अंबरीष-हित लागि कृपानिधि, सोइ जनमे दस बार ॥५॥
जोग बिराग ध्यान जप तप करि, जेहि खोजत मुनि ग्यानी।
बानर भालु चपल पसु पामर, नाथ तहां रति मानी ॥६॥
लोकपाल, जम,काल, पवन, रवि, ससि सब आग्याकारी।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेंत करधारी ॥७॥

शब्दार्थ—अवछिन्न=अखंड, कला-रहित। लीख=लीक, रेख। बरु=उलटे। पामर=नीच। रति=प्रीति।

भावार्थ—भगवान् अपने सेवक पर इस प्रकार प्रेम करते हैं। अपनी महिमा भूलकर वह भक्त के अधीन हो जाते हैं, उनकी यही सदा से रीति चली आती है ॥१॥ जिसने देवता, दैत्य, सर्प और मनुष्यों को कर्मरूपी मजबूत रस्सी से बाँध रखा है (कर्मों में फँसा रखा है) उसीको, उसी अखंड परमात्मा को, यशोदाजी ने ज़बरदस्ती बांध लिया और उस बन्धन को आप खोल भी नहीं सके ॥२॥ जिसकी माया के अधीन होकर ब्रह्मा और शिव तक ने नाच-नाच कर जिसका पार नहीं पाया, उसीको गोपियों ने हथेली से ताल बजा-बजा कर नचाया ॥३॥ वेदोंमें यह लीक है, पक्की लिखावट है, कि परमात्मा का नाम विश्वम्भर, लक्ष्मीपति, त्रिलोकीनाथ आदि है, किन्तु राजा बलि के आगे, उसकी एक न चली, उलटे ब्राह्मण-भेष बनाकर उससे भीख माँगनी पड़ी ॥४॥ जिसका नाम स्मरण करने से संसार के जन्म-मरणरूपी भार से पिंड छूट जाता है, वही कृपासिंधु अम्बरीष भक्त के लिये दस बार इस भूमंडल पर अवतीर्ण हुआ ॥५॥ बड़े बड़े ज्ञानी मुनि जिसे योग, विराग, ध्यान, जप और तप कर करके खोजते फिरते हैं, उसी नाथ ने बंदर, रीछ आदि नीच पशुओं से प्रेम किया ॥६॥ लोकपाल, यम, काल, पवन, सूर्य, चन्द्रमा आदि सब जिसकी आज्ञा मानते हैं, वही प्रभु, हे तुलसीदास, महाराज उग्रसेनके द्वार पर हाथ में लकड़ी लिये खड़ा है ॥७॥

टिप्पणी—(१)'सोइ अविछिन्न......छोरी' एक बार यशोदाजी ने श्रीकृष्ण को किसी अपराध के कारण पेड़ से कस कर बांध दिया था। इतने में बलरामजी आ पहुंचे। देखकर चकित हो कहने लगे—

'निरखि स्याम हलधर मुसुकाने।
को बांधै को छोरै इनको, यह महिमा येई पै जाने॥
उत्पति प्रलय करत हैं येई, सेष सहस मुख सुजस बखाने।
यमलार्जुन को तोरि उधारत, कारन-करन करत मनमाने॥
असुर सँहारन भक्तहिं तारन, पावन-पतित कहावत बाने।
सूरदास प्रभु भाव-भक्त के, अति हित जसुमति-हाथ बिकाने॥

(२)'करतल...... नचायो'—स्वर्गीय पण्डित रामेश्वर भट्टजी ने इसका उलटा अर्थ किया हैं। लिखा है—'उसीने हथेली पर ताल बजा-बजा कर गोपियों को नाच नचाया।' सो क्या हुआ ? जब उसने ब्रह्मा तक को नचा डाला, तब उसके लिये गोपियाँ हैं ही क्या ? यह बात नहीं है, गोपियों ने उसे नचाया, यही स्पष्ट और सुसंगत अर्थ है। सूरदासजी भी कहते हैं—

'चुटकिन दै दै ग्वालि गवावति, नाचत कान्ह बाल-लीला धरि।'

रसखानि ने भी क्या खूब कहा है—

'सेस गनेस महेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
जाहि हिये लखि आनंद ह्वै जड़ मूढ़ हिये रसखानि कहावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

(३) 'अंबरीष'—महाराज अम्बरीष परम वैष्णव थे : एकादशी व्रत करनेवाले तो एक ही थे। एक बार द्वादशी के दिन दुर्वासा ऋषि आ पहुंचे। राजा ने उन्हें निमन्त्रण दिया, क्योंकि वह द्वादशी के दिन ब्राह्मणों को भोजन करा कर फिर आप पाते थे। दुर्वासा जी स्नान करने को चले गये और वहां बड़ा विलम्ब कर दिया। उस दिन द्वादशी थोड़ी थी, उपरान्त त्रयोदशी आनेवाली थी। शास्त्र का प्रमाण है कि द्वादशी में पारण करलेना चाहिये। ब्राह्मणों के कहने से राजाने, यह दोष मिटाने के लिये चरणोदक ले लिया। इतने में दुर्वासा आगये। यह जान कर कि राजा ने बिना मेरे आये जलपान कर लिया है, वह आग बबूला हो गये। उन्होंने राजा को यह शाप दिया कि तुझे जो यह घमण्ड है कि, मैं इसी जन्म में मुक्त हो जाऊंगा सो मृषा है, अभी जलचर, नभचर, मनुष्य आदि

के दश शरीर धारण करने होंगे। उन्होंने कृत्या नामकी एक राक्षसी भी पैदा की। वह राजा के खाने को दौड़ी। उधर भगवान् ने चक्र सुदर्शन को आज्ञा दी। उसने कृत्या को मार कर ऋषि का पीछा किया। ऋषि त्रिलोक में भागते फिरे, पर किसीने शरण न दी। लाचार अंबरीष के पैरों पर गिर पड़े। राजा ने चक्र को शांत कर दिया। विष्णु भगवान् ने दुर्वासा से कहा कि जो आपने हमारे भक्त को शाप दिया है, उसे मैं ग्रहण करता हू, मैं दश शरीर धारण करूंगा।

पूज्यवर भट्टजी ने इसका यह अर्थ किया है कि, 'उसी कृपा के समुद्र ने अम्बरीष (सरीखे भक्तों) के लिये दश वार जन्म लिया।' इससे अर्थ स्पष्ट नहीं होता। अम्बरीष के साथ 'सरीखे भक्तों' जोड़ना अनुपयुक्त जान पड़ता है। वैजनाथ जी ने उपर्युक्त कथा की चर्चा की है, और है भी वह युक्तिसंगत।

(४) 'उग्रसेन'—कंस के पिता और श्रीकृष्ण के नाना; कंस के मरने पर इनको श्रीकृष्ण ने राजा बनाया था और आप बने थे मंत्री तथा द्वारपाल।

(९९)

बिरद गरीबनिवाज रामको।
गावत वेद पुरान संभु सुक, प्रगट प्रभाव नाम को ॥१॥
ध्रुव प्रहलाद विभीषन कपिपति, जड़ पतंग पांडव सुदाम को।
लोक सुजस, परलोक सुगति इन्ह में को है राम काम को ॥२॥
गनिका, कोल, किरात आदि कवि, इन्हते अधिक बामको।
बाजिमेध कब कियो अजामिल, गज गायो कब सामको ॥३॥
छली मलीन हीन सब ही अंग, तुलसी सो छीन छामको।
नाम-नरेस-प्रताप प्रबल जुग, जुग जुग चालत चाम को ॥४॥

शब्दार्थ—बिरद = बाना। सुदाम = सुदामा। बाम = प्रतिकूल, नीच। बाजिमेध = अश्वमेध यज्ञ। छाम = पतला। चामको = चमड़े का सिक्का।

भावार्थ—ग़रीबो को निहाल कर देना—बस यही रामचन्द्रजी का बाना है। उसे वेद, पुराण, शिव, शुकदेव आदि गाते हैं, और उनके (राम) नाम का प्रभाव तो प्रत्यक्ष ही है ॥१॥ ध्रुव, प्रहलाद, विभीषण, सुग्रीव, जड़ (यमलार्जुन), पक्षी (जटायु) पांचो पांडव और सुदामा इन सब को भगवान् ने इस लोक में सत्कीर्ति और परलोक में जो मोक्ष दी है, भला इनमें से कोई भी उनके काम का

है ? एक भी नहीं ॥२॥ वेश्या (पिंगला), कोल-किरात (गुह, निषाद आदि), बाल्मीकि आदि से बुरा कौन था ? अजामेल ने कब अश्वमेध यज्ञ किया था ? और गजेन्द्र ने कब सामवेद का गान किया था ? कभी नहीं ॥ ३ ॥ तुलसी के समान कपटी, नीच, सब साधनों से हीन, दुबला और पतला कौन है ? किंतु बात तो यह है कि (राम) नामरूपी राजा के राज्य में उसके प्रबल प्रताप से, युग युग से, चमड़े का भी सिक्का चलता आ रहा है। भाव यह है कि नाम के प्रताप से नीच से नीच मुक्त होते आये हैं। इस सिद्धान्त से मैं भी तर जाऊंगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'ध्रुव'—८६ पद का प्रसंग देखिये ।

(२) 'प्रह्लाद'—९३ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये ।

(३) 'विभीषण'—इनकी कथा प्रसिद्ध ही है ।

(४) 'कपिपति'—सुग्रीव; इनकी भी कथा प्रकट है ।

(५) 'सुदाम'—सुदामा; यह श्रीकृष्ण के सहपाठी थे । पीछे अत्यन्त दरिद्र हो गये। स्त्री के आग्रह से अपने मित्र के पास द्वारका गये। भगवान् ने इनका बड़ा ही आदर किया और इन्द्र के समान समृद्धिशाली बना दिया।

(६)'गनिका'–९४ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(७) 'आदिकवि'–वाल्मीकि; ९४ पद की चौथी टिप्पणी देखिये ।

(८) 'अजामिल'— ५७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये ।

(९) 'गज'—८३ पद की टिप्पणी देखिये ।

(१०) गुसाईंजी ने चमड़े के सिक्के का ज़िक्र किया है, जो कि कुछ क़ीमती भी होता है, पर आज, अंग्रेजी राज्य में, कागज़ के सिक्के चल रहे हैं, रद्दी भी लाखों रुपये पर बिक रही है ! धन्य काल-चक्र !

(१००)

सुनि सीतापति-सील सुभाउ ।
मोद न मन, तन पुलकि नैन जल, सो नर खेहर खाउ ॥ १ ॥
सिसुपन ते पितु मातु बन्धु गुरु, सेवक सचिव सखाउ ।
कहत राम-विधु-बदन रिसोहैं सपनेहुं लख्यो न काउ ॥ २ ॥

खेलत संग अनुज बालक नित, जुगवत अनट अपाउ ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत, देत दिवावत दाउ ॥ ३ ॥
सिला साप-संताप-विगत भई, परसत पावन पाउ ।
दई सुगति सो न हेरि हर्षि हिय, चरन छुए * पछताउ ॥ ४ ॥
भव-धनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये ताउ ।
छमि अपराध, छमाइ पांय परि, इतौ न अनत समाउ ॥ ५ ॥
कह्यो राज, बन दियो नारिबस, गरि गलानि गे † राउ ।
ता कुमातु को मन जुगवत ज्यौं निज तनु मरम कुघाउ ॥ ६ ॥
कपि-सेवा-बस भये कनौड़े, कह्यो पवनसुत आउ ।
देवे को न कछू, रिनियां हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ ॥ ७ ॥
अपनाये सुग्रीव बिभीषन, तिन न तज्यो छल-छाउ ।
भरत सभा सनमानि सराहत, होत न हृदय अघाउ ॥ ८ ॥
निज करुना करतूति भक्त पर, चपत चलत चरचाउ ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत, सुनत कहत फिरि गाउ ॥ ९ ॥
समुझि समुझि गुनग्राम राम के, उर अनुराग बढ़ाउ ।
तुलसिदास अनयास रामपद पइहैं प्रेम-पसाउ ॥ १० ॥

शब्दार्थ—खेहर=धूल, खाक़ । काउ=किसीने, बुन्देलखण्डी शब्द है । अनट = अनीति । अपाउ = अपाय, नुकसान । दाउ = दांव, खेलने का अवसर । सिला = अहल्याकी पाषाण-मूर्ति से तात्पर्य है । भव = शिवजी । ताउ = ताव, क्रोध । समाउ = शक्ति । गे = गये । मरम = मर्मस्थान । कनौड़े = उपकृत । चपत = दबते हैं । सकृत = एक बार । अनयास = सहज ही । पसाउ = प्रसन्नता ।

भावार्थ—श्रीजानकीवल्लभ रघुनाथजी का शील और स्वभाव सुनकर जिसके मन में न प्रसन्नता है, जिसका शरीर न पुलकायमान होता है और न जिसकी आंखोंमें प्रेमाश्रु भर आते हैं, वह मनुष्य गली-गली में धूल फांकता फिरे, तो अच्छा हो । भाव यह है कि, उस नीरस मनुष्य का जीवन बिल्कुल ही निःसार है ॥ १ ॥ बचपन से ही पिता-माता, भाई, गुरु, नौकर-चाकर, मंत्री और मित्र कहते हैं कि, किसीने कभी रामचन्द्रजी का चंद्रमा-

* पाठान्तर 'छुये को।' † पाठान्तर 'गयो।'

जैसा प्रफुल्लित मुख स्वप्न में तक क्रोधित नहीं देखा, सदा हँसमुख ही रहे ॥ २ ॥ उनके साथ जो उनके भाई और दूसरे बालक खेलते थे, उनका अन्याय और हानि वे सदा देखते रहते थे। और अपनी जीत पर भी (दूसरों को प्रसन्न करने के लिये) हार जाते थे। उन लोगों को पुचकार-पुचकार कर प्रेम से आप दांव देते थे और दूसरों से भी दिलाते थे। सारांश, आप सौहार्द के रूप ही थे॥ ३ ॥ चरण के स्पर्श से ही पापाखमयी अहल्या को शाप के दुःख से मुक्त कर दिया। उसे मोक्ष देने का तो कुछ हर्ष न हुआ, पर हाँ, इस बात का दुःख अवश्य हुआ कि हमने ऋषि-पत्नी को पैर से छू दिया। धन्य ! ॥ ४ ॥ शिवजी का धनुप तोड़ कर राजाओं का मान-मर्दन कर दिया। जब (शिवजी के धनुष का समाचार सुना) परशुराम जी आकर क्रोधित हुए, तब उनका अपराध क्षमा करके और लक्ष्मणजी से माफी मँगवा कर उनके चरणों पर पड़े। भला इतना सामर्थ्य किसमें है ॥ ५ ॥ राजा दशरथ ने जिन्हें राज्य देने का वचन दिया, पर कैकेयी के अधीन होकर वनवास दे दिया और इसी लज्जा के मारे बेचारे मर भी गये, उस कुमाता (केकेयी) का मन इस तरह अपने हाथ में लिये रहे, जैसे कोई मर्मस्थान के घाव को देखता रहे, अर्थात् कैकेयी की सदा हृदय से सेवा करते रहे, उसके रुख पर चलते रहे ॥ ६ ॥ जब आप हनुमान्जी की सेवा के अधीन होकर उनके उपकृत हो गये, तब उनसे बोले—"भैया ! मेरे पास देने को तो कुछ है नहीं। मैं तेरा ऋणी हूं, तू धनी है;बस, इसी बात की (विश्वास न हो तो) सनद लिखा ले।" ॥७॥ यद्यपि सुग्रीव और बिभीषण ने अपना कपट-भाव नहीं छोड़ा, पर आप ने उन्हें अपने शरण में ले ही लिया। और भरतजी की तो सभा में सदा प्रशंसा करते रहते हैं, प्रशंसा करते-करते तृप्ति ही नहीं होती ॥ ८ ॥ भक्तों पर आपने जो जो कृपा और उपकार किया है, उसकी जब जब प्रसंगवश चर्चा आयी, तब तब आप लज्जा से मानो गड़ से गये, अपनी प्रशंसा कभी अच्छी नहीं लगी। और जिसने एक बार भी आपको प्रणाम कर लिया उसकी महिमा का सदा बखान किया, उसका यश सुना और उसका दूसरों से भी बार बार गान करवाया ॥९॥ ऐसे करुणासिंधु श्रीरघुनाथजी की गुणावली सुन-सुन कर हृदय में प्रेम-प्रवाह बढ़ रहा है। हे तुलसीदास ! तू सहज ही इस प्रेमानन्द के कारण भगवच्चरणारविन्द पा[illegible] ॥ १०॥

टिप्पणी–(१) 'जीति हारि'–भरत जी भी कह रहे हैं–

'हारेउ खेल जिवायहु मोही'।

(२) 'सिला'—अहल्या, ४३ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(३) 'सुग्रीव'—सुग्रीव ने कहा था कि–

'सुख संपति परिवार बड़ाई, सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥

पर पीछे तारा के प्रेम में फंसकर अपनी प्रतिज्ञा भुला बैठा, राज्यमद में अंधा हो गया।

(४) 'विभीषण—विभीषण ने भी कहा था कि—

'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति-सरित सो बही॥'

पर वह भी बड़े भाई की स्त्री, मंदोदरी, के साथ फंस कर सारी ज्ञान-गाथा भूल गया।

(१०१)

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥ १॥
कौने देव बराइ बिरद-हित हठि हठि अधम उधारे।
खग, मृग, व्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे॥२॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज, सब, माया-बिबस बिचारे।
तिन के हाथ दासतुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥ ३॥

शब्दार्थ—बराइ = चुन चुन कर। जवन = यवन, एक म्लेच्छ। बिचारे = बेचारे। अपनपौ हारे = शरण में जाय।

भावार्थ–हे नाथ! आपके चरणों को छोड़ कर और कहां जाऊं? संसार में "पतित-पावन" (नीचों को पवित्र करनेवाला) नाम और किस का है? और दीन जन किसे बहुत ही प्यारे हैं?॥ १॥ आज तक किस देवता ने, अपने बाने की लाज रखने के लिये, हठपूर्वक अधमों को चुन-चुन कर तारा, उनका खोज-खोज कर उद्धार किया? और किस देवता ने पक्षी (जटायु), मृग, बहेलिया (वाल्मीकि), पत्थर (अहिल्या), जड़ वृक्ष (यमलार्जुन) और म्लेच्छ को मुक्ति प्रदान की? सारांश यह कि आपके अतिरिक्त यह काम आज तक और किसीसे नहीं हुए और न होने को हैं॥ २॥ देवता, दैत्य, मुनि, नाग, मनुष्य आदि सभी बेचारे माया के अधीन है। उन लोगों के हाथ में

यह तुलसीदास क्यों अपने को व्यर्थ के लिये सौंपता फिरे, किसलिये उनकी शरण गहे ! भाव, जब वे स्वयं ही माया के वश हैं, मुक्त नहीं हैं, तब औरों को, और विशेष कर हम सरीखे नीचों को, कैसे तार सकते हैं ? उनसे यह कभी संभव नहीं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'खग'–जटायु; ४३ पद की पाचवीं टिप्पणी देखिये ।

(२) 'व्याध'–वाल्मीकि; ६४ पद की चौथी टिप्पणी देखिये ।

(३) 'पाषान'–अहल्या; ४३ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये ।

(४) 'विटप'—यमलार्जुन; ७८ पद की चौथी टिप्पणी देखिये ।

(५) 'यवन'—एक म्लेच्छ; ४६ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये ।

(६) 'देव......विचारे'—भगवान् ने गीता में कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्व भूतानि, यन्त्रारूढ़ानि मायया॥

अर्थात्, हे अर्जुन, ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहता है और अपनी माया से संसारचक्र रूपी यन्त्र पर चढ़े हुए सब जीवों को घुमाता रहता है । अथवा–
'उमा दारु जोषित की नाईं । सबै नचावत राम गुसाईं ॥' (रामचरितमानस)

(१०२)

हरि, तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।
साधन-धाम विबुध-दुरलभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों ॥ १ ॥
कोटिहुं मुख कहि जात न प्रभु के, एक एक उपकार ।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं *, दीजै परम उदार ॥ २ ॥
बिषय-वारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुं पल एक ।
ताते † सहौं विपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक ॥ ३ ॥
कृपा-डोरि बनसी पद-अंकुस, परम प्रेम-मृदु-चारो ।
एहि विधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो ॥ ४ ॥
हैं स्रुति-बिदित उपाय सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरै ।
तुलसिदास यहि जीव मोह-रजु, जोइ बाँध्यो सोइ छोरै ॥ ५ ॥

* पाठान्तर 'तदपि नाथ और कछु मांगौं' । † पाठान्तर 'तेहिते' ।

भावार्थ—हे नाथ ! आपने मुझपर बड़ी दया की, कि मुझे सारे साधनों का मंदिर, देवताओं को भी कठिनाई से प्राप्त मानव-शरीर, कृपा कर दे दिया ॥ १ ॥ यद्यपि आपका एक एक उपकार करोड़ करोड़ मुख से नहीं कहा जा सकता, तथापि (इतने में मुझे संतोष नहीं है) मैं कुछ और मांगूंगा। आप तो बड़े भारी दानी हैं, उसे दे दीजियेगा ॥ २ ॥ मेरा मन-रूपी मच्छ विषय-रूपी पानी से एक क्षण के लिये भी अलग नहीं होता, जैसे मछली जल के बाहर तिनक भी नहीं निकलना चाहती, उसी प्रकार यह मन विषय-वासनाओं से ज़रा भी नहीं हटता। इससे मुझे सदा दारुण दुःख सहना पड़ता है। अनेक योनियों में जन्म लेता हूं और मरता हूं ॥ ३ ॥ हे रामजी ! अपनी कृपा की तो बनाइये रस्सी और आपके चरण में जो अंकुश का चिन्ह है, उसका बनाइये कांटा। उसमें परमभक्ति-रूपी चारा (आटा) चपका दीजिये। इस प्रकार मेरे मन-रूपी मच्छ को छेद कर (विषय-रूपी जल से बाहर निकाल दीजिए, जिससे कि वह शान्त होकर आपका भजन करे) मेरा दुःख दूर कर दीजिए। आपके लिये यह एक लीला ही होगी। भाव, इसमें कुछ परिश्रम न करना पड़ेगा ॥ ४ ॥ वैसे तो वेद में अनेक उपाय भरे पड़े हैं, जैसे योग, यज्ञ, जप, तप आदि, और देवता भी अनेक हैं, जैसे शिव, गणेश, सूर्य, देवी आदि, किन्तु यह दीन किस किस की विनती करता फिरे ? हे तुलसीदास ! जिसने इस जीव को अविद्या-रूपी रस्सी से बांधा है, संसार में भेजा है, वही (मायाधीश) इसे छुटकारा भी देगा, संसार-सागर से पार करेगा ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) यह पद सिद्धान्ती है। इसका रूपक अनुपम और अलौकिक है। विरक्ति और अनुरक्तिका ऐसास जीव सिद्धान्त अन्यत्र मिलने का नहीं।

(२) 'परम प्रेम'—बैजनाथजी लिखते हैं—

> 'साधन सून्य, लिये सरनागत, नैन रँगे अनुराग-नसा है ॥
> भूतल व्योम जलानिल पावक, भीतर बाहर रूप बसा है ॥
> चिंतवना हम बुद्धिमयी मधु ज्यों मखियाँ-मन जाइ फँसा है।
> बैजसुनाथ सदा रस एकहि या बिधि सों संतृप्त दसा है ॥'

इसे आपने प्रेम की बारहवीं 'संतृप्त दशा' माना है। यही 'परमप्रेम मृदु चारो' है। क्या मजाल कि मन-मत्स्य इसमें न फँस जाय ?

(३) 'जोइ बांध्यो सोइ छोरै'—जो रोग है वही हकीम है, वही दवा भी। कविवर बिहारी कहते हैं—'वहई रोग निदान, वैद वही, औषध वही।'

(१०३)

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस बिस्वास भरोसो, हरौ * जीव-जड़ताई ॥ १ ॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै † अनुदिन अधिकाई ॥ २ ॥
कुटिल करम लै जाइ मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छांड़िये, कमठ-अंड की नाईं ॥ ३ ॥
या ‡ जग में जहँ लगि या तनु की, प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—जड़ताई = अज्ञान। सुगति = मोक्ष। बिपुल = अधिक। हेतु रहित = निष्काम। छोह = प्रेम। सगाई = संबन्ध।

भावार्थ—हे रघुनाथजी, हे प्रभो, मेरी यही विनती है कि इस जीव का दूसरों का जो जो विश्वास, आशा और भरोसा तथा अज्ञान है, उसे दूर कर दीजिए। भाव यह कि सब को छोड़ कर एक आप ही का हो कर रहे ॥१॥ न तो मुझे मोक्ष या ज्ञान की चाह है और न कुछ धन की ही। मुझे ऋद्धि, सिद्धि अथवा बड़ी भारी महिमा की भी इच्छा नहीं है। (यदि कोई कामना है, तो यह कि) हे रामजी ! आप के चरणों में, दिन दूना रात चौगुना, मेरा प्रेम बढ़ा करे, सो भी निष्काम ॥२॥ मुझे यह खोटा कर्म जिस जिस योनि में हठ करके ले जाय, वहां वहां, हे नाथ ! आप पलभर भी इस पर से अपनी कृपा न छोड़ना, जैसे कि कछुवा कभी अपने अंडों को नहीं छोड़ता। भाव, सदा इस जीव की ख़बर लेते रहना, क्योंकि यह जड़ है ॥३॥ इस संसार में जहां तक इस शरीर का प्रेम, प्रीति और संबंध है, वह सब एक ही स्थान पर सिमट कर, हे नाथ ! आप से ही हो। आप के चरणों में इस जीव की अनन्य भक्ति हो ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'हेतु रहित अनुराग'—निष्काम प्रेम ही सच्चा प्रेम है। जो प्रेम किसी अर्थ से किया जाता है, वह प्रेम नहीं है, वरन् दूकानदारी है, रोजगार है।

*पाठांतर 'रहु जिय की'। †पाठांतर 'बढ़ा'। ‡पाठांतर 'यह'

(२) 'कुटिल······नाईं'—इसी बात को गुसाईंजी ने बालि के मुख से, प्राण छोड़ते समय, कहलवाया है—

'जेहि जोनि जन्महुं कर्म बस, तहँ राम पद अनुरागऊं।'

अन्यत्र--

'जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईस देहि यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निवाहू॥'

(१०४)

जानकी जीवन की बलि जैहौं।
चिंत कहै. रामसीय पद परिहरि अब न कहूं चलि जैहौं॥१॥
उपजी उर प्रतीति सुपनेहुं सुख, प्रभु-पद-विमुख न पैहौं।
मन समेत या तनु के बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं॥२॥
स्रवननि औरि कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नैन बिलोकत औरहिं* सीस ईस ही नैहौं॥३॥
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥४॥

शब्दार्थ—नैहौं = नवाऊँगा, प्रणाम करूंगा। छर = भारी। छर भार = भारी बोझा, भलाई बुराई, यश-अयश।

भावार्थ—मैं तो श्रीजानकी-जीवन रघुनाथजी पर बलि जाऊंगा, उनपर अपने को निछावर कर दूंगा। मेरा मन कह रहा है कि सीतारामजी के चरणों को छोड़ कर अब मैं इधर उधर कहीं न भटकता फिरूंगा। वहीं निश्चल हो जाऊँगा॥१॥ मेरे हृदय में कुछ ऐसा विश्वास उत्पन्न हुआ है कि प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों से विमुख हो कर स्वप्न में भी कहीं सुख न पा-सकूंगा। अब मैं मन को तथा इस शरीर के अन्य निवासियों को अर्थात् इन्द्रियों को यही उपदेश दूंगा कि॥२॥ कानों से किसी और की चर्चा न सुनूंगा (केवल आप ही की कथा सुनूंगा,) जी से दूसरों का गुण न गाऊंगा (केवल आपही के चरित्र गाऊंगा, कीर्तन करूंगा), दूसरों की ओर देखते हुए नेत्रों को मोड़ लूंगा, (केवल आपही की ओर टक लगा कर

* पाठांतर 'औरत।'

देखा करूंगा) और माथा केवल आप को झुकाउंगा (और किसी को प्रणाम न करूंगा) ॥३॥ आप के साथ नाता और प्रेम करके सब से नाता और प्रेम तोड़ दूंगा। सारांश यह कि सब प्रकार से, अनन्य भाव से, एक आपही का होकर रहूंगा, इधर उधर न भटकता फिरूंगा। इस संसार में, मैं तुलसीदास जिसका सेवक कहाऊंगा, उसी पर यह भारी बोझ पटक दूंगा, उसी के मत्थे सारी भलाई बुराई मढ़ दूंगा ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'मन समेत·········नेह बढ़े हौं'—यदि मन और इंद्रियों से हरि-भक्ति में सहायता नहीं ली गयी, तो उनका होना ही निरर्थक है। रामचरित-मानस में लिखा है—

'जिन हरि-कथा सुनी नहिं काना। स्रवन रंध्र अहि भवन समाना॥
नयननि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोर पंख सम लेखा॥
ते सिर कटु तूमरि सम तूला। जे न नवत हरि गुरु पद मूला॥
जिन हरि भक्ति हृदय नहिं आनी। जीवत सव समान ते प्रानी॥
जे नहिं करहिं राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥'

(२) इस पद में अनन्यता का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है। यहां पर यह शंका उठती है—

शंका—क्या गुसाईंजी ने सिवा श्रीरामचन्द्रजी के औरों की ओर देखना तथा उन्हें प्रणाम करना निषेध बतलाया है ?

समाधान—अवश्य। जो भगवद्-विमुख हैं उनके लिये ऐसा कहा गया है, किंतु जो हरि भक्त हैं, गुरु जन हैं, उन के लिये ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिए। हरिमय संसार गुसांईंजी की दृष्टि में वंदनीय है और हरिविमुख ब्रह्मा भी निन्द्य और उपेक्षणीय है। कहा है—

'सीय राम मय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'

(३) 'डर भार'—क्योंकि भगवान् गीता में स्वयं कह चुके हैं।

तेषां नित्याभियुक्तानां, योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(१०५)

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं ।
राम कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि * न डसैहौं ॥१॥
पायो नाम चारुचिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं ।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं ॥२॥
परबस जानि हंस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन मधुकर † पनकै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं ॥३॥

शब्दार्थ — नसानी = करनी बिगड़ गई । भव = संसार । डसैहौं = बिछौना बिछाऊंगा । खसैहौं = गिराऊंगा । पन = प्रण ।

भावार्थ—अब तक(इतनी आयुतक)तो मेरी करनी बिगड़ चुकी, पर अब से न बिगाड़ूंगा, अब सम्हल जाऊंगा रघुनाथजी की कृपासे संसार-रूपी रात्रि बीत चुकी है, अर्थात् सांसारिक प्रवृति दूर हो गई है,अब जागने पर,विरक्ति उत्पन्न होने पर, फिर कभी बिछौने न बिछाऊंगा, मायात्मक भ्रम में न फसूंगा ॥१॥ मुझे राम नाम-रूपी सुन्दर चिन्तामणि (अनायास ही) प्राप्त हो गया है, उसे हृदय-रूपी हाथ से न गिराऊंगा, अर्थात् सदा हृदय में रखूंगा । रघुनाथजी का जो श्यामसुन्दर पवित्र रूप है, उसकी कसौटी बनाकर उस पर अपने चित्त-रूपी सोने को कसूंगा । अर्थात् यह देखूंगा कि भगवत्स्वरूप के ध्यान पर मेरा मन कहां तक ठीक ठीक उतरता है, खरा है या खोटा । विरक्ति और आत्म-बोध की अग्नि में उस पर (मन-रूपी सुवर्ण पर) जो कुछ मैल होगा, उसे जलाकर तब उसे भगवान् के ध्यान में लगाऊंगा और तब ही उसका खरापन जान पड़ेगा, कसौटी पर उसकी कस ठीक ठीक उतरेगी ॥२॥ जब तक मैं इन का गुलाम रहा, तब तक इन इंद्रियों ने मेरा खूब उपहास किया, पर अब मन तथा इंद्रियों को अपने बश में कर के अपनी दिल्लगी न कराऊंगा । अर्थात् परतंत्रता की अवस्था में चाहे जिसने जो कुछ कह लिया, पर स्वतंत्र होने पर मुझसे कोई क्या कह सकता है ? मैं तुलसीदास अपने मन को रघुनाथजी के चरणों में इस प्रकार लगा दूंगा, जैसे भौंरा इधर उधर दूसरे फूलोंपर न जाकर प्रण-पूर्वक अपने को कमल-कोश में बसा लेता है । भाव यह कि, इस मन को सब ओर से मोड़कर केवल रघुनाथजी के चरणों का सेवक बनाऊंगा ॥३॥

* पाठांतर 'फिरि' । † पाठांतर 'मधुपहि' ।

टिप्पणी—(१) 'अबलौं नसानी......नसैहौं'—इसका रूपान्तर यह है—

'बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेइ ।'

(२)'स्याम...कसौटी' कसौटी एक पत्थर का नाम है। इसका रंग काला, शालिग्राम शिला के समान होता है। इसी पर सोना कसा जाता है। श्रीरामजी का भी शरीर श्याम है। इसलिये यह उपमा सर्वांग सुन्दर है।

(३)१०४ और १०५ संख्या वाले यह दोनों पद बड़े ही उत्तम हैं। इनमें विरक्ति, आत्म-निवेदन, अनन्यता और मनोराज्य का बड़ा ही मिश्रण हुआ है। अनन्यता का तो साम्राज्य ही है देखने से जान पड़ता है कि भक्त ने अपने इष्टदेव के आगे कलेजा चीरकर रख दिया है!

रामकली

(१०६)

महाराज रामादर्‌यो धन्य सोई ।
गरुअ गुनरासि सर्वग्य सुकृती सुर, सील-निधि साधु तेहि सम न कोई।१।
उपल-केवट-कीस-भालु-निसिचर-सबरि-गीध-सम-दम-दया-दान-हीने ।
नाम लिये राम किये परम पावन सकल, नर तरत तिनके गुन गान कीने २
व्याध अपराध की साध राखी कहा, पिंगलै कौन मति भक्ति भेई ।
कौन धौं सोमयाजी अजामिल अधम, कौन गजराज धौं बाजपेयी ।।३।।
पांडु-सुत गोपिका विदुर कुबरी सबरि, सुद्ध किये सुद्धता लेस कैसो ।
प्रेम लखि कृष्ण किये आपने तिनहुं को, सुजस संसार हरिहर को जैसो।।४।।
कोल, खस, भील जवनादि खल राम कहि, नीच ह्वै ऊंच पद को न पायो
दीन-दुख-दमन श्रीरमन करुना-भवन, पतित यो पावन विरद वेद गायो ।।५।
मंदमति कुटिल खल-तिलक तुलसी सरिस, भो न तिहुँ लोक तिहुं काल कोउ
नाम की कानि पहिचानि जन आपनो, ग्रसित कलि-व्याल राख्यो सरन सोऊ६

पदच्छेद—राम+आदर्‌यो ।

शब्दार्थ—आदर्‌यो=आदर किया। गरुअ=भारी। उपल=पाषाण, यहां अहिल्या से तात्पर्य है। कीस=बन्दर। व्याध=यहां बाल्मीकि से तात्पर्य है। साध=कमी, कसर। भेई=लगाई। सोमयाजी=सोमयज्ञ करनेवाला। बाजपेयी=अश्वमेध करनेवाला। भो=हुआ।

भावार्थ—महाराज रामचन्द्रजी ने जिसका आदर किया, वही धन्य है। वही भारी, गुणोंका भाण्डार, सर्वज्ञ, पुण्यात्मा, वीर, सुशील और साधु है। उसके समान कोई भी नहीं है ॥१॥ देखो, अहल्या, गुहनिषाद, बंदर, रीछ, राक्षस, शवरी, जटायु-ये सब शम,दम,दया, दानि आदि सद्गुणोंसे नितांत रहित थे, इनमें एक भी गुण नहीं था, किंतु राम नाम स्मरण करने से भगवान् ने इन सबको परम पवित्र कर दिया और ऐसा बना दिया कि उनका चरित्र-गान करने से मनुष्य संसार-सागर से पार हो जाते हैं। अर्थात् भक्तोंके गुण गा गा कर प्राणी मुक्त हो जाते हैं ॥२॥ वाल्मीकि व्याध ने पाप करनेमें क्या उठा रखा था? पिंगला वेश्या ने अपनी बुद्धि कब भक्ति की ओर लगाई थी? अजामेल ने कब सोम यज्ञ किया था? और गजेन्द्र कहां का अश्वमेध करनेवाला था? अर्थात् यह सब महान् पापी थे, स्वप्न में भी पुन्य करने की इच्छा नहीं करते थे ॥३॥ पांडवों, गोपियों, विदुर और कुबरीमें पवित्रता का नाम भी न था, किन्तु आपने इन सब को भी पवित्र बना लिया। इनका प्रेम देखकर श्रीनन्द-नन्दन ने इन्हें अपना लिया। आज इनका यश संसार में ऐसा छा रहा है जैसा कि विष्णु और शिव का ॥४॥ कोल, खस, भील, यवन आदि दुष्टों ने राम-नाम उच्चारण कर ऊंचा पद पाया। दीनोंके दुख दूर करनेवाले, लक्ष्मी के पति, करुणाके स्थान, पापियों के उद्धार करनेवाले रघुनाथजी का यश वेदों ने गाया है ॥५॥ (और भी लीजिये) तीनों लोक में और तीनों काल में तुलसी-सरीखा मूर्ख, पापी और दुष्ट-शिरोमणि कोई नहीं हुआ, किन्तु अपने नाम की मर्यादा रखकर अपना दास जानकर और कलिकाल-रूपी सांप से डसा हुआ देखकरी उसे भी उन्होंने (रामजी ने) अपनी शरण में ले लिया है ॥६॥

टिप्पणी—(१) 'महाराज रामादर्‌यो......न कोई'—सूरदासजी भी यही बात कहते हैं —

'जाको मनमोहन अंग करै।
ताको केस खसै नहिं सिरतें, जो जग बैर परै॥' इत्यादि।

(२) 'उपल'—अहल्या ; ४३ पदकी दूसरी टिप्पणी देखिये।

(३) 'केवट'—'गुहनिषाद'—इसे रघुनाथजी भ्राता या सखा समान मानते थे। इसकी भक्ति सराहनीय हैं। गंगा-पार उतारने के लिये जब रामचन्द्रजी ने इससे नाव मँगाई। तब यह मल्लाह् ... से बोला—

'माँगी नाव न केवट आना। कहइ तुम्हार मरम मैं जाना॥
चरन-कमल-रज कहँ सब कहईं। मानुष करनि मुरि कछु अहई॥
छुवत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउँ मुनिघरनी होइ जाई। बाट पाइ मोरि नाव उड़ाई॥
जो प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥
× × × × ×
वरु तीर मारहु लखन पै, जबलगि न पाँव पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं॥

(४) 'निसिचर --प्रह्लाद, बलि, बाण, वृत्र, विभीषण आदि,।

(५) सबरि–शवरी; यह जाति की भीलनी थी। मतंग ऋषि की सेवा करते करते इसे भगवद्भक्ति प्राप्त हो गई। जब रामचन्द्रजी सीताजी के वियोग में इसके आश्रम में पहुँचे तब इसने उनका बड़ा सत्कार किया। सामने फल रखदिये। बेर चख-चख कर प्रभु को देने लगी। भगवान् भी बड़े प्रेमसे इसके जूठे बेर खाने लगे। इसे भगवान् ने नवधा भक्ति का उपदेश दे कर मुक्त कर दिया।

(६)'गीधि'—जटायु; ४३ पद की पांचवी टिप्पणी देखिये।

(७) 'व्याध'–वाल्मीकि, ६४ पद की चौथी टिप्पणी देखिए।

(८) 'पिंगला'–६४ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(९) 'गजराज,–८३ पद की टिप्पणी देखिये।

(१०) 'पांडुसुत'–पांडव; युधिष्ठिरादि एक ही स्त्री, द्रौपदी, के साथ संभोग करने से पतित हुए। इनका उद्धार श्रीकृष्ण ने सख्य प्रेमवश किया।

(११) 'गोपिका'–इनकी पवित्रता के विषयमें कहना ही क्या है। 'भक्ति-सूत्र' में नारदजी ने भक्तों के प्रमाण में इतनाही लिखा है—

'यथा व्रज गोपिकानां।' और भी–

'गोपी प्रेम की धुजा।'

(१२) 'विदुर'–यह दासी-पुत्र थे, किन्तु भगवद्भक्त होने के कारण सर्वमान्य समझे गये।

(१३) 'कुबरी'–यह कंस की दासी थी। मथुरा में श्रीकृष्ण के माथे पर चन्दन लगा कर यह कृतकृत्य हो गई। भगवान् का इसपर बड़ा प्रेम था। गोपियों

ने सौतियाडाह से इसे हज़ारों कटूक्तियां और व्यंग्य सुनाये, पर यह प्रेम-पंथ से तनिक भी नहीं हटी।

(५४) 'यवन'--४६ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

राग विलास

(१०७)

है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।
सुभग सरोरुह लोचन सुठि सुन्दर स्याम ॥ १ ॥
सिय-समेत सोहत * सदा छवि अमित अनंग।
भुज बिसाल सर धनु धरे, कटि चारु निषङ्ग ॥ २ ॥
बलि पूजा चाहत नहीं, चाहत † इक प्रीति।
सुमिरत ही मानै भलो, पावन सब रीति ॥ ३ ॥
देहि ‡ सकल सुख दुख दहै, आरत-जन-बन्धु।
गुन गहि, अघ-औगुन हरै, अस (प्रभु) करुनासिंधु ॥ ४ ॥
देस-काल-पूरन सदा बद वेद पुरान।
सबको प्रभु सबमें बसै, सबकी गति जान ॥ ५ ॥
को करि कोटिक कामना, पूजै बहु देव।
तुलसिदास तेहि सेइये, संकर जेहि सेव ॥ ६ ॥

शब्दार्थ--सरोरुह = कमल। अनंग = कामदेव। निषंग = तरकस। बद = कहते हैं। सेव = सेते हैं।

भावार्थ—कोसलपति श्रीरामचन्द्रजी मेरे सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। उनके नेत्र कमल के समान सुन्दर और उनका शरीर बड़ा ही लावण्यमय और श्याम वर्ण है ॥ १ ॥ श्रीजानकीजी के साथ सदा शोभायमान् हो रहे हैं। उनका सौन्दर्य अनेक कामदेव के समान है। बड़े बड़े बाहुओं में धनुष और बाण लिये हैं तथा कमर में तरकस कसा हुआ है ॥ २ ॥ वह न तो बलि चाहते हैं और न पूजा। चाहते क्या हैं—केवल एक प्रेम। उनका नाम लेते ही वह प्रसन्न हो जाते हैं। और सबको पवित्र कर देते हैं। यह उनकी प्रकृति है ॥३॥

* पाठान्तर सोभित। † पाठान्तर चाहै। ‡ पाठान्तर देइ।

जितने सुख हैं उन सबको दे देते हैं और दुःखों को भस्म कर देते हैं। दीन-दुखियों के तो वह भाई ही हैं। वह ऐसे करुणा-सागर हैं कि गुणों को तो ग्रहण कर लेते हैं और पापों का नाश कर देते हैं ॥४॥ सब देशों और सब कालों में वह पूर्ण रहते हैं, ऐसा वेद-पुराण सदा से कहते आये हैं। वह सब के स्वामी हैं, सब में रमते हैं और सब के हृदय की बात जानते हैं । ॥ ५ ॥ करोड़ों इच्छाएं कर करके कौन अनेक देवता पूजता फिरे ? हे तुलसीदास जिसे शिव जी सेते हैं, उसीकी सेवा करना चाहिए, अर्थात् शंकरजी के आराध्य इष्टदेव श्रीरघुनाथजी की अर्चना करनी चाहिये ॥६॥

टिप्पणी—(१) 'नीको'—माधुर्य और ऐश्वर्य; दोनों ही दृष्टियों से श्रीरामजी श्रेष्ठ हैं। इस पदमें माधुर्य और ऐश्वर्य का साथ ही साथ प्रतिपादन किया गया है।

(२) 'चाहत इक प्रीति'—रामचरितमानस में भी यही लिखा है—

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहि जो जाननि हारा ॥

(१०८)

बीर महा अवराधिये साधे सिधि होय।
सकल काम पूरन करै, जानै सब कोय ॥१॥
बेगि, बिलंब न कीजिए, लीजै उपदेस।
बीजमंत्र जपिये सोई, जो जपत महेस ॥२॥
प्रेम-बारि-तर्पन भलो, घृत सहज सनेहु।
संसय-समिध, अगिन-छमा, ममता-बलि देहु ॥३॥
अघ-उचाट, मन बस करै, मारै मद-मार।
आकरषै सुख-संपदा-संतोष-विचार ॥४॥
जिन्ह यहि भाँति भजन कियो, मिले रघुपति ताहि।
तुलसिदास प्रभुपथ चढ्यौ, जो लेहु निबाहि ॥५॥

शब्दार्थ—बीजमंत्र=मूलमंत्र। समिध=हवन की लकड़ी। छमा=क्षमा। उचाट=उच्चाटन, षट् महा प्रयोगों में से एक। इससे मन उचट् जाता है। मार=कामदेव ।

भावार्थ—वीर-पुंगव रघुनाथजी की ही आराधना करना उचित है। उन्हें साध लेने से सब सिद्ध हो जाता है, सारी सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। वह सब इच्छाओं को पूरा कर देते हैं, इसे सभी जानते हैं ॥ १ ॥ जल्दी से (किसी सद्गुरु से) उपदेश लेना चाहिये, देर न करना चाहिए। उसी बीजमंत्र (राम) को जपना चाहिए, जिसे शिवजी जपा करते हैं ॥२॥ [मंत्र के जप के अनन्तर जो हवन आदि किया जाता है, उसकी भी विधि सुन लो) प्रेमरूपी जल से तो तर्पण करना चाहिए और सहज स्वाभाविक स्नेह का घी बनाना चाहिए। संदेहरूपी समिध से क्षमारूपी अग्नि प्रज्वलित कर उसमें 'ममता' का बलि करना चाहिए ॥३॥ पापों का उच्चाटन, मन का वशीकरण, अहंकार और काम का मारण और संतोष तथा ज्ञानरूपी सुख-संपत्ति का आकर्षण करना चाहिए ॥४॥ जिसने इस प्रकार भजन किया, उसे अवश्य रघुनाथजी प्राप्त हुए हैं। तुलसीदास भी इसी मार्ग पर चढ़ा है, जिसे उसके स्वामी निबाह लेंगे, उसका योगक्षेम वही करेंगे ॥५॥

सारांश—राम-भजन मुख्य है। प्रभु के प्रसन्न करने का मुख्य साधन प्रेम है। संसारी मोह-ममता एकदम छोड़ देनी चाहिए। संदेह अर्थात् अज्ञान को क्षमा की सहायता से नष्ट कर देना चाहिए। इस साधन से पाप धुल जायँगे, मन निश्चल हो जायगा, अहंकार और काम का नाम भी न रहेगा। संतोष और विवेक का उदय होगा और फिर, ऐसे निर्मल हृदय में, श्रीरघुनाथ-थजी के दर्शन हो जायँगे।

टिप्पणी—(१) 'लीजै उपदेश'—यहां गुसाईंजी गुरु की आवश्यकता बतला रहे हैं। बिना गुरु-उपदेश के कुछ सिद्ध नहीं होता। गुरु पर उनकी कितनी श्रद्धा थी, यह निम्नलिखित चौपाइयों से भलीभांति प्रकट हो जायगा—

'बन्दौं गुरु-पद-परम-परागा। सुरुचि, सुवास, सरस अनुरागा॥
अमिय मूरिमय चूरन चारू। सभन सकल भवरुज परिवारू॥
* * * *
श्री गुरु-पद-नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह-तम हंस प्रकासू। बड़े भाग्य उर आवत जासू॥

(२) 'जो लहि निवाह'—कलि के भय के मारे निभा लेने की प्रार्थना की गई है क्योंकि वह सारा बना बनाया काम मिट्टी में मिला देगा।

(१०६)

कस न करहु करुना हरे, दुखहरन मुरारि।
त्रिबिधताप-संदेह-सोक-संसय-भय-हारि ॥१॥
इक* कलिकालि- जनित मल मतिमंद मलिन मन ।
तेहि पर प्रभु नहिं कर सँभार, केहि भांति जियै† जन ॥२॥
सब प्रकार समरथ प्रभो, मैं सब बिधि दीन।
यह जिय जानि द्रवौ‡ नहीं, मैं करम-बिहीन ॥३॥
भ्रमत अनेक जोनि रघुपति, पति आन न मोरे।
दुख-सुख सहौं रहौं सदा सरनागत तोरे ॥४॥
तो सम देव न कोउ कृपालु, समुझौं मन माहीं।
तुलसिदास हरि तोषिये, सो साधन नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—संदेह=अज्ञान, संकल्प-विकल्प। संशय=अनिश्चय। सँभार =रक्षा। द्रवौ=कृपा करते हो।

भावार्थ—हे हरे! आप दुःखों के हरनेवाले हैं। हे मुरारे! फिर आप मेरे ऊपर दया क्यों नहीं करते? भाव यह कि, मैं भी तो दुखी हूं, मुझपर भी दयाभाव रखना चाहिए। आप संसारके तीनों ताप (दैहिक, दैविक और भौतिक) अज्ञान, शोक, अनिश्चय (क्या आत्मा है और क्या अनात्मा) और भय के नाशकर्ता हैं ॥१॥एक तो कलिकाल से उत्पन्न पापों से मेरी बुद्धि वैसे भी मंद पड़ गई है और मन पापी हो गया है, तिसपर हे नाथ! आप रक्षा नहीं करते? भला, इस जीव का निर्वाह कैसे होगा? यह कैसे जी सकेगा? ॥२॥ हे प्रभो! आप तो सब तरह से सामर्थ्यवान् हैं, सब कुछ कर सकते हैं, मैं ही सब प्रकार से दीन हूं। क्या यह जानकर मुझपर कृपा नहीं करते कि मैं अभागा हूं, अथवा आप की कृपा का प्रभाव मुझ अभागे पर न पड़ता होगा ३॥ हे रघुनाथजी! मैं अनेक योनियों में भ्रम आया हूं, पर मुझे आपके सिवाय कोई दूसरा स्वामी नहीं मिला। इसीलिये मैं सदा दुःख-सुख सहता हुआ भी आप ही की शरण में रहता हूं ॥४॥ मैं अपने मन में यह समझे बैठा हूं कि आपके समान कृपा करनेवाला कोई दूसरा देवता नहीं है। पर हे नाथ!

* 'पाठान्तर 'यह।' † पाठान्तर 'जिव।' ‡ पाठान्तर 'द्रवहु।'

जिस साधन से आप प्रसन्न होते हैं, वह साधन इस तुलसीदास के पास नहीं है (यह तो केवल आपकी शरण जानता है) ॥५॥

टिप्पणी—(१) मुरारि'—मुर दैत्य के शत्रु ।

(२) 'करम विहीन'—क्योंकि, 'करमहीन कलपत रहे, कलप वृक्ष की छाहँ ।'

(३) 'सो साधन'—अर्चन, वंदन, श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, दास्यता आत्म-निवेदन आदि ।

(११०)

कहु केहि कहिये कृपानिधे ! भव जनित विपति अति ।
इन्द्रिय सकल बिकल सदा, निज निज सुभाउ रति ॥१॥
जे सुख संपति सरग नरक संतत सँग लागी ।
हरि ! परिहरि सोइ जतन करत मन मोर अभागी ॥२॥
मैं अति दीन, दयालु देव, सुनि मन अनुरागे ।
जो न द्रवहु रघुबीर धीर काहे न दुख लागे ॥३॥
जद्यपि मैं अपराध-भवन, दुख-समन मुरारे ।
तुलसिदास कहँ आस यहै बहु पतित उधारे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—भवजनित = संसार से उत्पन्न । संतत = सदा । समन = नाशक ।

भावार्थ—हे कृपानिधान ! कहो तो इस संसारी विपत्ति को मैं किससे कहूं ? आपको छोड़कर और किसके आगे अपना रोना रोऊं ? सारी इन्द्रियां अपने अपने विषय के लिये तड़प रही हैं, प्रत्येक इन्द्रिय चाहती है कि मैं अपने विषय में सदा लीन रहूं ॥ १ ॥ वे इन्द्रियां सदा सुख-संपत्ति और स्वर्ग-नर्क में ही फँसी रहती हैं । और हे हरे ! आपको छोड़ कर मेरा मन भी वही उपाय करता है, अर्थात् इंद्रियों का वह भी साथ दे रहा है, ऐसा अभागा है ॥ २ ॥ हे देव ! जब मुझ अत्यन्त दीन-दुखी ने आपके विषय में यह सुना कि आप बड़ेही दयालु हैं, तब आपमें मैंने अपना मन लगा दिया, आपसे प्रीति जोड़ ली । इतने पर भी हे रघुवीर ! हे धैर्यवान् ! आप मुझपर दया नहीं करते, तो मुझे दुःख क्यों न होगा । भाव यह है कि आप तो धैर्यवान् हैं, पर मैं जीव अधीर हूं । आपके ज़रा से ही विलम्ब से मैं अधीर और दुखी हो रहा हूं ॥ ३ ॥ हे मुरारे ! यद्यपि मैं सारे अपराधों का घर हूं, मुझमें सभ

दोष भरे हैं, पर आप तो 'दुःख-शमन' हैं, दुखों के नाश करनेवाले हैं। मुझ तुलसीदास को आपसे सदा यही आशा है कि जब आप अनेक पापियों का उद्धार कर चुके हैं, तो मेरा भी करेंगे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'इन्द्रिय......रति'—इंद्रियों का यह हाल है कि—आंख चाहती है कि सुन्दर रूप देखूं; नाक चाहती है कि सदा सुगधित चीजें सूंघती रहूं; कान चाहते हैं कि मधुर शब्द, गानवाद्य, सुना करें; रसना चाहती है कि षट्रस भोजन किया करूं; त्वचा चाहती है कि कोमल और शीतल पदार्थों का स्पर्श करूं।

(२) 'तुलसिदास......उधार'—यहां यह ध्वनि निकलती है कि मुझे भी आप तार देंगे। यह वाक्चातुर्य है, कहने का निराला ढंग है।

(१११)

केसव, कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये ॥ १ ॥
सून भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटै न मरे भीति, दुख पाइय इहि तनु हेरे ॥ २ ॥
रविकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ॥ ३ ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ* मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—भीति=दीवार। रविकर-नीर=सूर्य की किरणों से, ग्रीष्म में, जो भूमि पर पानी का भ्रम हो जाता है। इसे 'मृगतृष्णा' या 'मृगजल' भी कहते हैं। 'भ्रम' से तात्पर्य है। चराचर=(चर+अचर) चैतन्य और जड़। जुगल=दोनों अर्थात् सत्य और मिथ्या। आपन=आत्मा।

भावार्थ—हे केशव ! कुछ कहने का नहीं, क्या कहूं ? आपकी यह अद्भुत रचना देखकर मन ही मन समझ कर रह जाता हूं, कुछ वर्णन नहीं करते बनता ॥ १ ॥ (अब सृष्टि-वैचित्र्य दिखाते हैं) किसी निराकार चित्रकार ने शून्य दीवार पर, बिना रंग के चित्र बनाये हैं। भाव यह है कि, आदिकर्ता, निराकार परमात्मा ने माया-रूपी दीवार पर अथवा अन्तरिक्ष (आकाश) पर,

* पाठान्तर 'करि'।

जो शून्यमय भास रहा है, ऐसे ऐसे चित्र खींचे हैं, जिनमें रंग का लेश नहीं अर्थात् प्रकृति के शून्याधार पर, असत् के आश्रय पर, पांचभौतिक रचना का प्रसार किया है और उस रचना में स्थूल कारण सूक्ष्म आदि शरीर हैं, जिनका कोई रंग, कोई रूप निश्चित नहीं होता, अतः बिना रंग के हैं। प्रायः चित्र-कारी धोने से मिट जाती है, पर इस निराकार चित्रकार के चित्र धोने से भी नहीं मिटते, अर्थात् कर्मादि करने से यह पांचभौतिक रचना नाश को प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत और भी पक्की होती जाती है। जड़ चित्रकारीको मरने का भय नहीं हुआ करता, पर इन चित्रों को सदा मृत्यु-भय रहता है। एक और उलटी बात है। वह यह कि इन चित्रों की ओर देखने से दुःख होता है। भाव यह है कि, इस सृष्टि में मोह-ममताजन्य भय सदा उपस्थित रहता है, पाचों विषयरूपी पिशाच डरवाते रहते हैं और मन जो दारुण दुःख देता है, वह किसी से छिपा नहीं, इसलिये, इन चित्रों की ओर देखना महा भयपूर्ण और दुखदाई है ॥ २ ॥ सूर्य की किरणों में, ग्रीष्म ऋतु में, जो जल की लहरें सी दिखाई देती हैं, उनमें एक भयानक मगर रहता है। यद्यपि उस मगर के मुख नहीं है, पर जो भी वहां जल पीने जाता है, चाहे वह जड़ हो या चैतन्य, उसे वह निगल जाता है। भाव यह है कि, यह संसार मृग-जल के समान भ्रम-मय है. जैसे सूर्य की किरणों को जल समझ कर मृग प्यास के मारे दौड़ते चले जाते हैं, पर वहां क्या रखा है। वे जितना ही भागेंगे उतनी ही दूर जल दिखाई देगा। अन्त में. बेचारे छटपटा कर मर जाते हैं। इसी प्रकार इस अविद्या-जन्य मिथ्या संसार के विषयों में जो सुख ढूंढ़ना चाहते हैं, पुत्र-कलत्र, धन-संपत्ति से अपनी विषय-पिपासा बुझाना चाहते हैं, उन्हें मिलता तो कुछ नहीं, पर हां, उसी प्रवृत्ति में फँसे रहने के कारण, एक दिन बिना मुख वाला मगर अर्थात् अव्यक्त काल उसे खा जाता है। चित्रशाला पर मुग्ध हो जाने का यह फल है। विचित्रता भी अनिर्वचनीय ही है ॥ ३ ॥ कोई तो इस रचना को सत्य कहते हैं और कोई मिथ्या। किसी किसी के मत से यह सत्य और मिथ्या-दोनों का ही मिश्रण है। अर्थात् अद्वैतवादी वेदान्ती इस जगत् को मिथ्या अथवा भ्रम मात्र कहते हैं। वे ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करते हैं और उसीमें, रज्जु सर्पवत्, जगत् का भान मानते हैं। और पूर्वमीमांसा वाले, अथवा द्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी कर्मपरायण जगत् को सत्य

मानते हैं। मनु, दक्ष, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि इसी सिद्धान्त के प्रतिपादक थे एक और पक्ष है, वह जगत् को असत् और सत् दोनों ही मानता है। यह मत पतंजलि आदि योग-शास्त्रियों का है। इस मत को श्रीनिम्बार्का-चार्य ने भी स्वीकृत किया है। अस्तु, ये तीन सिद्धान्त हैं। किन्तु तुलसीदास कहते हैं कि ये तीनों ही भ्रम हैं, कर्म, ज्ञान और योग इन सब की शक्ति कलि-युग में नष्ट हो गई है। इन तीनों को छोड कर जो भगवान् की शरण गहेगा, वही आत्मा का वास्तविक स्वरूप पहिचान सकेगा ।४।।

टिप्पणी (१) 'झूठ कह कोऊ'—श्रीवैजनाथजी ने और पंडित रामेश्वर भट्ट जी ने इस मत को 'उत्तर मीमांसा' नाम दिया है। पर वास्तव में, यह बात नहीं है। उत्तर-मीमांसा के प्रतिपादक और ब्रह्मसूत्र के रचयिता व्यासजी ने इस असत्' सिद्धान्त ही की पुष्टि नहीं की। ब्रह्मसूत्र तो सभी वेदान्तियों का प्रमाण-ग्रन्थ है। यह मत शङ्कराचार्यजी का है। जिस उत्तर-मीमांसा से उन्हों ने 'अद्वैत वाद' का प्रतिपादन किया है, उसीसे रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत का, माध्वाचार्य ने द्वैत का और निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत का सिद्धान्त सिद्ध किया है, अतः इस 'अध्या-त्मवादी' मत को अद्वैतवादियों का मत कहना युक्तिसंगत होग।

(२) 'परिहरै तीन भ्रम'—जैसा कि गीता में लिखा है—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुच ।।'

(३) यह पद बड़ा ही जटिल और दार्शनिक है। इसे देखने से गुसाईंजी के असाधारण दार्शनिक ज्ञान की सूचना मिलती है। हम-सरीखे मूढ़ ऐसे ऐसे गंभीर पदों का अर्थ और भाव भला कैसे लिख सकते हैं!

(११२)

केसव, कारन कौन गुसाईं।
जेहि अपराध असाधु जानि मोहि तजेहु अग्य की नाईं ।।१।।
परम पुनीत संत कोमल चित, तिनहिं तुमहिं बनि आई।
तौ कत विप्र, व्याध, गनिकहि तारेहु कछु रही सगाई ।।२।।
काल करम, गति-अगति जीव की, सब हरि हाथ तुम्हारे।
सोइ कछु करहु हरहु ममता मम, फिरहुं न तुमहिं बिसारे ।।३।।

जो तुम तजहु भजौं न आन प्रभु, यह प्रमान पन मोरे।
मन-वच करम नरक सुरपुर जहँ तहँ रघुवीर निहोरे ।।४।।
जद्यपि नाथ ! उचित न होत अस, प्रभु सों करौं ढिठाई।
तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हार निठुराई ।।५।।

शब्दार्थ—अग्य = (अज्ञ) अनजान । कत = क्यों । सगाई = नाता । पन = प्रतिज्ञा । प्रमान – पक्की । सीदत = कष्ट पाता है ।

भावार्थ—हे केशव ! हे नाथ ! ऐसी क्या बात है कि जिस अपराध से आप ने मुझे दुष्ट समझ कर एक अनजान, अपरिचित, की तरह छोड़ दिया ? इसका कारण बता दीजिये ॥१॥ (यदि यह बात है कि तू पापी है और) जिनके आचरण बड़े ही पवित्र हैं, जो दयावान् और संत हैं, उन्हीं को आप अपनाते हैं, तो अजामेल, वाल्मीकि और गणिका को क्यों मुक्त किया ? क्या उन से आप की कोई रिश्तेदारी थी ? भाव यह है कि. यदि उन पापियों को आप ने तारा है, तो मेरा भी उद्धार कीजिए, क्योंकि मैं भी तो एक पापी हूं ॥२॥ हे हरे ! इस जीव का काल, कर्म, दशा, दुर्दशा सब कुछ आप ही के अधीन है, सो हे नाथ ! मेरे मोह को हटा कर कुछ ऐसा उपाय कीजिए, जिससे मैं आप को भूल कर इधर उधर न मारा मारा फिरूं ॥३॥ जो आप मुझे त्याग भी देंगे, तो भी मैं आप ही को भजूंगा, और किसी को अपना 'प्रभु' न मानूंगा, यह मेरी अटल प्रतिज्ञा है, अर्थात् यदि किसी का होकर रहना ही है, तो आप ही का होकर रहूंगा, औरों का नहीं । मन, वचन और कर्म से जहां कहीं आप नर्क या स्वर्ग में भजेंगे, वहां हे रघुनाथजी ! आप ही का निहोरा करता रहूंगा । भाव यह कि, यदि नर्क या स्वर्गवाले मुझ से पूछेंगे कि यहां कैसे आया तो कह दूंगा कि मेरे स्वामी रघुनाथजी ने मुझे भेजा है, मैं केवल उन्हीं को जानता हूं ॥४॥ हे नाथ ! यद्यपि यह उचित नहीं है कि मैं आप के साथ ऐसी धृष्टता कर रहा हूं, मुंहलगा होकर बात कर रहा हूं, पर क्या करूं ? यह तुलसीदास आपकी निष्ठुरता, संगदिली, देखकर रात-दिन यातना भोग रहा है । इसी से जो न कहने का था, सो भी आप से कहना पड़ा ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'विप्र'-अजामेल, ५७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये ।

(२) 'व्याध'—वाल्मीकि, ६४ पद की चौथी टिप्पणी देखिये ।

(३) 'गनिका'—पिंगला, ६४ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(४) 'जद्यपि······निठुराई'– आर्त्त मनुष्य क्या क्या नहीं कह सकता या कर सकता। कहा भी है––

'आरत काहि न करइ कुकरमू।'– (रामायण)

तथा

'कामार्त्ताहि प्रकृति-कृपणाऽश्चेतनाचेतनेषु।' (कालिदास)

(११३)

माधव अब न द्रवहु केहि लेखे।
प्रनतपाल पन तोर मोर पन, जिअहुँ कमलपद देखे॥ १॥
जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं, मैं न दास, तैं स्वामी।
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं, जद्यपि अन्तरजामी॥ २॥
तैं उदार, मैं कृपन, पतित मैं, तैं पुनीत स्रुति गावै।
बहुत नात रघुनाथ तोहि मोहि, अब न तजे बनि आवै॥३॥
जनक जननि गुरु बंधु सुहृद पति, सब प्रकार हितकारी।
द्वैतरूप तम-कूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी॥ ४॥
सुन अदभ्र करुना बारिज लोचन मोचन भय भारी।
तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिन, संसय टरत न टारी॥ ५॥

शब्दार्थ––द्रवहु = पिघलते हो, कृपा करते हो। केहि लेखे = किस कारण से। पन = प्राण, प्रतिज्ञा। नात = नाता, रिस्ता। जनक = पिता। द्वैत = भेद बुद्धि। तप = अज्ञान से तात्पर्य है। अदभ्र = अधिक, बहुत बड़ा।

भावार्थ—हे माधव! अब तुम किस कारण से कृपा नहीं करते? तुह्मारी प्रतिज्ञा तो भक्तों पर कृपा करना है और मेरा प्रण है कि, तुम्हारे चरणारविन्दों को देख देख कर जीवन बिताऊँ। भाव यह है कि मैं तुह्मारे चरणों ही के भरोसे पर रहता हूं, मुझे कोई और आसरा नहीं है। पर आश्चर्य है कि तुम इतने पर भी मुझ पर कृपा नहीं करते॥ १॥ जब तक मैं दीन और तुम दयालु, मैं सेवक और तुम स्वामी नहीं हुए, तब तक मैंने जो जो कष्ट भोगे वह मैंने तुम से नहीं कहे, यद्यपि तुम जानते सब हो, क्योंकि तुह्मारा नामही अन्तर्यामी है, अर्थात् घट घट की बात जाननेवाले हो॥ २॥ किन्तु अब

हमारा-तुम्हारा संबंध हो गया है । तुम दानी हो और मैं लोभी हूं; तुम पवित्र हो और मैं पापी हूं अथवा तुम नीचों का उद्धार करनेवाले हो, तो मैं नीच हूं। हे रघुनाथजी ! वेद गा रहे हैं कि हमारे-तुम्हारे अनेक रिश्ते हैं, अर्थात् जीव और ब्रह्म का नैसर्गिक संबंध है ? फिर भला तुम्हीं कहो कि मुझे त्यागना कहां तक उचित है ॥ ३ ॥ तुम मेरे पिता, माता गुरु, भाई, मित्र, स्वामी और सब प्रकार से हितू हो। अतएव कुछ ऐसा उपाय सोच कर बता दीजिए जिससे अब मैं अविद्या रूपी अन्धेरे कुएं में न गिरूं, अर्थात् तुम्हें पहिचान कर जन्म-मरणसे मुक्त हो जाऊँ ॥ ४ ॥ हे कमल नेत्र ! तुम्हारी करुणा का कोई पार नहीं है। वह संसार के बड़े भारी भय अर्थात् जन्म-मरण से छुड़ा देनेवाली है। हेनाथ ! तुलसीदास को जो यह अविद्याजन्य संशय हो रहा है, वह बिना तुम्हारे प्रकाश के, बिना तुम्हारे दर्शन के, किसी भी प्रकार टलने का नहीं, अर्थात् "संसार सत् है अथवा असत्"–यह संकल्प-विकल्प आप के ही दर्शन से दूर होगा, अन्यथा नहीं ॥ ५ ॥

टिप्पणी–(१) 'मोर प्रण......देखे'—अनन्यता की सूचना मिलती है। जीव के जीवनाधार एक परमात्मा ही हैं। रामचरितमानस में लिखा है–

'प्रान प्रान के, जीवन जी के।'

(२) 'बहुत नात'—जीव और ब्रह्म के स्वभाव से ही अनेक संबंध हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने 'ब्रह्मसम्बन्ध' के विषय पर बहुत ही उतम विवेचना की है। श्रीरामानुजाचार्यजी ने भी जीव-ब्रह्म के इस प्रकार सम्बन्ध लिखे हैं—

ब्रह्म	...	जीव	गुरु	...	शिष्य
शेषी	...	शेष	स्वामी	...	सेवक
अवतारी	...	अवतार	पति	...	कान्ता
अंशी	...	अंश	धर्मी	...	धर्म
नियामक	...	नियम्य	शरीरी	...	शरीर
पिता	...	पुत्र	रक्षक	...	रक्ष्य; इत्यादि

(३) 'करुना वारिज लोचन'—'करुना' शब्द के साथ 'वारिज' का मेल बड़ा ही युक्तियुक्त है 'करुणा' जलरूप है, रसमय है, इधर 'वारिज' की उत्पति जल से है, वह भी रसमय और कान्त है।

(४) 'प्रभु...... टारी'—विना भगवत्स्वरूप-ज्ञान के अविद्या का नाश होना असम्भव है, श्रीमद्भागवत में लिखा है-

'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं, प्रायः श्रेयोः भवेदिह ॥'

(१३४)

माधव, मो समान जग माहीं ।
सब विधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन विषय कोउ नाहीं ॥ १ ॥
तुम सम हेतु-रहित कृपालु आरत-हित ईस न त्यागी ।
मैं दुख सोक विकल, कृपालु केहि कारन दया न लागी ॥ २ ॥
नाहिंन कछु औगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना ।
ग्यान भवन तनु दियहु नाथ, सोउ पाय न मैं प्रभु जाना ॥ ३ ॥
वेनु करील, श्रीखण्ड बसन्तहि दूषन मृषा लगावै ।
सार-रहित हत भाग्य सुरभि, पल्लव सो कहु किमि पावै ॥ ४ ॥
सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि दृढ़ विचार जिय मोरे ।
तुलसिदास प्रभु मोह-सृङ्खला, छुटिहि तुम्हारे * छोरे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—हेतुरहित = निष्कारण, निष्काम । वेनु=बांस । श्रीखण्ड=चंदन । सुरभि = सुगन्ध । कठिन=कठोर । दृढ़ = निश्चय, पक्का । सृंखला = शृंखला, जंज़ीर ।

भावार्थ—हे माधव, मेरे समान, इस संसार में, सब प्रकार से निस्सहाय, पातकी, दीन और भोग-विलासों में लिप्त कोई नहीं है, मैं सबसे बढ़कर पापी हूं ॥१॥ और तुम्हारे समान, निष्काम कृपा करनेवाला दीन-दुखियों का हित, स्वामी एवं दानी कोई नहीं है । मैं दुःख और शोक-सन्तापों से व्याकुल हो रहा हूं । क्या कारण है कि तुमने अभी तक मुझ पर कृपा नहीं की । ॥ २ ॥ मैं यह मानने को तयार हूं कि इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं है, सब मेरा ही अपराध है । और वह अपराध यह है कि, तूमने मुझे जो ज्ञान का भण्डार शरीर दिया, उसे पाकर मैंने तुम्हारा वास्तविक रूप आज तक नहीं पहिचाना । भाव यह है कि, यह मानव-शरीर अखण्ड-ज्ञान का मन्दिर है । जिसने इसे

* पाठान्तर 'छूटहिं तुम्हारे ।'

पाकर परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की, वह क्यों न पतित होगा, उस पर परमात्मा कैसे कृपा कर सकते हैं ? ॥ ३ ॥ बांस, चन्दन को और करील बसन्त को वृथा ही दोष देते हैं। यह अभागे हैं। बांस में सार ही नहीं है, खोखला है, भला बेचारा चन्दन उसमें सुगन्ध कहां से भर दे ? इसी प्रकार करील में पत्ते नहीं होते, उन्हें बसन्त हरा भरा कैसे कर सकेगा ? भाव यह है कि जैसे, बांस में सुगन्ध और करील में पत्ते किसी प्रकार नहीं आ सकते, उसी तरह उस जीव पर परमेश्वर क्या कृपा करेगा, जो स्वभाव से ही महापापी है, जिसका परमेश्वर पर लेश मात्र भी प्रेम नहीं ? ॥ ४ ॥ हे नाथ ! मैं सब भांति कठोर हूं, पर तुम तो कोमल स्वभाववाले हो । मैंने अपने मन में यह निश्चय-रूप से विचार कर लिया है कि हे प्रभो ! इस तुलसीदास की अविद्यारूपी बेड़ी तुम्हारे ही छुड़ाने से छूट सकेगी, अन्यथा नहीं; जब तक तुम्हारी कृपा न होगी, तब तक मैं माया के ही चक्कर में फँसा रहूंगा ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'नर-भवन तनु'—गुसाईंजी ने रामचरितमानस में भी मनुष्य-शरीर की सार्थकता के सम्बन्ध में लिखा है—

'साधन-धाम, मोक्ष कर द्वारा ।'

(२) 'दूषन मृषा लगावै'—कहा भी है—

'सो परम दुख पावहीं, सिर धुनि धुनि पछिताहिं ।
कालहिं कर्महिं ईस्वरहिं, मिथ्या दोष लगाहिं ॥' (रामचरितमानस)

(११५)

माधव, मोह-पास * क्यों टूटै ।
बाहर कोटि उपाय करिय अभ्यंतर ग्रन्थि न छूटै ॥१॥
घृतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिम्ब दिखावै ।
ईंधन अनल लगाय कल्पसत, औंटत नास न पावै ॥२॥
तरु-कोटर महँ बस बिहंग तरु काटे मरै न जैसे ।
साधन करिय विचार हीन मन, सुद्ध होइ नहि तैसे ॥३॥
अंतर मलिन विषय मन अति, तन पावन करिय पखारे ।
मरइ न उरग अनेक जतन बलमीकि बिबिध विधि मारे ॥४॥

* पाठान्तर 'फांस'।

तुलसीदास हरि-गुरु-करुना बिनु, बिमल बिबेक न होई ।
बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि, पार न पावै कोई ॥५॥

शब्दार्थ—पास = (पाश) फांस, फंदा । ग्रन्थि = गांठ । कोटर = छेद । विचार = आत्मबोध । पखारे = धोकर । उरग = सांप । बलमीकि = बांबी, सांप के रहने का घर । निधि = यहां समुद्र से आशय है ।

भावार्थ—हे माधव ! मेरी यह अविद्या की फांस कैसे टूटेगी ! बाहर चाहे करोड़ों साधन क्यों न करो, पर भीतर की गांठ उन साधनों से कैसे छूट सकेगी ? भाव यह है कि, जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ, तब तक कर्मकाण्ड आदि बाहरी साधन जीव को मुक्त नहीं कर सकते ॥१॥ घी से लबालब भरे हुए कड़ाह में जो चन्द्रमा की परछाईं दिखाई देती है वह सौ कल्प तक भी ईंधन और आग लगा कर औटाने से दूर नहीं हो सकती । जब तक घी का लेशमात्र भी रहेगा, तब तक प्रतिबिम्ब भी रहेगा । इसी प्रकार जब तक मोह रहेगा, तब तक भेद-बुद्धि भी रहेगी ॥२॥ किसी पेड़ के कोटर में जैसे कोई पक्षी, जो उस में रहता है, उस पेड़ के काट डालने से नहीं मर सकता, उसी प्रकार अनेक साधन क्यों न करो, पर बिना आत्मज्ञान के यह मन शुद्ध होने का नहीं । भाव यह है कि, तुम चाहे इस मनरूपी पक्षी के रहने का शरीररूपी स्थान छिन्न भिन्न कर दो, मर जाओ, पर मनबिहंग मरने का नहीं । वह सूक्ष्मरूप से ज्यों का त्यों रहेगा । जब तुम उसे पकड़ कर पिंजड़े में बंद कर दोगे अर्थात् उसे हरि-शरणापन्न कर दोगे, तभी वह वश में हो सकेगा, अन्यथा नहीं ॥३॥ जैसे बाँबी पर अनेक प्रकार से प्रहार करने पर और नाना उपायों से भी उसमें रहनेवाला सांप नहीं मरता है, वैसे ही शरीर को खूब धो धो कर स्वच्छ रखने से कहीं विषयी मलिन मन पवित्र हो सकेगा ? कदापि नहीं ॥४॥ हे तुलसीदास ! बिना भगवान् और गुरु की दया के विशुद्ध ज्ञान का होना असंभव है । और विवेक के बिना इस घोर संसार-सागर से पार पा जाना किसी के बूते का नहीं ॥५॥

टिप्पणी–(२) 'घृत पूरन......पावै'–इसे स्पष्टतया यों लिख सकते हैं-घृत= मन, बुद्धिचित्त अहंकार अथवा अष्टधाप्रकृति । कराह=शरीर । चंद्र=माया, अविद्या । प्रतिबिम्ब=मिथ्या ज्ञान, भेदबुद्धि । ईंधन-अनल = जप, तप, योग, कर्मकांड आदि ।

(२) 'तरु-कोटर'—इसे इस प्रकार लिख सकते हैं—तरु-कोटर = शरीर। विहंग = मन। साधन = जप, तप, यम, नियम, व्रत आदि।

(३) 'मरइ न......मारे'—यहां भी 'उरग' से मन का और 'वाल्मीकि' से शरीर का अर्थ लेना चाहिये।

(४) 'हरिगुरु......कोई'--रामचरित मानस में लिखा है—

'बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥'

(५) इन दोनों पदों में जगत् का मिथ्यात्व निरूपण किया गया है। यह युक्तियाँ अद्वैत-वादियों की हैं। आत्म-ज्ञान भ्रम-निवारण का मुख्य साधन बताया गया है, किंतु यहां एक यह विशेषता है कि वह विवेक, जिससे माया का ध्वंस होता है, हरि-कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। यही तो भक्ति-वाद का प्राण है।

(११६)

माधव * असि † तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया॥ १॥
सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय, दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोहजनित भव, दारुन बिपति सतावै॥ २॥
ब्रह्म-पियूष मधुर सीतल जोपै मन सो रस पावै।
तौ कत मृगजल रूप विषय कारन निसिवासर धावै॥ ३॥
जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत कांच बटोरै।
सपने परबस परै जागि देखत केहि जाइ निहोरै॥ ४॥
ग्यान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि-कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मनमाहीं॥ ५॥

शब्दार्थ—मोह जनित=अविद्या से उत्पन्न। भव=संसार। रस=आनन्द। कत=क्यों, कैसे। चिन्तामनि=स्वर्ग का एक रत्न जो सारी चिन्ताओं को दूर कर देता है। भ्रम=अज्ञान, संशय।

भावार्थ—हे माधव! यह तुम्हारी माया ऐसी है कि चाहे कितने ही उपाय करके पच मरो, पर जब तक तुम ने कृपा नहीं की, तब तक इससे पार पा जाना

* पाठान्तर 'माधो।' † पाठान्तर 'अस।'

असंभव ही है। भाव यह है कि, माया से छूटना केवल कृपा-साध्य है, क्योंकि इसका फंदा कुछ ऐसा है कि वह सैकड़ों साधनों को भ्रष्ट कर देता है ॥१॥ सुनता हूं, विचारता हूं, समझता हूं और औरों को भी समझाता हूं, पर इस माया की गति फिर भी ठीक ठीक मन में नहीं बैठती, अर्थात् वह अनिर्वाच्य ही रहती है। और जब तक इसका वास्तविक रहस्य ज्ञात नहीं हुआ, मन निश्चल और शान्त नहीं हुआ, तब तक अविद्याजन्य संसार की बड़ी बड़ी घोर विपत्तियां दुःख देती ही रहेंगी। भाव, यह जीव जब तक प्रकृति से पृथक् होकर कैवल्य का अधिकारी नहीं हुआ, तब तक यह जन्म-मरण के चक्र से छूट नहीं सकता ॥ २ ॥ यदि ब्रह्मामृत, जो कि बड़ाही मधुर और शीतल है, इस मन को मिल जाय, यदि इसे उस रसका चसका पड़ जाय, तो फिर यह किसलिये विषय-रूपी झूठे मृगजल के लिये रात-दिन दौड़ता फिरे ॥ ३ ॥ जिस के घर में ही दिव्य चिन्तामणि विद्यमान है, वह किस लिये कांच बटोरता फिरेगा ? सारांश, जिसे आत्मबोध का आनन्द प्राप्त हो गया, उसे फिर विषयानन्द महातुच्छ जचेगा। जैसे कोई सपने में किसी के फंदे में पड़ कर उसके अधीन हो जाय और छूटने के लिये उससे विनय करता फिरे, पर जब जाग पड़े तब वह किससे निहोरा करेगा ? भाव यह है कि, उसी प्रकार यह जीव मायारूपी सपनेमें मोह के वश में जा पड़ा है, उस अवस्था में चाहे जितने छूटने के प्रयत्न करे, पर जब तक यह जागा नहीं, इसे आत्म-बोध नहीं हुआ, तब तक इधर उधर भटकना व्यर्थ है। ज्ञानोदय होने पर फिर इसे किसी से निहोरा न करना पड़ेगा ॥ ४ ॥ ज्ञान, भक्ति आदि अनन्त साधन हैं। यह सबी सच्चे हैं, झूठ एक भी नहीं, किन्तु हे तुलसीदास ! मुझे तो यह निश्चय है कि अविद्या का नाश केवल हरि-कृपा से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। भाव यह है कि, कलियुग में जितने और साधन किये जाते हैं, वे एक तो सिद्ध ही नहीं होते, दूसरे उनसे अहंकार बढ़ता है और अहंकार से जीव का पतन अवश्यंभावी है, इसलिये भगवान् की कृपा, जो दास-भाव से प्राप्य है, अविद्या का नाश करनेवाली है ॥५॥

टिप्पणी--(१) इस पद में सिद्धान्तरूपेण गुसाईंजी ने माया-नाश का मुख्य और अविच्छन्न साधन केवल हरि-कृपा को माना है।

(२) 'ब्रह्म-पियूष......धावै'—महचरिशरणजी कहते हैं—

'मिश्री-प्याला [illegible] होने, फेरि पियैं क्या [illegible]!

सूरदासजी ने भी कहा है—

'सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ।'

(३) 'भ्रम'—यह जगत सत्य है अथवा असत्य, इस भ्रम का अद्वैतवादियों के मतानुसार, यह अर्थ नहीं है कि जगत् असत्य हो कर भी सत्य की नाईं भास रहा है; किन्तु यह आशय है, कि 'समझ ही में नहीं आता कि जगत सत् है वा असत' !

(११७)

हे हरि, कवन दोष तोहि दीजै ।
जेहि उपाय सपनेहुं दुरलभ गति, सोइ निसिबासर कीजै ॥ १ ॥
जानत अर्थ अनर्थ रूप तम कूप परब यहि लागे ।
तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों, फिरत बिषय अनुरागे ॥ २ ॥
भूत द्रोह कृत मोह वस्य हित, आपन मैं न विचारो ।
मद-मत्सर-अभिमान ग्यान-रिपु, इन महँ रहति अपारो ॥ ३ ॥
वेद-पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जगव्यापी ।
बेधत नहिं श्रीखंड वेनु इव, सारहीन मन पापी ॥ ४ ॥
मैं अपराध-सिंधु करुनाकर जानत अंतरजामी ।
तुलसिदास भव-व्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—गति=यहां मुक्ति से आशय है । अज=बकरा । श्रीखंड=चंदन । बेनु=बांस । सार=यहाँ गूदे से तात्पर्य है । उरगरिपु=साँपों के शत्रु, गरुड़ ।

भावार्थ—हे हरे ! तुम्हें भला मैं क्या दोष दूं ? जिस जिस यत्न से मोक्ष सपने में भी दुर्लभ है, वही वही मैं दिन-रात किया करता हूं । अर्थात्, सदा पाप कमाया करता हूं, फिर मोक्ष कैसे मिल सकती है ? सारा अपराध मेरा ही है । तुम्हें दोषी कह ही नहीं सकता ॥ १ ॥ यद्यपि यह मैं जानता हूं कि इंद्रियों के विषय अनिष्टरूप हैं, इन में पड़ कर अंधेरे कुएं में गिरना होगा, फिर भी विषयों में लौलीन होकर कुत्ते, बकरे और गधे की तरह उन्हें छोड़ता नहीं हूँ, उन्हीं से वार बार प्रेम करता हूँ ॥ २ ॥ सारे प्राणियों के साथ द्रोह करके और अज्ञानवश मैंने अपना हित नहीं सोचा, आज तक यह नहीं जाना कि मेरी सच्ची भलाई किसमें है । और मद, ईर्ष्या, अहंकार आदि जो ज्ञान के शत्रु हैं, उनमें और भी लीन हो गया । सार यह है कि, जिन्हें त्यागने से ज्ञान-

प्राप्ति होती है, उन्हीं शत्रुओं के हाथ में पड़ा रहना अहोभाग्य समझता हूं, भला, मुझ सरीखा भी कोई मूर्ख होगा ? ।। ३ ।। वेदों और पुराणों में सुनता हूं और समझता हूं कि रघुनाथजी समस्त संसार में रम रहे हैं, किन्तु मेरे नीरस पापी मन में यह बात ऐसे नहीं समाती, जैसे चंदन की सुगंध बिना गूदे के खोखले बांसमें नहीं जाती।। ४ ।। हे करुणालय ! मैं सारे दोषों का समुद्र हूं—यह तुम जानते हो, क्योंकि तुम सभी के हृदय की जाननेवाले हो। सो हे गरुड़गामी ! संसाररूपी सर्प से डसा हुआ यह तुलसीदास तुम्हारी शरण है। भाव यह है कि, मुझे संसार के आवागमन से छुड़ा कर अपना सामीप्य दो ॥५॥

टिप्पणी(१) 'अर्थ'—अर्थ का स्वार्थ' से तात्पर्य है। 'स्वार्थ' का 'स्व' आत्मवाचक नहीं है, किन्तु शरीर-वाचक है। इन्द्रियों के जितने विषय हैं, वे सब इस 'अर्थ' के अन्तर्गत हैं। श्रीशंकराचार्यजी ने भी 'भावम् अर्थमनर्थम्' में यही बात कही है। जिसे हम अर्थ अर्थात् इष्ट समझते हैं, वह, वास्तव में, अनर्थ है, अनिष्ट है।

(२) 'स्वान अज खर'—यह तीनों ही महा विषयी होते हैं। इन सा कामी दूसरा पशु नहीं होता। इन्द्रिय-लोलुपता की इनके साथ उपमा देकर गुसाईंजी ने जीव की निर्लज्जता और कामैषणा सिद्ध की है।

(३) 'उरग-रिपु-गामी'—यहां संसार सांप है, उसका भक्षक है ज्ञान, और ज्ञान के अधिष्ठाता हैं भगवान्। भगवत्कृपा से ज्ञान इस जीव का मोह नाश कर सकता है—यह भाव हैं।

(११८)

हे हरि, कवन जतन सुख मानहुँ।
ज्यों गज-दसन तथा मम करनी, सब प्रकार तुम जानहु ॥ १ ॥
जो कछु कहिय करिय भवसागर तरिय वत्सपद जैसे।
रहनि आन विधि कहिय आन हरिपद सुख पाइय कैसे ॥ २ ॥
देखत चारु मयूर-बैन * सुभ बोल सुधा इव सानी।
सविष, उरग-आहार निठुर अस, यह करनी वह बानी॥ ३ ॥

* पाठान्तर – बचन।

अखिल-जीव-वत्सल निरमत्सर, चरन-कमल-अनुरागी।
ते तव प्रिय रघुबीर धीर मति, अतिसय निज-पर-त्यागी॥ ४॥
जद्यपि मम औगुन अपार संसार-जोग्य रघुराया।
तुलसिदास निजगुन बिचारि करुनानिधान करु दाया॥ ५॥

शब्दार्थ—रहनि=आचरण। उरग=सर्प। निरमत्सर=ईर्ष्यारहित। निज-पर-त्यागी=जिसमें अपने-पराये का भेद नहीं है।

भावार्थ—हे हरे! किस उपाय से मैं सुख मानूं, सुखी होऊं? मेरा करतब हाथी के दांतों के समान है, तुम तो सब भलीभांति जानते हो। भाव यह है कि, जैसे हाथी के दांत खाने के तो और होते हैं और दिखाने के और, उसी प्रकार मैं करता हूं कुछ और, और दिखाता हूं कुछ और ही। सदा कपट किया करता हूँ। हूँ तो महा अधम, पर बनता हूँ महात्मा। १॥ यदि मैं, जैसा कि कहता हूं वैसा ही करूं, तो संसार-सागर को इस प्रकार पार कर जाऊं जैसे कोई बछड़े के पैर को लांघ जाता है, अर्थात् अनायास ही सहज में मुक्ति पा जाऊं। पर मेरा आचरण तो कुछ और ही है और कहता फिरता हूँ कुछ और। अब भला तुम्हारे चरणों का आनंद मिले तो कैसे!॥२। देखने में तो मोर सुंदर लगता है और मीठी वाणी से ऐसे वचन बोलता है, मानो अमृत से सने हों, किन्तु उसका आहार है जहरीला सांप! ऐसा कठोर है। यह करनो है और वह कथनी! दोनों में पृथ्वी-आकाश का अंतर है।। ३॥ हे रघुनाथजी! आपको तो वे ही संत प्यारे हैं, जो समस्त प्राणियों पर प्रेम करते हैं, जिनमें ईर्ष्या का लेश नहीं है, जो आपके चरणारविन्दों के भक्त हैं" जिनकी बुद्धि में धैर्य भरा है, जो अपने-पराये का भेद बिल्कुल ही छोड़ चुके हैं। (ये सब सद्गुण मुझ में कहाँ हैं? फिर मैं तुम्हें कैसे प्रिय लगूं?) ॥ ४॥ हे रघुनाथजी! यद्यपि मुझमें अनन्त दोष हैं और मैं संसार ही में आने योग्य हूं, किन्तु हे करुणालय! तनिक अपने गुणों पर तो विचार कीजिए, जब आप अपने गुणों की ओर देखगे, तब अवश्य मुझ पर कृपा करेंगे। भाव यह है कि, आप भक्त-वत्सल हैं; कृपा सागर हैं, पतित पावन हैं, अतएव मुझे विश्वास है कि, मुझ पतित का आप अवश्य उद्धार करेंगे॥५॥

टिप्पणी-(१) 'हे हरि······मानहुं'—पंडित रामेश्वर भट्टजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है कि हे हरि! किस उपाय से सुख मानों, समझ में नहीं

आता, कि भट्टजीने यह क्या अर्थ लिख डाला ! 'मानहु क्रिया मैं' के साथ आती है और 'हरि' को सुख मानने से क्या पड़ी है ?, 'मैं कैसे सुख मानूं अर्थात् अपने को सुखी समझूं' यही अर्थ उपयुक्त जान पड़ता है ।

(२) 'ज्यों गजदसन ···करनी'--इस पर कबीरदासजी कहते हैं–

'क़बिरा तहाँ न जाइये, जहां कपट का हेत ।
जानो कली अनार की, तन राता मन स्वेत ॥'

अथवा–

'विष रस भरा कनक घट जैसे ।'– (रामचरितमानस)

तथा –

'चपल औ चतुर है बने बहु चीकने, बात में ठीक पै कपट ठानी ।
कहा तिनसों कहौं दया जिनके नहीं, घात बहुतै करैं बकुल ध्यानी ॥'

(३) 'अतिसय निज पर त्यागी'–समदृष्टा; जो दूसरे के हित को अपना हित और दूसरे की हानि को अपनी हानि समझे ।

(४) इस पद में गुसांईंजी ने कथनी और करनी का बड़ा ही सुंदर और सजीव विवेचन किया है । कबीरदासजी भी इस संबंध में क्या खूब लिख गये हैं—

'कथनी थोथी जगत में, करनी उत्तम सार ।
कह कबीर करनी सबल, उतरैं भौजल पार ॥
जस करनी तस करनिया, जस चुंबक तस नाम ।
कह कबीर चुंबक बिना, क्यों छूटै संग्राम ॥
कहता तो बहुता मिला, गहता मिला न कोय ।
सो कहता बहि जान दे, जो नहिं गहता होय ॥
कथनी मीठी खांड़ सी, करनी विष की लोय ।
कथनी तजि करनी करैं, विष से अमरत होय ॥'

(११६)

हे हरि, कवन जतन भ्रम भागै ।
देखत सुनत, बिचारत यह मन, निज सुभाउ नहिं त्यागै ॥ १ ॥
भक्ति, ग्यान, बैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई ।

कोउ भल कहउ देउ कछु कोउ असि बासना हृदय ते न जाई* ॥ २ ॥
जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपापात्र जन जागै ।
निज करनी बिपरीत देखि मोहि; समुझि महाभय लागै ॥ ३ ॥
जद्यपि भग्न मनोरथ बिधिबस, सुख इच्छित दुख पावै ।
चित्रकार कर हीन जथा स्वारथ बिनु चित्र बनावै ॥ ४ ॥
हृषीकेस सुनि नाम† जाउँ बलि, अति भरोस जिय मोरे ।
तुलसिदास इंद्रिय-संभव दुख, हरे बनिहि प्रभु तोरे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—भ्रम = अविद्या रूपी संशय । सूतहिं = सोते हैं; यह बैसवाड़ी भाषा का ग्रामीण प्रयोग है । कर हीन = इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसके हाथ ही न हों, पर यह है कि जो अपने हाथों से कुछ काम न ले । हृषीकेस = हृषीक + ईश; इन्द्रियों के स्वामी ।

भावार्थ—हे हरे ! किस उपाय से यह संशय दूर होगा ? देखता है, सुनता है, सोचता है, फिर भी मेरा यह मन अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता । भाव यह है कि, संसार में स्पष्टतः दिखाई देता है कि सभी कुछ क्षणभंगुर है, सुना भी गया है कि बड़े बड़े प्रतापी राजे-महाराजे भी काल के कराल गाल से नहीं बचे और यही विचार करने पर भी सत्य जँचता है, किन्तु यह चंचल मन फिर भी विषयों में जा-जा कर फँसता है ! आश्चर्य है । ॥१॥ इस मन के शान्त करने के लिये ही भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त साधन बनाये गये हैं, पर यह सब निष्फल हैं, क्योंकि यह इच्छा हृदय से कभी भी नहीं जाती कि 'कोई मुझे अच्छा कहे' अथवा 'मुझे कुछ दे ।' सारांश यह कि बड़े बड़े भक्त, ज्ञानी और वैरागी भी अहंमन्यता और लोभ में फँसे दिखाई देते हैं, फिर औरों की गिनती ही क्या ? मन ऐसा प्रबल है ॥२॥ जिस (संसार-रूपी) रात में सब लोग सोते हैं (भूले पड़े हैं), उसमें केवल आपका भक्त जागता है (भगवद्भजन में लीन रहता है), किन्तु मुझे बड़ा डर लग रहा है, क्योंकि मैं अपनी करनी को बिलकुल ही उलटा देख रहा हूं । अर्थात्, मुझमें वह एक भी गुण नहीं, जिससे मैं संसार को मिथ्या समझ कर आपके चरणों में चित्त लगाऊं, संसार-रूपी रात्रि से जाग पड़ूं ॥३॥ यद्यपि दैव-वश, विधाता के प्रतिकूल

*यहाँ भाव [illegible] अधिक है । †पाठान्तर—'नाउं'

होने पर, मेरी सारी कामनाएं नष्ट हो चुकीं अर्थात् भाग्य में तो लिखा ही नहीं कि सुख मिले, तथापि सुखों की इच्छा कर-कर मैं ऐसे दुःख पा रहा हूं, जैसे कोई चित्रकार अपने हाथ से चित्र बनाये बिना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहे। भाव यह है कि, जैसे कोई चित्रकार कल्पना के चित्रों से रुपया कमाना चाहे, तो कैसे कमा सकता है, जब हाथ से चित्र बनायेगा, तभी रुपया पैदा कर सकेगा, उसी प्रकार मैं पुरुषार्थ तो कुछ करता नहीं मन के ही लड्डू उड़ा रहा हूं, फिर सुख कहां से मिलेगा ? दुःख ही दुःख देखना पड़ेगा ॥४॥ आपका 'हृषीकेश' नाम सुनकर मैं आपकी बलैया लेता हूं। मेरे मन में यह दृढ़ विश्वास है कि इस तुलसीदास का इन्द्रिय-जन्य दुःख आप अवश्य दूर कर देंगे, क्योंकि आप हृषीकेश' अर्थात् इन्द्रियोंके स्वामी हैं, नियन्ता हैं। आपकी आज्ञा से वे मुझे सता न सकेंगी ॥५॥

टिप्पणी—(१)'निज स्वभाव'—संकल्प-विकल्प; चंचलता; विषय-लोलुपता इंद्रिय परायणता ।

(२)'जेहि......जागे,—यह पद गीता के निम्नलिखित श्लोकार्द्ध का छायानुवाद जान पड़ता है—

' या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी ।'

(३)'हृषीकेश—श्रीरामचन्द्रजी का यह राशि का नाम समझ पड़ता है, क्योंकि आपका प्राकट्य पुनर्वसु नक्षत्र के चौथे चरण में हुआ था। अतएव 'हकारादि' नाम पड़ना ज्योतिष-शास्त्र के संगत है। इस मत का प्रतिपादन श्रीबैजनाथ जी ने किया है।

(४) इस पद में भी अविद्या-नाश का मुख्य कारण भगवत्कृपा को माना है।

(१२०)

हे हरि, कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥१॥
अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गुसाईं।
बिन बाँधे निज हठ सठ परबस पर्‌यो कीर की नाईं ॥२॥
सपने व्याधि बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई।
बैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई ॥३॥

स्रुति-गुरु-साधु-स्मृति-संमत यह दृश्य सदा दुखकारी ।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, बिपति सकै को टारी ॥४॥
बहु उपाय संसार-तरन कहँ बिमल गिरा स्रुति गावै ।
तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुं न पावै ॥५॥

शब्दार्थ—अविद्यमान=नाशवान्, क्षणिक । संसृति=संसार । कीर=तोता । दृश्य=संसार । गिरा=वाणी । जिउ=जीव ।

भावार्थ—हे हरे ! मेरे इस भारी भ्रम को क्यों नहीं दूर करते ? यद्यपि यह संसार मिथ्या है, असत् है, तथापि जब तक आपने कृपा नहीं की, तबतक तो यह सत्य सा ही भास रहा है, अर्थात् बिना आप की कृपा के यह संशय दूर हो ही नहीं सकता कि 'संसार सत् है अथवा असत्' ॥१॥ यह मैं जानता हूँ कि अर्थ नाशवान् है, विषय सुख क्षणिक हैं, किन्तु हे स्वामी ! इतने पर भी इस संसार से छुटकारा नहीं पाता । भाव, देखता हुआ भी अन्धा हूं ॥२॥ मैं बिना किसी के बंधन के ही. अपने ही हठ से, तोते की तरह परतंत्र पड़ा हूं, मैं ऐसा मूर्ख हूं कि स्वयं अपने ही हाथ से बँध गया हूं ।।३। जैसे स्वप्न में ऐसे ऐसे रोगों ने आ घर दबाया कि बस अब मौत आ ही गई और वैद्योंने भी अनेकों उपाय किये, पर जब तक जागे नहीं तब तक दुःख दूर होने का नहीं (इसी प्रकार मायात्मक भ्रम में पड़कर हम लोग अनेक यातनाएं भोग रहे है, साथ ही उन्हें दूर करने का प्रतीकार भी कर रहे हैं, पर बिना आत्मज्ञान के माया से छुटकारा पा जाना दुर्लभ है) ॥३॥ वेद, गुरू, संत और स्मृतियां, सभी एक स्वर से कहते चले आये हैं कि यह दृश्यमान् जगत सदा दुःख-रूप है। जबतक इसे त्यागा नहीं और रघुनाथ जी का भजन नहीं किया, तब-तक ऐसा कौन समर्थ है, जो इस विपत्ति का नाश कर सके ? भाव यह हैं कि. संसार-त्याग अर्थात संसार से निर्लिप्त रहना और भगवद्भजन करना यही दो आवागमन से छुड़ा सकते हैं॥ ४ ॥ वेद निर्मलवाणी से कह रहे हैं कि संसार-सागर के पार होने के अनेक उपाय हैं, किन्तु हे तुलसीदास ! जब तक 'मैं और मेरा' दूर नही हुआ, माया-मोह नहीं छूटा, तब तक यह जीव कभी भी सुख नही पा सकता। सारांश, परमानन्द-लाभ का मुख्य साधन निर्मोह अथवा निर्ममत्व है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'परबस परेउ कीर की नाईं'— खेत में किसान लोग दो

लकड़ियां गाड़ देते हैं। उन पर एक आड़ी लकड़ी रख देते हैं और उसमें चोंगली पहिना दी जाती हैं। खेती चुगनेवाला तोता ज्योंही उस पर बैठता है, वह घूम जाती है और बेचारा उलट कर टँग जाता है। यहां शुभ-अशुभ कर्म दो लकड़ियां गड़ी हैं, स्वभावरूपी लकड़ी इन दोनो के बीच में है और उसमें इच्छारूपी चोंगली पड़ी है। इच्छा करते ही जीवरूपी तोता बिना किसी के बांधे शुभाशुभ कर्म के बंधन में स्वयं बँध जाता है। गुसाईंजी की यह उपमा बड़ी ही युक्तिसंगत है।

(२) 'बहु उपाय'—स्नान, तर्पन, संध्या पूजा, पाठ, हवन, योग, जप, तप, व्रत, दान, विवेक, शम, दम, आदि सहस्रों साधन हैं।

(३) 'मैं मोर'—यही तो माया है। कहा भी है।

'मैं अरु मोर, तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हें जीव-निकाया॥'

(१२१)

हे हरि, यह भ्रम की अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय संदेह न जाई॥ १॥
जो जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाय मृगवारि सत्य, भ्रम ते दुख होइ बिसेखे॥ २॥
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै॥३॥
अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।
सम-संतोष-दया-बिबेक तें, ब्यवहारी सुखकारी॥४॥
तुलसिदास सबबिधि प्रपंचजग, जदपि झूठ स्रुति गावै।
रघुपति-भक्ति सत-संगति बिनु, को भव-त्रास नसावै॥ ५॥

शब्दार्थ—संशय = विकल्प ज्ञान, कुछ का कुछ मान लेना। सदेह = यह है अथवा वह-ऐसा ज्ञान। मृषा = असत्य।

भावार्थ—हे हरे! यह अविद्या का आधिक्य नहीं तो क्या है, कि देखने, सुनने, कहने और समझने पर भी न तो संशय अर्थात् विकल्प ज्ञान ही जाता है और न संदेह ही! भाव यह है कि, भ्रमवश ही मैं असत्य जगत् को सत्य मान

रहा हूँ और अभी तक निश्चय नहीं हुआ कि क्या तो सत्य है और क्या असत्य ॥ १ ॥ यदि संसार असत्य ही है, तो फिर सांसारिक तीनों तापों का अनुभव, कहो, किस कारण से होता है? (मिथ्या कारण का कार्य भी मिथ्या होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। सुख-दुःख का अनुभव तो प्रत्यक्ष सत्य प्रतीत होता है)। मृगजल सत्य नहीं कहा जा सकता, परन्तु जबतक भ्रम है तबतक तो सच सा ही दीखता है, और इसी भ्रम के कारण विशेष दुःख होता है। सारांश, अज्ञान अथवा अविद्या ही सारे दुःखों का मूल कारण है ॥ २ ॥ जैसे कोई सपने में सुन्दर सेज पर सोता हुआ समुद्र में डूबने से भयभीत हो रहा हो और करोड़ों नाव द्वारा भी वह पार नहीं जा सकता, जबतक कि स्वयं न जाग पड़े, उसी प्रकार यह जीव अज्ञानावस्था में पड़ा संसार-सागर में डूब रहा है; बिना आत्म-बोध के सहस्रों साधनों द्वारा भी यह मुक्त नहीं हो सकता ॥ ३ ॥ यह संसार कबतक मनोहर दिखाई देता है? जबतक कि ज्ञान का उदय नहीं हुआ, वस्तुतः तो यह अत्यंत भयानक है। यह संसार सुखमय है तो केवल उनको, जो सम, संतोष, दया और विवेक से सब के साथ व्यवहार कर रहे हैं। अर्थात् ऐसे सच्चे कर्मयोगी, कर्म करते हुए भी, कर्म से निर्लिप्त रहते हैं, अतः वे आवागमन से भी मुक्त हो जाते हैं ॥ ४ ॥ हे तुलसीदास! वेद कह रहे हैं कि संसारिक प्रपंच सर्वथा असत्य है, किन्तु रघुनाथ जी की भक्ति और संतों के सतसंग के बिना किसमें सामर्थ्य है, जो इस संसार के भय को दूर कर सके? इस भ्रम से छुड़ा सके? किसी का भी नहीं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'भ्रम की अधिकाई'—भ्रमाधिक्य पर कबीरदासजी कहते हैं—

भर्म परा तिहुँलोक में, भर्म बसा सब ठाउँ।
कहहिं कबीर पुकारि कै, बसैं भर्म के गाउँ॥'

(२) 'जो जग...... बिलखे' ---जबतक यह ज्ञान नहीं हुआ कि संसार असत्य है वा सत्य, तब तक वह जैसा है, तैसा मान कर, उसमें निष्काम-कर्म करना चाहिए। 'मिथ्या है, मिथ्या है' पुकारनेसे कुछ न होगा। ऐसी अवस्थामें कर्म-त्याग महान् पातक है। वासना-त्याग ही श्रेयस्कर है। और इसी निष्काम-कर्म द्वारा संसार का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो जयगा—यही गीता का निचोड है।

(३) अज्ञान से संसार रम्य मालूम होता है }
ज्ञान से " " " " " } दोनों में ही रम्य है।

किन्तु अज्ञान द्वारा रमणीयता क्षणिक है, क्योंकि वह वाह्य सौन्दर्य है, उसका आत्मा के साथ कोई चिर संबंध नहीं; और ज्ञानद्वारा जो रमणीयता अनुभव में आती है वही सच्ची रमणीयता है, क्योंकि वह आन्तर्जगत् का सौन्दर्य है। उस के कारण वाह्यजगत् फीका दिखाई देता है, उसका वास्तविक रहस्य अवगत हो जाता है। जिन्हें समता, संतुष्टि, दया और विवेक प्राप्त हो गया उनके आगे सत् और असत् दोनों का ही भेद खुल जाता है।

(४) 'इस पद में गुसाईंजीने अविद्या-नाशके दो मुख्य साधन बताये हैं—भगवद्-भक्ति और सत्संग। दोनों अन्योन्याश्रय हैं।

(१२२)

मैं हरि, साधन करइ न जानी।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी*॥ १॥
सपने नृप कहँ घटै बिप्र-बध, विकल फिरै अघ लागे।
बाजिमेध सत कोटि करै नहिं सुद्ध होइ बिनु जागे॥ २॥
स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक, प्रगट होइ अविचारे।
बहु आयुध धरि, बल अनेक करि हारहि मरइ न मारे॥ ३॥
निजभ्रम ते रबिकर-संभव सागर अति भय उपजावै।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूं पार न पावै॥ ४॥
तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई।
तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय, तरिय नहिं भाई॥ ५॥

शब्दार्थ—आमय = रोग। दिरमानी = हिकमत, प्रतीकार; (यह शब्द अरबी भाषा का है)। घटै = लग जाय। बाजिमेध = अश्वमेध नाम का यज्ञ। स्रग = माला। अविचारे = अज्ञान से। रविकर-संभव = सूर्य की किरणों से उत्पन्न। बोहित = जहाज। आपु = अहंकार।

भावार्थ—हे हरे! मुझ से साधन करते ही नहीं बना। जैसा रोग था, वैसी औषधि नहीं की। इसमें इलाज का दोष ही क्या है? सारांश यह है कि, संसार से मुक्त होने के सैकड़ों उपाय तो करता फिरा, पर मुख्य उपाय जो मनः शुद्धि है उसे तनिक भी नहीं किया। रोग ज्यों का त्यों बना रहा। संसार

*पाठान्तर 'बरवानी'।

में वैसा ही फंसा रहा ॥ १ ॥ जैसे सपनेमें किसी राजाको ब्रह्महत्याका दोष लग जाय और वह इस पाप के कारण जहां तहां तड़पता फिरे, सो करोड़ अश्वमेध भी करे, पर जबतक जागा नहीं, तबतक वह शुद्ध नहीं होता, (उसी प्रकार बिना आत्मबोध के अज्ञानावस्थामें जो अनेक पाप हो गये हैं, वे शुद्ध नहीं हो सकते) ॥ २ ॥ और जैसे अज्ञान के कारण माला में बड़े भयानक सांप का भ्रम हो जाता है और वह अनेकों हथियारों और बलसे मारने पर भी नहीं मरता, चाहे कोई मारते मारते हार जाय, उसी प्रकार तत्वतः जिस संसार, की 'अस्ति' ही नहीं है उसे नष्ट करने के लिये, उससे मुक्त होने के लिये, ऊपर से कितने ही साधन क्यों न करो, पर बिना आत्मज्ञान के उससे छूटना दुः । अथवा जैसे अपनेही भ्रमसे सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुआ (मृग-जल) समुद्र बड़ा भयंकर जान पड़ता है और उसमें डूब कर जहाज या नाव पर चढ़ने से कोई पार नहीं पा सकता है (उसी प्रकार, जैसे 'मृगजल-समुद्र' की कोई वास्तविक अस्ति नहीं है, इस संसार को सत्य मानकर हम लोग, भ्रमवश, जो अनेक दुःख पा रहे हैं, वे दुःख बाहरी उपायों से कैसे दूर हो सकते हैं ? उनके नाश का अमोघ उपाय एक आत्मज्ञान ही है) ॥ ४ ॥

तुलसीदास ! जब तक आपे समेत- अहंकार सहित संसार का निर्मूल नाश न होगा, तब तक भाइयो ! करोड़ों यत्न कर कर के मर जाओ, पर इस संसार-सागर से पार नहीं पा सकते ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) दिरमानी—श्रीबैजनाथजी ने 'बरबानी' पाठ लिखा है । और उसका अर्थ 'वेद-वाली' किया है । किन्तु हमें 'दिरमानी' पाठ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि रोग और औषध की असंगति दिखाकर गुसाईंजी ने स्वभावतः यही कहा होगा कि 'इसमें चिकित्सा का क्या दोष है ?'

(२) इस पद में 'स्वप्न में ब्रह्महत्या' 'माला में सर्प', और 'मृगजल' में समुद्र तीन दृष्टान्त दिये गये हैं। इन सब का मूल कारण भ्रम या अविद्या है. और इसका नाश अन्तःकरण की शुद्धि से संभव है । सारांश यह है कि, अविद्या से छूटने का मुख्य साधन 'आत्म बोध' है ।

(३) 'आपु'—यहां 'आपु' शब्द आत्म-वाची नहीं है । इससे देहाभिमान मिथ्या शरीर-ज्ञान अथवा असद्भावना से तात्पर्य है । यही देहाभिमान (शरीर को ही आत्मा मानना) संसार का मूल कारण है ।

(१२३)

अस कछु समुझि परत रघुराया ।
बिनु तव कृपा दयालु दास हित, मोह न छूटै माया ॥ १ ॥
वाक्य-ग्यान-अत्यन्त-निपुन भव-पार न पावै कोई ।
निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह, तम निवृत्त नहिं होई ॥ २ ॥
जैसे कोइ इक दीन दुखित अति, असन-हीन दुख पावै ।
चित्र कल्पतरु कामधेनु गृह, लिखे न बिपति नसावै ॥ ३ ॥
षटरस बहु प्रकार भोजन कोउ, दिन अरु रैनि बखानै ।
बिनु बोले संतोष-जनित सुख, खाइ सोइ पै जानै ॥ ४ ॥
जबलगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय-आस मनमाहीं ।
तुलसिदास तबलगि जग-जोनि भ्रमत, सपनेहुँ सुख नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—वाक्य ज्ञान = वाचनिक ज्ञान, कोरा शास्त्रीय ज्ञान । असन = भोजन । हृदि = हृदय में ।

भावार्थ—हे रघुनाथजी ! मुझे कुछ ऐसा समझ पड़ता है कि, हे दयालु ! हे भक्त हितकारी ! बिना तुम्हारी कृपा के न तो मोह ही दूर होता है और न माया ही । यह ध्रुव सिद्धान्त है ॥ १ ॥ कोई वाचनिक ज्ञान में कितना ही कुशल क्यों न हो, पर वह संसार-सागर पार नहीं कर सकता । भाव यह है कि, बिना आत्मानुभूति के केवल 'सोऽहं सोऽहं' कहने से कोई मुक्त नहीं हुआ और न होगा । घर में, रात के समय, दीपक की बातें करने से कहीं अन्धेरा दूर होता है ? (अन्धेरा तो तभी नाश होगा, जब सचमुच ही दीपक जलाया जाय) ॥ २ ॥ (दूसरा दृष्टान्त सुनिये) जैसे कोई बड़ा ही दीन और दुखिया बिना भोजन के, भूखों के मारे, दुःख पा रहा हो तो क्या उसके घर में कल्पवृक्ष और कामधेनु के चित्र लिखने से उसकी विपत्ति टलेगी ? (जब उसे भर पेट भोजन दिया जायगा, तभी वह सुखी होगा, लिखे हुए कल्पवृक्ष से अर्थात् केवल शास्त्रों की बातों से उसका दुःख दूर नहीं हो सकता) ॥ ३ ॥ (और दृष्टान्त लीजिए) कोई रातदिन षट्रस व्यञ्जनों का वर्णन करे, पर इससे क्या ? जो भोजनों का नाम लिये बिना ही भोजन करता है और क्षुधा-तृप्ति से उसे जो आनन्द मिलता है, उसे वही जानता है । (इसी

प्रकार वेद-शास्त्रों का कोरा निरूपण करनेवाले पंडितों से उसका दरजा बहुत ही ऊँचा है, जो ब्रह्म साक्षात्कार कर लेता है। कथनी और करनी में बड़ा भारी अन्तर है)॥ ४ ॥ जब तक अपने हृदय में आत्म-ज्ञान का प्रकाश नहीं हुआ और विषयों की आशा मनमें बनी रही, तब तक, हे तुलसीदास ! यह जीव संसारी योनियों में भटकता ही फिरेगा, सपने में भी इसे सुख नहीं मिलेगा ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'वाक्य ज्ञान......कोई'—इस पर कबीरदासजी कहते हैं—

'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥
भीतर तो भेद्यो नहीं, बाहर कथै अनेक।
जोपै भीतर लखि परै, भीतर बाहर एक॥'

(२) इस पद में भी गुसाईंजी ने भगवत्कृपा को प्रधानता दी है। यद्यपि आत्मज्ञान और विषय-त्याग को भी मायानाश का साधन बताया है, पर भगवत्कृपा को कदाचित् वह स्थान दिया गया है कि जिसके प्रभाव से उपर्युक्त दोनों साधन अनायास प्राप्त हो सकते हैं।

(१२४)

जो निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख संसय सोक अपारा ॥ १ ॥
सत्रु-मित्र-मध्यस्थ तीनि ये, मन कीन्हें बरिआई।
त्यागन गहन उपेच्छनीय, अहि हाटक तृन की नाईं ॥ २ ॥
असन,बसन, पसु, बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग नरक चर अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे ॥ ३ ॥
बिटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये ॥ ४ ॥
रघुपति-भक्ति-बारि-छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—संसृति = संसार। मध्यस्थ = उदासीन, न मित्र ही न शत्रु ही। बरिआई = ज़बरदस्ती। उपेच्छनीय = उदासीन। हाटक = स्वर्ण। पुतरिका =

पुत्रिका, पुतली, मूर्ति। छालित = धोया हुआ, स्वच्छ। चिद = (चिद्) चैतन्य।

भावार्थ—यदि यह मन अपने विकारों को छोड़ दे, तो फिर भेद-भाव से उत्पन्न संसारी दुःख, भ्रम और बड़ा भारी शोक किसलिये हो? भाव यह है कि, जितने सुख-दुःख, संकल्प-विकल्प, शोक-सन्ताप आदि जीव को हुआ करते हैं, वे सब मन के बदौलत होते हैं। मन शान्त हो जाने पर यह सब द्वन्द्व भी छूट जायँगे ॥१। शत्रु, मित्र और उदासीन इन तीनों को हठपूर्वक मन ने ही मान रखा, (वैसे, वास्तव में, न कोई शत्रु है, न मित्र और न उदासीन) शत्रु को सांप के समान त्याग देना चाहिये, मित्र को सुवर्ण की तरह ग्रहण करना चाहिए, और उदासीन की तिनकेकी नाईं उपेक्षा कर देनी चाहिए, उसकी ओर कुछ ध्यान ही न देना चाहिये, यह सब मन की ही करतूत है ॥ २ ॥ जैसे मणि के बीच में भोजन, वस्त्र, पशु और अनेक प्रकार की चीज़ें—सभी कुछ रहता है वैसे ही इस मन में स्वर्ग, नर्क जड़, चैतन्य और बहुत से लोक संनिहित हैं। इसका भाव यह है कि, जैसे किसी के हाथ में मणि है, वह उसे बेंच कर चाहे जो ख़रीद सकता है। उसी प्रकार इस मनरूपी मणि के प्रताप से यह जीव स्वर्ग-नर्क तथा अन्यान्य लोकों में भी जा सकता है। यदि अच्छा कार्य करेगा, तो स्वर्गादि का लाभ होगा और जो बुरे कार्यों की ओर प्रवृत्ति करायगा, तो नर्क है ही। अतएव सिद्ध हुआ कि यावत् पदार्थों का भाण्डार यह मन ही है ॥ ३ ॥ जैसे पेड़ अथवा काठ के बीच में पुतली और सूत में वस्त्र, बिना बनाये ही, पहले से विद्यमान् रहते हैं, उसी प्रकार इस मन में समय समय पर अनेक शरीर, जो कि उसमें लीन रहते हैं, व्यक्त हो जाते हैं। सारांश यह है कि. मनस्कामनाएँ ही जन्मादि की मुख्य कारण हैं। जैसी इच्छा होगी वैसा शरीर धारण करना पड़ेगा। इसी मन के प्रभाव से मनुष्य देवता हो सकता है, और इसी के कारण शूकर आदि। (मन-महाराज की लीला अपरम्पार है) ॥ ४ ॥ रघुनाथजी की भक्ति के जल से जब चित्त धुल कर निर्मल हो जायगा, अन्तःकरण से विषय-प्रवृत्ति हट जायगी, तब बिना किसी परिश्रम के ही सब कुछ (क्या सत् है और क्या असत्) दृष्टिगोचर हो जायगा, विवेक प्राप्त हो जायगा। किन्तु हे तुलसीदास! तू चैतन्य आनन्द को, अखण्ड आत्मानन्द को समझते-समझते ही समझ सकेगा। क्रम क्रम से वह आनन्द प्राप्त होगा, सहज ही नहीं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'द्वैत'—राग और द्वेष; अनुकूल और प्रतिकूल संवेदन ।

(२) 'सत्रु......तैसे'—यहां क्रमालंकार है । जहां दो तीन या और भी अधिक वस्तुओं का जिस जिस क्रम से पहले वर्णन किया जाय, उसी क्रमसे उनका वर्णन अन्त तक निबाहा जाय, वहां क्रम अलंकार होता है । कहा भी है—

'क्रम सों कहि पहले कछू, क्रम तें अर्थ मिलाय ।
यों हीं और निबाहिये, क्रम भूषन सु कहाय ॥'

यहां, यह क्रम है —

१—शत्रु	२—मित्र	३—मध्यस्थ
१—त्यागन	२—गहन	३—उपेक्षनीय
१—अहि	२—हाटक	३—तृन

(३) 'नाना तनु'—विविध योनियों के अतिरिक्त इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि मन स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण चारों शरीरों में किसी न किसी रूप में गुप्त रहता है, यह पिंड नहीं छोड़ता है ।

(४) 'बूझत बूझत बूझै'—पहले कर्मकाण्ड आदि साधनों द्वारा शरीर शुद्ध किया जायगा । फिर योग द्वारा मनःशुद्धि होगी, तब ज्ञान का उदय होगा । ज्ञानोपरान्त भक्ति का साम्राज्य आवेगा, तब कहीं चैतन्य आनन्द प्राप्त होने पर सद्विवेक का लाभ होगा । भगवान् श्रीकृष्ण ने, गीता में, कहा है—

'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परांगतिम् ।

(१२५)

मैं केहि कहौं विपति अति भारी । श्री रघुबीर धीर हितकारी ॥ १ ॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा । तहँ बसे आइ बहु चोरा ॥ २ ॥
अति कठिन करहिं बरजोरा । मानहिँ नहि बिनय निहोरा ॥ ३ ॥
तम, मोह लोभ, अहँकारा । मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा ॥ ४ ॥
अति करहिं उपद्रव नाथा । मरदहिं मोहि जानि अनाथा ॥ ५ ॥
मैं एक, अमित बटपारा । कोउ सुनै न मोर पुकारा ॥ ६ ॥
भागेहु नहिं नाथ, उबारा । रघुनायक, करहु सँभारा ॥ ७ ॥
कह तुलसिदास सुनु रामा । लूटहिं तसकर तव धामा ॥ ८ ॥
चिन्ता यह मोहिं अपारा । अपजस नहिं होइ तुम्हारा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—बरजोरा = ज़बरदस्ती, हठ। तम = अज्ञान। बोधरिपु = ज्ञान का शत्रु। मारा = मार, कामदेव। बटपार = डाकू। सँभार = रक्षा। तरकस = चोर।

भावार्थ—मैं तुम्हें छोड़ कर, हे रघुनाथजी! और किसे अपनी दारुण विपत्ति सुनाऊं? क्योंकि आपही भलाई करने में धीर हैं॥ १॥ हे नाथ! मेरे हृदय में, तुम्हारा निवास-स्थान है। अब उसमें बहुत से चोर आकर रहने लगे हैं, अर्थात् मेरे हृदय में जो तुम्हारा मन्दिर है, चोरों ने उससें अड्डा जमा लिया है। अब तुम कहां रहोगे?॥ २॥ यह लोग बड़े ही निर्दय हैं सदा ज़बरदस्ती करते रहते हैं। न तो विनती ही मानते हैं और न कृतज्ञता ही। ऐसे कठोर हृदयवाले हैं॥ ३॥ अज्ञान, मोह, लोभ, अहंकार, मद, क्रोध और ज्ञान का शत्रु काम, यही वे चोर हैं,॥ ४॥ हे नाथ! यह सब बड़ा ही ऊधम कर रहे हैं, मुझे अनाथ जान कर कुचले डालते हैं अर्थात् उन लोगों ने यह समझ लिया है कि मेरा कोई धनी-धोरी नहीं है और ऐसा अवसर पाकर जितना कि उन से बनता है, उतना मुझे सताते हैं॥ ५॥ मैं एक हूं और यह उपद्रवी चोर बहुत से हैं। कोई मेरी पुकार तक नहीं सुनता (जिसे पुकारता हूँ, वही कानों में तेल डाल लेता है। कदाचित डरता हो कि कहीं यह हमारा भी घर न लूट ले जाँय।)॥ ६॥ हे नाथ! यदि भागूं, तब भी इनसे बचना कठिन है, क्योंकि जहां जहां जाऊंगा, वहां वहां यह भी खदेड़ेंगे। अब हे रघुनाथजी! आप ही इनसे मेरी रक्षा कीजिए॥ ७॥ तुलसीदास फिर भी कहता है कि इसमें मेरा कुछ भी नहीं जाता, तुम्हारा ही घर चोर लूट रहे हैं। भाव यह है कि, यदि यह हृदय इन चोरों के अधिकार में आ जायगा, तो फिर आप कहां रहेंगे?॥ ८॥ मुझे तो सिर्फ़ यही सोच है कि कहीं तुम्हारी बदनामी न हो (कि देखो, इतने बड़े राजा-महाराजा का घर चोरों ने लूट लिया! इसलिये, शीघ्रही इन दुष्टों को हटा कर अपने मन्दिर में निवास कीजिए।) भाव यह है कि, काम-क्रोध आदि को दूर कर मेरे हृदय में आप निवास कीजिए॥ ९॥

टिप्पणी—(१) 'तम मोह......मारा'—श्रीशंकराचार्य जी ने भी कहा है—

'कामः क्रोधश्च लोभश्च, देहे तिष्ठन्ति तस्कराः।

ज्ञान रत्नापहाराय तस्माज्जाग्रत जाग्रत॥'

(२) 'बोध-रिपु'—श्रीपण्डित रामेश्वर भट्टजी ने बोधरिपु का अर्थ अज्ञान लिखा है, किन्तु 'तम' शब्द पहले ही आ गया है, जिस का अर्थ अज्ञान है। यहां 'बोध–रिपु' मार का विशेषण है, क्योंकि विशेष रूपसे काम ही ज्ञान का नाशकर्त्ता है।

(३) 'लुटहिं'—क्या लूट रहे हैं ? वैराग्य, विवेक, ज्ञान, संतोष, समता, दया, भक्ति आदि सत् रत्न।

(४) कबीरदासजी भी इस लूट-मार पर लिख गये हैं—

'तोरि गठरी में लागे चोर, बटोहिया का रे सोवै।
पांच पचीस तीन हैं चोरवा, यह सब कीन्हा सोर॥
जाग सबेरा बाट अनेरा, फिर नहिं लागै जोर।
भव सागर इक नदी बहत है, बिन उतरे जाव बोर॥
कहैं कबीर सुनो भाइ साधो, जागत कीजै भोर।'

(१२६)

मन मेरे मानैं सिख मेरी। जो निज भक्ति चहै हरि केरी॥१॥
उर आनहिं प्रभु-कृत हित जेते। सेवहि तजे अपनपौ चेते॥२॥
दुख-सुख अरु अपमान-बड़ाई। सब सम लेखहि बिपति बिहाई॥३॥
सुनु सठ काल-ग्रसित यह देही। जनि तेहि लागि बिदूषहि केही॥४॥
तुलसिदास बिनु असि मति आये। मिलहिं न राम कपट लौ*लाये॥५॥

शब्दार्थ—कृत=किये हुए। अपनपौ=अहंकार। बिदूषहि=निन्दा कर।

भावार्थ–हे मेरे मन ! मेरा उपदेश मान ले, यदि तू अपने में भगवान् की भक्ति चाहता है, अर्थात् यदि तुझे भगवद्भक्ति प्राप्त कर पवित्र बनना है तो मेरी सीख मान कर अपने सारे विकार छोड़ दे॥१॥ पहले तो, प्रभु ने, भगवान् ने तेरे साथ जो जो भलाई की हो, उसका हृदय में स्मरण कर, उसके लिये कृतज्ञता प्रकट कर। फिर अहंकार छोड़ कर, सावधानी से, उनकी टहल कर। भाव यह है कि यदि तू प्रमादवश सेवा भी करेगा, तो उसका कुछ फल न होगा, सारा किया-कराया मिट्टी में मिल जायगा॥२॥ सुख, दुःख, मान, अपमान

*पाठान्तर 'लय'।

सब को एकसा समझ । इसी समता से तेरी विपत्ति जायगी; अर्थात् राग-द्वेष छोड़ दे, क्योंकि यही आनन्द का प्रतिरोधक है ॥३॥ अरे दुष्ट! सुन, यह शरीर काल-कलेवा है, न जाने, कब मौत इसे अपने चंगुल में फँसा ले, इसलिये इस (क्षणभगुर) शरीर के लिये किसी की निन्दा मत कर ॥४॥ हे तुलसीदास! जबतक ऐसी बुद्धि, ऐसा विचार प्राप्त नहीं हुआ, तबतक रामजी मिलने के नहीं, क्योंकि वह कपटपूर्वक प्रेम करने से प्राप्त नहीं होते, सच्ची लगन से मिलते हैं ॥५॥

टिप्पणी (१) दुख सुख ····· 'बिहाई'—गीता में यह समभाव विस्तार-पूर्वक लिखा गया है—

'यो न हृष्यन्ति न द्वेष्टि, न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभ-परित्यागी, भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥
समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्ण सुख दुःखेषु, समः संग विवर्जितः ॥
तुल्य निन्दास्तुतिमौनी, संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥'

(२) 'कालग्रसित'—कबीरदासजी कहते हैं—

'माली आवत देखिकै, कलियां करें पुकार ।
फूली फूली चुनि लईं, काल्ह हमारी बार ॥'

(३) 'कपट लौ लाये'—'मुख में राम राम, बगल में कसाई के काम'—इस प्रकार भगवद्दर्शन नहीं होते हैं । परमात्म प्राप्ति सच्चे हृदयवालों को होती है ।

(१२७)

मैं जानी हरिपद-रति नाहीं । सपनेहुँ नहिं बिराग मन माहीं ॥१॥
जो रघुबीर-चरन अनुरागे । तिन्ह सब भोग रोग सम त्यागे ॥२॥
काम-भुजंग डसत जब जाही । बिषय नींब कटु लगत न ताही ॥३॥
असमंजस अस हृदय बिचारी । बढ़त सोच नित नूतन भारी ॥४॥
जब कब राम कृपा दुख जाई । तुलसिदास नहिं आन उपाई ॥५॥

शब्दार्थ—भुअंग=भुजंग, सांप । असमंजस=दुबिधा ।

भावार्थ—मैंने समझ लिया कि रघुनाथजी के चरणों में मेरा प्रेम नहीं है, क्योंकि सपने में भी मेरे मन में वैराग्य नहीं है, अर्थात् जब संसार से विरक्ति नहीं हुई, तब परमेश्वर में अनुरक्ति कैसे होगी ॥१॥ जिन्होंने श्रीरामचन्द्रजी के चरणों से प्रीति जोड़ी है, उन्होंने सारे भोग-विलासों को रोग की नाईं छोड़ दिया है ॥२॥ जब जिसे कामरूपी साँप डँस लेता है तब उसे विषयरूपी नीम कड़ुवी नहीं लगती। भाव यह है कि, जिसे साँप काटता है, उसे नीम खिलाई जाती है। यदि सांप का विष चढ़ आया है, तो नीम कड़ुवी न लगेगी और जो नहीं चढ़ा है, तो कड़ुवी मालूम होगी। इसी प्रकार जब सुन्दर कामिनी के रूप-लावण्य पर मनुष्य मोहित हो जाता है, तब उसे विषय-प्रवृत्ति अरुचिकर नहीं लगती, निश्चयपूर्वक उसके सर्वाङ्ग में काम-विष पैठ जाता है और फिर वह किसी प्रकार नहीं बच सकता ॥३॥ ऐसा हृदय में विचार कर सदा यही दुविधा मन में रहा करती है कि क्या करूं, क्या न करूं ! भाव, राम से प्रेम करूं या काम से ? इस दुविधा के मारे दिन दूना रात चौगुना सोच बढ़ता जाता है ॥४॥ हे तुलसीदास ! तुझे और तो कोई उपाय नहीं आता, बस, जब कभी श्रीरामजी कृपा कर देंगे तभी यह दुःख दूर होगा, अन्यथा नहीं ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'मैं जानी······मन माहीं'—माया और भक्ति एक साथ नहीं रह सकती है। कहा भी है—

'जहां राम तहँ काम नहिं, जहां काम नहिं राम।
तुलसी कबहूं होत नहिं, रवि रजनी इक ठाम ॥'

कविवर रहीम भी लिख गये हैं—

'जिन नैनन प्रीतम बसे, परछबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाय ॥'

(२) 'जे रघुवीर······त्यागे'—श्रीभरतजी के संबंध में रामचरितमानस में गुसाईंजी ने क्या खूब लिखा है—

तेहि पुर बसत भरत बिनुरागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥
रमा-विलास राम-अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

(३) 'असमंजस'—दुविधा बुरी बला है क्योंकि—

'दुबिधा में दोऊ गये, माया मिली न राम।'
'दो में एकौ तौ न भई। ना हरि भजे, न गृह सुख पाये, ऐसेहि आयु गई॥'

(४) "दुविधा का नाश 'रामकृपा' से होगा"—यह सिद्धान्त है।

(१२८)

सुमिरु सनेह-सहित सीतापति। रामचरन तजि नहिंन आनि गति ॥१॥
जप-तप-तीरथ-जोग-समाधी। कलिमति-विकल, न कछु निरुपाधी ॥२॥
करतहुं सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं ॥३॥
हरति एक अघ-असुर-जालिका। तुलसिदास प्रभु-कृपा-कालिका ॥४॥

भावार्थ—अरे भाई! प्रेम के साथ श्रीजानकी-वल्लभ रघुनाथजी का स्मरण कर। क्योंकि श्रीरामचंद्रजी के चरणों को छोड़ कर इस जीव की अन्यथा गति नहीं है, और किसी साधन से यह मुक्त नहीं हो सकता ॥१॥ जप, तप तीर्थ, योगाभ्यास, समाधि आदि सब कलियुग के मारे व्याकुल हो रहे हैं। कोई भी साधन निर्विघ्न अथवा बाधारहित नहीं हैं, अर्थात् किसी के साथ अहंकार लगा है तो किसी के साथ संयम की कैद या धन का अभाव। इधर सिद्धियाँ और लोकमान्यता पतन कर रही हैं ॥२॥ पुण्य कमाते हुए भी पापों का नाश नहीं होता। रक्तबीज राक्षस के समान क्षण-प्रतिक्षण बढ़ते ही जा रहे हैं। भाव यह है कि, एक पाप के नाश का जब तक उपाय किया तबतक दस नये पाप आगे खड़े हो गये ॥३॥ हे तुलसीदास! पाप-रूपी राक्षसों के समूह को नाश करनेवाली केवल श्रीरघुनाथजी की कृपारूपी काली है, भगवत्कृपा से ही पापपुंज नष्ट हो सकेगा, अन्यथा नहीं ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'रक्त बीज'—यह एक दैत्य था। युद्ध में महाकाली जब इस पर प्रहार करती थीं, तब इसके एक बूँद रक्त के गिरने से सैकड़ों नये राक्षस उत्पन्न हो जाते थे। अंत में हैरान हो कर भगवती कालिका ने अपनी इतनी लम्बी जीभ बढ़ाई कि जितना रक्त गिरे, वह सब चाट जायँ। इस युक्ति से नवीन राक्षसों की उत्पत्ति का नाश कर उन्होंने रक्तबीज का वध किया। दुर्गा-सप्तशती में यह कथा विस्तारपूर्वक दी गई है।

(२) "पापों का नाश भगवत्कृपा-साध्य है"—यह सिद्धान्त है।

(१२६)

रुचिर रसना तू राम राम* क्यों न रटत ।
सुमिरत सुख सुकृत बढ़त अघ असंगल घटत ॥१॥
बिनु स्रम कलि-कलुप-जाल कटु कराल कटत ।
दिनकर के उदय जैसे तिमिर-तोम फटत ॥२॥
जोग जाग जप बिराग तप सुतीर्थ अटत ।
बाँधिबे को भव-गयन्द रेनु कि रजु बटत ॥३॥
परिहरि सुर-मनि सुनाम गुंजा लखि लटत ।
लालच लघु तेरो लखि तुलसि तोहि हटत ॥४॥

शब्दार्थ—सुकृत=पुण्य । तिमिर-तोम=अंधकार का समूह । अटत=फिरता है । रजु=रस्सी । सुरमनि=चिंतामणि । गुंजा=घुँघची । लटत=लोभ करता है ।

भावार्थ—हे सुन्दर जीभ ! तू राम-राम क्यों नहीं रटती ? जिस राम-नाम के स्मरण से आनन्द और पुण्य बढ़ते हैं तथा पाप और अनिष्ट कम होते हैं ॥१॥ बिना ही परिश्रम के, जिस राम-नाम-स्मरण से कलियुग के पाप-पुंज, जो कटु और दारुण हैं, इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय से अंधकार का समूह छिन्न-भिन्न हो जाता है ॥२॥ तू योग, यज्ञ, जप, तप, और वैराग्य करता है, तीर्थों में भी घूमता फिरता है, पर यह सब साधन ऐसे हैं, जैसे कोई संसार-रूपी गजेन्द्र के बाँधने के अर्थ धूल के कणों की रस्सी बटता हो; अर्थात् जैसे धूल की रस्सी से हाथी का बांधना असंभव है, वैसेही इन सब साधनों से संसार पार कर जाना असम्भव है ॥३॥ चिंतामणि को छोड़ कर तू, घुंघची पर लार टपकाता है । राम-नाम छोड़ कर विषय पर चित्त लगाता है, और इसी कारण से तेरा यह तुच्छ लोभ देखकर तुलसी तुझसे किनारा काट रहा है, तुझ से अलग हो रहा है ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'रुचिर······रटत'—श्रीमान् भट्टजी ने इसका इस प्रकार अर्थ किया है—'तू सुन्दर जीभ से राम-राम क्यों नहीं रटता ।' पर यहां रसना को संबोधित कर कहा गया जान पड़ता है ।

*पाठान्तर 'राम राम राम ।'

(२) वही जीभ सार्थक है जो राम-नाम स्मरण करती है। सूरदासजी भी कह गये हैं—

'सोइ रसना जो राम गुन गावै।' इसीसे
'रसना, क्यों न जुगल- रस पावै।' तथा,
'रसना, युगल निधि-रस बोल।'

(१३०)

राम राम, राम राम, राम राम, जपत।
मंगल मुद उदित होत कलि-मल-छल छपत॥ १॥
कहु के लहे फल रसाल, बबुर बीज बपत।
हारहि जनि जनम जाय गाल गूल गपत॥ २॥
काल करम गुन सुभाउ सबके सीस तपत।
राम-नाम-महिमा की चरचा चलें चपत॥ ३॥
साधन बिनु सिद्धि सकल विकल लोग लपत।
कलिजुग बर बनिज बिपुल नाम-नगर खपत॥ ४॥
नाम सों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत।
पावन किये रावन-रिपु तुलसिहु से अपत॥ ५॥

शब्दार्थ—छपत = छिप जाते हैं, नाश हो जाते हैं। के=किसने। बपत= बोने से। जाय = व्यर्थ। गालगूल = वृथालाप, अनर्गल बातें। गपत = गप्पें हांकने से। चपत = दबता है। खपत = खप जाता है, बिक जाता है। अपत= अपवित्र, पतित।

भावार्थ—राम-नाम-स्मरण से कल्याण और आनन्द का उदय अर्थात् लाभ होता है और कलियुग के पाप तथा छल-छिद्र, डर के मारे, छिप जाते हैं, सामना नहीं कर सकते॥ १॥ कहो तो, बबूल के बीज बोकर किसने आमके फल पाये? भाव यह है कि, दुष्कर्म कर-कर किसने सुख पाया? विषय करके किसे ब्रह्मानन्द मिला? किसी को नहीं। अरे! वृथा अनर्गल बातें बक-बक कर जन्म नष्ट मत कर। सारांश, सारा गुल-गपाड़ा छोड़ कर राम-नाम जप। इसी में श्रेय है॥ २॥ काल, कर्म, गुण (सत्व, रज और तम) और प्रकृति यह सब सभी के मस्तकों को जला रहे हैं, दुःख दे रहे हैं, पर हां, रामनाम का

महत्व जब यह सुनते हैं, तब चप जाते हैं, दबक जाते हैं, फिर कुछ वश नहीं चलता है ॥ ३ ॥ सब लोग, घबराए से, बिना ही साधनों के सिद्धियाँ लपका चाहते हैं, टस से मस न करने पर भी बड़े बड़े फल चाहते हैं ! भला यह सम्भव है ? हां, कलियुग का जितना कुछ माल है, बनिज-ब्यौपार है, वह सब नाम-नगर में खप जायगा; अर्थात् कलियुग में किये गये सारे पाप राम-नाम के प्रताप से नष्ट हो जायँगे, एक भी शेष न रहेगा ॥ ४ ॥ नाम में विश्वास और प्रेम करने से हृदय शान्त हो जाता है, सारी जलन बुझ जाती है। क्योंकि रावणारि रघुनाथजी के नाम से तुलसी-सरीखे अपवित्र, पतित, भी पवित्र हो गये हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) श्रीवैजनाथजी ने, अपनी टीका में, छः बार 'राम' शब्द आने का तीन प्रकार से कारण लिखा है—

१—राम-तारक मंत्र में ॐकार की षट् मात्राएं वर्तमान हैं' अतः 'प्रणव राम में सन्निहित है,' यह दिखाया गया है।

२—शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और मैथुन इन छहों विषयों का राम-नाम नाशक है। अतः षट्बार स्मरण किया गया है।

३—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, इन छहों शत्रुओं पर विजय-लाभ करने के लिये षट्बार स्मरण किया गया है।

(२) 'पावन......अपत'—श्रीभट्टजी ने इसका यह अर्थ किया है कि—'रामचन्द्र जी ने रावण सरीखे शत्रु और तुलसीदास-से पापी को भी पवित्र कर दिया।' यह भी ग्राह्य है।

(१३१)

पावन प्रेम रामचरनकमल जनम लाहु परम।
रामनाम लेत होत, सुलभ सकल धरम ॥ १ ॥
जोग मख विवेक बिरति, वेद-विदित करम।
करिबे कहँ कटु कठोर, सुनत मधुर नरम ॥ २ ॥
तुलसी सुनि, जानि* बूझि, भूलहि जनि भरम।
तेहि प्रभु की तू सरन होहि, जेहि सबकी सरम† ॥ ३ ॥

---

*पाठान्तर 'मान'। †पाठान्तर 'जेहि प्रभु को होहि जाहि सबकी को सरम'।

शब्दार्थ—लाहु = लाभ । मख = यज्ञ । नरम = कोमल ।

भावार्थ—श्रीरामचन्द्रजी के चरणारविन्दों में विशुद्ध प्रेम का होना जीवन का परम फल है । राम-नाम-स्मरण करते ही सारे धर्म सुलभ हो जाते हैं, अर्थात् नाम-स्मरण यावत् धर्मों के अनुष्ठान करने के बराबर है ॥ १ ॥ वैसे तो, योग, यज्ञ, विवेक, वैराग्य आदि अनेक कर्म-धर्म वेदों में प्रकट हैं, किन्तु वे सब सुनने में ही मीठे और कोमल जान पड़ते हैं, करने में तो बड़े ही कटु और कठोर हैं; अर्थात् फल-श्रुति सुन कर जी चाहता है कि इनका अनुष्ठान करना चाहिए, किन्तु जब करने बैठते हैं, तब पहाड़ के समान भारी कठिन दिखाई देते हैं, मन ही नहीं लगता, करें तो कैसे ? ॥ २ ॥ इसलिये हे तुलसीदास ! सुन और जान बूझ कर संशय में मत पड़, भुलावे में न आ । तू तो उसी प्रभु की शरण में जा, जिसे सब की लाज है, जिसके हाथ में सबका बनना बिगड़ना है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'राम-नाम......धरम' क्योंकि,

'कलिजुग केवल हरिगुन गाहा । गावत नर पावहिं भव-थाहा ॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना । एक अधार रामगुन गाना ॥
सब भरोस तजि जो भजि रामहिं । प्रभु समेत गाव गुन-ग्रामहिं ॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं । नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥'

(२) 'तेहि प्रभु की......सरम'—सब छोड़-छाड़ कर परमात्मा की शरण में जाओ, क्योंकि गीता में स्वयं श्रीमुख से उन्होंने कहा है—

'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥'

(१३२)

राम से प्रीतम की प्रीति-रहित जीव जाय जियत ।
जेहि सुख सुख मानि लेत, सुख सो समुझ कियत ॥ १ ॥
जहँ जहँ जेहि जोनि जनम महि पताल बियत ।
तहँ तहँ तू बिषय-सुखहिं, चहत लहत नियत ॥ २ ॥
कत बिमोह लट्यो फट्यो, गगन मगन सियत ।

तुलसी प्रभु-सुजस गाइ, क्यों न सुधा पियत ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—जाय = व्यर्थ। कियत = कितना। वियत = आकाश। नियत = प्रारब्ध। लट्यो = सना हुआ।

भावार्थ—श्रीराम के समान प्रीतम से प्रेम न करके यह जीव व्यर्थ ही जीता है, जिसकी लगन प्यारे राम से नहीं, उसका जीना-न जीना बराबर है। अरे! जिसे तू सुख मान रहा है, ज़रा समझ तो, वह कितना सुख है? भाव यह है कि, संसार में जितने कुछ विषय-सुख हैं, वे क्षणस्थायी हैं, उनका परिणाम महादुःखदायक है ॥ १ ॥ जहां जहां, जिस जिस योनि में—पृथ्वी, पाताल और आकाश में—तूने जन्म लिया, तहां तहां तूने विषय-सुख की कामना की और वही प्रारब्ध-वश तुझे मिला भी (क्योंकि जैसी मन्शा, तैसी दशा) ॥२॥ अब तू अज्ञान में फँस कर, मोह-ममता में सना हुआ, फटे आकाश के सीने में क्यों फूला नहीं समाता? भाव यह है कि, जैसे आकाश का सीना ख-पुष्पवत् अर्थात् असम्भव है, उसी प्रकार संसारी भोग-विलासों में आनन्द की आशा करना पागलपन है। हे तुलसी! यदि तुझे आनन्द ही की इच्छा है, तो प्रभु रामचन्द्रजी का कीर्तन करके पीयूष-पान क्यों नहीं करता? ॥ ३ ॥

टिप्पणी-(१) 'प्रभु सुजस गाइ......पियत'—भगवत्कीर्तन अमृत-रूप है। उसके पान से जीव अमर हो जाता है। सूरदासजी भी इसी सुधा-रस के लिये लालायित हो रहे हैं। देखिये—

'सुआ, चलु ता बन को रस लीजै।
जो बन कृष्ण-नाम अमरत रस, स्रवन-पात्र भरि पीजै ॥'

(१३३)

तोसो हौं फिरि फिरि हित-प्रिय पुनीत सत्य वचन कहत।
सुनि मन, गुनि समुझि क्यों न सुमग सुमग गहत ॥ १ ॥
छोटो बड़ो खोटो खरो जग जो जहँ रहत।
अपने अपने को भलो कहु को न चहत* ॥ २ ॥
बिधि लगि लघु कीट अवधि सुख सुखी दुख दहत।
पसु लौं पसुपाल ईस बाँधत छोरत नहत ॥ ३ ॥

*पाठांतर कहु सो को जो न चहत।

विषय मुद निहार भार सिर को काँधे ज्यों वहत ।
यौंही जिय जानि मानि सठ तू साँसति सहत ॥ ४ ॥
पायो केहि घृत विचार हरिन—वारि महत ।
तुलसी तकु ताहि सरन, जाते सब लहत ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—लगि = से, आरंभ करके । अवधि = तक । लौं = समान । पसुपाल = ग्वाल । नहत = जोतता है । वहत = ढोता है । साँसति = यातना । हरिनवारि = मृग-तृष्णा । महत = मथता है । लहत = लाभ ।

भावार्थ—अरे जीव ! मैं तुझ से बार बार हितकारी, मधुर, वा पवित्र और सत्य वचन कहता हूँ । सुन, मन में विचार कर और समझ, तू सरल और सुन्दर मार्ग पर क्यों नहीं चलता, अथवा, सुन समझ कर भी तू सरल मार्ग क्यों नहीं पकड़ता ? ॥ १ ॥ छोटा-बड़ा, खोटा-खारा अर्थात् बुरा-भला, जो जहां संसार में रहता है, कहो तो, उनमें ऐसा कौन होगा, जो अपना भला न चाहता हो, अर्थात् सभी अपना अपना भला चाहते हैं। तात्पर्य यह है कि रामजी भी अपने जनों का भला चाहते हैं ॥ २ ॥ ब्रह्मा से लगा कर छोटे छोटे कीड़े तक सुख से सुखी होते हैं और दुःख से जलते हैं, अर्थात् सुख-दुःख सभी प्राणियों को व्यापता है । और परमात्मा ग्वाले की नाईं जीवरूपी पशुओं को बांधता है, खोलता है और उन्हें जोतता है । (प्रवृत्ति-रूपी रस्सी से बांधता है, निवृत्ति से खोलता और कर्म-रूपी हल में जोत देता है) ॥ ३ ॥ विषयों के सुखों को देख । वह क्या हैं, मानो सिर के बोझ को कंधे पर रखना ! भाव यह है कि, जैसे कोई सिर पर के बोझ को कंधे पर रख कर, क्षण भर के लिये, सुख मान बैठता है, और फिर कंधे पर से, दर्द होने पर, सिर पर रख लेता है, इसी प्रकार तू एक विषय से हट कर दूसरे विषय में फँसता है और क्षणिक सुख को आनंद मान रहा है ! देख, इस विषयानंद में कोई चिरस्थायी आनंद नहीं है, केवल भ्रम है । इसी तरह मन में समझ कर मान जा । अरे शठ ! क्यों व्यर्थ कष्ट सह रहा है ॥ ४ ॥ तनिक विचार तो कर, मृग-जल मथ कर किसने घी पाया ? तात्पर्य यह है कि, जिस संसार की वस्तुतः अस्ति ही नहीं, उसमें सच्चा आनंद कैसे मिल सकता है ? (यदि तुझे आनंद ही चहिए तो) हे तुलसी ! उसी प्रभु की शरण में जा, जिससे सब प्रकार का लाभ प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'पसुनौं......नहत'—इसे यों भी कह सकते हैं कि—

'ईश्वरः सर्वभूतानान् हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वलोकानि यंत्रारूढ़ानि मायया' ॥ (गीता)
'उमा दारु योषित की नाईं । सबै नचावत राम गोसाईं' ॥

(२) 'जाते सब लहत' जिससे सब सुख पाते हैं—इसका ऐसा भी अर्थ हो सकता है

(१३४)

ताते हौं बार बार देव ! द्वार परि पुकार करत ।
आरति नति दीनता कहे प्रभु संकट हरत ॥ १ ॥
लोकपाल सोक-बिकल रावन-डर डरत ।
का सुनि सकुचे कृपालु नर-सरीर धरत ॥ २ ॥
कौसिक, मुनि-तीय, जनक-सोच-अनल जरत ।
साधन केहि सीतल भये, सो न समुझि परत ॥ ३ ॥
केवट खग सबरि सहज चरनकमल न रत ।
सनमुख तोहिं होत नाथ ! कुतरु सुफल फरत ॥ ४ ॥
बंधु-बैर कपि-बिभीषन गुरु गलानि गरत ।
सेवा केहि रीझि राम, किये सरिस भरत ॥ ५ ॥
सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत ।
ताको लिये राम, नाम सब को सुढर ढरत ॥ ६ ॥
जाने बिनु राम- रीति पचि पचि जग मरत ।
परिहरि छल सरन गये तुलसिहु से तरत ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—नतिं=नम्रहोकर; नम्रता । कौसिक=विश्वामित्र रत=अनुरक्त; लवलीन । गरत=गला जाता है । सुढर ढरत=भलीभांति कृपा करते हो । ढलना का अर्थ द्रवना या पिघलना अर्थात् कृपा करना है ।

भावार्थ—हे नाथ ! इसी से मैं तुम्हारे द्वार पर पड़ा हुआ बार बार पुकार कर कहता हूं, कि तुम दुःख, नम्रता और गरीबी के सुनते ही, हे प्रभो ! संकट हर लेते हो । अर्थात् तुम्हारा ऐसा स्वभाव देख कर ही बार बार कहने के लिये

मेरा साहस पड़ा है, नहीं तो न कहता ॥ १ ॥ जब रावण के भय के मारे इन्द्र, कुबेर आदि लोकपाल डर गये, तब हे कृपालु ! तुम्हें नर-देह धारण करने के लिये किस बात को सुन कर संकोच हुआ ? (यही दुःख, नम्रता और दीनता) भाव यह है कि, देवताओं की दीनता और नम्रता सुन कर ही तुम्हें मानव-लीला करनी पड़ी ॥ २ ॥ यह समझ में नहीं आता कि, जो विश्वामित्र, अहल्या और जनक चिंता की अग्नि में जले जा रहे थे, वे किस साधनसे शान्त हुए, किस उपाय से निश्चिन्त हुए ॥ ३ ॥ गुह निषाद, पक्षी (जटायु), शबरी आदि की लगन तुममें कुछ स्वभाव से ही नहीं था । किन्तु हे नाथ ! तुम्हारे सामने आते ही बुरे बुरे पेड़ों में भी अच्छे अच्छे फल फलने लगे ! भाव यह है कि, निषाद, शबरी आदि पापियों के हृदय में धर्म और भक्ति के फल फल उठे । तुम्हारी शरणागति का यह प्रभाव है ॥ ४ ॥ अपने अपने भाई के साथ शत्रुता करने से सुग्रीव और विभीषण बड़े भारी दुःख से गले जाते थे । हे राम जी ! तुमने उन्हें किस सेवा पर प्रसन्न हो कर भरतजी के समान मान लिया, उनमें और भरत में तनिक भी अंतर नहीं रखा ॥ ५ ॥ हनुमान्‌जी तुम्हारी सेवा करते करते तुम्हारे ही समान हो गये । हे भगवन् ! उनका (हनुमान् का) नाम लेते ही तुम सब पर भलीभांति प्रसन्न हो जाते हो, अर्थात् तुम्हारी प्रसन्नता के मुख्य साधक हनुमान्‌जी माने जाते हैं ॥ ६ ॥ हे नाथ ! बिना तुम्हारी रीति जाने संसार पच पच कर मर रहा है, अर्थात् यदि वह यह जान ले कि आप भक्त-वत्सल, दीनबंधु, दीनानाथ हैं, तो जप-तप आदि अनेक दुःसाध्य साधनों के फेर में वह क्यों पड़ने लगे ? कपटभाव त्याग कर तुलसी जैसे जीव भी तुम्हारी शरण में जाने से मुक्त हो जाते हैं,संसार-सागर पार कर जाते हैं ॥७॥

टिप्पणी—(१) 'कौसिक'—विश्वामित्र । महर्षि विश्वामित्रको यज्ञ करते समय, ताड़का, मारीच, सुबाहु आदि दैत्य बहुत तंग किया करते थे । हैरान होकर आप महाराज दशरथसे राम-लक्ष्मणको मांगकर ले आये । दोनों वीर भ्राताओंने, मुनिपुंगवसे शस्त्रविद्या सीख कर, समस्त राक्षसोंका वध कर डाला, और तब मुनिवर्य ने यज्ञ आदि अनुष्ठानोंको विधिवत्, निर्विघ्न, समाप्त किया ।

(२) 'खग'—जटायु, ४३ वें पदकी पांचवीं टिप्पणी देखिये ।

(३) 'मुनितीय'—अहिल्या, ४३ वें पदकी दूसरी टिप्पणी देखिये ।

(४) 'शबरी'—१०५ वें पदकी पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(५) 'साहब अनुहरत'—हनुमान्‌जी साक्षात् शम्भुरूप थे, और तत्वतः शिव और राममें कुछ अंतर नहीं है। यों भी वह भगवान्‌का तात्विक स्वरूप जान चुके थे, फिर उनमें अन्तर ही क्या रह सकता है, क्योंकि—

'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।' सिद्धान्त वाक्य है।

(६) इस पदमें, पुरुषार्थ-हीन होनेपर भी, भगवत् कृपासे जीव मुक्त हो जाता है, यह दिखाया गया है। इसमें 'परिहरि कुल सरन गये' सिद्धान्त वाक्य है।

राग सूहो बिलावल

(१३५)

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनिहूं सो तनु तोहि दियो ॥
दियो सुकुल जन्म सरीर सुन्दर, हेतु जो फल चार को।
जो पाइ पण्डित परमपद, पावत पुरारि मुरारि को ॥
यह भरतखण्ड समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपवल्ली चहति है विष फल फली ॥ १ ॥

❀ ❀ ❀ ❀

अजहूं समुझि चित दै सुनु परमारथ।
है हित सो जगहूँ जाहि ते स्वारथ ॥
स्वारथहि प्रिय स्वारथ सो का तैं कौन वेद बखानई।
देखु खल, अहि-खेल परिहरि, सो प्रभुहिं पहिचानई ॥
पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ, तिय तनय सेवक सखा।
प्रिय लगत जाके प्रेम सों, बिनु हेतु हित तैं नहिं लखा ॥ २ ॥

❀ ❀ ❀ ❀

दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है।
छलहिं छांड़ि सुमिरे छोह किये ही हैं ॥
किये छोह छाया कमल कर की भक्त पर भजतहि भजै।

जगदीस जीवन जीव को जो साज सब सब को सजै ॥

हरिहि हरिता, विधिहिं विधिता, सिवहि सिवता जो दई ।
सोइ जानकी पति मधुर मूरति, मोदमय मंगलमयी । ॥ ३ ॥

❀ ❀ ❀ ❀

ठाकुर अतिहि बड़ो, सील सरल सुठि ।
ध्यान अगम सिवहूँ भेट्यो केवट उठि ॥
भरि अंक भेट्यो सजल-नैन सनेह, सिथिल सरीर सो ।
सुर सिद्ध मुनि कवि कहत कोउ न प्रेम प्रिय रघुवीर सो ॥
खग सबरि निसिचर भालु कपि किये आपु ते वंदित बड़े ।
तापर तिन्ह कि सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचति गड़े ॥ ४ ॥

❀ ❀ ❀ ❀

स्वामी को सुभाव कह्यो सो जब उर आनिहैं ।
सोच सकल मिटिहैं, राम भलो मन मानिहैं ॥
भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै ।
ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै ॥
जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन-ग्राम रामहि धरि हिये ।
बिचरहि अवनि अवनीस चरन सरोज-मन-मधुकर किये ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अमर = देवता । पुरारि = शिव । मुरारि = विष्णु । अहि = साँप, यहां संसारी विषयों से तात्पर्य है । छोह = कृपा । सुठि = सुन्दर । ततकाल = (तत्काल) उसी समय । ग्राम = समूह । अवनि = पृथ्वी ।

भावार्थ—अरे ! जिन्होंने तुझे देवताओंसे भी दुर्लभ शरीर दिया है, उन प्रेम रूपी श्रीरामजी के साथ तूने प्रेम नहीं किया, उनसे लौ नहीं लगाई ! उन्होंने अच्छे वंशमें, ऊंचे कुलमें, तुझे जन्म दिया है, और सुन्दर शरीर भी दिया है, जो अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का कारण , अर्थात् जिसे पाकर तू ज्ञान द्वारा, चारो फल पा सकता है । जिसे पाकर ज्ञानी लोग शिवजी तथा विष्णु भगवान् का परमपद प्राप्त करते हैं, अथवा कैलाश और कुण्ठ पाते हैं ! फिर यह देश भारतवर्ष है, पास ही देव-नदी गंगाजी भी हैं । क्या ही सुन्दर स्थान है ! साथ ही सत्संग भी अच्छा है । किंतु अरे कायर ! तेरी कुबुद्धि रूपी कल्पना विषैले फल फला चाहती है ! मानो यह है कि, जिस

बुद्धि से तुझे धर्म, ज्ञान, भक्ति आदि साधन सिद्ध करना चाहिये थे, उससे तू संसारी विषयों को, जो विषरूप हैं, खोजता फिरता हैं ॥ १ ॥ अब भी समझ ले। मन लगाकर परमार्थ-विषय सुन। वह बात इस संसारमें श्रेयस्कर है और उससे अपना स्वार्थ भी सिद्ध होता है। यदि तुझे स्वार्थ ही अच्छा लगता है, अर्थात् परमार्थ विषय की ओर चित्त नहीं जाता; तो समझ तो, वह कौन है, जिससे स्वार्थ प्राप्त होगा, और जिसे वेद गाते हैं, जिसका वेद निरूपण करते हैं ? (श्रीरघुनाथजी से तात्पर्य है।) अरे दुष्ट ! देख सांप के साथ मत खेल, अर्थात् संसारी विषयोंमें मन न लगा, क्योंकि वह साँप की तरह तुझे डस लेंगे। तू तो उस स्वामी को पहिचान, उस पति के साथ लगन लगा, जिसके प्रेम के कारण पिता, माता, गुरु, स्वामी अपनी आत्मा पुत्र, सेवक, मित्र आदि सब प्रिय जान पड़ते हैं, उस निष्कारण स्नेह करनेवाले प्रभु को तू ने नहीं देखा! आश्चर्य है ॥२॥ वह हितकारी, स्नेही प्रभु दूर नहीं है। देख, वह तेरे हृदय में ही है। छल छोड़ कर उसका स्मरण तो कर। वह तुझ पर कृपा अवश्य करेगा। भाव यह है कि, परमात्मा हृदय में तो अवश्य है, किन्तु कपट का परदा पड़ा है, इसीसे उसका साक्षात्कार नहीं होता, परदा हटा नहीं, कि प्यारे का दीदार हुआ नहीं। वह कृपा करके अपने जनों पर कर-कमल की छाया किये रहता है, सदा उनकी रक्षा करता है। जो उसे भजता है, वह भी उसे भजता है। वह संसार भर का नाथ है। जीव का भी जीव है। जो सबके लिये सब तरह की सामग्री प्रस्तुत करता है, जिसने विष्णु को विष्णुत्व, ब्रह्मा को ब्रह्मत्व, और शिव का शिवत्व दिया, अर्थात् विष्णु को पालन-पोषण-शक्ति, ब्रह्मा को सृजन-शक्ति और शिव को संहार-शक्ति जिसने दी है, वह यही जानकी-वल्लभ रघुनाथजी की आनंद स्वरूप कल्याणमय सुन्दर मूर्ति है ॥३॥ यद्यपि वह बहुत बड़ा स्वामी है, लोकपालों का भी अधी-श्वर है, तथापि वह सुशील, सुन्दर और सरल भी बड़ा है। अरे ! जिसका ध्यान शिव को भी दुर्लभ है, उसने उठ कर निषाद को छाती से लगा लिया ! जब उसे अपने हृदय से लगाया, तब आंखों में आँसू भर आये, प्रेम के मारे शरीर शिथिल सा हो गया, प्रेम-पुलकित हो गये। तभी तो देवता, सिद्ध, मुनि और कवि कहते हैं कि, रघुनाथजी के समान कोई भी प्रेम-प्रिय नहीं है, जितना उन्हें प्रेम प्यारा लगता है उतना और किसी को नहीं लगता ! उन्होंने पक्षी (जटायु),

शबरी, राक्षस (विभीषण),रीछ (जाम्बवान् आदि) और बन्दरों (सुग्रीव प्रभृति) को अपने से भी अधिक वन्दनीय, पूज्य, बना लिया। (अब शील की ओर देखिये) इस पर भी जब उन लोगों की की हुई सेवा याद करते हैं, तब संकोच के मारे गड़े-से जाते हैं, कृतज्ञता प्रकाशित ही नहीं करते बनती। भाव यह है कि, मन ही मन कहते हैं कि हमने इन्हें कुछ भी नहीं दिया, हम इनसे उऋण नहीं हो सकते, सदा ऋणी ही रहेंगे ॥४॥ स्वामी रघुनाथजी का जो शील-स्वभाव मैंने अभी कहा है, उसे जब तू हृदय में लावेगा, उस पर मनन करेगा, तब तेरी सारी चिन्ताएँ दूर हो जायँगी, तू निश्चिन्त हो जायगा, और प्रभु रामचन्द्रजी भी प्रसन्न होंगे। अरे! वह तो इतने में ही प्रसन्न हो जायंगे कि जब तू हाथ जोड़ कर मस्तक झुकायेगा, प्रणाम करेगा। तुलसीदास! तू उसी क्षण जन्म लेने का फल पा जायगा, तेरा जीवन सार्थक हो जायगा। अर्थात् नर-शरीर धारण करने का परम फल यही है कि परमात्मा से भेंट हो जाय। राम-नाम का स्मरण कर, वन्दना कर, गुणावली का कीर्तन कर, और रघुनाथजी का हृदय में ध्यान धर। और जगदीश रामचंद्रजी के चरण-कमलों में अपने मन को भ्रमर के समान बसा कर पृथ्वी पर विचरण कर। तात्पर्य यह है कि, जब तू 'भगवदीय' हो जायगा तब तुझे संसार भर में कहीं भय न रहेगा, सर्वत्र निर्भय विचर सकेगा, क्योंकि तेरी दृष्टि में संसार हरिमय हो जायगा ॥५॥

टिप्पणी--(१) 'हेतु जो जल चार को'--कहा भी है,—

"साधनधाम, मोच्छ कर द्वारा।" (रामचरितमानस)

(२) 'भरत खंड'—भारतवर्ष कर्मभूमि है। सत्कर्मों का संपादन इस पवित्र भूमि पर जितना हो सकता है उतना अन्यत्र नहीं। क्योंकि यहां के कण-कण में आध्यात्मिकता, अहिंसा, शान्ति आदि सद्धर्मों की व्याप्ति है। गुसाईंजी के हृदय में स्वदेश-प्रेम का सजीव भाव था, यह इस पद से स्पष्ट हो जाता है। रामचरित-मानस में भी आपने भारतवर्षीय अयोध्या को स्वर्ग से भी बड़ा गिनाया है। देखिये, श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

'सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥
यद्यपि सब बैकुंठ बखाना। वेद पुरान बिदित जग जाना॥' (अन्यत्र)

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

(३) 'अहिखेल'—सँपेरा, यद्यपि गारुड़ी विद्या में बड़ा कुशल होता है, किन्तु कभी कभी वह भी धोखा खा जाता है। सांप उसे काट खाता है, और फिर उसकी एक भी नहीं चलती। इसी प्रकार संसार के व्यवहार में बड़े बड़े चतुर मनुष्य भी ऐसे ठगाये जाते हैं कि उन्हें फूट फूट कर रोना पड़ता है। कभी कभी बड़े बड़े बुद्धिमानों, ज्ञानियों और योगियों की भी बुद्धि मारी जाती है। कहा है—

'काजर की कोठरी में कैसहू सयानो जाय, काजर की एक रेख लागिहै पै लागिहै।'

(४) 'पितु मातु······लखा'—यदि आत्मा न हो तो किसे पिता-पुत्र आदि प्यारे लगें। कहीं शव को भी कुछ प्यारा लगता है? वास्तव में अपनी आत्मा ही प्यारी है, न पिता प्यारा है न पुत्र। और आत्मा, परमात्मा का अंश है, परमात्म-स्वरूप है। अतः सिद्ध हुआ कि सब प्रिय-अप्रिय वस्तु का मुख्य कारण परमात्मा है। ऐसा निरूपण बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है।

(५) 'छलहि छांड़ि'—भगवान् छल से सदा दूर रहते हैं। भगवान् तो सत्य स्वरूप हैं, और छल है विशुद्ध असत्य। भला अंधकार और सूर्य एक साथ रह सकते हैं?

(६) 'हरिहिं हरिता······मंगल-मई'—रामतापनीय उपनिषद् में इसका प्रमाण है—

'यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः ब्रह्माविष्णुरीश्वरो यः।
सर्ववेदात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमोनमः॥'

(७) 'केवट'—गुह निषाद; १०६ वें पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(८) 'प्रेम प्रिय'—राम-चरित-मानस में लिखा है—

'रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहिं जो जाननिहारा॥'
'यद्यपि हरि सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं भगवाना॥'

(९) 'खग'—जटायु, ४३ वें पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(१०) 'सबरि'—१०६ वें पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(११) 'विचरहिं······किये'—इस मस्तानी अवस्था का कबीरदासजी ने बड़ा ही सच्चा चित्र खींचा है। देखिये—

दरस दिवाना बावला अलमस्त फकीरा।
एक अकेला ह्वै रहा अस मत का धीरा॥

हिरदे में महबूब है, हरदम का प्याला।
पीवेगा कोइ जौहरी गुरु-मुख मतवाला॥
पियत पियाला प्रेमका सुधरे सब साथी।
आठ पहर झूमत रहै जस मैगल हाथी॥
बंधन काट मोह के बैठा निरसंका।
वाके नजर न आवता, क्या राजा क्या रंका॥
धरती तो आसन किया, तंबू असमाना।
चोला पहिरा खाक का रह पाक समाना॥
सेवक को सतगुरु मिले कछु रहि न तबाही।
कह कबीर निज घर चलौ जहँ काल न जाही॥'

धन्य है वह महाभाग जिसकी ऐसी मस्तानी रँगीली दशा है!

(१३६)

(१)

जिय जब तें हरि ते बिलगान्यो। तब तें देह-गेह निज जान्यो॥
माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो॥
पायो जो दारुन दुसह दुख सुख लेस सपनेहु नहिं मिल्यो।
भव-सूल सोग अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो॥
बहु जोनि जनम जरा बिपति मतिमंद हरि जान्यो नहीं।
श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़ बिचार लखि पायो कहीं॥१॥

(२)

आनँद-सिन्धुमध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥
मृग-भ्रम-वारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी॥
तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि अब आयो तहां॥
निरमल निरंजन निरविकार उदार सुख तैं परिहर्‌यो।
निहकाज राज बिहाइ नृप इव सपन कारागृह पर्‌यो॥२॥

(३)

तैं निज कर्म-डोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करनि गाँठि गहि दीन्हीं ॥
तातें परबस पर्यो अभागे। ता फल गरभ-बास-दुख आगे ॥
आगे अनेक समूह संसृति उदर गत जान्यो सोऊ।
सिर हेठ, ऊपर चरन, संकट बात नहिं पूछै कोऊ ॥
सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत सोवई*।
कोमल सरीर, गँभीर बेदन, सीस धुनि धुनि रोवई† ॥३॥

(४)

तू निज करम-जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो ॥
बहुबिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों। परम कृपालु ग्यान तोहि दीन्हों ॥
तोहि दियो ग्यान बिबेक जनम अनेक की तब सुधि भई।
तेहि ईस को हौं सरन जाकी विषम माया गुनमई ॥
जेहि किये जीव-निकाय बस रसहीन दिन दिन अति नई।
सो करौ बेगि सँभार श्रीपति विपति महँ जेहि मति दई ॥४॥

(५)

पुनि बहु बिधि गलानि जिय मानी। अब जग जाइ भजौं चक्रपानी ॥
ऐसेहि करि बिचार चुप साधी। प्रसव-पवन प्रेरेउ अपराधी ॥
प्रेरेउ जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यो।
सो ग्यान ध्यान बिराग अनुभव जातना पावक दह्यो ॥
अति खेद व्याकुल अल्प बल छिन एक बोलि न आवई।
तव तीव्र कष्ट न जान कोउ सब लोग हरषित गावई ॥५॥

(६)

बाल दसा जेते दुख पाये। अति असीम नहिं जाहिं गनाये ॥
छुधा व्याधि बाधा भइ भारी। बेदन नहिं जानै महतारी ॥
जननी न जानै पीर सो, केहि हेतु सिसु रोदन करै।
सोइ करै बिबिध उपाय जातें अधिक तुव छाती जरै ॥

---

*पाठान्तर 'सोवही'। †पाठान्तर 'रोवही'।

कौमार, सैसव अरु किसोर अपार अघ को कहि सकै।
व्यतिरेक* तोहि निरदय महाखल आन कहु को सहि सकै ॥६॥

(७)

जौवन जुवती सँग रँग रात्यो। तब तू महा मोह मद मात्यो ॥
ताते तजी धरम मरजादा। बिसरे तब सब प्रथम बिषादा ॥
बिसरे बिषाद निकाय-संकट समुझि नहिं फाटत हियो।
फिरि गर्भगत-आवर्त संसृतिचक्र जेहि होइ सोइ कियो ॥
कृमि-†भस्म-बिट-परिनाम तनु तेहि लागि जग बैरी भयो।
परदार-परधन-द्रोहपर संसार बाढ़ै नित नयो ॥७॥

(८)

देखत ही आई बिरुधाई। जो तैं सपनेहुँ नाहिं बुलाई ॥
ताके गुन कछु कहे न जाहीं। सो अब प्रकट देखु तनु माहीं ॥
सो प्रगट तनु जर जर जराबस, ब्याधि सूल सतावई।
सिरकंप इंद्रिय-सक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई ॥
गृहपालहू तें अति निरादर खान-पान न पावई।
ऐसिहु दसा न बिराग तहँ तृस्ना तरंग बढ़ावई ॥८॥

(९)

कहि को सकै महाभव तेरे। जनम एक के कछुक गनेरे ॥
चारि खानि ‡ संतत अवगाहीं। अजहुँ न करु बिचार मन × माहीं ॥
अजहूँ बिचार बिकार तजि भजु राम जन-सुखदायकं।
भवसिंधु दुस्तर जलरथं भजु चक्रधर सुरनायकं ॥
बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार माया-तारनं।
कैवल्य-पति, जगपति, रमापति, प्रानपति गतिकारनं ॥९॥

(१०)

रघुपति भक्ति सुलभ सुखकारी। सो त्रयताप-सोक-भयहारी ॥
बिनु सतसंग भक्ति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवै जब सोई ॥

* पाठांतर 'मिलैगो' । † पाठा[illegible] ‡ पाठांतर '[illegible]' । × 'पाठांतर' जग ।'

जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु-संगति पाइये।
　　जेहि दरस-परस समागमादिक पाप रासि नसाइये ॥
जिनके मिले दुख-सुख समान, अमानतादिक गुन भये।
　　मद-मोह-लोभ-बिषाद-क्रोध सुबोध तें सहजहिं गये ॥१०॥

(११)

सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्रीरघुबीर-चरन-लौ* लागै ॥
देह-जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै ॥
अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिये।
　　संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये ॥
निरमल निरामय एक रस तेहि हर्ष-सोक न ब्यापई।
　　त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई ॥११॥

(१२)

जो तेहि पंथ चलै मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सहाई ॥
जो मारग स्रुति साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै ॥
पावै सदा सुख हरि-कृपा संसार-आसा तजि रहै।
　　सपनेहुँ नहीं दुख द्वैत† दरसन, बात कोटिक को कहै ॥
द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार-पार न पाइये‡।
　　यह जानि तुलसीदास त्रासहरन रमापति गाइये+ ॥१२॥

पदच्छेद—निः + मल। निः + अंजन। निः + विकार। निः + आमय। कर्दम + आवृत। करुना + आकर। समागम आदिक। अमानता + आदिक।

शब्दार्थ—सोग=शोक; यह ब्रजभाषा का प्रयोग है। जरा=बुढ़ापा। विस्राम=(विश्राम) शान्ति। निरंजन=अविनाशी। संसृति=संसार। हेठ=नीचे ; पुरीष=विष्ठा। वेदन=कष्ट। विषम=कठिन। चक्रपानी=हाथ में चक्र है जिन के, विष्णु। व्यतिरेक=सिवाय। निकाय=समूह। आवर्त=चक्र घूमना। विट=मल। प्रतिहत=नष्ट। भव=जन्म। चारि खानि=अंडज, स्वेदज, पिंडज और उद्भिज। कैवल्य=मोक्ष। गति=मुक्ति। द्रवै=कृपा करता है। सुबोध=आत्मज्ञान। निरामय=नीरोग। द्वैत=द्वन्द्व, राग-द्वेष।

* पाठान्तर 'लय'। † पाठा० 'द्वैत' [illegible] ‡ पाठान्तर 'पाइई'। + [illegible] 'गाइई'।'

(१)

भावार्थ—जब से यह जीव भगवान् से पृथक् हुआ, तभी से इसने शरीर को और घरको अपना मान लिया। (यों तो जीव परमात्मा ही का अंश है, किन्तु प्रकृति के अधीन होकर उसे परमात्मा से अलग होना पड़ा, और उससे प्रथक् होने ही उसमें शरीराभिमान आ गया, तथा स्त्री पुत्रादि में ममत्व प्राप्त हुआ।) माया के वश होकर उसने निज स्वरूप, अर्थात् "सच्चिदानन्द" रूप भुला दिया, और उसी भ्रम के कारण उसे असह्य दुःख भोगने पड़े। भाव यह है कि, माया के संसर्ग से उसमें अनेक विकार—जैसे रागद्वेष, सुख-दुःख—आ घुसे, आनन्द बिदा ले गया। अविद्या के कारण, संसार दुःख-मय भासने लगा। बड़ा ही कठिन असहनीय दुःख मिला। सुख का तो स्वप्न में भी नाम न रहा। अरे! जिस मार्ग में अनेक संसारी कष्ट और शोक भरे पड़े हैं, उसी पर हो तू हठपूर्वक बार बार गया, रोकने पर भी न माना। अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ा। बुढ़ापा भी आया, विपत्तियाँ भी झेलनी पड़ीं। पर अरे मूर्ख! तूने इतने पर भी भगवान् को न पहिचाना! अरे मूढ़! विचार कर भला देख तो, श्रीरामचन्द्रजी को छोड़ कर तुझे क्या कहीं और भी शान्ति मिली? कहीं भी नहीं। तात्पर्य यह है कि, शान्ति और सुख के स्थान, मूलाधार, एक परमात्मा ही हैं। उन्हें छोड़ कर कहीं भी आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता॥ १॥

(२)

हे जीव! तेरा निवास स्थान आनन्दसागर में है, अर्थात् तू आनन्द स्वरूप परब्रह्म का अंश है। उस आनन्द-सागर को भुला कर तू क्यों प्यासों मर रहा है? तूने मृगजल को सच्चा मान रखा है, और वहाँ तू आनन्द समझकर लट्टू हो रहा है। वहाँ तू मगन होकर नहा रहा है। अरे! वहाँ तीन काल में भी पानी नहीं है। अपना स्वाभाविक अनुभवगम्य-रूप भूल कर आज यहाँ आ पड़ा है। भाव यह है कि, यह संसार मृगजल के समान भ्रममात्र है। यहाँ तू विषयरूपी झूठे जल में प्रसन्नता से स्नान कर रहा है, विषयों में फंस कर अपनेको शीतल या शान्त करना चाहता है, पर वहां शीतलता कहां? जब जल ही नहीं है, संसार की तत्वतः 'अस्ति' ही नहीं, तब वहां सुख कहां से आयेगा? तूने उस आनन्द को त्याग दिया, जो विशुद्ध, अविनाशी और

विकाररहित है। व्यर्थ ही तू राजाओं के समान राज्य को छोड़ कर स्वप्न-रूपी कारागृह में बद्ध पड़ा है, आत्मानन्द छोड़कर विषय-पंक में फंसा है ॥२॥

(३)

तूने स्वयं ही अपनी कर्मरूपी रस्सी मज़बूत कर ली, और अपने ही हाथों से उसमें पक्की गांठ लगा दी। इसीसे अरे अभागे! तू परतन्त्र पड़ा हुआ है। और इसका फल क्या होगा? आगे गर्भ में रहने का दुःख। सारांश यह है कि, न तू इच्छा कर कर कर्म करता और न परतन्त्र होकर, मोहाधीन होकर, गर्भ में जाता। और आगे संसार में जो बहुतेरे दुःखों के समूह हैं, उन्हें वही जानता है जो माँ के पेट में पड़ा है। सिर तो नीचे है और पैर ऊपर। इस संकट के समय कोई बात भी नहीं पूछता। रक्त, मल, मूत्र, विष्ठा, कीड़ों और कीच से घिरा हुआ (गर्भ में) सो रहा है। तेरा शरीर तो सुकुमार है, पर कष्ट बड़ा ही दारुण है, सहा नहीं जाता। सिर धुन धुन कर रो रहा है। भाव यह है कि, वहां तू ही तू है, चाहे जितना कष्ट हो भोगना ही पड़ेगा। बचानेवाला कौन बैठा है? जैसे कर्म किये वैसे फल चखने ही पड़ेंगे। सो चख, चाहे सिर पटक, चाहे छाती पीट ॥ ३ ॥

(४

जहां जहां तू अपने कर्म-जाल में फंसा तहाँ तहां भगवान् तेरे साथ रहे, कभी साथ नहीं छोड़ा। प्रभु ने नाना प्रकार से तेरा पालन-पोषण किया, रक्षा की। और परम कृपालु स्वामी ने तुझे ज्ञान भी दिया। जब तुझे ज्ञान-विवेक मिला, तब पिछले अनेक जन्मों का तुझे स्मरण हुआ और कहने लगा— जिसकी यह त्रिगुणात्मिका दारुण माया है,अर्थात् जिसकी आज्ञा से माया ने जगत् में तीनों गुणों का पसारा फैलाया है उसी परमेश्वर की मैं शरणहूं। जिसने जीव-समूह को अपने वश में कर लिया है, जिस माया ने, उन्हें, परतन्त्र बनाकर नीरस अर्थात् आनन्दरहित कर दिया है, पर आप दिन दिन पर नवीन ही दिखाई देती है, उससे हे लक्ष्मीरमण! शीघ्र ही रक्षा कीजिए, क्योंकि आप ही ने मुझे इस विपत्ति में बुद्धि दी है, ज्ञानोदय किया है' ॥ ४ ॥

(५)

फिर बहुत भांति से मनमें ग्लानि मानकर तू कहने लगा कि अब (संसारमें) जाकर चक्रधारी भगवान् का भजन करूंगा। ऐसा विचार कर ज्योंही तू

मौन हुआ, कुछ शान्त सा हुआ, त्योंही प्रसवकाल की पवन ने तुझ अपराधी को प्रेरित किया, अथवा भगवान् की प्रेरणा से पवन ने, जो बड़ी ही प्रचण्ड है, तुझे अनेक कष्ट दिये और तूने उन्हें सहा। अब जो ज्ञान, ध्यान, वैराग्य वा अनुभव तुझे प्राप्त हुआ था, वह सब कष्ट की अग्नि में जल-बल गया, अर्थात् मारे कष्ट के तू सब भूल गया। अत्यन्त दुःखके कारण तू व्याकुल हो गया और थोड़ा बल रहने के कारण एक क्षण भर भी तुझसे न बोलते बना। उस समय का तेरा दारुण दुःख, असह्य यातना, किसीने न जानो, उलटे सब लोग आनन्द-बधाई गाने लगे। भाव यह है कि, तू तो जन्म-काल के कष्टों के मारे मूर्च्छित सा होगया, पर सबको यह आनन्द हुआ कि अहोभाग्य आज अमुक के पुत्र उत्पन्न हुआ है, और लगे आनन्द-बधाई गाने ॥ ५ ॥

(६)

बचपन में तुझे जो जो कष्ट हुए, वह सब अनंत हैं, उनकी गणना करना असम्भव है। भूख, रोग और अनेक बड़ी बड़ी बाधाओंने तुझे घेर लिया, पर तेरी मा को यह सब कष्ट मालूम न हुआ। मा यह तो जानती नहीं कि बच्चा किस लिये रो रहा है, किंतु वह बारबार वही उपाय करती है, वही उपचार करती है, जिससे तेरी छाती और अधिक जले। भाव यह है कि, हुआ तो है तुझे रोग, पर वह जादू-टोना समझ कर मन्त्र से झड़वाती है, टोटका करती है। उलटे पुलटे उपचारों से तुझे और भी कष्ट होता हैं। कुमारावस्था, बचपन और किशोरावस्था में तूने कितने अनंत, अगणित, पाप किये हैं, इसका वर्णन करना सामर्थ्य के बाहर है। अरे निर्दय! महादुष्ट! तुझे छोड़कर और कौन ऐसा मिलेगा जो इन्हें सह सकेगा? कोई भी नहीं ॥ ६ ॥

(७)

अब, जवानी चढ़ते ही तू स्त्री के साथ प्रेम में फँस गया। बड़े भारी अज्ञान और मद में मतवाला हो गया, अर्थात् स्त्री की हवा लगते ही तुझे मस्ती चढ़ गई, आंखें फूट गयी। और इसीसे तूने धर्म-मर्यादा को लात मार दी, पहले जितने कष्ट हुए थे, वह सब, बात की बात में, भुला दिये, अथवा गर्भ-वास के समय का पश्चाताप भूल गया, और लगा फिर पाप कमाने। कष्टों के समूह भूल जाने के कारण, आगे और क्या क्या दुःख होंगे, यह समझ कर अरे! तेरी छाती नहीं फट जाती! जिससे फिर फिर गर्भ के गड्ढे में

गिरना पड़े, संसार चक्र में आना पड़े, वही तूने बार बार किया, अर्थात् इन्द्रियों के वश में पड़कर सदा विषयों ही की ओर चित्त लगाया। जो शरीर, कीड़ों, राख, विष्ठा आदि का परिणाम है, उसके लिये तू सारे संसार का शत्रु बन बैठा, इस क्षणिक शरीर को आराम देने के लिये तूने किस किसके साथ भला-बुरा बर्ताव नहीं किया ? दूसरे की स्त्री, दूसरे का धन, दूसरों से द्रोह, यही सब संसार में दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता गया। भाव यह है कि, दूसरे की सुन्दर स्त्री, बहुत सा मान, बड़ा धन देख कर तेरे मन में कुढ़न हुई, उसे चाहा, जब न मिला, छल-बल किया और बैर बिसाह लिया, यही तूने नित्य किया, यही तेरी जीवन-चर्या रही ॥ ७ ॥

(८)

देखते ही देखते बुढ़ापा आ पहुंचा, जिसे तूने स्वप्न में भी नहीं बुलाया था, स्वप्न में भी नहीं इच्छा की थी कि मैं बूढ़ा हो जाऊं, तू तो सदा यही चाहता था कि जवान ही बना रहूं। उस बुढ़ापे की बातें कुछ कहने को नहीं हैं। जो हैं, वह सब प्रत्यक्ष अपने शरीर में देख ले। देख, शरीर जीर्ण हो गया है। बुढ़ापे के कारण रोग और शूल सता रहे हैं। शिर हिल रहा हैं। इन्द्रियों की शक्ति चली गई। तेरा बोलना किसी को अच्छा नहीं लगता। घर की रखवाली करने वाला कुत्ता, अथवा घर का मालिक तक, तेरा मान नहीं करता, औरों की गिनती ही क्या ? न तुझे कोई खाना देता है, न पानी। इतनी सब दुर्दशा होने पर भी तुझे वैराग्य नहीं आता ? नित्य तृष्णा की लहरें उठा रहा है, तृष्णा में फँसता चला जा रहा है ॥ ८ ॥

(९)

तेरे अनेक बड़े बड़े जन्मों की, अनेक योनियों की, कथा कौन कह सकता है ? यह तो एक जन्म के कुछ थोड़े से कष्ट गिनाये हैं। देख, सदा चार खानों-पिंडज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज--में घूमना पड़ता है। अब भी तू मन में विचार नहीं करता ! आज भी विचार कर (अभी कुछ बिगड़ा नहीं) विषयों को छोड़ दे, और भक्तों को आनन्द देनेवाले भगवान् रामचन्द्रजी का भजन कर। वे कठिनाई से पार करने योग्य संसार-सागर के लिये नाव-रूप हैं, अर्थात संसार से जीवों को मुक्त कर देते हैं। ऐसे चक्र सुदर्शन

धारण करनेवाले देवाधिदेव भगवान् का भजन कर। वे निष्कारण करुणा करनेवाले हैं, बड़े ही दानी हैं, और इस अपार माया से छुड़ा देनेवाले हैं। वे मोक्ष के पति हैं, संसारके स्वामी हैं, लक्ष्मी-वल्लभ हैं, प्राणोंके नाथ हैं, और मुक्ति के कारण हैं—अर्थात् उनके भजते ही जीव मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

(१०)

श्रीरघुनाथजी की भक्ति सुलभ और सुख देनेवाली है। वह संसार के तीनों ताप--भौतिक, दैहिक और दैविक—शोक और भय को दूर करनेवाली है। किन्तु सत्संग के विना भक्ति प्राप्त नहीं होती, और संतजन तभी मिलते हैं, जब रघुनाथजी प्रसन्न हो जाय, कृपा-दृष्टि कर दें। दीनदयालु रघुनाथजी के कृपा करते ही संत-समागम होता है। जिन संतों के दर्शन से, स्पर्श से, और मिलने-जुलनेसे पाप-पुंज नष्ट हो जाते हैं, जिनके मिलने से सब दुःख समान जान पड़ते हैं मान-अपमान एक सा मालूम होता है--ऐसे अनेक सद्गुण प्राप्त हो जाते हैं। (उनकी कृपा से जो) आत्मज्ञान उदय होता है, उसके प्रभाव से अहंकार, अज्ञान, लोभ, शोक, क्रोध आदि सहज ही दूर हो जाते हैं। सारांश यह है कि, सत्संग के प्रभाव से 'स्थितप्रज्ञ' पुरुष की अवस्था आप से आप प्राप्त हो जाती है ॥ १० ॥

(१०)

सन्त-सेवा करने से भेद बुद्धि अथवा राग-द्वेष चले जाते हैं, भय का नाम नहीं रहता। और तब श्रीरघुनाथजी के चरणों में लगन लग जाती है। शरीर से उत्पन्न जितने कुछ बिकार हैं, वे सब छूट जाते हैं, और तब अपने स्वरूप में, "आत्म स्वरूप" में प्रेम बढ़ता है। जिसे 'स्वरूप' में अनुराग बढ़ गया है, उसकी दशा सन्सार से कुछ विलक्षण ही हो जाती है, उसे अलौकिक, अप्राकृत, दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। सदा उसके पास सन्तोष, समता और शान्ति रहती है। जितेन्द्रिय होने के कारण वह प्राणी (शरीर रहते भी) विदेह रहता है, उसे शरीर का भान नहीं रहता। सारांश यह कि, वह परमहंसावस्था को प्राप्त हो जाता है। वह विशुद्ध, नीरोग—आधि-व्याधि-रहित--एक रस (त्रिकालावाधित) हो जाता है। फिर उसे हर्ष-विषाद नहीं व्यापता। जिसकी ऐसी अवस्था हो गई, वह (स्वयं तो पवित्र हुई है, वरन्) तीनों को भी पवित्र कर देता है ॥ ११ ॥

(१२)

जो प्राणी इस मार्ग पर मन लगा कर चलता है, अर्थात् सन्त-सेवा करता हुआ, भगवद्भक्ति का आराधन करता है, तो भगवान् उसकी अवश्य सहायता करते हैं। सहायता क्यों न करेंगे (जब कि वह उनकी शरण में आगया) जिस मार्ग को वेद और सन्तों ने दिखा दिया है, उस पर चलने से सभी प्रकार के सुख मिलेंगे। उस वेदोक्त और सन्त-प्रदर्शित मार्गपर चल कर प्राणी, भगवत्कृपा से, आनन्द लाभ करता है और संसारी आशाओं पर पानी फेर देता है। उसे सपने में भी द्वैत भाव का दुःख नहीं दिखाई देता है। यों तो करोड़ों बातें हैं, उन्हें कौन कहता फिरे ? सारांश तो यह है कि, ब्राह्मण, देवता, गुरु, हरि और सन्तों के बिना कोई संसार-सागर का पार नहीं पा सकता, आवागमन से छुटकारा नहीं पा सकता। यह समझ कर तुलसीदास भी भय के दूर करनेवाले लक्ष्मीरमण भगवान् का गुण कीर्तन करता है।१२।

टिप्पणी—(१) 'जिय......बिलगान्यो'—जीव और ब्रह्म, तत्वतः, एक ही हैं, किंतु माया के आवरण से जीव अपना 'स्वरूप' भूल गया है। जैसे पुत्र और पिता का सम्बन्ध है। पिता के ही वीर्य से पुत्र का जन्म हुआ, किन्तु माता के रज के संयोग से उसमें विकार आ गया है। इसी प्रकार परमात्मा प्रकृति के साथ रत होने के कारण—जीव-रूप में अपना स्वरूप भूल गया है। वास्तव में, ब्रह्म और जीव एक ही है—

ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः—(गीता)

(२) 'अब जग......चक्रपानी'—यहां 'चक्रपानी' शब्द बहुत ही सार्थक आया है जीव माया के जाल में फँसा है। उसे अपना जाल छिन्न-भिन्न कराना है। सुदर्शन चक्रधारी विष्णु भगवान् उस जाल को काट सकेंगे, इसीसे वह चक्रपाणि नाम से भगवान् को पुकारता है।

(३) 'जीवन......रंगरात्यो'—यौवनावस्था पर कविवर बिहारी ने क्या ही मार्के का दोहा कहा है। सुनिये—

'इक भीजे चहले परे, बूड़े बहे हजार।
किते न ऐगुन नर करत नयें बय चढ़ती बार॥'

(४) 'धर्ममर्यादा'—मनुस्मृति में धर्म-मर्यादा का लक्षण यह दिया है—

'इज्याध्ययनदानानि, तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं, धर्मश्चाष्टविधः स्मृतः ॥'

धर्मशास्त्र में धर्म के भिन्न भिन्न प्रकार से भिन्न भिन्न अंग लिखे हैं, किन्तु सत्य क्षमा, अहिंसा, भक्ति आदि कुछ ऐसे अंग हैं, जो संसार भर के समस्त धर्मों में किसी न किसी रूप में अवश्य पाये जाते हैं, उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया है ।

(५) 'सो प्रगट... ...बढ़ावई,–वृद्धावस्था पर अनेक कवियों की सूक्तियां पाई जाती हैं; जिनका वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। श्रीशंकराचार्यजी, चर्पटमंजरी में, लिखते हैं–

'अंगं गलितं पलितं मुंडं, दशनविहीनं जातं तुंडम् ।
मार्गे याति गृहीत्वा दंडं, तदपि न मुंचत्पाशा पिंडम् ॥
भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढ़मते ॥'

सूरदासजी कहते हैं–

'सैब दिन गये विषय के हेत ।
तीनों पन ऐसेही बीते, केस भये सिर सेत ।
आँखिन अंध स्रवन नहिं सनियत, थाके चरन सभेत ।
गंगाजल तजि पियत कूपजल, हरि तजि पूजत प्रेत ॥
राम नाम बिन क्यों छूटोगे, चंद्र गहे ज्यों केत ।
सूरदास कछु खरच न लागत, राम नाम मुख लेत ॥'

(६) 'गृह पालहू ते अति निरादर'–इसके तीन अर्थ हो सकते हैं–

१—घर के मालिक से भी, अर्थात् लड़केवालों से भी अपमान हो रहा है ।

२—घर की रखवाली करनेवाला कुत्ता तक अपमान करता है ।

३—कुत्ते से भी अधिक अपमान लोग करते हैं ।

(७) 'सत्संग'–संसार से मुक्त होने तथा भगवद्भक्ति के प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन सत्संग ही है । गीता में लिखा है, भागवत पुराण कहता है, उपनिषद् गाते हैं, संत भी पुष्टि कर रहे हैं कि 'सत्संग करो सत्संग करो । बिना सत्संग के गति नहीं ।' कबीर साहब कहते हैं–

'साधु हमारी आतमा, हम साधुन के जीव।
साधुन मद्धे यों रहैं, ज्यों पय मद्धे घीव॥'

तथा—

'तुलसी' संगति साधु की हटै कोटि अपराध।
एक घरी आधो घरी, आधी में पुनि आध॥'

(८) 'देह जनितं......लेखिये'—इस अवस्था को गीता में "ब्राह्मी" अवस्था कहा है। इस अवस्था को पहुंचा हुआ 'स्थितप्रज्ञ' महापुरुष कैसा होता है, इसे सुनिये—

'प्रजहाति यदा कामान्, सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभय क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता॥'

अर्थात्, हे अर्जुन, जब मन की सारी इच्छाओं को छोड़ देता हैं, मन में किसी तरह की भी इच्छा नहीं करता, तब अपनी आत्मा में ही, संतुष्ट हो कर रहने वाला प्राणी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। जो दुखों में घबराता नहीं, सुखों में कामना नहीं करता; राग, भय, क्रोध जिसने जीत लिये हैं, उसे स्थितधी मुनि कहते हैं। वही स्थिर बुद्धिवाला समझा जाता है।जिसका मन सब ओर से हट गया हैं, शुभाशुभ में जिसे हर्ष और द्वेष नहीं है, उसकी बुद्धि स्थिर समझनी चाहिये। यही विदेहावस्था है। यह परमहंस अवस्था भगवद्भक्त को सहज ही प्राप्त हो जाती है, किन्तु निष्कपट, शुद्ध, परम प्रेम होना चाहिए, सच्ची लगन होनी चाहिए।

(९) 'त्रैलोकपावन'—सूरदासजी कहते हैं—

'जा दिन संत पाहुने आवत।'
तादिन तीरथ कोटि आपही, ताके गृह चलि आवत॥'

श्रीमद्भागवत में—

'ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः।'

(१०) यह पद बड़ा ही सुन्दर, प्रभावपूर्ण, ज्ञान, वैराग्य और भक्तिरसप्लुत है। इसमें गुसाईंजी ने अपने सिद्धांत का भली भांति निरूपण और प्रतिपादन किया है। जीव की पूर्वापर दशा, उसका उद्धार और मुक्ति का उपाय आपने जिस खूबी के साथ अंकित किया है, वह देखते ही बनता है। वैसे तो सारी विनयपत्रिका ही हृदयंगम करने योग्य, है पर यह पद सभी को मुखाग्र, कंठाग्र और हृदयस्थ करना चाहिए, यह मेरी विनीत प्रा ना ।

इति पूर्वार्द्धः समाप्तः
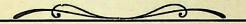
श्रीजानकीवल्लभार्पणम्

श्रीहरि-तोषिणी टीका-समलंकृता

विनय-पत्रिका

उत्तरार्द्ध

राग बिलावल

(१३७)

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की, बैर और के कहा सरै।
होइ न बाँको बार भक्त को, जो कोउ कोटि उपाय करै॥ १॥
तकै नीच जो मीच साधु की, सो पामर तेहि मीच मरै।
वेद-विदित प्रहलाद कथा-सुनि, को न भक्ति-पथ पाउँ धरै॥ २॥
गज उधारि हरि थप्यो विभीषन, ध्रुव अबिचल कबहूँ न टरै।
अंबरीष की साप-सुरति करि, अजहु महामुनि ग्लानि गरै॥ ३॥
सो धौं कहा जु न कियो सुजोधन, अबुध आपने मान जरै।
प्रभु-प्रसाद सौभाग्य बिजय-जस, पांडव ने बरिआइ बरै॥ ४॥
जोइ जोइ * कूप खनैगो पर कहँ, सो सठ फिरि तेहि कूप परै।
सपनेहुँ सुख न संत द्रोही कहँ, सुरतरु सोउ बिष-फरनि फरै॥ ५॥
हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीव † चरै।
तुलसिदास रघुबीर-बाँहुबल सदा अभय, काहू न डरै॥ ६॥

शब्दार्थ—सरै = पूरा पड़ सकता है। मीच = मौत। पामर = पापी। बरिआई = हठपूर्वक। खनैगो = खोदेगा। फरनि = फलों से। सीव = सीमा।

भावार्थ—यदि कृपालु रघुनाथजी की कृपा बनी है, तो औरों के बैर करने से क्या पूरा पड़ सकता है? भगवद्भक्त का बाल भी बांका नहीं होता, चाहे कोई करोड़ों उपाय क्यों न करे॥१॥ जो नीच सन्त की मौत विचारता है, वह पापी स्वयं उसी मौत से मरता है। प्रहलाद की कथा वेदों में प्रसिद्ध है, उसे सुनकर ऐसा कौन होगा, जो भक्ति-मार्ग पर पैर न रखेगा, भक्ति के सिद्धान्त को न मानेगा? सभी मानेंगें। भाव यह हैं कि, प्रहलाद को उसके पिता हिरण्यकशिपु ने नाना प्रकार से कष्ट दिये, पर भगवत्कृपा से उसका वह बाल भी बांका न कर सका, उलटा आपही मारा गया। ऐसी भक्तवत्सलता सुन कर ऐसा कौन होगा, जो उस प्रभु की भक्ति न करेगा॥ २॥ भगवान् ने गजेन्द्र का उद्धार किया, विभीषण को राज्य पद पर स्थापित किया, ध्रुव को

* पाठान्तर 'जो जो।' † पाठान्तर 'सीम।'

अटल पद दे दिया, और अम्बरीष भक्त के संबन्ध में कुछ पूछिये ही नहीं। उनको महा-मुनि (दुर्वाशा) ने जो शाप दिया था, उसे स्मरण कर वह अब भी ग्लानि में गले जाते हैं; लाज के मारे दबे जाते हैं (अपना पराभव देख कर और समझ कर कि अंबरीष पर भगवान् का हाथ है, दुर्वासा शाप देकर पछताया करते हैं।) ॥ ३ ॥ दुर्योधन ने क्या करने को छोड़ा, जो कुछ करते बना, सभी किया मूर्ख अपने ही घमण्ड में जलता रहा। पर भगवत्कृपा से सौभाग्य, विजय और कीर्ति ने पाँडवों को ही हठपूर्वक अपनाया, अर्थात् पांडवों को सौभाग्य मिला विजय लाभ हुआ और कीर्ति भी मिली ॥४॥ जो भी दूसरे के लिये कुवां खोदगा, वह दुष्ट स्वयं उसमें गिरेगा। सन्तों के साथ बैर करनेवाले को स्वप्न में भी सुख मिलने का नहीं। उसके लिये कल्प-वृक्ष तक विषैले फल फलेगा, अर्थात् वह जिस उपाय से सुख चाहेगा, उससे उसे दुःख मिलेगा ॥ ५ ॥ किसके दो शिर हैं जो भगवद्भक्त की सीमा को लांघेगा ? अर्थात् जो भी भक्त का अप-राध करेगा, वह मारा जायगा। (हां, किसी के दो सिर हों तो ठीक हैं, एक कट जायगा, तो एक तो बच रहेगा। पर यह असम्भव हैं।) हे तुलसीदास ! जिसे श्रीरघुनाथजी के बाहु-बल का भरोसा हैं, जो उनकी शरण हैं, वह सदा निर्भय हैं, किसी से भी नहीं डर सकता ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'जोपै ... सरै'—कविवर रहीम भी यही बात कह रहे हैं। देखिये—

'कहु रहीम का करि सकैं, जारी, चोर, लबार।
जो पति राखनहार है, माखन चाखनहार॥'

(२) 'कोटि उपाय'—जैसे यंत्र, मंत्र, तंत्र, नाटक, चेटक, प्रयोग, छल, कपट, अस्त्र, शस्त्र, शाप, विष आदि।

(३) 'प्रह्लाद'—८३ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(४) 'गज'—५७ पद की टिप्पणी देखिये।

(५) 'ध्रुव'—८६ पद की टिप्पणी देखिये।

(६) 'अंबरीष'—९८ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(७) 'सो धौं......सुजोधन'—दुर्योधन ने पांडवों के साथ सभी छल-बल किये। जुये में हराया, द्रौपदी का सतीत्व भ्रष्ट करना चाहा, लाक्षागृह में पांडवों के जलाने का प्रयत्न किया, और अनेक प्रकार के षड्यंत्र रचे।

(८) 'पांडव ने'--यहां 'ने' शब्द कुछ भ्रामक जान पड़ता है। 'पांडव ने बरे' होता तो यह अर्थ हो सकता था, कि पांडवों ने सौभाग्य आदि को वरा, स्वीकार किया, क्योंकि 'ने' चिन्ह कर्त्ता के साथ भूतकाल में आता है। पर यहां वरे है जो कि भूतकालिक क्रिया नहीं है। और यह अर्थ निकलता है कि सौभाग्य आदि ने पांडवों को वरा। फिर 'ने' की आवश्यकता नहीं रह जाती। यहां तो पांडवों के साथ 'को' चिन्ह चाहिये, न कि ने, या विना किसी चिन्ह के ही काम निकल सकता है। जो हो चाहे पाठान्तर ही हो पर 'ने' भ्रामक अवश्य जान पड़ता है।

(९) इस पद से सूरदासजी का भी मिलता जुलता एक पद है। वह यह है—

'जाको मनमोहन अंग करै।
ताको केस खसै नहिं सिर ते, जो जग बैर परै॥
हिरनकसिपु परिहार थक्यो प्रहलाद न नेकु डरै।
अजहूँ तौ उत्तानपाद-सुत, राज करत न मरै॥
राखी लाज द्रुपद-तनया की, कोपित चीर हरै।
दुर्योधन को मान भंग करि, वसन प्रवाह धरै॥
बिप्र भक्त नृग अंध कूप दिय, बलि पढ़ि वेद छरै।
दीनदयालु कृपालु कृपानिधि, कापै कह्यो परै॥
जा सुरपति कोप्यो व्रज ऊपर, काहिधौं कछु न सरै।
राखे व्रजजन नंद के लाला, गिरि धरि बिरद धरै॥
जाको बिरद है गर्व प्रहारी, सो कैसे बिसरै।
सूरदास भगवंत भजन करि, सरन गहे उधरै॥

इन दोनों का भाव-सादृश्य देखने ही योग्य है।

(१३८)

कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक, धरिहौ नाथ, सीस मेरे।
जेहि कर अभय किये जन आरत, बारक बिबस नाम टेरे॥ १॥
जेहि कर-कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक-संसय मेट्यो।
जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों, परम प्रीति केवट भेट्यो॥ २॥

जेहि कर-कमल कृपालु गीध कहँ, पिंड देइ निज धाम * दियो ।
जेहि कर बालि बिदारि दासहित, कपि-कुलपति सुग्रीव कियो ॥ ३ ॥
आयो सरन सभीत बिभीषन, जेहि कर-कमल तिलक कीन्हों ।
जेहि कर गहि सर चाप असुर हति, अभय दान देवन्ह दीन्हों ॥४॥
सीतल सुखद छाहँ जेहि कर की, मेटति पाप-ताप† माया ।
निसि बासर तिहि कर-सरोज की, चाहत तुलसिदास छाया ॥ ५ ॥

शब्दार्थ--आरत=आर्त्त, दुखी । बारक=एक बार । तिलक= राज्या-भिषेक । चाप=धनुष । छाया=रक्षा से तात्पर्य है ।

भावार्थ--हे रघुनाथजी ! हे नाथ ! क्या कभी आप अपने उस कर-कमल को मेरे माथे पर रखेंगे, जिस हाथ से आपने दुखी भक्तों को अभय कर दिया था, जब कि उन्होंने परतंत्रतावश एक बार आपका नाम-स्मरण किया था॥१॥ जिस कर-कमल से महादेवजीके कठोर धनुषको तोड़ कर आपने महाराज जनक का संदेह हटा दिया था, और जिस कर-कमल से गुह निषाद को, भाई के समान उठाकर, बड़े ही प्रेम से छाती लगा लिया था ॥ २ ॥ हे कृपालु ! जिस कर-कमल से आपने जटायु गीध को (पिता के समान) पिंड दान देकर अपने लोक अर्थात् साकेत लोक भेज दिया था । और जिस हाथ से, अपने सेवक के अर्थ, बालि को मार कर, सुग्रीव को बंदरों के वंशका स्वामी बना दिया था ॥ ३ ॥ जिस कर-कमल से आपने सभय शरणागत बिभीषण का राज्या-भिषेक किया था, और जिस हाथ से, धनुष-बाण उठाकर, राक्षसों को मार कर देवताओं को अभय-दान दिया था, अर्थात् उनको निर्भय बना दिया था ॥ ४ ॥ तथा जिस कर-कमल की शीतल और आनंददायक छाया से पाप, संताप और अविद्या का नाश हो जाता है, हे नाथ ! उसी आपके कर-कमल की छाया (रक्षा) को यह तुलसीदास रात-दिन चाहता है ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'कंवट'— १०६ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये ।

(२) 'गीध'—जटायु; ४३ पदकी पांचवीं टिप्पणी देखिये ।

(३) इस पद में माधुर्य और ऐश्वर्य तथा सौशील्य और बात्सल्य का बड़ा ही मधुर मिलन हुआ है ।

---

* पाठान्तर 'लोक'। † पाठान्तर 'ताप पाप'।

(१३९)

दीनदयालु, दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुं *ताप तई है ।
देव, दुवार पुकारत आरत, सब की सब सुख हानि भई है ॥१॥
प्रभु के बचन बेद-बुध-सम्मत. मम मूरति महिदेवमई है ।
तिन की मति रिस राग मोह मद लोभ लालची लीलि लई है ॥२॥
राज-समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है ।
नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति हेतुवाद हठि हेर हई है ॥३॥
आस्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद-मरजाद गई है ।
प्रजा पतित पाखंड पापरत, अपने अपने रंग रई है ॥४॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है ।
सीदत साधु साधुता सोचति, खल बिलसत हुलसति खलई है ॥५॥
परमारथ स्वारथ, साधन भये अफल, सफल नहिं सिद्धि सई है ।
कामधेनु-धरनी कलि-गोमर, बिबस बिकल जामति न बई है ॥६॥
कलि-करनी बरनिये कहाँ लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है ।
तापर दांत पीसि कर मींजत, को जानै चित कहा ठई है ॥७॥
त्यों त्यों नीच बढ़त सिर ऊपर† ज्यों ज्यों सील बस ढील दई है ।
सरुष बरजि तरजिये तरजनी, कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है ॥८॥
दीजै दादि देखि नातौ बलि, मही मोद-मंगल रितई है ।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं, राम अवध‡ चितवनि चितई है ॥९॥
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि, करुना-बारि भूमि भिजई है ।
राम-राज भयो काज सकुन सुभ, राजा राम जगत-बिजई है ॥१०॥
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब, सुकृत सैन हारत जितई है ।
सुजन सुभाव सराहब सादर, अनायास सांसति बितई है ॥११॥
उथपे थपन, उजारि बसावन, गई बहोरि बिरद सदई है ।
तुलसी प्रभु आरत-आरति हर, अभय बाँह केहि केहि न दई है ॥१२॥

---

* पाठान्तर 'त्रय ।' † पाठान्तर 'नीच बढ़त सो चढ़त सिर ।'
‡ पाठान्तर 'अवधि ।'

शब्दार्थ—दुरित=पाप। दुनी=दुनियां। तई=तच गई है। महिदेव=ब्राह्मण। परमिति=परम्परा की रीति। हेतुवाद=नास्तिकवाद। हई=हनी, नाश की। रई=रंगी, अनुरक्त हुई। सीदत=कष्ट पाता है। खलई=दुष्टता। सई=बरकत; सही, सच्चा। गोमर=गऊ मारने वाला, कसाई। बई=बोई हुई। टई=काम। सरुप=क्रोध से। तरजिये=डांट दीजिए। जई=छोटा सा फल, जिसे बतिया कहते हैं। दादि=न्याय। रितई=खाली। सुकृत=पुण्य। सांसति=यातना। उथपे-थपन=उजड़े हुए को बसाने वाले। सदई=सदा ही।

भावार्थ—हे दीनदयालु रामजी! पाप, दारिद्र्य, और दुःख इन तीन दारुण तापों—भौतिक, दैविक, दैहिक–से दुनिया जली जा रही है। (यहां तक गुसाईंजी ने अपने ही दुःख निवेदन किये हैं, अब इस पद में सारे संसार की व्यथा सुना रहे हैं)। हे भगवन्! यह आर्त्त आपके द्वार पर पुकार रहा है। देखिये, सभी का सब प्रकार से सुख जाता रहा, सभी निरानंद दिखाई देते हैं॥ १॥ वेद और पंडितों की राय है, तथा आपने स्वयं भी श्रीमुख से कहा है कि ब्राह्मण मेरी ही प्रतिमूर्त्ति हैं, अर्थात् वे 'ब्रह्ममय' हैं। पर उनकी बुद्धि को क्रोध, राग, मोह, अहङ्कार, लोभ और लालच ने निगल लिया है, अर्थात् उनमें सम, संतोष, दया, धर्म आदि तो रहे नहीं, किन्तु वे कामी, क्रोधी, मूढ़ और लोभी हो गये हैं॥ २॥ राजसमाज (क्षत्रिय जाति) करोड़ों बुरी बुरी बातों से भरा है, वे (लूटना, मारना, पर स्त्री, पर धन-अपहरण करना, अन्याय कर कर प्रजा को सताना आदि) नित्य नई पापपूर्ण चालें चल रहे हैं। और नास्तिकता ने राजनीति, धर्मशास्त्र, श्रद्धा, भक्ति और कुल-मर्यादा की प्रतिष्ठा को, ढूंढ़-ढूंढ़ कर, चौपट कर दिया है। सारांश यह है कि जहां नास्तिकवाद खड़ा हुआ, परमेश्वर को न माना, वहां धर्म-कर्म रह ही कैसे सकते हैं? क्योंकि परमात्मा ही सब धर्मों का मूल है॥ ३॥ संसार में न तो आश्रम-धर्म ही है, और न वर्ण-धर्म ही। लोक और वेद-दोनों की मर्यादा नष्ट होती जा रही है, न कोई लोकाचार ही मानता है, और न वेदोक्त धर्म। प्रजा का ह्रास हो रहा है, पाखंड और पाप में सन रही है। सभी अपने अपने रंग में मस्त हैं, अथवा मनमुखी हो गये हैं, कोई किसी की नहीं सुनता॥ ४॥ शान्ति, सत्य और सुमार्ग सून हो गये हैं, और कुमार्ग तथा छल-कपट की बढ़ती है।

सज्जन कष्ट पाते हैं, सज्जनता चिंता-ग्रस्त है। दुष्ट मौज कर रहे हैं और दुष्टता भी चैन में है ॥ ५ ॥ परमार्थ स्वार्थ में परिणत हो गया, अर्थात् धर्म के नाम पर लोग पेट पालने लगे हैं। साधन निष्फल होने लगे हैं (इसीसे कोई करता भी नहीं) और सारी सिद्धियां भी सच्ची नहीं उतरतीं, झूठी जान पड़ती हैं, अथवा उनमें कुछ बरकत नहीं रही है, कामधेनु-रूपी पृथ्वी कलियुग-रूपी कसाई के हाथ में पड़ गई है। जो उसमें बोया जाता है, वह व्याकुलता के मारे, जमता ही नहीं (और इसीसे जहां तहां दुर्भिक्ष पड़ रहे हैं) ॥ ६ ॥ कलियुग का करतब कहाँ तक बखाना जाय। यह बिना काम का काम करता फिरता है। इतने पर भी दांत पीस पीस कर हाथ मल रहा है, अर्थात् मन ही मन मसोस रहा है कि अभी तो मैंने कुछ भी नहीं कर पाया, न जाने, इसके मनमें अभी क्या क्या भरा है। सारांश यह है कि, जो करे सो थोड़ा है ॥ ७॥ ज्यों ज्यों आप शील के कारण इसे ढील दे रहे हैं, क्षमा करते जाते हैं, त्यों त्यों यह नीच सिर पर चढ़ता आता है, अर्थात् दिन पर दिन जुल्म करता है। ज़रा क्रोध करके इसे डाँट तो दीजिए। यह तरजनी दिखाते हुए कुम्हड़े की बतिया की नाईं मुरझा जायगा, दब जायगा ॥ ८ ॥ आपकी बलैया लेता हूं, देखकर न्याय कर दीजिए, नहीं तो अब पृथ्वी आनन्द-मंगल से खाली होनेवाली हैं, आनन्द-मंगल का, यदि ऐसी ही दशा रही तो, कहीं नाम भी न सुनाई पड़ेगा। ऐसा कीजिये कि जिससे लोग सौभाग्यशाली बनकर प्रेमपूर्वक यह कहें कि श्रीरामजी ने हमें अबाध्य अर्थात् पूर्णतया नित्य कृपादृष्टि से देखा है ॥ ९ ॥ मेरी यह बिनती सुन कर, भगवान् ने मेरी ओर आनन्द से देखा और मुसकरा कर करुणाके जल से पृथ्वी को भिगो दिया. तर कर दिया (शान्ति-वर्षा कर दी) बस राम-राज्य होने से सब काम सफल हो गये। शुभ शकुन होने लगे क्योंकि महाराज रामचन्द्रजी जगद्विजयी हैं। भाव यह है कि, जगद्विजयी रामचन्द्रजी के आगे कायर कलियुग की एक भी न चली ॥ १० ॥ सर्वशक्तिमान् सुचतुर स्वामी ने पुण्य-रूपी सेना को हारने से जिता लिया, अर्थात् पापों का क्षय कर दिया। उनके सद्भक्त स्वभाव से ही आदरपूर्वक उनकी प्रशंसा करते हैं कि जिन्होंने सहज ही यातना को दूर कर दिया ॥ ११ ॥ आप का यह बाना सदा से ही चला आता है कि जिन-का कहीं ठौर-ठिकाना नहीं रहा, उन्हें स्थापित करना, (जैसे विभीषण और

सुग्रीव को राज्य पर बिठा देना) उजड़े हुए को बसाना और गई हुई वस्तु को फिर से दिला देना। (जैसे रावण के भय से डरे हुए देवताओं को फिर से स्वर्ग में बसा देना)। हे तुलसी ! दुखियों के दुःख हरनेवाले भगवान् ने किस किस को अभय बांह नहीं दी ? अर्थात् सभी की रक्षा की—जो शरण में गया उसका पालन-पोषण किया ॥ १२ ॥

टिप्पणी—(१)'दीनदयालु......तई है'— गुसाईंजी के हृदय में संसार-कल्याण का भाव बड़ा ही प्रवल था। वह दुनिया के दुःखों को एक क्षण भी नहीं देख सकते थे। कवित्त-रामायण में भी उन्होंने इस विषय पर कुछ कवित्त लिखे हैं। उनमें से नीचे एक छंद उद्धृत किया जाता है—

'खेती कन किसान की, भिखारी को न भीख,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग, सिद्यमान सोचबस,
कहै एक एकन सों, कहां जाइ का करी।
वेदहु-पुरान कही, लोकहू बिलोकियतु,
सांकरे समय के राम, रावरे कृपा करी .'
दारिद-दसानन दबाई दुनी दीनबंधु,
दुरित दहत देखि तुलसी हहा करी।

क्या ही पुर असर दुःख-निवेदन है ! इतने बडे राष्ट्रीय आन्दोलन के होते भी, आज गुसाईंजी जैसा कोई राष्ट्रीय कवि नहीं है, जो भगवान् के कानों में कुछ आर्त्तनाद पहुंचा सकता !

(२) 'राज-समाज......नई है'— बलिहारी ! कदाचित् तब राज-समाज की यह दशा न हो, पर आज तो सवा-सोलह आने यह हालत देखने को मिल रही है। अच्छा हो, यदि यह राज्य-वंश, क्षत्रिय जाति, पृथ्वी से रसातल को चलीजाय !

(३) 'हेतुवाद'—कारण वाद; यहां नास्तिक वाद से तात्पर्य है।

(४) 'देखि नातो बलि'—किसी किसी सज्जन ने इसे 'राजाबलि और उनका पृथ्वी दान' वाला संकेत लिखा है, किंतु यह खींचातानी है। स्पष्ट अर्थ तो 'ना तो का नहीं तो, और बलि का बलिहारी है'।

(५) 'अभय बांह'—अभय दान; निर्भय कर देना। "निर्भय वैष्णव पद"।

(१४०)

ते नर नरक रूपजीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी।
निसिवासर रुचि पाप असुचि मन, खल मति मलिन निगम पथ त्यागी॥१
नहि सतसंग, भजन नहिं हरिको, स्रवन न राम-कथा-अनुरागी।
सुत-वित-दार-भवन-ममता-निसि, सोवत अति न कबहुं मति जागी॥२॥
तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि, सठ, हठि पियत बिषय-बिष माँगी।
सूकर-स्वान-सृगाल-सरिस जन, जनमत जगत जननि-दुख लागी॥३॥

शब्दार्थ—भव भंजन = संसार का नाश करनेवाले जन्म-मरण से मुक्त करनेवाले। निगम = वेद। दार = स्त्री। सृगाल = गीदड़।

भावार्थ—वे अभागे मनुष्य संसार में नरकरूप होकर जी रहे हैं, जो जन्म मरण से मुक्त कर देनेवाले श्रीभगवच्चरणों से विमुख हैं। रात दिन उनकी रुचि पापों में लगी रहती हैं। उनका मन अशुद्ध रहता हैं। और उन दुष्टोंकी बुद्धि इतनी मलिन रहती हैं कि वह वेदोक्तमार्ग को छोड़ बैठती हैं, अर्थात् पाप करते करते उन दुष्टों की ऐसी प्रकृति हो जाती हैं कि उन्हे वेद-विहित कर्म अच्छे ही नहीं लगते॥ १॥ न तो वे संतों का संग ही करते हैं, न भगवद्भजन ही और न कानों में श्रीरामचन्द्रजी का प्रेम ही रहता हैं। फिर करते क्या हैं सुनिये) वे सदा पुत्र-कलत्र और धन तथा गृह आदि की मोह-रात्रि में सोते रहते हैं अर्थात इन्हीं सब के मोह में बदहोश पड़े रहते हैं। उनकी बुद्धि (इस निद्रा से) कभी जागती ही नहीं अर्थात् उन्हें एक क्षण भर को भी वैराग्य का उदय नहीं होता॥ २॥ हे तुलसीदास! जो दुष्ट राम-नाम-रूपी अमृत को छोड़ कर हठपूर्वक विषयरूपी जहर मांग-मांग कर (बार बार विषयों ही की कामना कर के) पीते हैं, वे मनुष्य सुअर, कुत्ता और गीदड़ के समान इस जगत में केवल अपनी माँ को दुख देने के लिये जन्म लेते हैं। तात्पर्य यह है कि, जैसे सुवर आदि सदा विष्ठा का भक्षण करते हुए काम प्रवृत्ति के दास बने रहते हैं, इसी प्रकार वे विषयी मनुष्य आत्म-दर्शन का लाभ छोड़कर विषयों में फँसे हुए व्यर्थ ही जी रहे हैं, उनका तो मरजाना ही अच्छा है॥ ३॥

(१४१)

रामचंद्र रघुनायक तुमसों हौं बिनती केहि भाँति करौं।
अघ अनेक अवलोकि आपने, अनघ नाम अनुमानि डरौं ॥ १ ॥
पर दुख-दुखी सुखी परसुख ते, संत-सील नहिं हृदय धरौं।
देखि आन की बिपति परम सुख, सुनि संपति बिनु आगि जरौं ॥२॥
भक्ति बिराग ग्यान साधन कहि, वहु विधि डहँकत लोग* फिरौं।
सिव-सरबस सुखधाम नाम तव, वेंचि नरकप्रद उदर भरौं ॥ ३ ॥
जानत हौं निज पाप जलधि-जिय, जलसीकर सम सुनत लरौं।
रज सम पर अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरि सम रज तें निदरौं ॥४॥
नाना बेष बनाय दिवस निसि, परबित जेहि तेहि जुगुति हरौं।
एकौ पल न कबहुँ अलोल चित, हित दै पद-सरोज सुमिरौं ॥ ५ ॥
जो आचरन बिचारहु मेरो, कलप कोटि लगि औटि मरौं।
तुलसिदास प्रभुकृपा बिलोकनि, गोपद ज्यों भवसिंधु तरौं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ----डहँकत=ठगता हुआ। सीकर=बूंद। लरौं=लड़ता हूं। वित=धन। अलोल=स्थिर, शान्त। औटि=जल कर।

भावार्थ----हे रघुवंश में श्रेष्ठ रामचंद्रजी, मैं किस तरह तुमसे विनय करूँ? अपने पापों की ओर देख कर और तुम्हारा अनघ अर्थात् पापरहित नाम विचार कर, मनही मन, डर रहा हूं। (इसलिये डरता हूं कि पाप और पुण्य की कभी बनती नहीं है, इन दोनों में पृथ्वी-आकाश का अंतर है। रघुनाथजी मुझ पापीका उद्धार कैसे कर सकते हैं?)। १ ॥ दूसरे के दुःख से दुखी तथा दूसरे के सुख से सुखी होना-ऐसा जो संतोंका शील स्वभाव है उसे मैं कभी हृदय में धारण नहीं करता। (फिर करता क्या हूं; सो सुनिये) दूसरों की विपत्ति देख कर बड़ा प्रसन्न होता हूं। और दूसरों की संपत्ति देख कर बिना ही आग के ईर्षा के मारे जला जाता हूं ॥ २ ॥ भक्ति, वैराग्य, ज्ञान आदि के साधनों का उपदेश देता हुआ नाना प्रकार से लोगों को ठगता फिरता हूं। शिवजी का सर्वस्व और आनंद का धाम ऐसा जो तुम्हारा राम-नाम है, उसे

* पाठान्तर 'लोक।'

बेंच कर (अर्थात् राम-नाम का जप कर के यह सिद्ध करता हूं कि मैं तुम्हारा बड़ा भारी भक्त हूं) पेट भरता हूं, और वह पेट जो नरक भेजनेवाला है। सारांश यह कि, इस पापी पेट के लिये मैं तुम्हारे नाम की ओट में अनेक पाप करता हूं, कुछ उठा नहीं रखता ॥ ३ ॥ यह जानता हूं कि मेरे पाप समुद्र के समान हैं, पर, जानकर भी, जब यह सुनता हूं कि मेरे पाप पानी की बूंद के बराबर हैं तब लड़ने लगता हूं। तात्पर्य यह है कि, सदा यही चाहता हूं कि लोग मुझे पापी न कहें, धर्मधुरंधर कहें! और दूसरों के धूल के कण के समान औगुण, सुमेरु पर्वत के समान मानता हूं। और यदि उनके गुण पर्वत के समान हैं, तो उन्हें धूल समान तुच्छ लेखता हूं। मतलब यह कि, मुझे अपना ही सब कुछ अच्छा लगता है, दूसरों का नहीं, ऐसा स्वार्थी हूं ॥ ४ ॥ अनेक भेष बना बना कर दिन रात, जैसे तैसे, दूसरों का धन बटोरता फिरता हूं। कभी, एक क्षण भी, निश्चल चित्त से प्रेमपूर्वक तुम्हारे चरणारविन्दों का स्मरण नहीं करता ॥ ५ ॥ यदि तुम मेरे आचरणों पर विचार करोगे, मेरे पापों का लेखा लगाने बैठोगे, तो करोड़ों कल्प तक मुझे औंट औंट कर मरना पड़ेगा, संसार रूपी कढ़ाव में जलना होगा, आवागमन के चक्र से कभी छुटकारा न मिलेगा। हे प्रभो! और यदि तुम अपनी कृपादृष्टि से मेरी ओर देख दोगे, तो मैं, तुलसीदास, इस संसार को गाय के खुर के समान पार कर जाऊँगा, इस संसार-समुद्र से अनायास तर जाऊँगा ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'परदुख-दुखी.........आगि जरौ'—गुसाइंजी ने, रामचरितमानस में, सन्तों के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

'विषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देख पर ॥
सम अभूत रिपु विमद विरागी। लाभामर्ष हर्ष भय त्यागी ॥
कोमल चित दीनन पर दाया। मन वच क्रम मम भक्त अमाया ॥,
सबहिं मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी ॥

× × × × × ×

निन्दास्तुति उभय सम, ममता मम पदकंज।
ते सज्जन मम प्रान-प्रिय, गुन-मंदिर सुखपुंज ॥

असन्तों के भी लक्षण सुन लीजिये—

खलन हृदय अति ताप विसेखी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हर्षहिं मनहुँ परी निधि पाई।

× × × × × ×

काहू की जो सुनहिं बड़ाई। साँस लेहिं जनु जूड़ी आई।
जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी होंहि मानहुँ जग नृपती॥'

(२) 'सिव सरबस'—शिवजी को रामनाम प्राणाधिक प्रिय है। आपने पार्वतीजी से कहा है—

'राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्र नाम तत्तुल्यं, राम नाम वरानने॥' और भी—
'गोप्याद् गोप्यतमं भद्रे, सर्वस्वं जीवनं मम।
राम-नाम परंब्रह्म कारणानां च कारणम्॥'

(३) 'नानावेष'—मनुष्य पेट भरने के लिये क्या क्या नहीं करता! कभी कवि बनता है, तो कभी चित्रकार। कभी साधु-संत बन जाता है, तो कभी अवधूत फ़कीर। कभी गुलामी करने लगता है, तो कभी डकैती देता है। कभी उपदेशक बनता है, तो कभी धर्मध्वज महात्मा। कहां तक कहें, इससे जो कुछ भी हो सकता है, सो पेट के लिये सब करने को तैयार रहता है।

(४) 'अलोल'—निश्चल; शान्त चित्त से यदि एक भी क्षण भगवन्नाम स्मरण किया जाय तो मुक्ति हाथ जोड़े सामने खड़ी है। क्योंकि चित्तवृत्ति-निरोधात्मक योग सद्यः फल देनेवाला है।

(१४२)

सकुचत हौं अति राम कृपानिधि, क्यों करि बिनय सुनावौं।
सकल धरम बिपरीत करत, केहि भांति नाथ मन भावौं॥ १॥
जानत हौं हरि रूप चराचर, मैं हठि नैन न लावौं।
अंजन केस सिखा जुवती तहँ, लोचन-सलभ पठावौं॥ २॥
स्रवननि को फल कथा तुम्हारी; यह समुझौं समुझावौं।
तिन्ह स्रवननि परदोष निरन्तर, सुनि सुनि भरि भरि तावौं॥ ३॥

जेहि रसना गुन गाइ तिहारे, बिनु प्रयास सुख पावौं।
तेहि मुख पर अपवाद भेक ज्यों, रटि रटि जनम नसावौं ॥ ४ ॥
'करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि', कहि कहि सबहिं सिखावौं।
हौं निज उर अभिमान-मोह-मद-खल-मंडली बसावौं ॥ ५ ॥
जो तनु धरि हरिपद साधहिं, जन सो बिनु काज गँवावौं।
हाटक-घट भरि धर्‌यो सुधा गृह तजि नभ कूप खनावौं ॥ ६ ॥
मन क्रम बचन लाइ कीन्हे अघ, ते करि जतन दुरावौं।
पर-प्रेरित इरषा बस कबहुँक, किय* कछु सुभ सो जनावौं ॥ ७ ॥
बिप्र-द्रोह जनु बांट पर्‌यो हठि, सब सों बैर बढ़ावौं।
ताहू पर निज मति बिलास सब, संतन माँझ जनावौं ॥ ८ ॥
निगम सेस सारद निहोरि जो, अपने दोष कहावौं।
तौ न सिराहिं कलप सत लगि प्रभु, कहा एक मुख गावौं ॥ ९ ॥
जो करनी आपनी बिचारौं, तौ कि सरन हौं आवौं।
मृदुल सुभाव सील रघुपति को, सो बल मनहिं दिखावौं ॥ १० ॥
तुलसिदास प्रभु सो गुन नहिं जेहि, सपनेहुँ तुमहिं रिझावौं
नाथ-कृपा भवसिंधु धेनुपद सम, जो जानि सिरावौं† ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—भावौं = अच्छा लगूं। सिखा = दीपक की ज्योति, आगकी ज्वाला। सलभ = (शलभ) पतिंगा। तावौं = दृढ़ता से धारण करता हूं; उमंगसे फूला नहीं समाता। प्रयास = परिश्रम। अपवाद = निन्दा। भेक = मेढ़क। हाटक = सुवर्ण। खनावौं = खोदता हूं। विलास = आनन्द। सिराना = समाप्त होना। सिरावौं = शान्त करता हूं; सन्तोष होता है।

भावार्थ—हे कृपानिधि रामजी! मुझे बड़ा संकोच हो रहा है, मैं किस प्रकार आप को अपनी विनती सुनाऊं? जो कुछ भी मैं करता हूं, वह सब धर्म के विरूद्ध ही किया करता हूं। फिर भला आपको मैं क्यों अच्छा लगने लगा? तात्पर्य यह है कि, आपको तो धर्मात्मा ही प्यारे हैं; मुझ-सरीखे पापी नहीं, इससे मुझे आपके सामने आने में संकोच होता है ॥ १ ॥ यद्यपि मैं यह जानता हूं कि भगवान् सर्वत्र—जड़ और चैतन्य में—व्यापक हैं,

*पाठान्तर 'कियो'। †पाठान्तर 'जो समुझि नियरावौं'।

पर मैं भगवत्-स्वरूप की ओर हठपूर्वक ध्यान नहीं देता। मैं तो अपने नेत्ररूपी पतिंगों को कामिनीरूपी अग्नि-शिखामें (जलने के लिये) भेजता हूं ॥ २ ॥ मैं यह स्वयं समझता हूं और दूसरों को भी समझाता हूं कि इन कानों की सार्थकता आपकी कथा सुनने में ही है, पर उन कानों से सदा दूसरों के दोष सुन सुन कर मनमें दृढ़ता से भर भर कर रखता हूं, अथवा सुन सुन कर हृदय में फूला नहीं समाता ॥ ३ ॥ जिस जीभ से आपके गुणानुवाद गाकर बिना ही परिश्रम के, परमानन्द पा सकता हूं, उसी मुख से, उसी जीभ से, मेढ़क की नाईं दूसरों की निन्दा रटा करता हूं, जीभ को परदोष कहने के लिये ही मान रखा है ॥ ४ ॥ मैं यह बात सबको समझा समझा कर सिखाता फिरता हूं कि 'हृदयको बिलकुल शुद्ध बना डालो, तभी भगवान् उसमें वास करेंगे' किन्तु मैं अपने हृदयमें, अहंकार, अज्ञान और मद-इन दुष्टों की समाज बसाता हूं। (स्वयं महा व्यसनी हूं, और दूसरों को सज्जन बनने का उपदेश देता हूं। भला यह कहां का न्याय है !) ॥ ५ ॥ जिस शरीर को, मानव शरीर को, धारण कर भक्त-जन वैष्णव पद, मुक्ति पद, प्राप्त करने की साधना करते हैं, उसे पाकर मैं व्यर्थ ही खो रहा हूं। घर में तो सोने के घड़े में अमृत भरा रक्खा है, पर उसे छोड़ कर आकाश में कुवाँ खुदवाता हूं। तात्पर्य यह है कि, यह जो कंचन सी देह है, और जिसमें आत्मस्वरूप अमृत भरा है, उसे छोड़कर काम-कांचन रूपी मृगजल की खोज में मारा मारा फिरता हूं। जिसका अस्तित्व ही नहीं, भला उस जगत्में सुख की आशा हो सकती है ? कदापि नहीं ॥ ६ ॥ मनसे, कर्म से और वचन से जो जो पाप किये हैं, उन्हें मैं यत्न कर कर छिपा रहा हूं। और दूसरों की प्रेरणा से अथवा ईर्षावश यदि कभी कोई अच्छा काम बन गया, तो उसे (ढिंढोरा पीटता हुआ) जनाता फिरता हूं ॥ ७ ॥ ब्राह्मणों के साथ द्रोह करना तो मानों मेरे हिस्से में ही पड़ गया है। जबरदस्ती से सबसे बैर बिसाहता फिरता हूं, (यह तो मेरे कर्म हैं किन्तु) यह सब होने पर भी, अपनी बुद्धि की चेष्टासे अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करके अपने को सब संतोंके बीच में गिनता हूं। यह सिद्ध करना चाहता हूं कि लोग मुझे संत-महन्त कहें ॥ ८ ॥ वेद, शेषनाग, सरस्वती आदि का निहोरा कर कर भी यदि मैं अपने दोषों का बखान कराऊं, तब भी हे प्रभो ! सौ कल्प तक वे समाप्त न होंगे ! फिर

भला मैं एक मुख से उनका क्या वर्णन करूं ? ॥ ९ ॥ यदि कहीं मैं अपनी करनी पर विचार करने लगूं, तो क्या मैं आपकी शरण में आने योग्य हूं ? मतलब यह कि, मैं इतना भारी पापी हूं कि आपकी शरण में आ ही नहीं सकता, किन्तु "रघुनाथजी का स्वभाव कोमल है, उनका शील असीम है" यह बल मन को दिखाता रहता हूं। तात्पर्य यह है कि, जब रघुनाथजी ऐसे सुशील और कोमल स्वभाववाले हैं, तो वह मुझ सरीखे पापियों और अपराधियों को शरण में लेकर क्यों न उद्धार करेंगे ? अवश्य करेंगे। बस, यही सदा मन को साहस बँधाता रहता हूं ॥ १० ॥ हे प्रभो ! इस तुलसीदास के पास वह एक भी गुण नहीं है, जिसके बल-भरोसे पर, आपको स्वप्न में भी प्रसन्न कर सके। किन्तु हे नाथ ! आप की कृपा के आगे यह संसार-सागर गाय के खुर के समान है, यह समझ कर मन में सन्तोष कर लेता हूँ (कि आप की कृपा से, मुझमें कोई साधन न होने पर भी, संसार-समुद्र को अनायास पार कर जाऊँगा) ॥ ११ ॥

टिप्पणी—(१)'धरम विपरीत'—धर्म का मुख्य स्वरूप सत्य है। सत्य की अवहेलना कर जो कुछ भी किया जाता है, वह धर्म-विरुद्ध है, सदाचार नहीं, कदाचार है। मिथ्याचार से दुराचार अच्छा है। दंभ ही सब अधर्मों की जड़ है। यही इस पद से सिद्ध होता है।

(२) 'अंजन केस सिखा'— इसके दो अर्थ हैं—

१—नेत्रों में अंजन लगाये और सटकारे काले केशवाली, दीपक की ज्योति के समान, कामिनी।

२—काजल के समान केश ही जिस स्त्रीरूपी अग्नि की धूम्र-शिखा है। साधारणतः, नेत्रों और केशों की मोहकता पर ध्यान जाता है।

३—'हाटक घट......खनावों'—सूरदासजी यों कहते हैं—

'परम गंगजल छाँड़ि पियासो,नभ में कूप खनावै'।

परन्तु इस उक्ति से गुसाईंजी की 'हाटक-घट' वाली उक्ति अधिक मनोहारिणी है, सर्वांग सुन्दर सूक्ति है।

(४) 'मन क्रम बचन'—पाप-पुण्य दोनों ही त्रिविध होते हैं। यहां पापों की चर्चा की गई है, जो इस प्रकार हैं—

१—मानसिक—जैसे, परधन, परस्त्री आदि पर ध्यान, परहानि का चिंतवन, मनही मन नास्तिक भाव इत्यादि;

२—कायिक—परस्त्री गमन, हिंसा, चोरी आदि;

३—वाचनिक—मिथ्या भाषण, पर निंदा, कठोर वचन इत्यादि।

(५) 'मृदुल......रघुपति को'—कदाचित् निम्नलिखित प्रतिज्ञा सुन कर गुसाईंजी ने ऐसा कहा है—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो, ददाम्येतद्व्रतं मम॥"

(१४३)

सुनहुं राम रघुवीर गुसाईं, मन अनीतिरत मेरो।
चरन सरोज बिसारि तिहारे, निसिदिन फिरत अनेरो॥ १॥
मानत नाहिं निगम अनुसासन, त्रास न काहू केरो।
भूल्यो सूल करम-कोलुन्ह तिल ज्यों बहु बारनि पेरो॥ २॥
जहँ सतसंग, कथा माधव की, सपनेहुँ करत न फेरो।
लोभ-मोह-मद-काम-कोह-रत, तिन्ह सों प्रेम घनेरो॥ ३॥
परगुन सुनत दाह, परदूषन सुनत हरष बहुतेरो।
आप पाप को नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो॥ ४॥
साधन फल स्रुति-सार नाम तव, भव-सरिता कहँ बेरो।
सो* परकर काकिनी लागि सठ, बैंचि होत हठ चेरो॥ ५॥
कबहुक हौं संगति सुभाव तें, जाउँ सुमारग नेरो।
तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो॥ ६॥
इक हौं दीन मलीन हीन मति, बिपति जाल अति घेरो।
तापर सहि न जाय करुनानिधि, मन को दुसह दरेरो॥ ७॥
हारि पर्‌यो करि जतन बहुत† बिधि, तातें कहत सबेरो।
तुलसिदास यह त्रास मिटै जब हृदय करहु तुम डेरो॥ ८॥

शब्दार्थ—अनेरो=अन्यत्र, दूर, विमुख। अनुसासन=आज्ञा। कोह=

* पाठान्तर 'सोइ'। † पाठान्तर 'बिबिध'।

क्रोध। घनेरो=बहुत ज्यादा। खेरो=खेड़ा, छोटा सा गांव। बेरो=बेड़ा। काकिनी=कौड़ी, छदाम। नेरो=पास। दरेरो=धक्का। सबेरो=जल्दी, पहले से। डेरो=निवास।

भावार्थ—हे रामजी, हे रघुनाथजी, हे प्रभो, सुनिये—मेरा मन अन्याय में लगा रहता है। आप के चरणारविन्दों को भूल कर दिन-रात भटकता फिरता है, विषयों की ओर दौड़ता रहता है ॥१॥ न तो वह वेद की ही आज्ञा मानता है, और न उसे किसी का डर ही है। वह कई बार कर्मरूपी कोल्हू में तिलकी नाईं पेला जा चुका है, पर अब सारा कष्ट भूल गया (यह खबर नहीं कि दुष्कर्म करने से फिर वही दुर्दशा होगी) ॥ २ ॥ जहां सन्त-समागम होता है, अथवा भगवत्-कथा होती है, वहां स्वप्न में भी चक्कर नहीं लगाता, भूल कर भी नहीं जाता। वह तो लोभ, अज्ञान, अहङ्कार, काम और क्रोध में ही पगा रहता है। उसका इन्हीं अवगुणों से अधिक प्रेम रहता है ॥ ३ ॥ दूसरों के गुण सुन कर वह (डाह के मारे) जला जाता है, और जब दूसरों की बुराई सुनता, तब फूल कर कुप्पा हो जाता है ! आप तो स्वयं पापों का नगर बसा रहा है, पर दूसरे के (पापों के) खेड़े को भी नहीं देख सकता। भाव यह कि, अपने बड़े बड़े पापों पर कुछ भी ध्यान न देकर दूसरों के ज़रासे पाप पर दिल्लगी उड़ाता है।४। आपका नाम, जो सर्वसाधनों का फलस्वरूप है, वेदों का सार है, और संसाररूपी नदी के पार करने के लिये बेड़ा है, उसे दूसरे के हाथ में वह दुष्ट, कौड़ी कौड़ी के लिये बेंचता हुआ उनका गुलाम बनता फिरता है, एक एक कौड़ी के लिये आपके नाम को सुनाता फिरता है ।।५।। यदि कभी सत्संग से अथवा दैववश सन्मार्ग के पास जाऊँ भी, तो इन्द्रियोंकी आसक्ति, उस मन को कुमनोर्थरूपी धक्का दे देती है। अर्थात् धर्माचार की ओर से हटा कर इन्द्रियां फिर इस मनको संसारी वासनाओं में फँसा देती हैं।। ६ ।। एक तो मैं वैसे ही दीन, पापी और दुर्बुद्धि हूं, विपत्तियों के जाल में फँसा पड़ा हूं, और तिसपर हे करुणालय ! इस मनका असह्य धक्का लग रहा है। भला मैं (निर्बल जीव) इस (सबल) मन के धक्के को कैसे सह सकता हूं ॥ ७ ।। मैं अनेक यत्न कर कर हार गया, इससे मैं पहले से ही कहे देता हूँ कि, तुलसीदास का यह भय (जन्म-मरण का दुःख) तभी दूर होगा, जब आप उसके हृदय में निवास करेंगे। अर्थात् आपके ही ध्यान से मन की वृत्तियों का नाश सम्भव है, अन्यथा नहीं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—(१) 'मानत नाहिं......केरो'—वेदोक्त धर्मों पर नहीं चलता और यह भी भय नहीं कि अधर्म करने से यम दण्ड देगा। न लोक को डरता है, न परलोक को। मनमुखी हो रहा है, निरंकुश हो कर निडर अधर्म-मार्ग पर चल रहा है।

(२) 'काकिनी'—मेदिनी कोष में लिखा है—

काकिणी 'पणतुर्यांशे'

अर्थात् पण के (पैसे के) चौथाई भाग को काकिणी कहते हैं। छदाम की कौड़ियों से तात्पर्य है।

(३) 'जतन बहुत विधि'—ज्ञान, कर्म और भक्ति संबन्धी साधन।

(४) इस पद में दंभ का प्राबल्य, मन की अधर्मासक्ति, विरक्ति का उद्दीपन, जीव की असमर्थता और भगवत्कृपा का बड़ा ही सुन्दर बर्णन किया गया है।

(१४४)

सोधौं को जो नाम-लाज तें, नहिं राख्यो रघुबीर।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरहिं* सकल भव भीर॥ १॥
बेद-बिदित, जग बिदित अजामिल, बिप्रबंधु अघ-धाम।
घोर जमालय जात निवार्यो सुत हित सुमिरत नाम॥ २॥
पसु पामर अभिमान-सिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह।
सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु, हर्यो दुसह उर दाह॥ ३॥
ब्याध निषाद गीध गनिकादिक, अगनित औगुन मूल।
नाम-ओट में राम सबनि को दूरि कर्यो सब सूल॥ ४॥
केहि आचरन घाटि हौं तिन तें, रघुकुल-भूषन भूप।
सीदत तुलसिदास निसिबासर पर्यो भीम तम-कूप॥ ५॥

भावार्थ—ऐसा कौन है जिसे श्रीरघुनाथजी ने अपने नाम की लाज से अपनी शरण में नहीं रखा है, नहीं अपनाया? बिना ही किसी कारण के करुणा करनेवाले श्रीहरि संसार के सभी भयों को दूर कर देते हैं (नाम-स्मरण करने वालों को संसार-सागर से मुक्त कर देते हैं)॥ १॥ वेद में प्रकट है, और संसार में भी प्रसिद्ध है कि अजामेल था तो ब्राह्मण जाति, पर पापों का स्थान था

* पाठान्तर 'हरहु।'

महान् पापकर्मा था, बेचारा जब यमलोक जाने लगा, तब उसने अपने पुत्र का नाम लिया, किन्तु उसे भगवान् ने अपना नाम-स्मरण समझ कर यमलोक जाने से रोक लिया। (धोखे से ही "नारायण" का स्मरण करने से वह मुक्त हो गया।) फिर भला जो जान कर भगवत्-नाम-स्मरण करेगा, उसकी सद्गति क्यों न होगी?)॥ २॥ जब मगर ने पशु एवं पापी और महा अभिमानी हाथी को पकड़ लिया, तब उसके एक ही बार स्मरण करने पर हे प्रभो! आप तत्क्षण आ गये और उसकी असह्य हार्दिक पीड़ा शान्त कर दी (मगर से छुड़ा कर दिव्य शरीर प्रदान कर दिया)॥३॥ व्याध (वाल्मीकि), निषाद (गुह), गीध (जटायु), गणिका (पिंगला) प्रभृति अगणित दोषों की जड़ थे, किन्तु हे रामजी! आपने अपने नाम की ओट से इन सबके सारे दुःखों का नाश कर दिया॥ ४॥ हे रघुवंश में श्रेष्ठ! हे महाराज! कहिये, इन सबों से मैं, किस आचरण में, कम हूं? फिर भी यह तुलसीदास रात-दिन भीषण अज्ञानरूपी कुएँ में पड़ा हुआ दुःख भोग रहा है! भाव यह है कि, जब आपने बड़े बड़े दुराचारी पापियों का उद्धार कर दिया, तब मुझ पापी को क्यों भुलाये बैठे हो? मुझे भी संसार-सागर से पार कर दीजिये॥ ५॥

टिप्पणी—(१) इस पद का, पद १४३ से सम्बन्ध है। उसके अन्त में यह कहा गया है कि 'हृदय करहु तुम डेरो।' यहां यह प्रश्न उठता है कि जब हृदय अपवित्र है, तब उसमें डेरा कैसे हो सकेगा? इसके समाधान में यह पद लिखा जानः पड़ता है कि 'सो धौं को जो नाम लाज ते नहिं राख्यो रघुबीर' इत्यादि।

(२) 'अजामिल'—पद ५७ की चौथी टिप्पणी देखिये।

(३) 'गज.........ग्राह'—पद ५७ की टिप्पणी देखिये।

(४) 'व्याध'—बाल्मीकि; पद ९४ की चौथी टिप्पणी देखिये।

(५) 'निषाद'—गुह; पद १०६ की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(६) 'गनिका'—पिंगला; पद ९४ की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(७) 'तमकूप'—अज्ञान वा अविद्या रूपी कूप। सत् को असत् और असत् को सत् मान लेना, अथवा आत्मा-अनात्मा का ठीक ठीक ज्ञान न होना ही "अज्ञान-कूप" है।

[१४५]

कृपासिंधु, जन दीन दुवारे दादि न पावत काहे।
जब जहँ तुमहिं पुकारत आरत, तब तिन्ह के दुख दाहे ॥ १ ॥
गज, प्रहलाद, पांडु सुत, कपि सब को रिपु-संकट मेट्यो।
प्रनत बन्धु-भय-बिकल बिभीषन, उठि सो भरत ज्यों भेंट्यो ॥ २ ॥
मैं तुह्मरो लेइ नाम ग्राम * इक† उर आपने बसाओं।
भजन-बिबेक-बिराग-लोग भले, मैं क्रम क्रम करि ल्यावों ॥ ३ ॥
सुनि रिस भरे कुटिल कामादिक, करहिं जोर बरिआई।
तिन्हहिं उजारि नारि-अरि-धन पुर राखहिं राम गुसाईं ॥ ४ ॥
सम-सेवा-छल-दान-दंड हौं, रचि उपाय पचि हार्यो।
बिनु कारन को कलह बड़ो दुख, प्रभु सों प्रगटि पुकार्यो ॥ ५ ॥
सुर स्वारथी अनीस अलायक, निठुर दया चित नाहीं।
जाउँ कहाँ को बिपति-निवारक, भवतारक जग माहीं ॥ ६ ॥
तुलसी जदपि पोच तौ तुम्हरो और न काहू केरो।
दीजै भक्ति बांह बारक ‡ ज्यों सुबस बसै अब खेरो ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—दादि = न्याय, इन्साफ। दाहे = जला दिये, नष्ट किये। ल्यावों = ले आऊं, बुन्देलखण्डी प्रयोग। उजारि = उजाड़ कर। अनीस = असमर्थ, निःशक्त। बारक = बार + एक, एक बार। यहां संस्कृत के नियमानुसार "बार + एक" ऐसा पदच्छेद नहीं हुआ है। खेरो = खेड़ा।

भावार्थ—हे कृपासागर! यह तुम्हारा दीन दास तुम्हारे द्वार पर, न्याय क्यों नहीं पाता? इसका इन्साफ क्यों नहीं किया जाता? जब, जहां पर जिन्होंने आर्त्त हो कर तुम्हें याद किया, तब वहीं पर तुमने उनके दुःख दूर कर दिये (ऐसा तुम्हारा स्वभाव है, पर मेरे लिये न जाने क्यों प्रकृति बदल दी,) ॥१॥ हाथी, प्रह्लाद, पांडव, सुग्रीव आदि सबके, शत्रुओं से किये गये कष्ट तुमने नष्ट कर दिये। भाई रावण के भय से व्याकुल और नम्र विभीषण को उठाकर तुमने, भरतकी नाईं छाती से लगा लिया, बड़े प्रेम से उसका आलिंगन किया ॥२॥ मैं तुम्हारा नाम लेकर अपने हृदय में एक गाँव बसाना चाहता हूं। उसमें बसने के लिये मैं

* पाठान्तर गाउं। † पाठान्तर रंक, यक। ‡ पाठांतर बेरक।

धीरे धीरे भजन, विवेक, वैराग्य प्रमुख सज्जनों को इधर उधर से लाता हूं। भाव यह है कि, मैं हृदय में जैसे तैसे सद्भावों को स्थान देता हूं ॥३॥ यह सुन कर क्रोध में आकर दुष्ट काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य ज़बरदस्ती करते हैं। उन बेचारे भले आदमियों को उजाड़-उजाड़ कर, हे प्रभो रामजी! उस गाँव में ये दुष्ट स्त्री, शत्रु, धन संपत्ति आदि को ला ला कर बसाते हैं (अब बताओ उन सद्भावों का कैसे निर्वाह हो?) ॥४॥ साम, दाम, दंड, भेद और सेवा, खुशामद करके तथा और और भी अनेक उपाय कर कर मैं थक गया हूं। पर यह नहीं मानते, बिना ही कारण के लड़ाई झगड़े मचाये रहते हैं। इस बड़े दुःख को अब मैंने उजागर हो स्वामी के सामने निवेदन किया है, उनके कान में बात डाल दी है ॥५॥ (यदि कहो कि और और देवताओं को क्यों नहीं अपना दुःख सुनाया तो) वे देवता स्वार्थी, असमर्थ, अयोग्य और निष्ठुर हैं। उनका चित्त तनिक भी नहीं पिघलता। कहां जाऊं? कौन विपत्ति दूर करने वाला है? कौन इस संसार से पार करने वाला है? कोई भी तो नहीं दीख पड़ता ॥६॥ तुलसी यद्यपि नीच है, पर है तो तुम्हारा ही, और किसीका गुलाम तो नहीं हैं। अपना जान कर एक बार भक्तिरूपी बांह दे दो, हृदय में अपनी भक्ति थाप दो, जिससे यह खेड़ा स्वतंत्रतापूर्वक आबाद हो जाय। भाव यह है कि, इस हृदय में एक तुम्हारी भक्ति के प्रताप से ही ज्ञान-विवेक, वैराग्य आदि सद्भावों का उदय और काम-क्रोधादि का नाश होगा ॥७॥

टिप्पणी-(१) 'गज'-५७ पद की टिप्पणी देखिये।

(२) 'प्रह्लाद'—९३ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(३) 'पांडुसुत'—पांडव, पांडवों का हित-साधन करने के लिये भगवान् कृष्ण ने क्या क्या नहीं किया। उनके लिये आप दूत बन कर दुर्योधन के पास गये, उससे भला-बुरा भी सुना। द्रौपदी की पुकार सुन कर उसकी सहायता की। महाभारत में अर्जुन के रथ के स्वयं सारथी बने। पांडवों के पीछे कई बार अपनी प्रतिज्ञा भी तोड़ डाली।

(४) 'कपि'—सुग्रीव से तात्पर्य है।

(५) 'विभीषन······भेंट्यो'—विभीषण ने ज्योंही यह कहा कि—

'दीनदयालु कहावत 'केसव' हौं अति दीन दसा गह्यो गाढ़ो।

रावन के अघ-ओघ में केसव! बूड़त हौं कर हो गहि काढ़ो।

ज्यों गज की प्रहलाद की कीरति, त्योंही बिभीषन को जल बाढ़ो ।
आरत बंधु ! पुकार सुनौ किन, आरत हौं तौ पुकारत ठाढ़ो ॥'

(रामचन्द्रिका)

त्योंही श्रीरघुनाथजी ने उसे हृदय से लगा लिया। गुसाईंजी रामचरितमानस में लिखते हैं–

'अस कहि करत दंडवत देखी । तुरत उठे प्रभु हर्ष बिसेखी ॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा । भुज बिसाल गहि हृदय लगावा ॥'

(६) यह पद वर्तमान भारत पर खूब घटता है। जब तक इस पर भगवत्-कृपा न होगी, तब तक यहां से खलमंडली नहीं जा सकती, और न स्वतंत्रतापूर्ण स्वराज्य ही हो सकता है। प्रत्येक स्वाधीनचेता को इस पद का हृदय से पारायण करना चाहिए। आर्त भारतीयों का अन्तर्नाद सुन कर प्रभु अवश्य कृपा करेंगे।

(१४६)

हौं सब विधि राम, रावरो चाहत भयो चेरो ।
ठौर ठौर साहिबी होत है, ख्याल काल कलि केरो ॥१॥
काल-कर्म-इंद्रिय-विषय गाहक गन घेरो ।
हौं न कबूलत बांधि कै मोल करत करेरो* ॥२॥
बन्दि-छोर तेरो नाम है. बिरुदैत बड़ेरो !
में कह्यो तब छल-प्रीति कै माँगै उर डेरो ॥३॥
नाम-ओट अब लगि बच्यो मल जुग जग जेरो ।
अब गरीब जन पोषिये पायबो न हेरो ॥४॥
जेहि कौतुक बक† स्वान को प्रभु न्याव‡ निबेरो ।
तेहि कौतुक कहिये कृपालु 'तुलसी है मेरो' ॥५॥

शब्दार्थ—करेरो=कड़ा। बिरुदैत=नामी, बाना। मल जुग=कलियुग। जेरो=जेर किये हैं। हेरो=ढूंढने पर। बक=बगुला। निबेरो=फैसला कर दिया

भावार्थ—हे रामजी ! मैं सब तरह से आपका गुलाम बनना चाहता हूं। पर यहाँ ठौर ठौर पर साहबी दिखाई देती है। भाव यह है कि, मन अपनी

* पाठान्तर 'ककेरो'। † पाठान्तर 'खग'। ‡ पाठांतर 'न्यास'।

प्रभुता जमा रहा है, इंद्रियां अपना आधिपत्य दिखा रही हैं। अब मैं किस किसकी गुलामी करता फिरूँ ? यह सब कौतुक कलिकाल का है ॥१॥ काल, कर्म और इन्द्रियरूपी ग्राहकों ने मुझे घेर लिया है। जब मैं उनके हाथ बिकना कबूल नहीं करता, तब वे मुझे बाँध कर मुझ पर कड़ा दाम चढ़ाते हैं, जैसे तैसे लालच दिखा कर अपने अधीन करना चाहते हैं ॥२॥ आपका नाम बंधन से मुक्त कर देनेवाला है और आपका बाना भी बड़ा है, जब मैंने इन (ग्राहकों) से यह कहा कि भाई ! मैं तो रघुनाथजी के हाथ बिक चुका, तब वे ऊपरी प्रेम दिखा कर मुझसे मेरे हृदय में बसने के लिये स्थान मांगने लगे। (अब मैं क्या करूं ? यदि उन्हें स्थान दिये देता हूं, तो पहले तो वे दीनता दिखा रहे हैं, पर जगह मिल जाने पर धीरे धीरे उसपर अपना अधिकार कर लेंगे, और मुझे धता बता देंगे।) ॥३॥ अबतक मैं आपके नाम के सहारेसे बचा हूं, (नहीं तो कभी का इन ग्राहकों के हाथ बिक गया होता, इन्द्रिय-लोलुप हो जाता) पर अब यह कलियुग मुझे जेर किये है। अतएव, अब इस गरीब गुलाम का पालन कीजिये, नहीं तो फिर यह खोज करने से भी न मिलेगा (क्योंकि कलियुग इसका नाम-निशान तक मिटा देगा 'रामदास' से 'कामदास' बना लेगा।) ॥४॥ हे नाथ ! आपने जिस कौतुक से बगुले और कुत्ते का फैसला कर दिया था, उसी लीला से यह भी कह दीजिये कि 'तुलसी मेरा है।' (बस इतना कह देने से फिर कलियुग का इस पर कुछ भी वश न चलेगा, अपना सा मुहँ लिये चला जायगा।) ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'हौं सब……चेरो'—कविवर बिहारी भी यही चाहते हैं—

'हरि, तुम सौं कीजत यहै, बिनती बार हजार।
जेहि तेहि भांति डर्‌यो रहौं, पर्‌यो रहौं दरबार॥'

(२) 'ठौर ठौर साहबी'—नाई की बरात में सभी ठाकुर हो रहे हैं !

(३) 'बक'—वाल्मीकीय रामायण में उल्लू का प्रसंग आया है, बगुले का नहीं। श्रीबैजनाथजी ने, इस विवाद से बचने के लिये, बक के स्थान पर 'खग' पाठ लिखा है। संभव है, बक की कथा किसी अन्य रामायण में हो। अस्तु, वाल्मीकीय रामायण में उल्लू और गीध की कथा इस प्रकार लिखी है—

एक बन में उल्लू और गीध एक ही घरमें रहते थे। एक दिन गीध ने, ईर्ष्यावश,

घर पर अपना अधिकार करना चाहा और उल्लू से कहा--हमारा घर खाली कर दो, इस पर तुम्हारा कोई हक़ नहीं। दोनों में झगड़ा बढ़ गया। अंत में श्रीरामचंद्रजी से अपना फैसला कराने को दोनों दरबार में आये, रामचंद्रजी ने उल्लू से कहा-घर किसका है! तू उसमें कब से रहता है? उल्लू ने उत्तर दिया--महाराज! जब से वृक्षों की सृष्टि हुई, तबसे मैं उस घर में रहता हूं। गीध ने कहा कि, जब से मनुष्यों की सृष्टि हुई, तब से मैं रहता हूं। भगवान् ने कहा कि मनुष्यों से वृक्षों की सृष्टि पहले हुई है, अतः वह घर उल्लू का हो सकता है, गीध का नहीं। घर उल्लू को दिलाया गया।

(४) 'स्वान'--एक दिन श्रीरामजी के राज्य-दरबार में एक कुत्ता आया और रोता हुआ कहने लगा--महाराज मुझे तीर्थसिद्ध ब्राह्मणने विना अपराध के मारा है। मेरा न्याय कर दीजिये। भगवान् ने उस ब्राह्मण को बुलाया और उससे पूछा कि तुमने कुत्ते को क्यों निरपराध मारा है? ब्राह्मण ने कहा कि, मैं भीख मांगता फिरता था। इसे मैंने रास्ते से हटाया, जब यह न हटा, तब मैंने लकड़ी मार दी। "ब्राह्मण अदण्डनीय है" यह व्यवस्था सुन कर भगवान् बड़े संकोच में पड़े। कुत्ते से आपने पूछा कि, इसे क्या दंड दिया जाय। कुत्ते ने कहा--

'मेरो मायो करहु जो, रामचंद्र हित मंडि।
कीजै द्विज यह मठपती, और दंड सब छंडि॥' (रामचंद्रिका)

लोग हंसने लगे कि यह दंड हुआ कि अनुग्रह! भिक्षुक से मठाधिपति बनाना कहां का न्याय है? कुत्ते ने कहा कि, मैं भी पूर्वजन्म में मठपति था। भक्ष्याभक्ष्य खाने से कुत्ता होना पड़ा। मठपति होना महान् पातक का उदय है! इसका दोष तो थोड़ा सा ही है, पर मैंने क्रोधवश बड़ा दंड दे दिया,

'वाको थोरो दोष मैं, दीन्हों दंड अगाध।
राम चराचर ईस तुम, छमियो यह अपराध॥
लोक करउ अपवित्र वहि, लोक नरक को वास।
छुवै जो कोऊ मठपती, ताको पुन्य विनास॥' (रामचंद्रिका)

निदान वह ब्राह्मण, कुत्ते के कहने पर, बड़े ही समारोह से कालिंजर का महंत बनाया गया। वाल्मीकीय रामायण में लिखा है--

'कालिंजरे महाराज, कौलपत्यं प्रदीयताम्।
एतच्छ्रुत्वा तु रामेण, कौलपत्येऽभिषेचितः ॥'

(५) इस पद में गुसाईंजीने 'साहबी, ख्याल, कबूलत और करेरा इन उर्दू शब्दों का प्रयोग किया है। और यह प्रयोग, बोलचाल की भाषा में आनेसे, बड़े ही सुहावने जान पड़ते हैं।

(१४७)

कृपासिंधु, ताते रहौं निसिदिन मन मारे।
महाराज, लाज आपु ही निज जाँघ उघारे ॥ १ ॥
मिले रहैं मार्‌यो चहैं कामादि सँघाती।
मो बिनु रहैं न, मेरियै जारैं छल छाती ॥ २ ॥
बसत हिये हित जानि मैं सब की रुचि पाली।
कियो कथिक को दंड हौं जड़ करम कुचाली ॥ ३ ॥
देखी सुनी न आजु लौं अपनायत ऐसी।
करहिं सबै सिर मेरे ही फिरि परै अनैसी ॥ ४ ॥
बड़े अलेखी लखि परैं, परिहरै न जाहीं।
असमंजस में मगन हौं, लीजै गहि बाहीं ॥ ५ ॥
बारक बलि अवलोकिये, कौतुक जन जीको।
अनायास मिटि जाइगो संकट तुलसी को ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—मनमारे=निराश, उदास। आपुही निज जाँघ उघारे=स्वयं अपने हाथों अपना परदा खोलने से, अपनेही मुख से अपना भेद बताने से। संघाती=साथी। कथिक=गानेवाला। दंड=लकड़ी। अनैसी=अनिष्ट, बुराई। अलेखी—अन्यायी। बारक—बार+एक; एक बार।

भावार्थ—हे कृपासागर! इसीलिये मैं रात-दिन मन मारे रहता हूं कि, हे महाराज! अपनी जाँघ उघाड़ने से अपनी ही लाज जाती है, अपने हाथों अपना परदा खोलने से बेशर्म बनना पड़ता है ॥ १ ॥ यह काम आदि साथी मिले भी रहते हैं और मारना भी चाहते हैं, ऐसे कपटी हैं! वह बिना मेरे रह भी नहीं सकते, अर्थात् जब तक मुझमें "जीवत्व" भाव है, तभी तक काम, क्रोध आदि का अस्तित्व है। और मेरी ही छल कर-कर छाती जलाते हैं।

भाव यह कि, जिस पत्तल में खाते हैं, उसीमें छेद करते हैं ! ॥२॥ यह जान कर कि यह मेरे हृदय में बसते हैं, प्रेमपूर्वक मैंने इन सबकी रुचि भी पूरी कर दी है, अर्थात् सब विषय भोग चुका हूँ, पर इन दुष्टों और कुचालियों ने मुझे कत्थक की लकड़ी बना रखा है (लकड़ी के इशारे से जैसे नाच नचाते हैं, वैसा मुझे नाचना पड़ता है।) ॥ ३ ॥ आज तक मैंने ऐसी पराधीनता न तो देखी ही है और न सुनी है। कर्म तो करते हैं सब आप, और फिर जो कुछ बुराई होती है, वह मेरे मत्थे जाती है। अर्थात् इन्द्रियाँ भोग-विलास करती हैं, और भोगना पड़ता हैं अनेक जन्मों तक बेचारे जीव को ! कैसा अन्याय है ॥ ४ ॥ यह सब बड़े अन्यायी हैं। देखने में तो आते नहीं, (अज्ञान के मारे इनकी चाल समझ में नहीं आती) और दीख भी पड़ें, तो छोड़ने को जी नहीं चाहता ! हे प्रभो ! इसी दुविधा में पड़ा रहता हूँ। बस, अब हाथ पकड़ कर मुझे निकाल लीजिये (नहीं तो, इस संसार-सागर में डूबने ही वाला हूँ) ॥ ५ ॥ आपकी बलैया लेता हूँ, कृपा कर एक बार अपने इस दास का कौतुक तो देखिये। आप के देखते ही तुलसी का दुःख दूर हो जायगा, (क्योंकि ब्रह्म-दर्शन मात्र से जन्म-मरण छूट जाता है) ॥६॥

टिप्पणी—(१) इस पद में विषयों का प्राबल्य दिखाया गया है। काम आदि विषय बड़े धोखेबाज हैं। इनके मन पर चलें तो निबाह नहीं, और इनसे अलग रहें, तो भी निबाह नहीं। यह नाच नचा कर भी नहीं छोड़ते। जीव को, इनके अधीन होकर, नाना कष्ट भोगने पड़ते हैं। बड़ी विडम्बना है। कुछ कहा नहीं जाता। भगवत्-कृपा से ही इन सबों से पिंड छूट सकता है, अन्यथा नहीं।

(१४८)

कहौं कौन मुहँ लाइ कै रघुबीर गुसाईं।
सकुचत समुझत आपनी सब साइँ दुहाई ॥ १ ॥
सेवत बस सुमिरत सखा सरनागत सो हौं।
गुनगन सीतानाथ के चित करत न हौं हौं ॥ २ ॥
कृपासिन्धु बन्धु दीन के आरत हितकारी।
प्रनत-पाल बिरुदावली सुनि जानि बिसारी ॥ ३ ॥

सेइ न धेइ न सुमिरि कै पद-प्रीति सुधारी।
पाइ सुसाहिब राम सों, भरि पेट बिगारी ॥ ४ ॥
नाथ गरीबनिवाज हैं, मैं गही न गरीबी।
तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—हौं हौं=मैं हूँ। धेइ=ध्यान करके। कीबी=कीजिये।

भावार्थ—हे रघुवीर ! हे प्रभो ! क्या मुहँ लगा कर आप से कहूँ ? स्वामी की सौगन्ध है, जब मैं अपने करतब को समझता हूँ, तब संकोच के मारे कुछ कह नहीं सकता ॥ १ ॥ आप सेवा करने से वश में हो जाते हैं, स्मरण करने से मित्र बन जाते हैं और शरण में आने से सामने प्रकट हो जाते हैं। ऐसे जो आपके गुण-समूह हैं, उनपर मैं ध्यान नहीं देता, आप जैसे स्वामी को भुलाये बैठा हूँ ॥ २ ॥ आप कृपा के समुद्र हैं, दीनों के बन्धु हैं, दुखियों के हितू हैं, और शरणागतों के पालनेवाले हैं, ऐसी आपकी विरदावली सुनकर और जानते हुए भी मैं भूल गया हूँ ॥ ३ ॥ न तो सेवा ही की और न ध्यान ही। स्मरण करके आपके चरणों में प्रेम भी तो नहीं किया ! आप जैसे श्रेष्ठ स्वामी को पाकर भी, मुझसे जितना हो सका, उतना बिगाड़ किया। भाव, अपने हाथों अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारी ॥ ४ ॥ आप दीनों पर कृपा करनेवाले हैं, पर मैंने दीनता धारण नहीं की। भाव यह है कि, देहाभिमान के कारण मुझमें कभी दैन्य भाव नहीं आया, सदा ऐंड़ ही बनी रही। अब दीन-वत्सल भगवान् कृपा करें तो कैसे ? इसलिये हे नाथ ! अब अपनी ओर देख कर जो आपसे बन पड़े सो कीजिए। सारांश यह कि, आप बिगड़ी के बनानेवाले हैं। मुझ पर भी अवश्य कृपा करेंगे ॥ ५ ॥

टिप्पणी —(१) 'मैं गही न गरीबी'—स्वर्गीय भट्टजी ने इसका अर्थ यों लिखा है—

"(मैं ऐसा नीच हूं कि) मुझे गरीबी भी नहीं ग्रहण करती।" यह अर्थ खींचातानी से किया गया जान पड़ता है। इसका सीधा—ज्यों का त्यों—भाव तो यही हो सकता है कि, मैंने गरीबी नहीं गही, न कि यह कि मुझे गरीबी भी नहीं ग्रहण करती !

(२) 'कीबी'—यह प्रयोग बुन्देलखंडी प्रयोग 'करबी' से मिलता-जुलता है। कविवर बिहारी ने भी 'कीबी' का प्रयोग किया है।

(१४६)

कहाँ जाउँ कासों कहौं, और ठौर न मेरो * ।
जनम गँवायों तेरेहि द्वार मैं किंकर तेरो † ॥ १ ॥
मैं तो बिगारी नाथ सों आरति के लीन्हें ।
तोहि कृपानिधि क्यों बनै मेरी सी कीन्हें ॥ २ ॥
दिन दुरदिन, दिन दुरदसा, दिन दुख, दिन दूषन ।
जब लौं तू न बिलोकिहै रघुबंस-बिभूषन ॥ ३ ॥
दई पीठ बिनु डीठ मैं ‡ तुम बिस्व-बिलोचन ।
तो सो तुही न दूसरो नत-सोच-बिमोचन ॥ ४ ॥
पराधीन देव ! दीन हौं, स्वाधीन गुसाईं ।
बोलनिहारे सों करै बलि बिनय कि झाईं ॥ ५ ॥
आपु देखि मोंहिं देखिये जन मानिय साँचो ।
बड़ी ओट रामनाम की जेहि लई सो बाँचो ॥ ६ ॥
रहनि रीति राम रावरी नित हिय हुलसी है ।
ज्यों भावै त्यों करु कृपा तेरो तुलसी है ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—किंकर=सेवक । आरति के लीन्हें=क्लेशित होने के कारण । दिन=नित्य से तात्पर्य है । डीठ=दृष्टि । नत=प्रणत, विनीत । बाँचो=बच गया ।

भावार्थ—कहां जाऊं ? किससे कहूं ! मुझे कोई और ठौर ही नहीं । तेरे ही दरवाज़े पर (पड़े पड़े) जिन्दगी काटी है, और तेरा ही गुलाम रहा हूं । मतलब यह है कि, मैं सब तरह से तेरा ही हूं, दूसरे का नहीं ॥१॥ दुःखों से सताये जाने के कारण, हे नाथ ! मैं तो अपनी सारी करनी बिगाड़ चुका । अब हे कृपानिधे ! यदि तूने भी जैसे के लिये तैसा किया, तो फिर हो चुका ! भाव यह है कि, मुझसे सब बिगाड़ हो गया है, अब तेरे हाथ है, तू सुधार ले, क्योंकि तू दया का समुद्र है ॥२॥ हे रघुकुल में श्रेष्ठ ! जब तक तूने (इस जीव की ओर) नहीं देखा (कृपा नहीं की) तब तक नित्य ही खोटे दिन, नित्य ही बुरी दशा, नित्य ही दुःख और नित्य ही दोष लगते रहेंगे ॥३॥ मैं

---

* पाठान्तर 'मेरे' । † पाठान्तर 'द्वार किंकर तेरे' । ‡ 'पाठान्तर ' हैं' ।

तुझे पीठ दिये फिरता हूं, तुझसे विमुख हो रहा हूँ, क्योंकि मैं दृष्टिहीन हूं, अन्धा हूं, पर तू तो संसार-मात्र का द्रष्टा है न ? भाव यह कि, तू मुझसे विमुख न हो, मुझे शरण में ले ले। तुझसा तू ही है ॥ ४ ॥। दूसरा कौन है, जिससे तेरी उपमा दूं ? दीन-दुखियों के संकट को दूर करनेवाला एक तू ही है ॥ ४ ॥ हे देव ! मैं परतंत्र हूं, दीन हूँ, पर तू तो स्वतन्त्र है, स्वामी है। बलिहारी ! क्या छाया बोलनेवाले से विनय कर सकती है ? अर्थात् यह जड़ जीव चैतन्य विभु से विनती नहीं कर सकता ॥ ५ ॥ अतएव तू पहले अपनी ओर देख, तब मेरी ओर देख, तभी इस दास को सच्चा मानना। राम-नाम की ओट बड़ी भारी है। जिस किसी ने भी राम-नाम का सहारा लिया, वह (मृत्यु-भय से) बच गया ॥६॥ हे राम ! तेरी रहन-सहन सदा मेरे हृदय में फूली नहीं समाती, तेरा शील-स्वभाव विचार कर मैं मन ही मन बड़ा प्रसन्न हो रहा हूं कि अब मेरी सारी करनी बन जायगी। बस, 'यह तुलसी तेरा है,' जिस तरह हो तिस तरह इस पर कृपा कर, जैसे बने तैसे इसे अपना ले ॥ ७ ॥

टिप्पणी—(१) 'कृपा' श्रीभगवद्गुणदर्पण में 'कृपा' का लक्षण निम्नलिखित पाया जाता है—

'रक्षणे सर्व भूतानामहमेष परो विभुः।
इति सामर्थ्य संधानं कृपा सा परमेश्वरी ॥'

(२) 'पराधीन......गुसाईं'—ब्रह्म-जीव के संबध में गुसाईंजी ने, राम-चरितमानस में, स्पष्ट लिखा है—

'परवस जीव, स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्री कंता ॥'

यहां, सांख्य तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, न कि अद्वैत वेदान्त का। इसपर उन्हें विचार करना चाहिए, जो गुसाईंजी को अद्वैतवादी या मायावादी कहने का दुःसाहस करते हैं। पराधीन शब्द से ब्रह्म एवं माया दोनों का ही पराधीनत्त्व सिद्ध होता है।

(१५०)

रामभद्र ! मोहिं आपनो सोच है अरु नाहीं।
जीव सकल संताप के भाजन जग माहीं ॥ १ ॥

नातो बड़े समर्थ सों इक ओर किधौं हूँ ।
तो को मोसे अति घने मोको एकै तू * ॥ २ ॥
बड़ी गलानि हिय हानि है सर्वग्य गुसांई ।
कूर कुसेवक कहत हौं सेवक की नाईं ॥ ३ ॥
भलो पोच राम को कहैं मोहिं सब नरनारी ।
बिगरे सेवक स्वान ज्यों साहिब सिर गारी ॥ ४ ॥
असमंजस मन को मिटै सो उपाय न सूझै ।
दीनबन्धु, कीजे सोइ बनि परै जो बूझै ॥ ५ ॥
बिरुदावली विलोकिये तिन्ह में कोउ हौं हौं ।
तुलसी प्रभु को परिहर्‌यो सरनागत सो हौं ॥६॥

शब्दार्थ—भद्र = कल्याण । भाजन = पात्र । पोच = नीच । गारी = गाली । असमंजस = दुविधा । विरुद = बाना । सोहौं = सामने ।

भवार्थ—हे कल्याणस्वरूप रामचन्द्रजी ! मुझे अपना सोच है भी और नहीं भी है। जितने जीव हैं वे सभी, संसार में, दुःख के पात्र हैं, सभी दुखी हैं। सारांश यह है कि, मुझे सोच तो इस बात का है कि हाय ! मैं संसार-सागर में ही डूबा पड़ा हूं, अभी तक मुक्त नहीं हुआ। और निश्चिन्त इसलिये हूं कि जब सभी जीवों की मेरी जैसी दशा है, तो मुझे भी, कर्मफल भोगने में कुछ चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥ १ ॥ पर यह तो बताओ कि, क्या आप जैसे बड़े समर्थ से सिर्फ एक ही ओर से सम्बन्ध हैं ? क्या, जिस प्रकार मैं आपको अपना मानता हूं, वैसे आप मुझे न मानेंगे? एकाङ्गी प्रेम रखेंगे क्या ? (संभव है, क्योंकि) आपको तो मेरे जैसे अनेक हैं, किन्तु मुझे एक आपही हैं। भाव यह है कि, आप चाहे मुझसे निरपेक्ष हो जायं, पर मैं आपसे विमुख होने का नहीं ॥ २ ॥ हे नाथ ! आप तो घट-घट की जानते हैं, मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है और हृदय में इसे मैं हानि भी समझता हूं कि, हूं तो मैं दुष्ट और बुरा सेवक, बेईमान नौकर, पर बातें ऐसी कर रहा हूं कि जैसे कोई सच्चा सेवक करे। भाव यह है कि, मेरा यह पाखंड आपके आगे कैसे छिप सकता है, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं ॥ ३ ॥ भला

* पाठान्तर 'मोको इक तोहं ।'

हूं या बुरा, पर कहते तो सब स्त्री-पुरुष मुझे राम का ही हैं। सेवक और कुत्ते के बिगाड़ने से स्वामी के मत्थे गालियां पड़ती हैं। तात्पर्य यह है कि, यदि मैं खोटाई करूँगा, तो लोग यही कहेंगे कि बुरा हो राम का, जिसके ऐसे ऐसे नीच सेवक हैं ॥ ४ ॥ मुझे वह उपाय भी नहीं सूझ रहा है कि जिससे चित्त की यह दुविधा दूर हो जाय, अर्थात् मेरी नीचता दूर हो जाय और आपको भी कोई भला-बुरा न कहे। अब हे दीनवन्धु ! जो आपको समझ पड़े और जो बन सके, सो (मेरे साथ) कीजिए॥ ५ ॥ तनिक अपनी विरुदावली की ओर तो देखिये ! क्या मैं कहीं उसमें स्थान पा सकता हूं ? (भाव यह है कि, आप दीनवन्धु हैं तो क्या मैं दीन नहीं हूं, आप पतित-पावन हैं, तो क्या मैं पतित नहीं हूँ, आप प्रणतपाल हैं, तो क्या मैं प्रणत नही हूं ? इनमें से कुछ भी तो हूंगा।) बस उसी संबन्ध से आपको द्रवना पड़ेगा। यदि स्वामी इस तुलसी को छोड़ भी देंगे, तो भी यह उन्हींके सामने शरण में जाकर पड़ा रहेगा, धरना दिये रहेगा ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'जीव......जगमाहीं'—क्योंकि जैसा कर्म करेंगे, वैसा फल भोगेंगे, इसमें किसी का क्या चारा है !

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।'
'जे चेतन ते क्यों तजैं, जाको जासों मोह ।'

(२) 'असमंजस'—यह दुविधा कि मैं खोटा हूं, इसलिये मालिक पर भी बट्टा लगता है, खरा हो नहीं सकता, क्योंकि स्वभाव से ही मुझ में खोटाई भरी है। यह भी चाहता हूं कि मैं चाहे जैसा बना रहूं, पर मेरे पीछे मालिक की बदनामी न हो, सो भी नहीं हो सकता, दिन-रात इसी असमंजस में पड़ा सोचा करता हूं।

(३) 'कीजे सोई......बूझै'—यही बन पड़ेगा कि अपने सेवक पर कृपा कर देंगे, क्योंकि यदि दंड देंगे, तो संसार हंसेगा और कहेगा कि यह कैसे राम हैं जो अपने सेवक की ऐसी दुर्दशा देख रहे हैं। इसमें भी बदनामी का डर है। इसलिये कृपा ही करते बनेगी।

(४) 'तुलसी......सो हौं'—क्योंकि—

चुंबक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह ॥'

(१९१)

जो पै चेराई राम की करतो न लजातो ।
तौ तू दाम कुदाम ज्यों कर कर न बिकातो ॥ १ ॥
जपत जीह रघुनाथ को नाम नहिं अलसातो ।
बाजीगर के सूम ज्यों खल खेह न खातो ॥ २ ॥
जो तू मन, मेरे कहे राम-नाम कमातो ।
सीतापति सनमुख * सुखी सब ठाँव समातो ॥ ३ ॥
राम सोहाते तोहिं जो तू सबहिं सोहातो ।
काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहातो ॥ ४ ॥
राम-नाम अनुरागही जिय जो रति आतो ।
स्वारथ-परमारथ-पथी तोहिं सब पतिआतो ॥ ५ ॥
सेइ साधु सुनि समुझि कै पर-पीर पिरातो ।
जनम कोटि को काँदलो † हृद-हृदय थिरातो ॥ ६ ॥
भव-मग अगम अनन्त है, बिनु स्रमहिं सिरातो ।
महिमा उलटे नाम की मुनि कियो किरातो ॥ ७ ॥
अमर-अगम तनु पाइ सो जड़ जाय न जातो ।
होतो मंगल-मूल तू, अनुकूल विधातो ॥ ८ ॥
जो मन, प्रीति-प्रतीति सों राम-नामहिं रातो ।
तुलसी रामप्रसाद सों तिहूँ ताप न तातो ॥ ९ ॥

शब्दार्थ--चेराई = सेवा । खेह = धूल । कारनी = कारण, प्रेरक। कुल = सब । कोहातो = गुस्सा करता । रतिआतो = प्रीति करता । पिरातो = दुखी होता । कांदली = मैल । हृद = तालाब । थिरा तो । बैठ जाता, साफ हो जाता । सिरातो = पार कर जाता, तय कर लेता । किरातो = किरात, भील । जाय = व्यर्थ । रातो = प्रेम करना । तातो= लचता, जलता ।

भावार्थ--अरे ! जो तू श्रीरामचन्द्रजी की गुलामी करने में शर्म न खाता तो तू, खरा दाम होकर, खोटे दाम की नाईं हाथों हाथ न बिकता फिरता ।

* पाठान्तर 'सम्मुख ।' † पाठान्तर 'कँदेलो ।'

भाव यह है कि, तू है तो परमात्मा का अंश, पर अपने स्वरूप को भुला देने तथा मायाधीन होने से अनेक योनियों में टकराता फिरता है, कहीं तेरा आदर नहीं होता ॥ १ ॥ यदि तू जीभ से श्रीरघुनाथजी का नाम जपने में आलस्य न करता, तो आज तुझे बाजीगर के सूम के समान धूल न फाँकनी पड़ती। अर्थात् जैसे बाजीगर जब उसे कोई कंजूस खेल देखने पर भी कुछ नहीं देता, उसके नाम से काठ के पुतले के मुंह में धूल डालकर गालियां सुनाता है, उसी प्रकार यदि तू भगवन्नाम-स्मरण करने में कंजूसी न करता, खुले दिल से दिन-रात नाम जपता, तो तुझे गालियां न खानी पड़तीं, धूल न फाँकनी पड़ती, तेरी ऐसी दुर्दशा न होती ॥ २ ॥ अरे मन ! यदि तू मेरे कहने से राम-नाम कमाता, राम-नाम-रूपी धन संग्रह करता तो श्रीजानकी-वल्लभ रघुनाथ जी तुझे अपनी शरण में ले लेते, तू सुखी हो जाता और सर्वत्र तेरा आदर होता; लोक भी बन जाता और परलोक भी ॥ ३ ॥ जो तुझे श्रीरामजी अच्छे लगे होते, तो तू भी सबको अच्छा लगता, काल, कर्म आदि जितने (इस जीव के) प्रेरक हैं, वे सब फिर क्रोध न करते, सभी तेरे अनुकूल हो जाते ॥ ४ ॥ यदि श्रीराम-नाम से ही तू अपनी लगन लगाता, प्रेम करता, तो स्वार्थ और परमार्थ इन दोनों के ही बटोही तुझपर विश्वास करते। अर्थात् संसार और परलोक दोनों ही बन जाते ॥ ५ ॥ जो तू संतों की सेवा करता, एवं दूसरों की पीड़ा सुन-समझ कर दुखी होता, तो तेरे हृदय-रूपी तालाब में जो अनेक जन्मों का जमा मैल है, वह नीचे बैठ जाता, तेरा अंतःकरण निर्मल हो जाता ॥ ६ ॥ संसार का मार्ग अगम्य है, इसपर चलना महान् दुष्कर है, किन्तु (उपर्युक्त आचरण करता हुआ) तू बिना ही श्रम के उसे पार कर जाता। क्योंकि श्रीराम के उलटे नाम लेने की महिमा ने किरात (वाल्मीकि) को मुनि बना दिया था। भाव यह है कि, जब उलटे नाम का यह प्रभाव है, तब सीधा नाम जपने से क्या न सिद्ध हो जायगा ? ॥ ७ ॥ अरे जड़ ! तेरा यह देवताओं को भी दुर्लभ (मानव) शरीर यों ही न चला जाता। तू कल्याण की मूल हो जाता। अर्थात् "ब्राह्मी" अवस्था को पहुंच जाता। और दैव भी तुझपर कृपा करता ॥ ८ ॥ अरे मन ! यदि तू प्रेम और विश्वास से राम-नाम में लौ लगा देता, तो तुलसी, श्रीराम-कृपा से, तीनों तापों में न जलता, संसारी बाधाओं से बच जाता ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'राम सोहाते······सोहातो'—क्योंकि—

'जापर कृपा राम की होई। तापर कृपा करहिं सब कोई॥'

(२) 'अनुराग' —श्रीवैजनाथजी ने अनुराग की बड़ी ही सुन्दर परिभाषा लिखी है, देखिये—

'व्यापकता जो प्रीति की, जिमिं सुठि बसन सुरंग।
द्रगन द्वार दरसै चटक, सो अनुराग अभंग॥,

(३) 'पर पीर पिरातो'—भक्तवर नरसीजी भी वैष्णव-लक्षण में कह गये हैं कि—

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड़ पराई जाणे रे।,

(४) 'उलटे नाम'—रामचरितमानस में लिखा है कि—

'उलटा नाम जगत जग जाना। बाल्मीकि भे ब्रह्म समाना॥

(५) 'अनुकूल विधातो'—ब्रह्मा इसलिये प्रसन्न हो जाता कि इस जीव के बनाने से मेरा श्रम सफल हो गया, अब इसे बार बार न बनाना पड़ेगा। जीव का ब्रह्म-सम्बन्ध हो जाना ही चरम-फल है।

(६) 'तिहुँ ताप'—दैहिक, भौतिक और दैविक।

(७) 'प्रीति'—श्रीभगवद्गुणदर्पण में प्रीति का निम्नलिखित लक्षण पाया जाता है—

'अत्यंत योग्यताबुद्धिरनुकूलादिशालिनी।
अपरिपूर्णस्वरूपा या सास्यात् प्रीतिरनुत्तमा'॥

(१५२)

राम भलाई आपनी भल कियो न काको।
जुग जुग जानकिनाथ को जग जागत साको॥ १॥
ब्रह्मादिक बिनती करी कहि दुख बसुधा को।
रबिकुल-कैरव-चन्द भो आनन्द सुधा को॥ २॥
कौसिक गरत तुषार ज्यों तकि तेज तिया को।
प्रभु अनहित हित को दियो फल कोप कृपा को॥ ३॥

हर्‌यो पाप आप जाइ कै संताप सिला को।
सोच मगन काढ्यो सही साहिब मिथिला को॥ ४॥
रोष-रासि भृगुपति धनी अहमिति ममता को।
चितवत भाजन करि लियो उपसम समता को॥ ५॥
मुदित मानि आयसु चले बन मातु-पिता को।
धरम-धुरन्धर धीरधुर गुन-सील-जिता को॥ ६॥
गुह गरीब गतग्याति हू जेहि जिउ न भखा को।
पायो पावन प्रेम ते सनमान सखा को॥ ७॥
सद्‌गति सबरी गिद्ध की सादर करता को।
सोच-सींव सुग्रीव के संकट-हरता को॥ ८॥
राखि बिभीषन को सकै अस काल-गहा को।
आज विराजत राज है दसकंठ जहाँ को॥ ९॥
बालिस बासी अवध को बूझिये न खाको।
सो पाँवर पहुंचो तहां जहँ मुनि-मन थाको॥ १०॥
गति न लहै राम नाम सों बिधि सो सिरजा को।
सुमिरत कहत प्रचारि कै बल्लभ गिरिजा को॥ ११॥
अकनि अजामिल की कथा सानंद न भा को।
नाम लेत कलिकाल हू हरिपुरहिं न गा को॥ १२॥
राम-नाम-महिमा करै काम-भूरुह आको।
साखी बेद-पुरान हैं तुलसी-तन ताको॥ १३॥

शब्दार्थ--जागत=प्रसिद्ध है। साको=यश। कौसिक=विश्वामित्र।' गरत=गलते हैं। तिया=स्त्री, यहां ताड़का से तात्पर्य है। सिला=यहां अहल्या से तात्पर्य है। अहमिति='मैं' ऐसा, अहंकार। भाजन=पात्र। उपसम=शान्ति। गतग्याति=जिसकी जाति का पता नहीं, अत्यंत नीच। काल-गहा=काल का ग्रास, मरण प्राय। बालिस=मूढ़। अकनि=सुन कर। भा=हुआ। गा=गया। आको=अकौवा। तन=ओर।

भावार्थ—श्रीरामजी ने अपने भले स्वभाव से किसका भला नहीं किया? आव, सेवका भला किया। युग युग से श्रीजानकी-रमणजी का यश संसार

में प्रसिद्ध है ॥ १ ॥ ब्रह्मा आदि देवताओं ने पृथ्वी का दुःख कह कर विनय की थी, सो (पृथ्वी का भार हरने के लिये, राक्षसों को मारने के लिये) सूर्यवंश-रूपी कुमोदनी को प्रफुल्लित करनेवाले एवं अमृतोपम आनंद देनेवाले श्री रामचन्द्रजी प्रकट हुए, अर्थात् अवतार लिया ॥ २ ॥ विश्वामित्र ताड़का का तेज देख कर ओले की नाईं गले जाते थे। प्रभु ने, ताड़का को मार कर, शत्रु को मित्र का सा फल दिया। एवं क्रोध के बदले कृपा की। भाव यह है कि, दुष्ट ताड़का को स्वर्ग भेज कर उसपर कृपा की ॥ ३ ॥ स्वयं जाकर पापाणी (अहल्या) का पाप-संताप दूर कर दिया, उसे दिव्य देह देकर पति-लोक भेज दिया, फिर, मिथिला के महाराज जनक को शोक-सागर में से डूबते हुए निकाल लिया, अर्थात् धनुष तोड़ कर उनकी प्रतिज्ञा पूरी कर दी ॥ ४ ॥ परशुराम क्रोध के भाण्डार एवं अहंकार और ममत्व के धनी थे, उन्हें भी आपने देखते ही शान्ति और समता का पात्र बना लिया। अर्थात् वह क्रोधी से शान्त और अहंकारी से समदृष्टा हो गये। यह सब श्रीरामजी के शील स्वभाव ही का प्रभाव है ॥ ५ ॥ माता (कैकेयी) और पिता की आज्ञा मान कर प्रसन्न चित्त से वन चले गये। ऐसा, भला, धर्मधुरंधर और धैर्य-पुंगव तथा सद्‌गुण और शील का जीतनेवाला दूसरा कौन है ? भाव, कोई भी नहीं ॥ ६ ॥ जिसकी जाति का कोई ठिकाना नहीं, जिसने सब प्रकार के जीवों का भक्षण किया, जो गरीब था ऐसे गुह निषाद ने भी (जिन रघुनाथजी से) पवित्र प्रेम के कारण सखा-जैसा आदर प्राप्त किया ॥ ७ ॥ शबरी और गीध (जटायु) को मोक्ष देनेवाला कौन है ? और शोक की सीमा अर्थात् महान् दुखी सुग्रीव का संकट दूर करनेवाला कौन है ? (वही रघुनाथजी) ॥ ८ ॥ ऐसा कौन काल का ग्रास था, जो (रावण से बहिष्कृत) विभीषण को अपनी शरण में रखता, जिस रावण के राज्य में आज भी विभीषण राजा बना बैठा है। (यह सब कृपा रघुनाथजी की ही है) ॥ ९ ॥ अयोध्या का रहनेवाला मूर्ख धोबी, जिसमें खाक बराबर भी बुद्धि न थी, अथवा जिसे कोई धूल के बराबर भी नहीं समझता था, वह पापी भी वहां पहुंच गया, जहाँ पहुंचने में मुनियों का मन तक थक जाता है। भाव यह है कि, जिस परमधामके संबंध में बड़े बड़े मुनि विचार तक नहीं कर सकते, वहां वह धोबी सदेह चला गया ॥ १० ॥ ब्रह्मा ने ऐसा कौन बनाया, जो राम-नाम के प्रभाव से मुक्ति का भागी न हो ? भाव, जीवमात्र

राम-नाम से मुक्त हो सकते हैं। पार्वती-वल्लभ शिवजी (जिस) राम-नाम का स्वयं स्मरण करते हैं और दूसरों को सुना-सुना कर उसका प्रचार करते हैं ॥ ११ ॥ अजामेल की कथा सुन कर कौन प्रसन्न नहीं हुआ ? और राम-नाम-स्मरण कर, इस कलिकाल में, कौन ऐसा है जो विष्णुलोक न गया हो ? ॥ १२ ॥ राम-नाम का महत्व अकौवा को भी कल्पवृक्ष कर सकता है। इस बात के प्रमाण वेद और पुराण हैं। (इस पर भी विश्वास न हो तो) तुलसी की ओर देखो। भाव यह है कि, मैं महा नीच था, पर राम-नाम के प्रभाव से आज रामभक्तों में गिना जाता हूं ॥ १३ ॥

टिप्पणी--(१) इस पद में गुसाईंजी ने क्रमशः रामायण का संक्षिप्त वर्णन किया है। इस पद को यदि 'विनय रामायण' कहें, तो असंगत न होगा। विनय-पत्रिका में ऐसे अनेक अमूल्य पद-रत्न भरे पड़े हैं।

(२) 'गुह......सखा को'—निषाद को कितना महत्व प्राप्त हो गया था, इसे निम्नलिखित पदों में देखिये—

'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दण्ड प्रनामू ॥
राम-सखा रिषि बरबस भेंटे। जनु महि लुटत सनेह समेटे ॥
रघुपति भक्ति सुमंगल-मूला। नभ सराहि सुर बरषहिं फूला ॥
इहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ वसिष्ठ सम को जग माहीं ॥
जेहि लखि लषनहु ते अधिक, मिले महामुनि राव।
सो सीतापति मिलन को, प्रगट प्रताप प्रभाव ॥'

(३) 'शवरी'—१०६ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(४) 'गिद्ध'—जटायु; ४३ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(५) 'आज......जहां को'—स्वर्गीय भट्टजी ने इसका यह अर्थ किया है—"कि आज (जिस समय) जहां (लंका) का राजा रावण विराजमान् था।" किन्तु इससे यह अर्थ अधिक उपयुक्त जंचता है कि "जिस रावण के राज्य में आज भी विभीषण राजा बना बैठा है।" यही अर्थ श्रीबैजनाथजी ने भी लिखा है। वह यह है—"जहां को राजा रावण रहा ताको परिवार सहित मारि तहां को राजा विभीषण को किये, सो अजहूं विराजत है, भाव अचल राज्य दिये।"

(६) 'खाको'—स्वर्गीय भट्टजीने इस शब्दका अर्थ यों किया है-'खा = रज + क = रजक' ; बड़ा विचित्र अर्थ है ! 'खाको' का साधारणतः खाक से तात्पर्य है। यहां, धोबी से तात्पर्य अवश्य है, पर वह स्पष्टतः व्यक्त नहीं किया गया है। संभव है, गुसाईंजी ने उस दुष्ट का नाम अपने मुख से न लिया हो, क्योंकि उन्होंने श्रीसीता-परित्याग पर कुछ लिखा नहीं है।

(७) 'सुमिरत......गिरिजा को'—अध्यात्म रामायण में शिवजीने कहा है—

'अहो ! भवन्नाम गृणन् कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मंत्रं तव राम-नाम ॥'

(८)'अजामिल'— ५७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(१५३)

मेरे रावरिये गति रघुपति है बलि जाउँ।
निलज नीच निर्गुन निर्धन कहँ, जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ ॥ १ ॥
हैं घर घर बहु भरे सुसाहिब, सूझत सबनि आपनो दाउँ।
बानर-बंधु बिभीषन-हितु बिनु, कोसलपाल कहूं न समाउँ ॥ २ ॥
प्रनतारति-भंजन जन-रंजन, सरनागत पवि-पंजर नाउँ।
कीजै दास दासतुलसी अब, कृपासिंधु, बिनु मोल बिकाउँ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—ठाउँ = ठाम, स्थान। पवि-पंजर = बज्र का पिंजरा।

भावार्थ—हे रघुनाथजी ! बलिहारी, मुझे तो केवल आपकी ही शरण है, मेरी दौड़ आपही तक है। क्योंकि निर्लज्ज, नीच, मूर्ख और ग़रीब के लिये संसार में (आपको छोड़ कर) न तो कोई स्वामी है, और न ठिकाना ही। वह किसका हो कर रहे और कहां जाय ॥ १ ॥ वैसे तो घर घर बहुत से अच्छे अच्छे मालिक हैं, किन्तु उन सबों को अपना ही दाँव दिखाता है, वे अपना ही स्वार्थ साधना चाहते हैं। मैं तो बंदरों के मित्र और विभीषण के हितू कोसलेश श्रीरामचंद्रजी को छोड कर और कहीं भी शरण नहीं पा सकता, मेरी पूछ और किसी साहब के यहां न होगा ॥ २ ॥ आपका नाम भक्तों के दुःखों का नाश करनेवाला, सेवक जनों को सुख देनेवाला और शरणागतों के लिये बज्र-निर्मित पिंजरे के समान है (अमोघ कवच है)। बस, अब तुलसी-

दास को अपना दास बना लीजिए। हे कृपासागर! अब मैं विनाही मोल के (आपके हाथ में) बिकना चाहता हूँ। भाव यह है कि, आप का निष्काम सेवक बनना चाहता हूँ, मुझे अपना कोई स्वार्थ नहीं साधना है ॥ ३ ॥

टिप्पणी---(१) 'बानर बन्धु'----सामान्यतः सारे बन्दरों तथा विशेषतः सुग्रीव से तात्पर्य है।

(२) 'पवि-पंजर'—महर्षि विश्वामित्रजीने 'वज्रपंजर' नाम का एक कवच बनाया है। उसे राम-रक्षा स्तोत्र भी कहते हैं। उसकी फल श्रुति इसका प्रमाण है—

'वज्रपंजर नामेदं यो राम कवचं स्मरेत्।
अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभेत जयमंगलम् ॥'

(१५४)

देव, दूसरो कौन दीन को दयालु।
सीलनिधान सुजान-सिरोमनि, सरनागत-प्रिय प्रनत-पालु ॥ १ ॥
को समरथ सर्वग्य सकल प्रभु, सिव-सनेह-मानस-मरालु।
को साहिब किये मीत प्रीतिबस खग निसिचर कपि भील भालु ॥२॥
नाथ, हाथ माया-प्रपञ्च सब, जीव-दोष-गुन-करम-कालु।
तुलसिदास भलो पोच रावरो, नेकु निरखि कीजिये निहालु ॥ ३॥

भावार्थ—हे देव! (आपको छांड़कर) दीनों पर दया करनेवाला और दूसरा कौन है? आप ही एक शील के स्थान, ज्ञानियों में श्रेष्ठ, शरणागतों के प्यारे और भक्तों के पालनेवाले हैं। ॥ १ ॥ कौन आप के समान सर्व शक्तिमान् है? हे नाथ! आप सब जाननेवाले हैं, सबके स्वामी हैं, और शिव जी के प्रेम-रूपी मानसरोवर में (विहार करनेवाले) हंस हैं, सदैव शिव जी के प्रेमाधीन होकर उनके हृदय में वास करते हैं। किस मालिक ने प्रेमवश पक्षी (जटायु), राक्षस (विभीषण), बंदर, भील (निषाद) और भालुओं को अपना मित्र बनाया है? भाव यह है, कि ऐसे एक श्रीरघुनाथजी ही हैं, दूसरा नहीं ॥ २ ॥ हे नाथ! आपके हाथ माया का सारा प्रपंच एवं जीवोंके दोष, गुण, कर्म और काल है। यह तुलसीदास, भला हो वा बुरा, आपका हो है। तनिक इसकी ओर देख कर इसे निहाल कर दीजिये ॥ ३ ॥

टिप्पणी--'शील'--श्रीभगवद्गुणदर्पण में शील का लक्षण यह लिखा है--

'हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च वीभत्सैः कुत्सितैरपि ।
महतोऽच्छिद्र संश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः ॥'

श्रीवैजनाथजी ने इसका अनुवाद यह किया है--

'हीनरु दीन मलीन खल, घिन आवै जिहि देखि ।
सबनि आदरै मान दै, गुन सौशील्य विसेखि ॥'

(२) 'प्रपंच'--प्रपंच दो प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है--

१. पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांचों तत्त्वों की सृष्टि। पांच-भौतिक प्रकृति ।

२. अविद्या, विद्या, संधिनी, संदीपिनी और अल्हादिनी यही पंचधा माया है ।

(३) 'खग'—जटायु; ४३ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये ।

(४) 'भील'–वाल्मीकि और निषाद; ६४ पद की चौथी एवं १०६ पदकी तीसरी टिप्पणी देखिये ।

(१५५)

राग सारंग

बिस्वास एक राम नाम को ।
मानत नहिं परतीति अनत ऐसोई सुभाव मन बाम को ॥ १ ॥
पढ़िबो पर्यो न छठी छमत रिगु जजुर अथर्वन साम को ।
ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै कर तन छाम को ॥ २ ॥
करम-जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को ।
ग्यान बिराग जोग जप तप भय लोभ मोह कोह काम को ॥ ३ ॥
सब दिन सब लायक भव* गायक रघुनायक गुन-ग्राम को ।
बैठे नाम-कामतरु-तर डर कौन घोर घन घाम को ॥ ४ ॥
को जाने को जैहै जमपुर, को सुरपुर परधाम को ।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलाम को ॥ ५ ॥

शब्दार्थ--अनत = अन्यत्र, और कहीं । छठी न पर्यो = भाग्य में

* पाठान्तर 'शुभ'।

नहीं लिखा। छमत = छः शास्त्र अर्थात् वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा, (वेदान्त)। रिग = ऋक् वेद। जजुर = यजुर्वेद। सहमत = डरता है। छाम = क्षीण, दुर्बल। कोह = क्रोध। तर = तले, नीचे। परधाम = ब्रह्मलोक, वैकुंठ।

भावार्थ---मुझे एक राम-नाम का ही विश्वास है। मेरे कुटिल मन की कुछ ऐसी प्रकृति है कि वह और कहीं प्रतीति ही नहीं करता (चाहे कोई कितना ही लोभ क्यों न दिखाये)। ॥ १ ॥ छः शास्त्रों के सिद्धान्तों तथा ऋक्, यजु, अथर्वण और साम वेदों का पढ़ना, मेरे भाग्य ही में नहीं लिखा गया है (मुझे काला अक्षर भैंस बराबर है, अब रहे और उपाय सो) व्रत, तीर्थ, तप आदि सुन कर मन डर रहा है। कौन (इन साधनों में) पच-पच कर मरे, या शरीर को क्षीण करे ॥२॥ कर्मकाण्ड कलियुग में कठिन है, और वह द्रव्याधीन भी है। भाव यह है कि, एक तो पास में पैसा नहीं, कि जिससे यज्ञ आदि किया जाय, दूसरे कलियुग में अनेक विघ्न-बाधाएं हैं, जिनके मारे कभी पूरा नहीं पड सकता। और ज्ञान, वैराग्य, योग, जप और तप में लोभ अज्ञान, क्रोध और काम का भय लगा है (इनके मारे वह भी सधने के नहीं)॥३॥ इस संसार में श्रीरघुनाथजी की गुणावली गानेवाले ही सदा सब प्रकार से योग्य हैं। भाव, हरिकीर्त्तन करनेवाले ही सर्व गुण-सम्पन्न हैं, उन्हें कोई विघ्न-बाधा नहीं सताती। जो रामनाम--रूपी कल्पवृक्ष की छाया में बैठे हैं, उन्हें घन-घोर-घटा अथवा तेज धूप का क्या डर है ? तात्पर्य यह है, कि उन्हें न तो संसारी विपत्तियां ही सता सकती हैं और न पाप-सन्ताप ही, क्योंकि उनकी सारी मनस्कामनाएं पूरी हो जाती हैं ॥ ४ ॥ कौन जानता है कि कौन नरक जायगा, कौन स्वर्ग जायगा और कौन वैकुंठ जायगा ? तुलसीदास को तो इस संसार में रामजी का गुलाम होकर जीना ही बहुत अच्छा लगता है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'छमत'—छः शास्त्रों के सिद्धान्त; प्रत्येक सिद्धान्त के प्रतिपादक महर्षियों के नाम ये हैं--

१. वैशेषिक के प्रतिपादक कणाद हैं। यह मत परमाणु-प्रधान है।
२. न्याय " " " गोतम हैं। " " द्रव्य-प्रधान है।
३. सांख्य " " " कपिल हैं। " " पुरुष प्रकृति-प्रधान है।

४. योग के प्रतिपादक पतंजलि हैं। यह मत ईश्वर-प्रधान है।
५. पूर्वमीमांसा " " जैमिनि हैं। " " कर्म-प्रधान है।
६. उत्तरमीमांसा " " व्यास हैं। " " ब्रह्म-प्रधान है।

(२) 'भव गायक'—स्वर्गीय भट्टजी ने इसको समस्त पद मान कर इसका यह अर्थ किया है— "और शिवजी भी जिसे गाते हैं।" श्रीबैजनाथ जी यों लिख रहे हैं—"रघुनायक के कृपा, दया आदि जो समूह कल्याण गुण हैं तिनको ग्राम रामायणादि कथा ताको गायक होना।" यहां, 'भव' का अर्थ शिवजी युक्ति संगत नहीं समझ पड़ता। बैजनाथजी भी स्पष्टतया नहीं लिख रहे हैं। मेरी सम्मति में, 'भव' का अर्थ संसार ही होना चाहिए। अर्थात्, 'भव (में) रघुनायक-गुन-ग्राम को गायक सब दिन सब लायक' यह अन्वय मान लेने से सब झंझट दूर हो जाती है। 'भव' के स्थान पर किसी किसी प्रति में 'गुन-गायक' पाठ पाया जाता है। किन्तु आगे 'गुन ग्राम' आ जाने से इस पाठ में शैथिल्य आने की संभावना है। 'भव' पाठ ही अधिक उपयुक्त जँचता है। नागरीप्रचारिणी सभा की प्रति में 'भयो' पाठ पाया जाता है। ऐसा पाठ मान लेनेसे उसके सम्पादकगण इन सब आपत्तियोंसे बेलाग बच गये हैं।

(३) 'तुलसिहिं...गुलाम को'—यहां, गुसाईं जी 'हरिमय जगत्' को बैकुंठ आदि से भी बढ़ कर समझ रहे हैं। संसार का महत्व इस युक्ति से स्पष्ट हो जाता है। उनके लिये 'रामगुलाम' का जीवन स्वर्गीय जीवन से अधिक महत्व का है। अहमद भी कुछ ऐसा ही कहते हैं।

'कहा करौं बैकुंठ लै कलप वृच्छ की छांह।
'अहमद' ढाक सराहिये, जा प्रीतम गल बांह।'

(१५६)

कलि नाम कामतरु राम को।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख, दोष घोर घन घाम को॥ १॥
नाम लेत दाहिनो होत मन, बाम विधाता बाम को।
कहत मुनीस महेस महातम, उलटे सूधे नाम को॥ २॥
भलो लोक-परलोक तासु जाके बल ललित-ललाम को।
तुलसी जग जानियत नाम ते सोच न कूच मुकाम को॥ ३॥

शब्दार्थ—दुकाल = दुर्भिक्ष, अकाल। दाहिनो = अनुकूल। बाम = प्रतिकूल। मुनीस = वाल्मीकि से तात्पर्य है। ललित ललाम = यह दोनोंही शब्द सुन्दर के बोधक हैं; सुन्दर से भी सुन्दर। कूच = मृत्यु।

भावार्थ—कलियुग में श्रीराम-नाम कल्पवृक्ष है। वह दारिद्र्य, दुर्भिक्ष, दुःख, दोष, और सांसारिक घनघटा (विपत्तियों) तथा कड़ी धूप (ताप-संताप) का नाश करनेवाला है; अथवा संसारी कड़ी धूप से बचाने के लिये मेघरूप है ॥ १ ॥ रामनाम लेते ही प्रतिकूल विधाता का प्रतिकूल मन अनुकूल हो जाता है, रूठा हुआ दैव भी प्रसन्न हो जाता है। मुनीश्वर वाल्मीकि ने उलटे अर्थात् 'मरा मरा' नाम की महिमा गाई है। और शिवजीने सीधे रामनाम का माहात्म्य बताया है। तात्पर्य यह है कि, उलटा नाम जपते जपते वाल्मीकि बहेलिया से ब्रह्मर्षि हो गये और शिवजी सीधा नाम जपने से हलाहल विष पान कर गये तथा स्वयं भगवत्स्वरूप माने गये ॥ २ ॥ जिसे सुन्दर से भी सुन्दर इस रामनाम का बल-भरोसा है, उसके लोक और परलोक दोनों ही बने-बनाये हैं, दोनों ही हाथ लड्डू हैं। हे तुलसी ! रामनाम से इस संसार में न तो मौत ही का सोच जाना जाता है और न गर्भवास ही का, आवा-गमन दोनों ही हँसी-खेल हो जाते हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी–(१) कलियुग में केवल रामनाम ही मुख्य साधान है, इसे लक्ष्य में रखते हुए गुसाईं जी, रामचरितमानस में, लिखते हैं–

> 'कलियुग योग यज्ञ नहिं ज्ञाना। एक अधार राम गुन गाना।
> सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं॥
> सो भव तरु कछु संशय नाहीं। नाम-प्रताप प्रगट कलि माहीं॥'

(२) 'मुनीस'—वाल्मीकि; ६४ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(३) 'सोच न कूच मुकाम को'—राम-नाम के प्रभाव से यह जीव जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है, निर्वाण प्राप्त कर लेता है। पद्मपुराण में लिखा है—

> 'सकृदुच्चारयेद्यस्तु रामनाम परात्परम्।
> शुद्धान्तःकरणो भूत्वा निर्वाणमधिगच्छति॥'

(१५७)

सेइये सुसाहिब राम सो।
सुखद सुसील सुजान सूर सुचि, सुन्दर कोटिक काम सो ॥ १ ॥
सारद सेस साधु महिमा कहैं, गुन गन-गायक साम सो।
सुमिरि सप्रेम नाम जासों रति, चाहत चन्द्र-ललाम सो ॥ २ ॥
गमन बिदेस न लेस कलेस को, सकुचत सकृत प्रनाम सो।
साखी ताको बिदित बिभीषन, बैठो हैं अबिचल धाम सो ॥ ३ ॥
टहल सहज जन महल महल, जागत चारो जुग जाम सो।
देखत दोष न खीझत, रीझत सुनि सेवक गुन-ग्रामसो ॥ ४ ॥
जाके भजे तिलोक-तिलक भये, त्रिजग जोनि तनु तामसो।
तुलसी ऐसे प्रभुहिं भजै जो न ताहि बिधाता बाम सो ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—साम = साम वेद। चंद्रललाम = चन्द्रमा ही जिनका भूषण है, अर्थात् शिवजी। सकृत = एकबार। टहल = सेवा। ग्राम = समूह। त्रिजग = तिर्यक्, पशु-पक्षी। तामसो = तमोगुणी। बाम = प्रतिकूल।

भावार्थ—श्रीराम-जैसे सुन्दर स्वामी की सेवा करनी चाहिये। वह सुख देनेवाले, सुशील, चतुर, वीर, पुण्यश्लोक और करोड़ों कामदेवों के समान सुन्दर हैं ॥ १ ॥ उनकी महिमा का बखान सरस्वती, शेषनाग और संत जन करते हैं। उनकी गुणावली के गानेवाले सामवेद-सरीखे हैं। जिनका नाम प्रेमपूर्वक स्मरण करते हुए शिवजी-सरीखे (महादेव) भी उनसे लगन लगाना चाहते हैं ॥ २ ॥ उन्हें विदेश अर्थात् वन जाते समय तनिक भी दुःख नहीं हुआ। भाव यह है कि, वह ऐसे एकरस, सदा प्रसन्न रहनेवाले हैं कि उन्हें वन जाते हुए कुछ भी कष्ट नहीं हुआ। उन्हें यदि कोई एकबार भी प्रणाम कर लेता है, तो वे संकोच के मारे दब जाते हैं (ऐसे शीलवान् हैं) इसका साक्षी विभीषण प्रसिद्ध है, कि जो आज भी (लंका में) अटल राज्य कर रहा है ॥ ३ ॥ उन की चाकरी बड़ी सहल है (चूक भी पड़ जाय, तो माफ़ कर देते हैं); वह अपने भक्तों के घट-घट में चारो युग से (रात्रि के अथवा अविद्यारूपी रात्रिके) चारों पहर जागते रहते हैं। भाव, मोह या संकट के समय उनके हृदय में बैठ कर चौकसी किया करते हैं। अपराध देखते हुए भी सेवक पर क्रोध,

नहीं करते । और जब अपने सेवक की गुणावली सुनते हैं, तब उसपर निहाल हो जाते हैं ॥ ४ ॥ उन्हें भजने से, उनकी उपासना करने से, पशु-पक्षी एवं तामसी शरीरवाले (राक्षस) भी त्रिलोक-शिरोमणि माने गये । हे तुलसी ! ऐसे (सुशील, सुन्दर, जनवत्सल, पतितपावन एवं शरण्य) प्रभु को जो नहीं भजते उनपर विधाता प्रतिकूल है, यही समझना चाहिये ॥ ५ ॥

टिप्पणी--(१) 'गमन... क्लेश को'—श्रीरघुनाथजी के इस एकरस भाव पर गुसाईंजी ने, रामचरितमानस में, लिखा है—

'पितु-आयसु भूषन-बसन, तात तजे रघुबीर ।
विसमय हर्ष न हृदय कछु, पहिरे बल्कलचीर ॥'

मुख प्रसन्न मन राग न रोषू । सब कर सब बिधि किय परितोषू ॥

(२) 'जन महल......नाम से'—गीता में भी यही प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् ये जनाः पर्युपासते ।
तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥'

(३) 'त्रिजग जोनि तनु तामसो' —जटायु, बंदर, रीछ और विभीषण से तात्पर्य है ।

राग नट

(१५८)

कैसे देउँ नाथहिं खोरि ।
काम-लोलुप भ्रमत मन हरि, भगति परिहरि तोरि ॥ १ ॥
बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि ।
देत सिख सिखयो न मानत, मूढ़ता अस मोरि ॥ २ ॥
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि ।
संग-बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि ॥ ३ ॥
करौं जो कछु धरौं सचि पचि सुकृत-सिला बटोरि ।
पैठि उर बरबस दयानिधि, दंभ लेत अँजोरि ॥ ४ ॥
लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों, गरे आसा-डोरि ।
बात कहौं बनाइ बुध ज्यों, बर विराग निचोरि ॥ ५ ॥
एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत, लाज अँचई घोरि ।
निलजता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहिं छोरि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—खोरि = दोष। सचि पचि = यत्नपूर्वक रख कर, सेंत-सेंत कर। सिला = खेत में पड़े हुए अनाज के कण। अँजोरि लेत = खोज कर छीन लेता है। अँचई = पी गया। घोरि = घोल कर

भावार्थ—मैं अपने स्वमी को कैसे दोष दूं! हे हरे! तुम्हारी भक्ति छोड़ कर मेरा मन काम में फँसा हुआ इधर उधर घूमता रहता है (कभी क्षण भर भी निश्चल होकर तुम्हारा ध्यान नहीं करता) ॥ १ ॥ अपने पुजाने में तो मेरा बड़ा प्रेम है, सदा यही चाहता रहता हूं कि, लोग मुझे सन्त-महन्त मान कर मेरी प्रतिष्ठा करें, किन्तु तुम्हें पूजने में बहुत ही कम श्रद्धा है। दूसरों को तो उपदेश किया करता हूं (यह चाहता हूं कि लोग मेरे उपदेश पर चलें) पर स्वयं किसी की शिक्षा नहीं मानता—ऐसी मेरी मूर्खता है ॥ २ ॥ जिन जिन पापों को मैंने बड़े ही चाव से किया है, उन्हें तो हृदय में छिपा कर रख लिया, पर कभी किसी सत्संग में पड़ कर मुझसे जो अच्छे काम बन गये हैं, उन्हें मैं सारे संसार को निहोरा कर कर सुनाता फिरता हूं। भाव यह कि, मुझे सदा यही पड़ी रहती है कि दुनिया मुझे महात्मा समझे ॥ ३ ॥ कभी जो कुछ सत्कर्म बन जाता है उसे खेत में पड़े हुए अन्न के दानों की तरह बटोर-बटोर कर रखलेता हूं, किन्तु हृदय में ज़बरदस्ती पैठ कर पाखंड उसे भी खोज खोज कर बाहर निकाल फेंकता है। भाव यह है कि, पाखंड सारे किये हुए को मिट्टी में मिला देता है ॥ ४ ॥ लोभ मेरे मन को आशारूपी रस्सी से इस तरह नचा रहा है, जैसे कोई बंदर के गले में डोर बाँध कर उसे मनमाना नचावे। (और इसी लोभ के वश हो) मैं वैराग्य और तत्त्व की बातें, बड़े बड़े पंडितों की नाईं, मारा करता हूं ॥ ५ । इतना सब (पाखण्ड) होने पर भी तुम्हारा (दास) कहाता हूँ। जो लाज थी, उसे घोल कर मानों पी गया हूँ। भाव, अब बेशर्म होकर जो चाहे सो किया करता हूँ। हे रघुनाथजी! (और तो मेरे पास कुछ रहा नहीं) बस, इस निर्लज्जता पर ही रीझ कर, मेरा बंधन काट दो, मुझे संसार-जाल से मुक्त कर दो ॥ ६ ॥

टिप्पणी (१) दंभ'—दंभ वा पाखंड असत्य का रूपान्तर है। और असत्य के समान कोई दूसरा पाप नहीं। अतएव धर्म का घातक जैसा कुछ दंभ है वैसा दूसरा कुकर्म नहीं।

(१५९)

है प्रभु मेरोई सब दोसु।
सीलसिंधु, कृपालु, नाथ अनाथ, आरत-पोसु ॥ १ ॥
वेष बचन बिराग मन अघ अवगुननि को कोसु।
राम, प्रीति-प्रतीति पोली, कपट-करतब ठोसु ॥ २ ॥
राग-रङ्ग कुसंग ही सों, साधु-संगति रोसु।
चहत केहरि-जसहिं सेइ सृगाल ज्यों खरगोसु ॥ ३ ॥
संभु-सिखवन रसन हूं नित राम-नामहिं घोसु।
दंभहू कलि नाम कुम्भज सोच-सागर सोसु ॥ ४ ॥
मोद-मंगल-मूल अति अनुकूल निज निरजोसु।
रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुं परम संतोसु ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कोसु = (कोष) खजाना। केहरि = सिंह। रसन = रसना, जीभ। घोसु = (घोष) शब्द, उच्चारण कर। कुम्भज = अगस्त्य ऋषि। सोसु = सोख ले। निरजोसु = निश्चय।

भावार्थ— हे प्रभो ! सब मेरा ही दोष है। आप तो शील के समुद्र, कृपालु, अनाथों के नाथ और दीन-दुखियों के पालने-पोसनेवाले हैं ॥ १ ॥ मेरे भेष और वचनों में तो वैराग्य झलक रहा है, किन्तु मन पापों और अवगुणों का ख़जाना है। हे रामजी ! आपकी भक्ति और श्रद्धा के लिये मेरा मन खोखला है अर्थात् तनिक भी भक्ति और प्रतीति नहीं है, किन्तु छल-कपट के कामों के लिये ठोस है, कपट ही कपट भरा है ॥ २ ॥ जैसे खरगोश सियार की सेवा कर के सिंह की कीर्ति चाहता है, वैसे ही मैं कुसंगति से तो प्रेम करता हूं, आनन्द मनाता हूं, और साधुओं के संग से रूठा रहता हूं। भाव यह है कि, जैसे खरगोश गीदड़ के बूते पर सिंह का सा यशोलाभ करना चाहता हैं, गजेन्द्र के पछाड़ने की बहादुरी दिखाना चाहता है, पर यह सब कैसे हो सकता है ? सियार तो उसे भक्षण करनेवाला है। यश दूर रहा, उसे प्राणों से हाथ धोने पड़ेंगे। इसी प्रकार जो कुसंग में पड़कर कीर्ति कमाना चाहता है, सो कीर्ति के बदले उसे अपकीर्ति ही मिलेगी, और भी बदनाम हो जायगा ॥ ३ ॥ शिवजी का उपदेश यही है कि "नित्य जीभ से रामनाम का

उच्चारण कर।" कलियुग में पाखण्ड से भी लिया हुआ रामनाम, अगस्त्य की तरह दुःख-सागर को सोख लेता है (प्रायः ऊपरी तौर से रामनाम रटनेपर लोग यह आक्षेप किया करते हैं कि, अन्तःकरण तो शुद्ध ही नहीं, ऊपर से, पाखण्ड से, "रामनाम" जपने से क्या होता है ? इस पर यह कहा गया है कि, पाखंड से रटा हुआ नाम लोक-परलोक दोनों की चिंताओं को दूर कर देता है ॥ ४ ॥ वह (नाम) आनन्द और कल्याण की जड़ है, कारण का भी कारण है। यह मेरा निश्चय है कि अपने लिये एक रामनाम ही अत्यन्त अनुकूल है। रामनाम का ऐसा प्रभाव सुनकर तुलसी को भी बड़ा सन्तोष है (इसलिये कि मेरा भी उद्धार हो जायगा) ॥५।

टिप्पणी—(१) 'रसन हू नितराम नामहिं घोसु'—भक्तवर प्रह्लादने भी रामनाम का ऐसा ही महात्म्य बतलाया है। सुनिये—

'राम नाम जपतां कुतो भयं सर्व ताप शमैनक भेषजम् ।
पश्य तात मम गात्र सन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ॥'

(२) 'दम्भहू......सोसु'—रामनाम किसी तरह भी जपा जाय, मंगलकारी है। रामचरितमानस में भी लिखा है—

'भाव कुभाव अनख आलस हू। राम जपत मंगल दिसि दसहू ॥'

(३) 'निरजोसु'—श्रीवैजनाथजी ने इस शब्द का अर्थ यों लिखा है—

"निरयोसु जोख तौल रहित अतुल।"

(२६०)

मैं हरि, पतित-पावन सुने ।
मैं * पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने ॥ १॥
व्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने ।
और अधम अनेक तारे जात कापै गने ॥ २॥
जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने ।
दासतुलसी सरन आयो, राखिये अपने ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बानक = बानावाले, व्यापारी। भने = कहे हैं।

*पाठान्तर 'हम, हौं।'

भावार्थ—हे हरे ! मैंने तुन्हें पापियों को पवित्र करनेवाला सुना है । सो मैं तो पापी हूं, और तुम हो पापियों के उद्धार करनेवाले; बस, दोनों के बाने बन गये, दोनों का मेल मिल गया। भाव यह कि, मुझे पतित-पावन की ज़रूरत थी और तुम्हें पतित की। मेरी भी कामना पूरी हो गयी और तुम्हारी भी ॥१॥ वेद साक्षी भर रहे हैं कि तुमने व्याध (बाल्मीकि), गणिका (पिंगला वेश्या), गजेन्द्र और अजामेल को संसार-सागर से पार कर दिया है। (इतने ही नहीं) तुमने और भी अनेक नीचों को तारा है। उनकी गिनती किससे हो सकती है ? ॥ २ ॥ जिन्होंने जानकर याबिना जाने तुम्हारा नाम स्मरण किया है, उन्हें नरक और यमपुर जाने की मनाई कर दी गई है (वे सीधे वैकुंठ चले गये हैं। यह सब समझ बूझ कर) तुलसी भी तुम्हारी शरण में आया है। इसे भी अपना लो ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'मैं पतित.........बने'—एक और भक्त ने, निम्नलिखित कवित्त में, स्वामी-सेवक की, इसी भाव को सामने रखकर, क्या ही जोड़ी मिलाई है-

'मैं तो हूं पतित, आप पावनपतित नाथ,
पावनपतित हौ तौपातक हरोईंगे ।
मैं तो महा दीन आप दीनबंधु दीनानाथ,
दीनबंधु हौ तौ दया जीय में धरोईंगे ॥
मैं तो हूं गरीब आप तारक गरीबन के,
तारक गरीव हौ तौ बिरद बरोईंगे ।
मेरी करनी पै कछु मुकर न काज कान्ह,
करुना निधान हौ तौ करुना करोईंगे ॥'

(२) 'व्याध'—बाल्मीकि; ६४ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(३) 'गनिका'—पिंगला; ६४ पद की दूसरी टिपणी देखिये।

(४) 'गज'—८३ पदकी टिप्पणी देखिये।

(५) 'अजामेल'—५७ पदकी चौथी टिप्पणी देखिये।

राग मलार

(१६१)

तो सो प्रभु जो पै कहुँ कोउ होतो ।
तौ सहि निपट निरादर निसिदिन, रटि लटि ऐसो घटि को तो ॥१॥
कृपा-सुधा-जलदान माँगिबो कहौं सो साँच निसोतो ।
स्वाति-सनेह-सलिल-सुख चाहत चित-चातक को पोतो ॥ २ ॥
काल-करम बस मन कुमनोरथ कबहुँ कबहुँ कुछ भो तो ।
ज्यों मुदमय बसि मीन बारि तजि उछरि भभरि लेत गोतो ॥ ३ ॥
जितो दुराव दासतुलसी उर क्यों कहि आवत ओतो ।
तेरे राज राय दसरथ के, लयो बयो बिनु जोतो ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—लटि=दुबला होकर । तो=था । निसोतो=सच्चा, असल, निराला । पोतो=बच्चा । भो=हुआ । दुराव=छल-कपट । ओतो=उतना ।

भावार्थ—यदि तेरे जैसा कहीं कोई दूसरा मालिक होता, तो भला ऐसा कौन क्षुद्र था, जो बड़ा भारी अपमान सहकर एवं दिन-रात तेरा नाम रट-रट कर दुर्बल होता ? तात्पर्य यह है कि, तेरे सिवा और कोई कहीं समर्थ नहीं है। सब जगह भटक आया और तभी तेरे द्वार पर धरना दिया है ॥ १ ॥ जो मैं तुझसे कृपारूपी अमृत जल माँग रहा हूँ, वह सचमुच ही निराला है। मेरा चित्तरूपी चातक का बच्चा प्रेमरूपी स्वाति नक्षत्र का आनन्दरूपी जल चाहता है। भाव, तेरे प्रेमानन्द के लिये मेरा चित्त तड़प रहा है, उसे पल भर भी कल नहीं पड़ती, बच्चा ही है, धीरज कैसे बँध सकता है ॥ २ ॥ काल अथवा कर्म के कारण यदि कभी कभी मन में कोई बुरी बासना भी आ जाती है, (उस प्रेमानन्द से चित्त हटने लगता है) तो वह ऐसा ही है, जैसे मछली सुख से जल में रहती हुई कभी कभी उछल कर फिर उसी में घबरा कर गोता लगा जाती है। सारांश, उसे जैसे क्षण भर का भी जल-वियोग सहन नहीं होता, वैसे ही मेरा चित्त-चातक तेरे प्रेम-जल से अलग होने पर घबरा जाता है, और फिर उसीके लिये चेष्टा करता है ॥ ३ ॥ जितना छल-कपट तुलसी दास के हृदय में है, उतना किस प्रकार कहा जा सकता है ? (पर इतना विश्वास है कि) हे दशरथ-दुलारे ! तेरे राज्य में लोगों ने बिना ही जोते-

बोये पाया है। भाव यह कि, बिना ही सत्कर्म किये अनेक पापियों ने मोक्ष लाभ किया है। मेरी भी, उसी प्रकार, बन जायगी, यह विश्वास है॥ ४॥

टिप्पणी (१) 'स्वाति......पोतो'—चातक का प्रेम आदर्श प्रेम माना गया है। उसकी अनन्यता अनुकरणीय है। देखिये, गोपियां चातक के प्रति क्या कह रही हैं—

'बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारो।
बासर रैनि नाम लै बोलत, भयो बिरह ज्वर कारो॥
आप दुखित पर दुखित जानि जिय, चातक नाम तुम्हारो।
देखो, सकल बिचारि सखी जिय, बिछुरन को दख न्यारो॥
जाहिं लगै सोई पै जानै, प्रेमबान अनियारो।
सूरदास प्रभु स्वाति बूँद लगि, तज्यो सिंधु करि खारो॥'

(२) 'ज्यों......गोतो'—फिर बेचारी मछली जाय कहां? उसके लिये तो एक जल ही सर्वस्व है। सूरदासजी इस बात को दूसरे ही रंग में उतार रहे हैं। सुनिये—

'मेरो मन अनत कहाँ सचुपावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, पुनि जहाज पै आवै॥' इत्यादि।

राग सोरठ

(१६२)

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥ १॥
जा गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सा गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥ २॥
जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥ ३॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन कर कृपानिधि तेरो॥ ४॥

शब्दार्थ—द्रवै=कृपा करे।

भावार्थ—संसार में ऐसा कौन उदार है, जो विना ही सेवा किये दीन जनों को निहाल कर देता हो? ऐसे एक श्रीरामचन्द्र ही हैं, उनके समान दूसरा कोई नहीं ॥ १ ॥ जिस गति को, जिस मुक्ति को, बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी मुनि भी, योग, वैराग्य आदि अनेक साधन कर-कर, नहीं पाते हैं, उसे प्रभु रघुनाथजी गीध और शबरी तक को दे देते हैं, और उसे देने पर अपने जी में कुछ बहुत नहीं समझते, थोड़ा ही लेखते हैं ॥ २ ॥ रावण ने शिवजी को अपने दसों सिर चढ़ाकर उनसे जो संपत्ति प्राप्त की थी, उस सपत्ति को रघुनाथजी ने बड़े ही संकोच के साथ बिभीषण को दिया (संकोच इसलिये हुआ कि हमने इसे कुछ भी नहीं दिया, लंका का राज्य तो इसका ख़ान्दानी ही है, यह उसका उत्तराधिकारी कभी न कभी होता ही) ॥ ३ ॥ तुलसीदास कहते हैं कि अरे मेरे मन, जो तू सब तरह से सब सुख चाहता है, तो रामजी का भजन कर। कृपा-सागर प्रभु तेरी सारी मनस्कामनाएँ पूरी कर देंगे, तेरे सब मनोर्थ सफल हो जायँगे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'उदार'—श्रीभगद्गुणदर्पण में उदारता का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

'पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्।
वदान्यत्वं विदुर्वेदा·औदार्यवचसा हरे ॥'

(२) 'विनु सेवा......पर'—विना किसी बदले के जो कृपा की जाती है, वही सच्ची कृपा है, वही सच्चा प्रेम है। बदले के लिये जो किया जाता है, वह कृपा नहीं है, वाणिज्य है। निष्कारण कृपा करनेवाले, निर्हेतु प्रेम करनेवाले, एक परमात्माही है।

(३) 'गीध'—जटायु; रामचरितमानस में जटायु का बड़ा ही हृदयद्रावक वर्णन है। देखिये—

'कर-सरोज सिर परसेउ, कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबिधाम मुख, बिगत भई सब पीर ॥'

जटायु को मोक्ष देने पर श्रीरामजी कहते हैं—

'जल भरि नयन कहा रघुराई। तात कर्म निजते गति पाई ॥' अस्तु

'अबिरल भक्ति माँगि बर, ग्रध्र गयो हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्ही राम ॥'

(४) 'सबरी'—शबरी से श्रीरामजी, कहते हैं—

'जोगि वृन्द दुरलभ गति जोई । तोकहँ आजु सुलभ भई सोई ॥
मम दरसन फल परम अनूपा । जीव पाव निज सहज स्वरूपा ॥
सब प्रकार तव भाग बड़, मम चरनन अनुराग ।
तव महिमा जेहि उर बसहि, तासु परम बड़भाग ॥' (रामचरितमानस)

(५) 'जो संपति..... दीन्हीं'—इसीसे मिलता-जुलता दोहा, रामचरितमानस में, पाया जाता है–

'जो संपति सिव रावनहिं, दीन्ह दिये दसमाथ ।
सो संपदा बिभीषनहिं, सकुच दीन्ह रघुनाथ ॥'

(१६३)

एकै दानि-सिरोमनि साँचो ।
जेइ जाच्यो सोइ जाचकताबस, फिरि बहु नाच न नाच्यो॥ १ ॥
सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि, कोउ देत बिनु पाये ।
कोसलपालु कृपालु कलपतरु, द्रवत सकृत सिर नाये ॥ २ ॥
हरिहु और अवतार आपने,राखी वेद बड़ाई ।
लै चिउरा निधि दई सुदामहिं, जद्यपि बाल मिताई ॥ ३ ॥
कपि सबरी सुग्रीव बिभीषन, को नहिं कियो अजाची ।
अब तुलसिहिं दुख देति दयानिधि, दारुन आस-पिसाची ॥४॥

शब्दार्थ—द्रवत = पिघल जाते हैं, प्रसन्न होजाते हैं । सकृत = एक बार । चिउरा = चावल के कण । निधि = संपत्ति ।

भावार्थ—सच्चा, दानियों में शिरोमणि एक ही है। जिस किसी ने उससे माँगा, फिर उसे माँगने के लिये बहुत नाच नहीं नाचना पड़ा, किसी तरह का स्वाँग नहीं रचना पड़ा ॥ १ ॥ दैत्य, देवता, मनुष्य, मुनि, यह सभी मतलबी हैं। बिना कुछ लिये कोई कुछ नहीं देता। भाव, सभी घूसखोर हैं। किन्तु एक ऐसे कोशलेश कृपालु कल्पवृक्ष के समान श्रीरघुनाथजी ही हैं, जो एक बारही प्रणाम करने पर प्रसन्न हो जाते हैं (यदि कोई निःस्वार्थ मित्र है, तो एक रामजी ही) ॥ २ ॥ भगवान् ने अपने और-और अवतारों में भी वेदों की

मर्यादा पाली है। किन्तु यद्यपि सुदामा बचपन का मित्र था, पर उससे जब चाँवल के कण ले लिये, तब श्रीकृष्ण ने उसे संपत्ति प्रदान की (मुफ्त में कुछ नहीं दिया) ॥ ३ ॥ हे नाथ! आपने सुग्रीव, शबरी, विभीषण और हनुमान इनमें से किस किस को याचनारहित नहीं कर दिया, अर्थात् इन सब के सभी मनोर्थ पूरे कर दिये (और बदले में इन लोगों से कुछ लिया नहीं)। हे दयानिधि! यह भयंकर आशारूपी पिशाचिनी अब तुलसी को दुःख दे रही है। ध्वनि यह निकलती है कि, इससे मेरा पिंड छुड़ा दो, मुझे दर्शन दे कर कृतार्थ कर दो ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'सब स्वार्थी......मुनि'—कहा भी है—

'सुरनर मुनि सबही की रीती। स्वारथ लागि करहिं ये प्रीती॥'

(२) 'द्रवत.. ...नाथे'—वाल्मीकि रामायण में लिखा है—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥'

(३) 'लै चिउरा......मिताई'—वाह। इस पद में क्या ही मीठा व्यंग्य है! यह व्यंग्य भक्तों के ही मुहँ से अच्छे लगते हैं। बात तो सच है, चाँवलों की घूस देकर ही सुदामा ने अपनी दरिद्रता दूर की थी। गोस्वामीजी! अगर श्रीकृष्ण घूसखोर हैं, तो आपके रामजी भी इस इलजाम से बरी नहीं हैं। उन्होंने भी तो सुग्रीव और विभीषण से किसी न किसी मतलब के साधने के लिये दोस्ती की थी, आप चाहे इसे मंजूर न करें। सांप्रदायिक पक्षपात के कारण मुझे इतना लिखना पड़ा। क्षमा करियेगा।

(४) 'सबरी'—१०६ पद की पाँचवीं टिप्पणी देखिये।

(५) 'आस'—आशा-पिशाचिनी के संबंध में कबीरसाहब कहते हैं—

'आसन मारे का भया, मुई न मन की आस।
ज्यों तेली के बैल को, घर ही कोस पचास॥
आसा जीवै जग मरै, लोक मरै मन जाहि।
धन संचै सो भी मरै, उबरै सो धन खाहि॥'

(१६४)

जानत प्रीति-रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई ॥ १ ॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई ।
ऐसेहु पितु तें अधिक गीधपर, ममता गुन गरुआई ॥ २ ॥
तिय-बिरही सुग्रीव-सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई ।
रन पर्‌यो बंधु बिभीषन ही को, सोच हृदय अधिकाई ॥ ३ ॥
घर गुरुग्रह प्रिय-सदन सासुरे, भई जब जहँ पहुनाई ।
तब तहँ कहि सेबरी के फलनि को रुचि माधुरी न पाई ॥ ४ ॥
सहज-सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई ।
केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई ॥ ५ ॥
प्रेम-कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई ।
'तेरो रिनी' कह्यौ हौं कपि सों ऐसी मानहि को सेवकाई ॥ ६ ॥
तुलसी राम-सनेह-सील लखि, जो न भगति उर आई ।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—हाते = दूर । गरुआई = बड़प्पन । माधुरी = मिठास । कनौड़ो = एहसानमंद । रिनी = ऋणी । जाय = व्यर्थ ।

भावार्थ—प्रेम की पद्धति एक रघुनाथजी ही जानते हैं । श्रीरामजी प्रेमी के नाते से सारे सम्बन्ध छोड़ देते हैं । अर्थात् सगे सम्बन्धी को छोड़ कर प्रेमी ही का मान रखते हैं ॥ १ ॥ महाराज दसरथ ने प्रेम निभा कर शरीर छोड़ दिया, जिससे उनकी कीर्त्ति अमर हो गई । किंतु ऐसे (अपूर्व) पिता को भी गीध जटायु के आगे कुछ अधिक महत्व नहीं दिया । गीध पर अधिक ममत्व और शील-गंभीरता दिखाई, अथवा उसके करतब का बड़ा एहसान माना (इस कारण से कि इसने परोपकार के लिये, सीताजी को रावण के हाथ से छुड़ाने के लिये, अपने प्राण तिनके की तरह त्याग दिये ।) ॥ २ ॥ सुग्रीव मित्र को स्त्री के विरह में देख कर आपने अपनी प्राणाधिक प्यारी जानकी को भुला दिया (जानकीजी का पता लगाने की बात भुला कर बालि के मारने के लिये व्याकुल हो उठे) । रणभूमि में तो भ्राता लक्ष्मण(शक्ति के

मारे) मूर्च्छित पड़े हैं, पर (उनका दुःख भूल कर) हृदय में विभीषण ही की चिंता लगी हुई है। तात्पर्य यह है कि, श्रीरामचन्द्रजी यह सोचने लगे कि जब लक्ष्मण ही न बचेंगे, तब मैं रावण के साथ युद्ध करके क्या करूंगा ? मैं भी प्राण त्याग दूंगा। उस समय बेचारा विभीषण किसका हो कर रहेगा ? रघुनाथजी ऐसे पर-दुःख-कातर हैं ॥ ३ ॥ घर में, गुरु वसिष्ठ के आश्रम में, प्रिय मित्रों के यहां, अथवा ससुराल में, जब जहां मेहमानी हुई, आतिथ्य-सत्कार हुआ, तब वहां यही कहा कि मुझे जैसा शबरी के बेरों में स्वाद और मिठास मिला था, वैसा कहीं नहीं मिला ॥ ४ ॥ जब मुनि लोग आपके सहज स्वरूप, अर्थात् निर्गुण परमात्मस्वरूप, का बखान करने लगते हैं, तब आप, लज्जा के मारे, नीचा सिर कर लिया करते हैं। किन्तु जब केवट आपको अपना 'मित्र' एवं बन्दर अपना 'भाई' कहते हैं, तो अपनी बड़ाई समझते हैं ॥ ५ ॥ प्रेम का एहसानमंद रघुनाथजी के समान, हे भाई ! तीनों लोकों और तीनों कालों में कोई दूसरा मालिक नहीं है। अरे, जिन्होंने हनुमानजी से यह कहा कि "मैं तेरा ऋणी हूँ" उनके आगे सेवा के लिये कृतज्ञता प्रकाश करनेवाला और कौन है ? ॥ ६ ॥ हे तुलसी ! श्रीरामचन्द्रजी का ऐसा स्नेह और शील देख कर उनके प्रति यदि तेरे हृदय में भक्ति का उदय नहीं हुआ, तो तेरी मा ने तुझे पैदा कर व्यर्थ ही अपनी युवावस्था खोई। भाव यह है कि, तुझे जनने से तो वह बांझ ही भली थी ॥ ७ ॥

टिप्पणी—(१) 'ऐसहु......गरुआई'—गीतावली में इस प्रसंग का निम्नलिखित पद क्या ही भावमय है—

'राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहुँ अरघ जल दीन्हों ॥
सुनहु लषन, खगपतिहिं मिले बन, मैं पितु-मरन न जान्यो।
सहि न सक्यौ सो कठिन विधाता, बड़ो पछु आजुहि भान्यो ॥
बहु बिधि राम कह्यो तनु राखन, परम धीर नहिं डोल्यो।
रोक प्रेम, अवलोकि बदन-बिधु, बचन मनोहर बोल्यो ॥
तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि, समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनि दुर्लभ, तुमहिं कहाँ पुनि पैहौं ॥'

(२) 'रन पर्‌यो......अधिकाई'—इस प्रसंग को गुसाईंजी ने निम्नलिखित कविता में इस प्रकार व्यक्त किया है—

'तात को सोच न मात को सोच रु सोच नहीं मोहिं औध तजे को।
सोच नहीं बनबास भयो किन सोच नहीं मोहिं सीय हरे को॥
लछ्मन भूमि पर्‌यो नहिं सोच, न सोच कछू मोहिं लंक जरे को।
सोच भयो तुलसी इक मोकहँ भक्त विभीषन बाहँ गहे को॥'

(३) 'सेवरी के फलनि की'—शबरी के फलों पर, रसिकबिहारीजी की, क्या ही यमकालंकृत सूक्ति है—

'बेर बेर बेर लै सराहैं बेर बेर बहु, 'रसिकबिहारी' देत बंधु कहँ फेर फेर।
चाखि चाखि भाषैं यह वाहूते महान मीठो, लेहु तौ लषन यों बखानतहैं हेर हेरें॥
बेर बेर देवै बेर सबरी सु बेर बेर, तोऊ रघुबीर बेर बेर तेहि टेर टेर।
बेर जनि लावौ बेर बेर जनि लावौ बेर, बेर जनि लावौ बेर लावैं कहैं बेर बेर॥'

(४) 'सहज......वरनत'—यथा—

'रामस्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अगम अपार, नेति नेति नित निगम कह॥ (रामचरितमानस)

(५) 'तेरो रिनी......सेवकाई'—श्रीरघुनाथजी हनुमान् से कहते हैं—

'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहि कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रत्युपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकै मन मोरा॥
सुनु कपि तोहिं उऋन मैं नाहीं। देखेउ करि विचार मन माहीं॥'

(१६५)

रघुबर, रावरि यहै बड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीब पर, करत कृपा अधिकाई॥ १॥
थके देव साधन करि सब, सपनेहु नहिं देत दिखाई।
केवट कुटिल भालु कपि कौनप, कियो सकल सँग भाई॥ २॥
मिलि मुनिबृन्द फिरत दंडक बन, सो चरचौ न चलाई।
बारहि बार गीध सबरी की बरनत प्रीति सुहाई॥ ३॥

स्वान कहे तें कियो पुर बाहिर, जती गयंद चढ़ाई।
तिय-निन्दक मतिमंद प्रजा रज निज नय नगर बसाई ॥४॥
यहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई।
दीनदयालु दीन तुलसीकी काहु न सुरति कराई ॥५॥

शब्दार्थ—गनी=धनी। चरचौ=चरचा भी। जती=(यती) संन्यासी। रज=रजक, धोबी। नय=नीति। सुरति=याद।

भावार्थ—हे रघुश्रेष्ठ! आपकी यही बड़ाई है कि आप धनियों का, धनाधों का, अनादर कर गरीबों का आदर करते हैं, उनपर बड़ी कृपा करते हैं। देवता अनेक उपाय कर-कर हार गये, पर उन्हें आपने स्वप्न में भी दर्शन नहीं दिये। किन्तु निषाद एवं कपटी रीछ और बन्दरों को राजा बना दिया, उनके साथ भाई-चारा निवाहा, (यह क्यों? इसलिये कि देवता अभिमानी थे, और रीछ-बन्दर निरभिमानी) ॥२॥ मुनियों के साथ हिलमिल कर जो दंडकारण्य में घूमते फिरे, उसका तो जिक्र तक न किया, परन्तु जब देखो तब गीध (जटायु)और शबरी की भक्ति का सुन्दर बखान करते रहे (यहाँ भी वही अभिमान-निरभिमान की बात है) ॥३॥ कुत्ते के कहने पर संन्यासी को तो नगर के बाहर, हाथी पर चढ़ाकर, निकाल दिया और श्रीसीताजी की बुराई करनेवाले मूर्ख धोबी को, प्रजा समझ कर, नीति से अपने नगर (अयोध्या में बसा लिया (यहाँ भी वही कारण है)॥४॥ (इससे सिद्ध होता है कि) इस दरबार में, रामराज्य में, सदा से ग़रीबों के आदर करने की परिपाटी चली आ रही है। किन्तु हे दीनदयालु! इस दीन तुलसी का ध्यान आपको (आज तक) किसीने नहीं दिलाया (बड़े आश्चर्य की बात है!) ॥५॥

टिप्पणी—(१) इस पद में दीनता या नम्रता पर अधिक जोर दिया गया है। कहा भी है कि—

'ऊँचे ऊँचे सब चलैं, नीचौ चलै न कोय।
जो कदापि नीचौ चलै, (तौ) ध्रुव तें ऊँचो होय ॥'

भक्ति पक्ष में 'दैन्य' को बड़ा महत्त्व दिया गया है। यही कारण है कि भक्त निरभिमान होकर परमेश्वर के समीप शीघ्र पहुँच जाते हैं। और ज्ञानी, अभिमान में रँगे रहने के कारण, माया के ही चक्कर काटते रहते हैं।

(२) 'केवट'—गुह निषाद; १०६ पद की तीसरी टिप्पणी तथा १५२ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(३) 'गीध'—४३ पद की तीसरी तथा १६४ पद की पहली टिप्पणी देखिये।

(४) 'सबरी'—१०६ पदकी पांचवी एवं १६४ पदकी तीसरी टिप्पणी देखिये।

(५) 'स्वान... ..चढ़ाई'—१४६ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(६) 'यहि......आदर'—दीनता की महिमा कबीरसाहब यों गा रहे हैं—

'लघुता तें प्रभुता मिलै, प्रभुता ते प्रभु दूरि।
चींटी लै सक्कर चली, हाथी के सिर धूरि॥'
सब तें लघुताई भली, लघुता तें सब होय।
जस दुतिया को चंद्रमा, सीस नवै सब कोय॥'

(७) 'काहु न सुरति कराई'—इसमें आपका कोई दोष नहीं हैं। आप दीन दयालु हैं, और मैं दीन हूँ। बात इतनी ही है कि अभी तक किसीने यह आपको सुझाया नहीं, क्योंकि दरबार में कभी कभी अंधेर भी हो जाता है।

(१६६)

ऐसे राम दीन-हितकारी।
अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी ॥१॥
साधन-हीन दीन निज अघबस, सिला भई मुनि-नारी।
गृहतें गवनि परसि पद पावन घोर साप तें तारी ॥२॥
हिंसारत निषाद तामस बपु, पसु समान बनचारी।
भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल जाति बिचारी ॥३॥
जद्यपि द्रोह कियो सुरपति-सुत, कहि न जाय अति भारी।
सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय टारी।
बिहँग जोनि आमिष अहारपर, गीध कौन ब्रतधारी।
जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी ॥५॥
अधम जाति सबरी जोषित जड़* लोक बेद तें न्यारी।
जानि प्रीति दे दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी ॥६॥

* पाठान्तर 'सठ'।

कपि सुग्रीव बंधु-भय-व्याकुल, आयो सरन पुकारी।
सहि न सके दारुन दुख जन के, हत्यो बालि सहि गारी ॥७॥
रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर, कौन भजन अधिकारी।
सरन गये आगे ह्वै लीन्हों भेंट्यो भुजा पसारी ॥८॥
असुभ होइ जिनके सुमिरे तें, वानर रीछ विकारी।
बेद-बिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ, तुम्हारी ॥९॥
कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी।
कलिमल-ग्रसित दास तुलसी पर, काहे कृपा बिसारी ॥१०॥

शब्दार्थ—गवनि = जाकर। सुरपति-सुत = इन्द्र का पुत्र जयंत। आमिष = मांस। अहारपर = खाने वाला। जनक = पिता। जोषित = (योषित) स्त्री। जड़ = मूर्ख। बिकारी = अधर्मी।

भावार्थ—दीनों का ऐसा हित करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी ही हैं। वह बड़े कोमल, करुणा के भाण्डार, दयामूर्त्ति और बिना किसी कारण के दूसरों का भला करनेवाले हैं ॥ १ ॥ साधनों से रहित, दीन गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या, अपने पापों के कारण, पाषाणी हो गई थी। उसे आपने घर से जाकर और अपने पवित्र चरण से छू कर शाप से मुक्त कर दिया ॥ २ ॥ गुह निषाद सदा हिंसा में लगा रहता था। उसका शरीर तामसी था और पशु की तरह वन में फिरता रहता था। उसे आपने, वंश और जाति का विचार किये बिना ही, प्रेमपूर्वक छाती से लगा लिया ॥ ३ ॥ यद्यपि इन्द्र के पुत्र जयंत ने इतना भारी अपराध किया था, कि वह कहा नहीं जा सकता (जयंत ने कौए का रूप धर कर सीताजी के चरणों में चोंच मारी थी) तथापि जब वह (रघुनाथजी के वाण के मारे व्याकुल हो कर बचने के लिये) सारे लोकों को देख फिरा और फिर दुःख से निराश हो कर शरण में आया, तब उसका सारा भय दूर कर दिया, उसका सारा अपराध भूल कर उसे निहाल कर दिया ॥ ४ ॥ जटायु गीध पक्षी की योनि था, सदा मांस खाया करता था। उसने ऐसा कौन सा व्रत साधा था कि जिससे आपने अपने हाथ से, पिता के समान उसकी अंत्येष्टि क्रिया की? उसकी करनी सब तरह से बना दी ॥ ५ ॥ शबरी नीच जाति की मूर्खा स्त्री थी। वह लोक और वेद दोनों से ही बाहर

थी, उसकी कहीं भी कुछ पूछ न थी। किन्तु उसका अपने ऊपर प्रेम समझ कर कृपालु रघुनाथजी ने उसे भी दर्शन दिये और उसका उद्धार कर दिया ॥ ६ ॥ सुग्रीव बन्दर अपने भाई (बालि) के डर के मारे व्याकुल होकर जब पुकारता हुआ आपकी शरण में आया, तब आप अपने दास का महान् दुःख न देख सके और गालियां खाकर भी बालि का वध कर डाला (इसीसे तो आपकी जन-वत्सलता सिद्ध होती है) ॥ ७ ॥ विभीषण, शत्रु (रावण) का तो भाई था और जाति का राक्षस ! भला वह किस भजन का अधिकारी था ? किन्तु जब वह (रावण से तिरस्कृत और बहिष्कृत हो कर) आपकी शरण में आया, तब उसे आपने आगे बढ़ कर लिया, स्वागत किया, और बाहु फैला कर उसे हृदय से लगाया ॥ ८ ॥ बन्दर और रीछ ऐसे अधर्मी हैं कि उनका नाम लेने से अमंगल होता है, किन्तु हे नाथ ! उन्हें भी आपने पवित्र बना लिया। वेद इस बात के साक्षी हैं। यह सब आपकी महिमा है ॥ ९ ॥ ऐसे अनेक दीन हैं, जिनकी विपत्तियां आप ने दूर कर दी हैं, मैं कहां तक कहूँ ! किन्तु, मालूम नहीं, इस तुलसीदास पर, जो कि कलियुग के पापों से जकड़ा हुआ है, क्यों आपने कृपा करना भुला दिया, क्यों उसे अभी तक नहीं अपनाया है ॥ १० ॥

टिप्पणी—(१) 'मुनि-नारी'—अहिल्या; ४३ पदकी दूसरी टिप्पणी देखिये।

(२) 'गृह तें गवनि'–इसका यह तात्पर्य है कि रामचन्द्रजी घर से केवल अहल्या के तारने के लिये गये थे, ताड़का को मारने अथवा धनुष तोड़ने के अर्थ नहीं। यह वड़ी ही सुन्दर अर्थ-ध्वनि है।

(३) 'निषाद'—गुह; १०६ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(४) 'द्रोह कियो सुरपति सुत'—वाल्मीकि और कालिदास ने यह लिखा है कि जयन्त ने श्रीसीताजी के स्तनों पर चोंच से आघात किया था और ऐसा उसने कामवश किया था, किन्तु गुसाईंजी ने मर्यादा पालन करते हुए ऐसा न लिख कर यह कहा है कि उसने श्रीकिशोरीजी के चरणों में चोंच मारी थी। देखिये ४३ पद की तीसरी टिप्पणी।

(५) 'गीध'—जटायु; ४३ पद की पांचवीं एवं १६४ पद की पहली टिप्पणी देखिये।

(६) 'सबरी'—१०६ पद की पाँचवीं टिप्पणी देखिये।

(७) 'विभीषन'—१४१ पद की पाँचवीं टिप्पणी देखिये।

(८) 'असुभ...विकारी'—कहा भी है—

'प्रात लेइ जो नाम हमारा। तादिन ताहि न मिलै अहारा॥'

(९) 'कहँ लगि कहौं'—भाव, अगणित पापियों का उद्धार किया है—

'एते जन तारे जेते नभ में न तारे हैं।'

(१६७)

रघुपति-भगति करत कठिनाई।

कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ बनि आई॥ १॥

जो जेहि कला-कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।

सफरी सनमुख जल-प्रवाह, सुरसरी बहै गज भारी॥ २॥

ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बल तें न कोउ बिलगावै।

अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै॥ ३॥

सकल दृस्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।

सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी॥ ४॥

सोक मोह भय हरष दिवस-निसि देस-काल तहँ नाहीं।

तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं॥ ५॥

शब्दार्थ—सफरी = मछली। सर्करा = शक्कर। सिकता = धूल। पिपीलिका = चींटी। दृश्य = पंचभूतात्मक जगत्। द्वैत-बियोगी = जिनका भेदात्मक ज्ञान चला गया है। संसय = सदसत् विवेक का अभाव।

भावार्थ—श्रीरघुनाथजी की भक्ति के करने में बड़ी कठिनता है। कहने में तो सहज है, पर उसका करना अपार है। जिससे वह करते बन गई है, वही जानता है॥ १॥ जो जिस कला में प्रवीण है, उसीके लिये वह सरल और सदा सुख देनेवाली है। जैसे मछली गंगाजी के जल-प्रवाह के सामने चली जाती है, पर इतना बड़ा हाथी बह जाता है (क्योंकि वह मछली की तरह उसमें तैरना नहीं जानता)॥ २॥ (दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हैं) जैसे यदि धूल में चीनी मिल जाय तो उसे कोई शक्ति लगाकर अलग नहीं कर सकता, किन्तु उसके रस को जाननेवाली एक छोटी सी चींटी उसे सहज ही उठा लेती है, अलग-अलग कर देती है॥ ३॥ जो योगी

दृश्य मात्र को, सारे पंचभूतात्मक प्रपंच को, अपने पेट में रखकर (चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा संसार का लय करके) निद्रा को त्याग कर सोता है, अर्थात् अविद्या हटाकर ब्राह्मी अवस्था में तल्लीन हो जाता है और भेदात्मक ज्ञान का आत्यंतिक त्याग कर देता है, वही वैष्णव-पद के परमानन्द की प्रत्यक्ष अनुभूति कर सकता है, ब्रह्मानन्द का पूर्णाधिकारी वही हो सकता है ॥ ४ ॥ इस अवस्था में शोक, मोह, भय, हर्ष, दिन-रात और देश-काल का नाम तक नहीं है, इन सबसे वह परे पहुंच जाता है। हे तुलसीदास ! जब तक (यह जीव) इस दशा को प्राप्त नहीं हुआ, तब तक संशय निर्मूल नहीं होते (कुछ न कुछ सन्देह बना ही रहता है, और जब तक सन्देह का लेश है, तब तक आत्मा को श्रेय नहीं मिल सकता) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'रघुपति...... कठिनाई'——नागरी-प्रचारिणी-सभा की प्रति में 'रघुपति' शब्द के आगे सम्बोधन (!) का चिन्ह दिया गया है। किन्तु रघुपति और भक्ति को षष्ठी तत्पुरुष समास मानना अधिक संगत होगा, क्योंकि सारे पद में संबोधन की, कहीं भी, आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है ! सिद्धांत रूप से लिखा जान पड़ता है ।

(२) 'कहत सुगम'——जैसे कहने में निम्नलिखित चौपाइयां बड़ी ही सुगम हैं, जीभ को तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचता—

'सरल स्वभाव न मन कुटिलाई । जथा लाभ संतोष सदाई ॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारंभ अनिकेत अमानी । अनघ अरोस दच्छ बिग्यानी ॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा । तृनसम बिषय स्वर्ग अपवर्गा ॥'

परन्तु, इनके अनुकूल आचरण करना बड़ा कठिन है, तलवार की धार पर चलना है। करनी-कथनी में बड़ा अन्तर है ।

(३) 'सफरी.........पावैं'—इसी भावकी एक कुण्डलिया श्रीभगवत रसिकजी की मिलती है । देखिये—

'भगवत स्यामा-स्याम को, पावक रूप बिहार ।
नहिं समर्थ खगराज की, करत चकोर अहार ॥

करत चकोर अहार, किलकिला जलचर लावै ।
स्याह सीख मृगराज बदन तें, आमिष पावै ॥
ऐसे रसिक अनन्य, और सब जानहुँ खगवत ।
तजौ पराई, सैन, भजौ चित माफिक भगवत ॥'

(४) 'द्वैत-वियोगी'—जीवत्व छोड़ कर आत्मत्व में रमनेवाला, आत्मसमर्पण कर चुकनेवाला।

(५) 'यदि दसा'—यह जीवन्मुक्ति दशा है, विदेहावस्था भी इसीको कहते हैं। लिखा है—

'गुनागार संसार-दुख-रहित विगत संदेह ।
तजि, मम चरनसरोज प्रिय, तिन कहँ देह न गेह ॥'

(१६८)

जो पै राम-चरन-रति होती ।
तौ कत त्रिबिध सूल निसिबासर सहते बिपति निसोती ॥ १ ॥
जो संतोष-सुधा निसिबासर सपनेहुं कबहुंक पावै ।
तौ कत बिषय बिलोकि झूँठ जल मन-कुरंग ज्यों धावै ॥ २ ॥
जो श्रीपति-महिमा बिचारि उर भजते भाव बढ़ाए ।
तौ कत द्वार द्वार कूकर ज्यों फिरते पेट खलाए ॥ ३ ॥
जे लोलुप भये दास आस के ते सब ही के चेरे ।
प्रभु-बिस्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे ॥ ४ ॥
नहिं एकौ आचरन भजन को, बिनय करत हौं ताते ।
कीजै कृपा दासतुलसी पर, नाथ, नाम के नाते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—निसोती = खालिस । कुरंग = हिरण । खलाए = लटकाए हुए, दिखाता हुआ।

भावार्थ—यदि कहीं श्रीरामचंद्रजी के चरणों में प्रेम होता, तो रात-दिन तीनों प्रकार के कष्ट और खालिस विपत्ति क्यों सहनी पड़ती (सदा सुखी ही न रहता ? किंतु, राम-चरणों में तो भक्ति है ही नहीं, सुख कहां से हो ! सारांश, रामभक्ति ही सुख-रूप है) ॥ १ ॥ यदि यह मन दिन-रात में,

कभी सही, स्वप्न में भी संतोषरूपी अमृत पा जाय, तो इसे विषयों के पीछे, जो झूठे मृगजल के समान हैं, क्यों हिरण की नाईं दौड़ना पड़े ? तात्पर्य यह है कि सन्तोष के आगे सारे सांसारिक विषय-भोग मिथ्या हैं ॥ २ ॥ यदि हम भगवान् लक्ष्मीकांत की महिमा मन में बिचार कर भाव-भक्ति से उनका भजन करते, तो आज कुत्ते की तरह द्वार-द्वार पर पेट दिखाते हुए क्यों मारे-मारे फिरते ॥ ३ ॥ जो लोभी आशा के दास बन गये हैं, वे सभी के गुलाम हैं और जिन्होंने भगवान् में विश्वास करके आशा को जीत लिया है, वही (सच्चे) भगवत्-सेवक हैं, तदीय जन हैं, ॥ ४ ॥ मैं आपसे इसलिये विनय कर रहा हूं कि मुझमें भजन भाव का एक भी साधन नहीं है (श्रवण, कीर्तन, वंदन आदि नवधा भक्ति की ओर से विलकुल कोरा हूं)। हे नाथ ! तुलसीदास पर अपने नाम के नाते से कृपा कीजिए (क्योंकि आपका नाम दीन-वत्सल, दीनबन्धु आदि है) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'निसोती'—श्रीमान् भट्टजी ने इसका अर्थ 'प्रवाह' लिखा है !

(२) 'जो संतोष......पावै'—क्योंकि,

'सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ।'

(३) 'जे लोलुप......केरे'—यही बात कबीरसाहब कहते हैं—

'कबिरा जोगी जगत गुरु, तजै जगत की आस ।
जो जग की आसा करै, जगत गुरू वह दास ॥'

हरिभक्त को किसी संसारी मनुष्य की आशा करनी ही न चाहिये, उसे चिंताही किस बात की ?

'भोजने छादने चिंतां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः ।
योऽसौ विश्वंभरो देवं स भक्तं किमुपेक्षते ॥'

(महाभारत)

(१६६)

जो मोहि राम लागते मीठे ।
तौ नवरस, षटरस-रसअनरस ह्वै जाते सब सीठे ॥ १ ॥
बंचक विषय विविध तनु धरि अनुभवे, सुने अरु डीठे ।
यह जानत हौं हृदय आपने सपने न अघाइ उबीठे ॥ २ ॥

तुलसिदास प्रभु सों एकहि बल बचन कहत अति ढीठे।
नाम की लाज राम करुनाकर केहि न दिये कर चीठे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—नवरस = शृंगार, हास्य, करुणा, वीर, रुद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त वा सम। षट्रस = कटु, तीखा, मधुर, कषाय, अम्ल और लवण। सीठे = फीके। बंचक = ठग। डीठे = देखे। उबीठे = ऊबे, मन से उतर गये। चीठे = चिट्ठी, परवाना।

भावार्थ—यदि कहीं मुझे श्रीरामचंद्रजी मीठे लगे होते, तो नवरस (साहित्यिक) एवं छः रस (स्वादु-संबंधी) नीरस और फीके वा कडुवे पड़ जाते (पर रामजी तो मीठे लगते ही नहीं, उनसे तो कुछ प्रेम है नहीं, इसीलिये भोग-विलास मधुर मालूम होते हैं) ॥ १ ॥ मैंने नाना प्रकार के शरीर धारण कर यह अनुभव किया है, सुना है और देखा है कि विषय ठग हैं (सत्कर्मों के लुटेरे हैं)। यद्यपि यह मैं अपने जी में खूब समझता हूँ, पर (समझते हुए भी) कभी, स्वप्न में भी, इनसे तृप्त होकर जी नहीं ऊबा, मन नहीं हटा (कैसे आश्चर्य का विषय है!) ॥ २ ॥ तुलसीदास अपने स्वामी श्रीरघुनाथजी से एक ही बल-भरोसे पर ढिठाई-भरे वचन कह रहा है। (और वह बल यह है कि) हे नाथ! आपने अपने नाम की लाज रखने के लिये किस-किसके हाथ में दयाकर परवाने नहीं दे दिये हैं? किसे संसार से मुक्त कर देने का वचन नहीं दिया? भाव यह है कि, आपके नाम में वह शक्ति है, जो जीवमात्र को भव-सागर से तार देने में समर्थ है। उसीका मुझे भरोसा है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'तौ.........सीठे'—क्योंकि—

'रमा-विलास राम अनुरागी। तजत बमन इव जन बड़भागी ॥' (रा॰चरितमानस)
कबीरसाहब भी कहते हैं—

'पीया चाहै प्रेमरस, राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खड़ग, देखा सुना न कान ॥'

(२) 'बंचक विषय'—सत्संग अथवा प्रारब्धवश यदि जीव ज्ञान-रत्नों का संचय करता है, तो इंद्रियों के विषय क्षणभर में उन्हें लूट कर ले जाते हैं। ग़ज़ब के डाकू हैं!

'कामः क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्कराः
ज्ञानरत्नापहाराय तस्माज्जाग्रत जाग्रत ॥' (श्रीशंकराचार्य्य)

(३) 'नाम की लाज'—यदि, पतितपावन नाम रख कर, पापियों का उद्धार न किया, तो नाम मुफ्त में बदनाम हो जायगा। इसलिये जैसे-तैसे, अपनी बात रखने के लिये, पापियों का उद्धार करना ही पड़ेगा। भला निम्नलिखित भक्तों का टेढ़ा-मेढ़ा वचन कैसे गवारा हो सकता था—

'एहो मुरारि पुकारि कहौं अब, मेरी हँसी नहिं, तेरी हँसी है।'

(१७०)

यों मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो।
ज्यों छल छाँड़ि सुभाव निरंतर रहत विषय अनुराग्यो ॥ १ ॥
ज्यों चितई परनारि, सुने पातक-प्रपंच घर घर के।
त्यों न साधु, सुरसरि-तरंग-निर्मल गुनगन रघुवर के ॥ २ ॥
ज्यों नासा सुगंधरस-बस, रसना षटरस-रति मानी।
राम-प्रसाद-माल, जूँठनि लगि त्यों न ललकि ललचानी ॥ ३ ॥
चंदन चंद्रवदनि भूषन पट ज्यों चह पाँवर परस्यो।
त्यों रघुपति-पद-पदुम-परस को तनु पातकी न तरस्यो ॥ ४ ॥
ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये वपु बचन हिये हूँ।
त्यों न राम सुकृतग्य जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ ॥ ५ ॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार द्वार जग बागे।
राम-सीय-आस्रमनि चलत त्यों भये न स्रमित अभागे ॥ ६ ॥
सकल अंग पद-बिमुख नाथ मुख नाम की ओट लई है।
है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपा-मई है ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—रसना = जीभ। ललकि = उमंग में आकर। पांवर = (पामर) पापी। सकृत = एकबार। बागे = फिरे, चले। ओट = भरोसा।

भावार्थ—मेरा मन इस प्रकार कभी भी आपसे नहीं लगा, जैसा कि वह कपट छोड़ कर, सच्चे स्वभाव से विषयों में लौलीन रहता है, विषयों की ओर उसकी सहज स्वाभाविक वासना रहती है ॥ १ ॥ जैसे मैं दूसरे की स्त्री

को ताकता फिरता हूं, घर-घर के पाप भरे प्रपंच सुनता रहता हूं, वैसे न तो कभी साधुओं के दर्शन करता हूं, और न गङ्गाजी की निर्मल तरङ्गों के समान श्रीरघुनाथजी की गुणावली ही सुनता हूं ॥ २ ॥ जैसे नाक अच्छी अच्छी सुगन्ध के रस के अधीन रहती है, और जीभ छः रसों से प्रेम करती है, वैसे यह नाक भगवान् पर चढ़ी हुई माला के लिये और जीभ भगवत्-प्रसाद के अर्थ ललक-ललक कर लालायित नहीं होती है ॥ ३ ॥ जैसे यह अधम शरीर चंदन, चन्द्रवदनी कामिनी और अलंकार एवं वस्त्रों को छूना चाहता है, वैसे कभी यह श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों के स्पर्श करने के लिये उत्कंठित नहीं होता है ॥ ४ ॥ जिस प्रकार मैंने शरीर, वचन और हृदय से भलीभांति, बुरे-बुरे देवों और दुष्ट स्वामियों की सेवा की, उस प्रकार उन रघुनाथजी की सेवा कभी नहीं की, जो सत्कर्मों के माननेवाले और एक बार प्रणाम करने पर ही सकुचा जाते हैं (सौशील्य के कारण सिर नीचा कर लेते हैं) ॥ ५ ॥ जैसे यह चंचल पैर लोभवश, लोभी बन कर, द्वार-द्वार भटकते फिरे हैं, वैसे यह अभागे श्रीसीता-रामजी के (पुण्य) आश्रमों में चल कर कभी भी नहीं थके। (यह तात्पर्य नहीं है कि पुण्य आश्रमों में चलते हुए यह थके नहीं हैं, किंतु वहां गये ही नहीं, थकेंगे क्या ?) ॥ ६ ॥ हे प्रभो ! मेरे अङ्ग-प्रत्यंग आपके चरणों से विमुख हैं (किसी भी अङ्ग से चरणों की सेवा नहीं की)। केवल इस मुख ने आपके नाम की ओट ले ली है (और यह इसलिये कि) आप की मूर्ति कृपा का रूप है। तुलसी को यही एक बल-भरोसा है (कि आप कृपासागर होने के कारण तथा नाम की बात रखने के लिये मुझे अवश्य संसार-सागर से पार कर देंगे)।

टिप्पणी—(१) इस पद में शरीर के सारे अंगों की निरर्थकता और सार्थकता का दिग्दर्शन कराया गया है। एक ही वस्तु असार और सारमय हो सकती है। अंतर केवल उसकी उपयोगिता में है। इसी प्रकार जगत् यदि 'हरिमय' है, तो वह सत्य है, आनन्द रूप है, श्रेयस्कर है, और यदि वह 'हरि-शून्य' है, तो मिथ्या है, दुःख-रूप है, अनिष्टकर है। आत्मा के अनुकूल प्रत्येक वस्तु सुखरूप है, उसके प्रतिकूल वह दुःखरूप है। यह ध्रुव सिद्धान्त है।

(२) 'चंदन......पट'—चंदन, चन्द्रवदनी, भूषन और पट इनका भिन्न

भिन्न अर्थ है, तथा, चंदन-चर्चित अंगवाली, चंद्रमुखी स्त्री जो भूषण और वस्त्र धारण किये है—यह भी अर्थ घट सकता है।

(३) 'कुदेव'—भूत-प्रेत से अभिप्राय है। गुसाईंजी ने भूतों के माननेवालों को यत्र तत्र खूब फटकार दिखायी है; उनका यह विश्वास था कि छोटी छोटी कामनाओं की पूर्ति के लिये ही लोग प्रायः भूतों को माना करते हैं और फिर उनकी प्रकृति कुछ ऐसा रंग पकड़ जाती है कि उनका विश्वास परमेश्वर परसे सदा के लिये उठ जाता है। कुछ दिनों में वह नास्तिक हो जाते हैं।

(४) 'राम सीय आस्रमनि'—अयोध्या, चित्रकूट, दण्डकारण्य आदि।

(१७१)

कीजै मो को जम-* जातनाई।
राम, तुम से सुचि सुहृद साहिबहिं, मैं सठ पीठि दई ॥ १ ॥
गरभबास दस मास पालि पितु-मातु-रूप हित कीन्हों।
जड़हिं बिबेक, सुसील खलहिं, अपराधिहिं आदर दीन्हों ॥ २ ॥
कपट करौं अंतरजामिहुं सों, अघ व्यापकहिं दुरावौं।
ऐसेहु कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावौं ॥ ३ ॥
उदर भरौं किंकर कहाइ बेंच्यो बिषयनि हाथ हियो है।
मोसे वंचक को कृपालु छल छाँड़ि कै छोह कियो है ॥ ४ ॥
पल पल के उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिद्यो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहु प्रेम सिय-पी के ॥ ५ ॥
स्वामी की सेवक-हितता सब कछु निज साइँ-दोहाई।
मैं मति-तुला तौलि देखी भइ मेरेहि दिसि गरुआई ॥ ६ ॥
एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आयो अरु करिहैं।
तुलसी अपनी ओर जानियत प्रभुहि कनौड़ो भरिहैं ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—पीठि दई=विमुख हो गया। जड़हि=मूर्ख को। बावौं=(वाम) प्रतिकूल। छोह=अनुग्रह। दोहाई=शपथ। तुला=तराजू। गरुआई=भारीपन। कनौड़ों=एहसान से दबा हुआ।

---

* पाठान्तर 'जग।'

भावार्थ—हे नाथ ! मुझे तो आप यम-यातना (जन्म-मरण) में ही सान दीजिये, संसारी प्रवृत्तियों में ही पड़ा रहने दीजिये । क्योंकि, हे श्रीरामजी ! मैं आप-जैसे पवित्र और हितू स्वामी से विमुख हो गया हूँ (इसका दण्ड यम-यातना ही हो सकता है, सो मुझे दीजिए) ॥ १ ॥ जब मैं गर्भ में था, तब आपने माता-पिता के समान दस महीने तक मेरा पालन-पोषण कर हित किया । मुझ मूर्ख को आपने शुद्ध ज्ञान, दुष्ट को सुन्दर शील और अपराधी को आदर दिया, (मुझे आपका कृतज्ञ होना चाहिये था, सो तो न हुआ, उलटे आपको भुला कर कृतघ्नताका भागी बन गया ।) ॥ २ ॥ (मेरी मूर्खता तो देखो) मैं अन्तर्यामी प्रभु के साथ छल करता हूं, सर्वव्यापी, घट-घट में रमनेवाले, से अपने पाप छिपाता हूं । ऐसे दुर्बुद्धि और नीच नौकर पर भी श्रीरघुनाथजी ने अपना मन प्रतिकूल नहीं किया । भाव, अब भी उस पर कृपा कर रहे हैं (बलिहारी !) ॥ ३ ॥ आपका दास बन कर तो पेट भरा करता हूँ, किन्तु हृदय विषयों के हाथ में बेंच दिया है (चाहिये तो यह था कि जिसका खाना उसका गाना, पर मुझ अधम से यह न हुआ) । मुझ सरीखे ठग पर भी कृपालु रघुनाथजी ने निष्कपट भाव से कृपा ही की है (धन्य !) ॥ ४ ॥ आपके एक एक क्षण के उपकार जान कर, समझ कर और भलीभांति सुन कर भी मेरे कठोर चित्त में कभी श्रीसीतावल्लभजी का प्रेम नहीं भिदा । मेरा चित्त वज्र के समान है ॥५॥ मैंने जब अपनी बुद्धिरूपी तराजू पर एक ओर स्वामी की सारी जन-वत्सलता और दूसरी ओर थोड़ी सी अपनी करनी अर्थात् कुटिलता रख कर तौली, तब देखने पर मेरी ओर का पलड़ा ही भारी निकला । यह मैं स्वामी की सौगन्ध खाकर कह रहा हूं (मिथ्या न समझना) । इसका तात्पर्य यह है कि, जीव की क्षण भर की भी भगवत्-विमुखता परमात्मा की समस्त कृपा की अपेक्षा भारी है, उसके कर्म ऐसे पतित हैं कि वह, भगवत्कृपा होने पर भी, क्षणमात्र में नरकगामी हो सकता है ॥ ६ ॥ किन्तु इतने पर भी मेरे कृपालु स्वामी मेरा भला करते चले आ रहे हैं, करते हैं और करेंगे, वह सदा से मेरे हितू हैं । तुलसी अपनी ओर से जानता है कि इस कनौड़े का, एहसान से दबे हुए का, स्वामी ही पालन करेंगे (क्योंकि उनकी यह प्रतिज्ञा है कि वह शरणागत का अवश्य पालन करते हैं) ॥ ७॥

टिप्पणी—(१) 'उदर भरों किंकर कहाइ'—पाखण्ड भेष धारण कर,

ऊपर से तिलक-माला धारण कर, लोगों को ठगता फिरता हूँ। दूसरों की दृष्टि में अपने को सन्त-महात्मा सिद्ध करना चाहता हूँ। पर, पाखण्ड से क्या होता है ?

'तन को जोगी सब करैं, मन को बिरला कोय।
सहजै सब सिधि पाइये, जो मन जोगी होय॥' (कबीरदास)

(२) 'स्वामी की......गरुआई'—यह रूपक बड़ा ही गंभीर और सच्चा है। सिवा गुसाईंजी के ऐसी ऐसी सूक्तियों का और दूसरा कौन अधिकारी है ?

(३) 'प्रभुहिं कनौड़ो भरिहैं'—क्योंकि भगवान् की निम्नलिखित प्रतिज्ञा परम प्रसिद्ध है—

'अहं भक्तपराधीनो, दारुयंत्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो, भक्तैर्भक्त जन प्रियः॥' (श्रीमद्भागवत)

(१७२)

कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो॥ १॥
जथा लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥ २॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोष कहौंगो*॥ ३॥
परिहरि देह जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि-भक्ति लहौंगो॥ ४॥

शब्दार्थ—निरत=संलग्न, तत्पर। क्रम=कर्म। परुष=कठोर।

भावार्थ—क्या मैं कभी इस रीति से रहूंगा ? क्या कृपालु श्रीरघुनाथजी की कृपा से कभी मैं सन्तों का सा स्वभाव प्राप्त करूंगा ?॥ १॥ (सन्तों का स्वभाव कैसा होता है सो सुनिये) जो कुछ मिल जायगा उसीमें सन्तुष्ट रहूंगा, किसी से कुछ पाने की इच्छा न करूंगा (वासनाओं का निग्रह कर लूंगा)। सदा दूसरों की भलाई करने में तत्पर रहूंगा। यह नियम (परोपकार का) मन से वचन से और कर्म से निबाहूंगा, अर्थात् सच्चे हृदय से दूसरों के साथ

*पाठान्तर 'औगुन न कहौंगो।'

समवेदना प्रकट करूंगा ॥ २ ॥ कानों से कठोर और असह्य वचन सुन कर उसकी आग में न जलूंगा। भाव, अपना अपमान समझ कर क्रोध की आग में न जलूंगा। किसीसे मान की इच्छा न करूंगा। मन को एक रस और शीतल रखूंगा। दूसरों के गुणों का तो बखान करूंगा, पर उनके दोष नहीं कहूंगा (छिद्रों को छिपा लूंगा) ॥३॥ शारीरिक चिन्ता को छोड़कर सुख और दुःख को एक सा मान कर सहूंगा, सदा एक सा रहूंगा। हे नाथ ! क्या तुलसीदास इस मार्ग पर चलकर (उपर्युक्त सन्त-स्वभाव के अनुसार आचरण करता हुआ) अटल भगवद्भक्ति को प्राप्त करेगा ? (क्या कभी यह मनोराज्य पूरा होगा ?) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) इस पद में कवि अपने सच्चे मनोराज्य में विचरण कर रहा है। यह राज्य कल्पना के वायु-मण्डल से कोसों दूर है। यहां सचमुच सत्य की पताका फहरा रही है। योगी इसे समाधि-गत राज्य में प्राप्त करता है, पर भक्त भगवान् के आगे, आत्म-समर्पण करता हुआ, इस राज्य का उत्तराधिकारी सहज ही बन बैठता है।

मनोराज्य संबन्धी सूक्तियां हमारे यहां के भक्तों ने अनेक प्रकार से कही हैं। दो एक सूक्तियां देखिये।

'ऐसो कब करिहौ मन मेरौ।
कर करुवा हरवा गुंजन को, कुंजन माहिं बसेरौ॥
ब्रजबासिन के टूक जूँठ अरु, घर घर छाँछ महेरौ।
भूख लगै तब माँगि खाइहौं गिनौं न साँझ सबेरौ॥
ऐती आस 'व्यास' की पूजै, मेरे गाम न खेरौ॥' (व्यास)

रसिकवर ललित किशोरी कहते हैं—

'जमुना पुलिन कुंज गहवर की कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै, मधुरे मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन-वीथिन डोलौं, बचे सीथ संतन के पाऊँ।
'ललित किसोरी' आस यही मम, ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥'

(२) 'जथा लाभ सन्तोष'—फिर किसीसे कुछ चाहने की ज़रूरत ही क्या ? क्योंकि—

'जब आवै संतोष-धन, सब धन धूरि समान।'

(३) 'परहित-निरत'—क्योंकि—

'अष्टादश पुराणानाम् व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारं पुण्याय, पापाय परपीड़नम्॥'

(४) 'यहि पथ'—सन्तों का स्वभाव; सच्चा राम-भक्त, जिस का लक्षण संतोंने में यों लिखा है—

'शान्तः समान मनसश्च सुशीलयुक्त-
स्तोपक्षमागुणदयामृजुबुद्धियुक्तः।
विज्ञान ज्ञान विरतिः परमार्थवेत्ता
निर्वामकोऽभयमनः स च रामभक्तः॥' (महारामायण)

(१७३)

नाहिंन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधनतरु है स्रम-फलनि फरोसो॥ १॥
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो।
पायेहि पै जानिबो करम फल भरि भरि बेद परोसो॥ २॥
आगम-बिधि जप-जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन, रोग बियोग धरो सो॥ ३॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥ ४॥
बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो॥ ५॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो।
रामनाम बोहित भव-सागर चाहै तरन तरो सो॥ ६॥

शब्दार्थ—मख = यज्ञ। आगम = शास्त्र। सरत = पूरा होता है, सफल होता है। नावत = डालते हैं। आम = कच्चा। घरो = घड़ा। डगरो = मार्ग। बोहित = जहाज।

भावार्थ—मुझे और दूसरा बल भरोसा ही नहीं है (केवल एक राम-नाम

का ही भरोसा है)। इस कलियुग में जितने कुछ साधनरूपी वृक्ष हैं, उनमें केवल परिश्रमरूपी फल फल रहे हैं। अर्थात् उन साधनों के लिये चाहे जितना श्रम किया जाय, पर हाथ कुछ नहीं आता, कलिकाल सब को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है ॥ १ ॥ तपस्या, तीर्थाटन, व्रत, दान, यज्ञ आदि जो जिसे अच्छा लगे, सो करे। किन्तु इन सब कर्मों का फल पाने पर ही जान पड़ेगा, यद्यपि वेदों ने (पत्तल) भर भर कर फलों को परोसा है। तात्पर्य यह है कि, वेदों ने तो प्रत्येक सत्कर्म की फलश्रुति मनमानी बढ़ा कर लिख दी है, पर कलि महाराज के मारे जब कोई सत्क्रिया सफल हो, तभी न उस का फल मिलेगा ? पर, यह होने का नहीं, इसलिये सब निष्फल ही समझना चाहिए ॥ २ ॥ शास्त्रोक्त विधि से मनुष्य जप और यज्ञ करते हैं, किंतु उनसे यथेष्ट काम पूरा नहीं होता। योग की सिद्धियों के साधन में सुख स्वप्न में भी नहीं है। उसमें भी रोग और वियोग प्रस्तुत है ! (शरीर रोगी होने से अथवा प्रिय जनों के बिछुड़ जाने से सारा किया-कराया योग-साधन मिट्टी में मिल जाता है, इसलिये योगाभ्यास की आशा करना भी व्यर्थ ही है) ॥ ३ ॥ काम, क्रोध, अहंकार, लोभ और अज्ञान ने मिलकर ज्ञान-वैराग्य को हर-सा लिया है (इन व्यसनों के मारे यह भी सधने के नहीं)। और संन्यास ग्रहण करने पर यह मन ऐसा बिगड़ जाता है, जैसे पानी के डालने से कच्चा घड़ा। भाव, मन जब तक शुद्ध और शान्त नहीं हुआ, तब तक संन्यास लेना और भी अनिष्टकारी है ॥ ४ ॥ शास्त्रों के अनेक मत सुन कर और पुराणों में नाना प्रकार के पंथ देख कर जहाँ तहाँ झगड़े ही जान पड़ते हैं (कहीं कोई निश्चित सिद्धान्त दृष्टि नहीं आता)। मेरे गुरु ने तो मुझे राम-भजन का ही उपदेश किया है और यही मुझे राज-मार्ग के समान पसंद भी है (इसमें कोई विघ्न-बाधा नहीं है) ॥ ५ ॥ हे तुलसी ! विश्वास और श्रद्धा के बिना जिसे बार बार पच-पच कर मरना हो, वह भले ही मरे, किन्तु संसार-सागर से पार होने के लिये एक राम-नाम ही जहाज है। जिसे पार होना हो, वह (इसपर चढ़कर) पार हो जाय ॥ ६॥

टिप्पणी—(१) इस पद में गुसाईंजी ने सिद्धान्तरूप से, रामनाम का सर्व श्रेष्ठत्व एवं अन्य साधनों का वैफल्य बताया है। रामनाम पर उनकी कितनी अधिक निष्ठा थी—यह इससे भली भांति प्रकट हो जाता है।

(२) 'तप......मख'—इनमें से प्रत्येक की कठिनता नीचे लिखी जाती है:—

तप—पंचाग्नि तापना, जल-शयन करना, धोती, नेती आदि करना;
तीरथ—सारे तीर्थों का पैदल, भूख प्यास सह कर, पर्यटन करना;
उपवास—चांद्रायण, कृच्छ्र, महाकृच्छ्र आदि व्रत साधना;
दान—प्रसन्न चित्त से, निष्काम बुद्धि से, शास्त्रोक्त दान देना;
मख—अश्वमेधादि यज्ञ करना, जो महा कठिन हैं।

(३) 'काम......हरोसो'—शिकार, जुआ, दिन का सोना, परदोष कहना, पर स्त्री-गमन करना, मद्यपान करना, नृत्य, गान, वाद्य, वृथा घूमना यह दस व्यसन ज्ञान-वैराग्यको चौपट कर देते हैं (मनुस्मृति)। इनसे भी प्रबल जो अविद्या है वह बड़े बड़े योगियों की नाक में नकेल डालकर रहती है। उससे कोई भी अछूता नहीं बचा—

'रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
सुरपुर लूट नागपुर लूटा, तीन लोक मच हाहाकार॥
ब्रह्मा लूटे महादेव लूटे, नारद मुनि के परी पिछार।
सिंगी की मिंगी करि डारी, पारासर के उदर बिदार॥
कनफूंका चिदकासी लूटे, लूटे जोगेसर करत बिचार।
हम तो बचिगे साहब दयासे, सब्द डोर गहि उतरे पार॥
कहत कबीर सुनो भइ साधो, इस ठगनी से रहो हुसिआर॥' (कबीर)

(४) 'बिगरत......घरोसो'—संन्यास-आश्रम सब आश्रमों से कठिन है। जब मन सब विषयों की ओरसे तृप्त हो जाय, इंद्रियां जीत ली जायँ और शान्ति का अनुभव होने लगे, तब इस आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। कर्म करते हुए भी, कर्म-वासना का पूर्णरूपेण त्याग कर देना संन्यास का मुख्य लक्षण है। ऊपरी तौर से कुछ कर्मों का त्याग संन्यास के अनुकूल नहीं है। सो जब तक मन कच्चा है, विषयों की ओर दौड़ रहा है, शान्ति और वैराग्य का चसका नहीं लगा है, तब तक संन्यास-जनित आनंद की आशा करना व्यर्थ है। निर्विकल्प चित्तवाले ही इस आश्रम के अधिकारी हैं। यों तो जहां तहां अनेक संन्यासी भगवा-वस्त्र पहिने और मूँड़ मुड़ाये फिरा करते हैं, पर इनसे न तो लोक ही सधा है और न परलोक सधेगा, इन पेटार्थुओं से कुछ भी होने का नहीं।

'दाढ़ी मूछ मुड़ाइ कै, हुआ जु घोटम घोट।
मन को क्यों नहिं मूड़िये, जामें भरिया खोट॥
माला तिलक लगाइ कै, भक्ति न आई हाथ।
दाढ़ी मूछ मुड़ाइ कै, चलै दुनी के साथ॥' (कबीरदास)

(५) 'बहुमत......झगरो सो'—

मत—वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा इन छः शास्त्रों के मत तथा शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, बौद्ध, जैन आदि अनेक मत।

पंथ—दादूपंथी, कबीरपंथी, निरंजनी, आपा, तपी, उदासी, एकनामी, परान्नामी, अकाली, राधास्वामी, स्वामी नारायण आदि। कोई किसी मत या पंथ को सर्वप्रधानता देता है, तो कोई किसी को। बेचारा साधक किसे माने किसे छोड़! दुविधा में पड़ जाता है। शब्दों की खट-पट में कुछ भी हाथ नहीं लगता—

'शब्दारण्यं महाजालं चित्तभ्रमण-कारणं।'

(६)'गुरु···नीको'--गुरुदेव ने इस बात को दृढ़ता से हृदय में बैठा दिया है कि—

'न तत्पुराणं नहि यत्र रामो, यस्यां न रामो न च संहिता सा।
स नेतिहासो नहि यत्र रामः काव्यं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः॥' (पद्मपुराण)

(१७४)

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
सो छाँड़िये * कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥ १॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितनि, भये मुद † मंगलकारी॥ २॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥३॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य ‡प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो §॥४॥

---

* पाठान्तर 'तजिये ताहि।' † पाठान्तर 'जग; सब।' ‡ पाठान्तर 'पुंजी।'
§ इस पद में, कतिपय प्रतियों के अनुसार, यह दो चरण और पाये जाते हैं:—

'तात मात भ्राता सुत पति हित इन समान कोउ नाहीं।
रघुपति बिमुख जानि लघु तृनइव तजत न सुकृत डेराहीं॥'

शब्दार्थ--कन्त = पति । मतो = मत, सिद्धान्त ।

भावार्थ—जिसे श्रीराम-जानकी प्यारे नहीं हैं, उसे करोड़ों शत्रुओं के समान छोड़ देना चाहिये, चाहे वह अपना बड़ा ही प्यारा क्यों न हो ॥१॥ (उदाहरण के लिये देखिये) प्रह्लाद ने अपने पिता (हिरण्यकशिपु) को, विभीषण ने अपने भाई (रावण) को, भरत जी ने अपनी माता (कैकेयी) को, राजा बलि ने अपने गुरु (शुक्राचार्य) को और व्रज-गोपियों ने अपने अपने पति को (उन्हें भगवत्प्राप्ति में बाधक समझ कर) त्याग दिया, और यह सब (स्वजन-त्यागी बुरे नहीं कहे जाते, वरन्) आनन्द और कल्याण के करनेवाले माने जाते हैं ॥२॥ जहां तक मित्र और भलीभाँति मानने योग्य हों, उन सब को श्रीरघुनाथजी के ही संबंध और प्रेम से मानना ठीक है। तात्पर्य यह है कि, यदि वह सब भगवत्-दर्शन और प्रेम के सहायक हैं, तो उन्हें मानना और पूजना चाहिए, नहीं तो नहीं। जिस अंजन के लगाने से आंख ही फूट जाय, वह अंजन ही किस अर्थ का ? बस, अब अधिक क्या कहूं (इतने से ही समझ लीजिए) ॥३॥ हे तुलसीदास ! जिसके कारण श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम हो, वही सब प्रकार से परम हितकारी, पूजनीय और प्राणों से भी अधिक प्यारा है। बस, यही हमारा सिद्धान्त है ॥४॥

टिप्पणी—(१)'प्रहलाद'—८२ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(२)'विभीषन'—विभीषण को इस कारण से अपने भाई को त्याग देना पड़ा था कि वह राक्षसों के बीच में रह कर राम-नाम स्मरण नहीं कर सकते थे। "जिमि दसनन महँ जीभ बिचारी' इस प्रकार बेचारे लंका में रहा करते थे। जब रावण ने लात मार कर इनका भरी सभा में अपमान किया, तब यह श्रीरघुनाथजी की शरण में रावण से यह कह कर, चले गये—

'राम सत्य संकल्प प्रभु, सभा कालबस तोरि।
मैं रघुनायक-सरन अब, जाउँ, देहु जनि खोरि ॥'

(३) 'वलि'—जबराजा बलि ने बावनभगवान् को तीनपैर पृथ्वी देने का वचन दिया, तब शुक्राचार्य ने विष्णुभगवान् का छल समझ कर वलि को दान देने से बहुत रोका, किन्तु सत्य-संकल्प बलि अपनी प्रतिज्ञा से तनिक भी न हटा। उस समय उसने अपने गुरु शुक्राचार्य का, सत्य के पीछे, परित्याग कर दिया।

(४) 'व्रज बनितनि'—महाभाग गोपियों के विषय में तो कुछ पूछिए ही नहीं, यह तो "प्रेम की धुजा" थीं ! तनिक इनकी लगन तो देखिये—

'घर तजौं बन तजौं 'नागर' नगर तजौं,
वंसीवट तट तजौं काहू पै न लजिहौं ।
देह तजौं, गेह तजौं, नेह कहौ कैसे तजौं,
आज काज राज बीच ऐसे साज सजिहौं ॥
बावरो भयो है लोक बावरी कहत मोको,
बावरी कहेतें मैं काहू ना बरजिहौं ।
कहैया सुनैया तजौं, बाप और भैया तजौं,
दैया ! तजौं मैया पै कन्हैया नहिं तजिहौं ॥' (नागरीदास)

बलिहारी ! बलिहारी !!

(५) 'एतो मतो हमारो'—इस पद से लोगों की यह धारणा है कि यह पद मीराबाई के पत्रोत्तर-रूप में लिखा गया है । जब मीराबाई को उनके कुटुम्बियों ने बहुत तंग किया, तब उन्होंने गुसाईंजी के पास यह पद, पत्र में लिखकर, भेजा—

'स्वस्ति श्री तुलसी गुनभूषन, दूषन हरन गुसाईं ।
बारहिं बार प्रनाम करौं अब हरहु सोक-समुदाई ॥
घर के सजन हमारे जेते सबनि उपाधि बढ़ाई ।
साधु-संग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाई ॥
बालपने ते मीरा कीन्ही गिरिधरलाल मिताई ।
सो तौ अब छूटत नहिं क्योंहू लगी लगन बरियाई ॥
मेरे मात पिता के सम हौ हरि भक्तन सुखदाई ।
हम को कहा उचित करिबो है, सो लिखिये समुझाई ॥'

श्रीतुलसीचरित्र के अनुसार----

'सो पढ्यो गुसांई समाचार । जिमि लिखी हुती निज गति बिचार ॥'

अस्तु, "जिनके प्रिय न राम वैदेही' इत्यादि पद गुसाईंजी ने मीराबाई के पास लिख भेजा ।

उपर्युक्त कथा बिल्कुल निर्मूल मनगढ़ंत समझ पड़ती है। मीराबाई के गोलोक-

प्रयाण संवत् १६०३ में हो चुका था। उस समय गुसाईंजी अधिक से अधिक १२ वर्ष के होंगे। उस समय इनकी कुछ भी प्रख्याति नहीं थी। यह सब देखते हुए यह कथा असत्य जान पड़ती है। यह पद साधारणतया सबके लिये लिखा गया है न कि मीराबाई के लिये। इस युक्ति का पुष्टीकरण "तुलसी-ग्रन्थावली" के तीसरे खंड में श्रीयुत पण्डित रामचन्द्रजी शुक्ल ने भी किया है।

(१९५)

जो पै रहनि* राम सों नाहीं।

तौ नर खर कूकर सूकर सम† वृथा‡ जियत जग माहीं ॥१॥

काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सब ही के।

मनुज देह सुर साधु सराहत, सो सनेह सिय-पी के ॥२॥

सूर, सुजान, सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।

बिनु हरिभजन इँनारुन § के फल तजत नहीं करुआई ॥ ३ ॥

कीरति, कुल, करतूति, भूतिभलि, सील, सरूप सलोने।

तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—रहनि = लगन। गरुआई = भारीपन, बड़प्पन। इँनारुन = इंद्रायण, एक कड़ुआ फल। भूति = ऐश्वर्य। सलोने = लावण्यमय, सुन्दर।

भावार्थ—यदि श्रीरामचंद्रजी से (इस जीव की) लगन नहीं है, तो वह मनुष्य इस संसार में, गदहे, कुत्ते और सुअर के समान वृथा ही अपना जीवन बिता रहा है (मानव-जन्म राम-भक्त होने से ही सार्थक हो सकता है, अन्यथा नहीं) ॥ १ ॥ यों तो काम, क्रोध, अहंकार, लोभ, निद्रा, भय, भूख और प्यास का सभी को अनुभव हुआ करता है, सभी इन विषयों के अधीन हैं पर जिस कारण से देवता भी मनुष्य शरीर की प्रशंसा करते हैं, वह श्रीसीतारमण रघुनाथ जी का प्रेम है, अर्थात् उसमें भगवत्प्रेम की पवित्रता है ॥ २ ॥ कोई शूरवीर, चतुर माता-पिता की आज्ञा पालन करनेवाला सुपुत्र, सुंदर लक्षणवाला तथा बड़े बड़े गुणोंवाला क्यों न हो, पर यदि वह हरिभजन से विमुख है, भगवत्-परायण नहीं है तो वह इन्द्रायण के फल के समान है, जो (सब प्रकार से

---

* पाठान्तर 'लगन।' † पाठान्तर 'से ,सा।' ‡ पाठान्तर 'जाय।'

§ पाठान्तर 'इंनारुन।'

देखने में सुंदर होते हुए भी) अपना कड़ुवापन नहीं छोड़ता है ॥ ३ ॥ यश, उच्चवंश, सत् कर्तव्य, सुंदर ऐश्वर्य, शील और लावण्यमय स्वरूप होने पर भी, यदि प्रभु रामचंद्रजी के प्रति प्रेम नहीं है, तो यह सब गुण ऐसे हैं, जैसे कि बिना नमक की साग-भाजी, जो भलीभांति बनाई गई हो ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'तौ नर···माहीं—'यह गुसाईं जी ने भगवद्विमुख जीवों को बड़ी करी फटकार दिखाई है। आवेश में आकर, सात्विक क्रोध वश, उन्होंने ऐसे जीव को गधा, कुत्ता और सुअर तक बना डाला है। 'गधा' इसलिये है कि वह जीवन का केवल भार ही ढो रहा है। उसे विद्या, बुद्धि आदि का कुछ भी स्वाद नहीं मिलता। यह सब उसे भारस्वरूप ही है। 'कुत्ता' इसलिये है कि बिना ही कारण के दिनरात भूँकता रहता है, वाद-विवादमें लगा रहता है, दूसरे के धनपर लार टपकाता है। 'सुअर' इसलिये कि विषयरूपी भक्ष्य-अभक्ष्य खाता रहता है।

(२) 'काम......पी के,'—यह निम्नलिखित श्लोक का छायानुवाद जान पड़ता है।

'आहार निद्रा भय मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषः धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः ॥'

(१७६)

राख्यो राम सुस्वामी सों नीच नेह न नातो। एते अनादर हूं तोहि ते* न हातो॥१॥
जोरे नये नाते नेह फोकट फीके। देह के दाहक गाहक जीके ॥ २ ॥
अपने अपने को सब चाहत नीको। मूल दुहूँ को दयालु दूलह सी को ॥३॥
जीव को जीवन, प्रान को प्यारो। सुख हू को सुख राम सो बिसारो। ॥ ४ ॥
कियो† करैगो तोसे खल को भलो। ऐसे सुसाहब सों तू कुचाल क्यों चलो॥५॥
तुलसी तेरी भलाई अजहूँ बूझै। राढ़उ राउत होत फिरि कै जूझै ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—हातो = हटा, अलग हुआ। फोकट = बे काम। सी=साताजी। राढ़उ = कायर भी। राउत = वीर।

भावार्थ—अरे नीच! तूने श्रीरामचंद्रजी-जैसे सुंदर स्वामी से न तो प्रेम ही रखा और न संबंध ही किया। यद्यपि तूने उनका इतना अपमान किया,

* पाठान्तर 'होत हूँ तें'। † पाठान्तर 'कियो करै करैगो।'

तथापि वह तुझ से अलग नहीं हुए (तूने उन्हें छोड़ दिया, भुला दिया, पर वह जन-वात्सल्य के नाते तुझसे नहीं हटे, सदा साथ रहे) ॥ १ ॥ तूने नये नये नाते और नया नया प्रेम जोड़ा, जो सब व्यर्थ और नीरस ही हैं (उन सब से तेरा कल्याण होना तो दूर रहा, वरन्) वे (उलटे) तेरे शरीर के जलानेवाले और प्राणों के गाहक अर्थात् तुझे मार डालनेवाले हैं (प्रिय जनों के न मिलने अथवा मिलकर बिछुड़ जाने से प्राणान्त दुःख होता है, जीव उनके कारण और भी संसार में दिनोंदिन जकड़ता जाता है) ॥ २ ॥ अपना और अपनों का सभी भला चाहते हैं, किन्तु दोनों के कल्याण के कारण एक श्रीजानकी-वल्लभजी ही हैं ॥ ३ ॥ वह जीवों के जीवन हैं, प्राणों के प्यारे हैं और सुख के भी सुख हैं, अर्थात् जितने सुख माने जा सकते हैं, उनके मूल कारण हैं। ऐसे श्रीरामचंद्रजी को तूने भुला दिया ! (आश्चर्य है !) ॥ ४ ॥ जिन्होंने तेरा सदा भला किया, और जो आगे भी भला करेंगे, अरे ! ऐसे भले स्वामी के साथ तूने ऐसा बुरा बर्ताव क्यों किया ? भाव, उन से विमुख होकर संसारी विषयों में क्यों फँसा ? तुझे ऐसा करना उचित नहीं था ॥५॥ हे तुलसी ! यदि तू समझ भर ले, तो तेरी अब भी बन सकती है, क्योंकि बार बार लड़ने से कायर भी शूरवीर हो जाता है। सारांश यह, अब भी चेत जा। पुरुषार्थ कर, तेरी सारी बिगड़ी हुई करनी बन जायगी। निराश होने का कोई कारण नहीं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'जोरे......फीके'—स्त्री-पुत्रादि के साथ संबन्ध जोड़ना व्यर्थ इसलिये है कि वे समुपस्थित मृत्यु से नहीं बचा सकते, प्रत्युत उनके लिये जितने सुकर्म—कुकर्म किये गये हैं, उन सब का फल भोगना पड़ेगा। अतएव उनके सबंध वृथा ही हैं। कहा भी है—

'गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्, पिता न स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्नृपतिर्न स्यान्नमोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥'

और फीके तो हई हैं, क्योंकि जो नित्य नहीं हैं, परिवर्तनशील हैं, उनमें सरसता और आनंद कहां ?

(२) 'जीव......प्यारो'— रामचरितमानस में भी यही बात है—

'प्रान प्रान के, जीवन जी के।'

गीता के 'पुरुषस्त्वन्यस्तदुच्यते'—के अनुसार आत्मा का नियंता कोई दूसरा ही है। वही जीव का जीव, आत्मा की आत्मा, प्राणों का प्राण है। यह वाक्य अद्वैत सिद्धान्त के अनुकूल नहीं कहा सकता। यहां जीव और ब्रह्म का भिन्नत्व सिद्ध होता है।

(३) 'प्रान'—प्राण, मुख्यतः, पांच प्रकार के माने गये हैं, यथा—हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कंठ में उदान और सर्व शरीर में व्यान। इन सब का संचारक परमात्मा है।

(१७७)

जो तुम त्यागो राम हौं तौ नहिं त्यागों। परिहरि पांय काहि अनुरागों ॥१॥
सुखद सुप्रभु तुम सों जग माहीं। स्रवन-नयन मन-गोचर नाहीं ॥ २ ॥
हौं जड़ जीव, ईस रघुराया। तुम मायापति, हौं बस माया ॥ ३ ॥
हौं तो कुजाचक, स्वामि सुदाता। हौं कुपूत, तुम ही पितु-माता ॥ ४ ॥
जो पै कहुं कोउ पूछत बातो। तौ तुलसी बिनु मोल बिकातो ॥ ५ ॥

शब्दार्थ— गोचर = इन्द्रियोंके विषय। बातों = बात।

भावार्थ—हे श्रीरामजी! यदि आप मुझे त्याग भी देंगे, तो मैं आपको छोड़ने का नहीं। क्योंकि आपके चरणों को छोड़ कर मैं और किसके साथ प्रेम करूंगा (संसार में आपको छोड़ कर और कोई प्रेम-पात्र है ही नहीं, क्योंकि सभी अनित्य हैं, अतएव उनके साथ वियोग का दुःख लगा हुआ है) ॥ १ ॥ आपके समान सुख देनेवाला सुन्दर स्वामी (आज तक) संसार में न कानों से सुना है, और न आंखों से देखा है, और न मन से अनुमान ही किया है। भाव, आप सब प्रकार से अनुपम और अपूर्व हैं ॥ २ ॥ हे रघुनाथजी! मैं तो जड़ जीव हूं और आप विभु हैं, ईश्वर हैं। आप माया के स्वामी हैं (माया आपके अधीन है) और मैं माया के वश में होकर रहता हूं (माया से आच्छन्न रहता हूं, अतएव विकारी हूं) ॥ ३ ॥ मैं तो एक बुरा भिखमंगा हूं (बुरा यों कि जिससे पाता हूं, उसीके साथ कृतघ्नता किया करता हूं) और आप स्वामी हैं, बड़े उदार हैं (किसी भी वस्तु के देने से कभी आपने इन्कार नहीं किया)। इसी प्रकार मैं आपका कुपूत हूं और आप मेरे माता-पिता हैं। भाव यह है कि, मैं कभी आपकी आज्ञा नहीं मानता, पर आप सदा मेरा पालन-पोषण किया करते हैं ॥ ४ ॥ यदि कहीं कोई भी मेरी बात पूछता (मेरी ज़रा भी इज्जत करता)

तो मैं बिना ही मोल का (उसके हाथ में) बिक जाता। (पर किसीने मुझे रखा ही नहीं, क्योंकि पौरुष-हीन हूँ, मुझे रख कर कोई करेगा ही क्या ? मेरा तो यदि कोई गाहक है, तो श्रीरामचन्द्रजी ही हैं, वही मुझे, खरीद कर, अपना गुलाम बनायेंगे) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'हौं जड़......बस माया'—यहां, स्पष्टरूप से जीव और ब्रह्म का अनैक्य सिद्ध कर दिया गया है। जीव 'जड़' इसलिये कहा गया है कि उसमें, माया के आवरण के कारण, सदसत् ज्ञान का पूर्ण अभाव रहता है। अणुत्व होने से उसका ज्ञान परिमित रहता है। वह स्वपुरुषार्थ से अनन्त के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सोच सकता, अतएव वह, चैतन्य होते हुए भी, जड़ ही है। इसके विरुद्ध परमात्मा ईश है, विभु है, अपरिमित ज्ञान-संपन्न है। माया के अधीन होने से जीव में सुख-दुःख प्रभृति द्वन्दों की संभावना है, किन्तु कैवल्य-रूप ब्रह्म, माया-अपरिच्छिन्न परमात्मा सदा द्वन्दों से विमुक्त है। तत्त्वतः, ब्रह्म का अंशस्वरूप (ममैवांशो जीव लोके—गीता) होने के कारण जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य अवश्य है, किन्तु माया के प्राबल्य से, जो माया ब्रह्म के अधीन है, जीव अपना 'स्वरूप' भूल बैठा है। यदि माया मिथ्या होती, तो ब्रह्मस्वरूप जीव पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ता, किन्तु ऐसा नहीं है। उसकी भी कुछ सत्ता है, चाहे वह अज्ञानावस्था ही की क्यों न हो; वह जीव को भुलावे में डालने के लिये पर्याप्त है।

(२) 'कुजाचक'—परमात्मा से यह जीव संसारी वैभव मांगता रहता है। पुत्र, कलत्रादि के याचने में मग्न रहता है, कभी, भूल कर भी, मुक्ति नहीं मांगता। अतएव यह 'कुयाचक' है।

(३) 'हौं कुपूत......माता'—सो तो ठीक ही है, क्योंकि—

'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' (शंकराचार्य)

(४) 'जो......बिकातो'—जब दुनिया भर में घूम चुका और किसीके भी काम का न निकला, तब आपके द्वार पर आया, क्योंकि यह बाजार ऐसा है जहां रद्दी से भी रद्दी चीज़ बिक जाती है। और 'यह दरबार दीन को आदर' यह भी सुन चुका था, अतएव मुझे पूरा विश्वास हो गया कि यहां अवश्य मेरा आदर होगा, अब इधर उधर भटकने की जरूरत नहीं है।

(१७८)

भयेहूँ उदास राम, मेरे आस रावरी।
आरत स्वारथी सब कहैं बात बावरी ॥ १ ॥
जीवन को दानी घन कहा ताहि चाहिए।
प्रेम-नेम के निवाहे चातक सराहिए ॥ २ ॥
मीन तें न लाभ-लेस पानी पुन्य पीन को।
जल बिनु थल कहा मीच-बिनु मीन को ॥ ३ ॥
बड़े ही की ओट, बलि, बांचि आये छोटे हैं।
चलत खरे के संग जहां तहां खोटे हैं ॥ ४ ॥
यहि दरबार भलो दाहिनेहु-बाम को।
मोको सुभदायक भरोसो राम-नाम को ॥ ५ ॥
कहत नसानी ह्वै है हिये नाथ, नीकी है।
जानत कृपानिधान तुलसी के जी की है ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पीन = पुष्ट। मीच = मौत। बांचि आये = बच आये हैं। खरा = चोखा, असली। दाहिना = अनुकूल। बाम = प्रतिकूल।

भावार्थ—हे रघुनाथजी! आप भले ही मुझसे निरपेक्ष हो जायँ, पर मुझे आप ही की आशा है (मैं आपसे उदासीन न हूंगा)। जो दुखी अथवा स्वार्थी होते हैं, उनका सब कहना-सुनना पागलों का सा प्रलाप है, वे सोच-विचार कर बात नहीं करते (वही दशा मेरी है) ॥ १ ॥ जो मेघ पानी का दान करता है, सारे प्राणियों की रक्षा करता है, उसे किस चीज़ की कमी है? किन्तु प्रेम का (अटल) नियम निबाहने के कारण पपीहे की प्रशंसा होती है। भाव यह है कि, मेघ पपीहे को किसी स्वार्थवश स्वाति का जल नहीं देता है, केवल उसका प्रेम-नेम देख कर ही वह ऐसा करता है, किन्तु उसका प्रेम इतना बढ़ा-चढ़ा है कि देनेवाले की तो तारीफ़ नहीं होती, वरन् लेनेवाले पपीहे की हुआ करती है ॥ २ ॥ पवित्र और पुष्टिकारी जल को मछली से लेशमात्र भी लाभ नहीं है, पर (सोचिये तो) मछली के लिये, जल को छोड़ कर, कहीं कोई ऐसा भी स्थान है, जहां वह अपने प्राण बचा सके। तात्पर्य यह है कि वह जल को छोड़ कर कहीं भी जीवित नहीं रह सकती, जलपर उसका अगाध

प्रेम-नेम है, और इसी कारण से उसकी प्रशंसा होती है ॥ ३ ॥ मैं आपकी बलैया लेता हूं, देखिये, बड़ों के बल-भरोसे से (सदा) छोटे बचते आये हैं, जैसे जहां तहाँ खरे सिक्कों के साथ खोटे भी चला करते हैं। भाव यह है कि, आपके सच्चे भक्त असली सिक्के हैं, और मैं हूं एक पाखंडी, नकली सिक्का, किंतु वैष्णव भेष धारण करने तथा सत्संग में रहने से मैं भी उनके साथ संसार-सागर पार कर जाऊंगा ॥ ४ ॥ आपका यह दरबार ही कुछ ऐसा है कि यहां भले-बुरे सभीका भला होता है, भले ही कोई आपके अनुकूल वा प्रतिकूल हो (जैसे विभीषण सम्मुख होने से तथा रावण विमुख होने से मुक्त हुआ)। और हे रघुनाथजी ! मुझे तो केवल आपके श्रेयस्कर नाम का भरोसा है ॥ ५ ॥ हे नाथ ! कह देने से सब बात बिगड़ जायगी (क्योंकि बावला हूं, आर्त्त हूं, स्वार्थी हूं) इससे मन की मन ही में भली-भांति रखना अच्छा है, और आप तो तुलसी के जी की, हे कृपानिधान, सब जानते ही हैं (क्योंकि आप अन्तर्यामी हैं। आपसे कुछ छिपा नहीं है) ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'चातक सराहिये'—उदारता तो मेघ की है, पर प्रशंसा चातक की की जाती है। इसी प्रकार आप तो मुझे निहाल करेंगे और तारीफ़ मेरी होगी। यह आपकी अनन्य भक्ति की महिमा है, और कुछ नहीं। और यह अनन्यता आप ही की कृपा से मिलती है। अतएव जीव में जो कुछ भी पौरुष है उसके मूल कारण आप ही हैं। चातक के अनन्य प्रेम के लिये १६१ पद की पहली टिप्पणी देखिये।

(२) 'जल बिनु......मीन को'— क्योंकि—

'सर सूख्यो पंछी उड़े, औरै सरनि समाहिं।
दीन मीन बिनु पंख के, कहु 'रहीम' कहँ जाहिं ॥'

इसी अनन्य-निष्ठा के कारण दीन मीन की प्रशंसा हुआ करती है। इसी प्रकार आपको छोड़ कर, मुझे कहीं ऐसा ठौर नहीं है, जहां मैं कराल-काल के गाल में न जाऊँ। रहता तो मैं अपने स्वार्थवश आपकी शरण में हूं, किन्तु लोग इसे अनन्यता कहते हैं और मेरी तारीफ करते हैं ! यह आपही की कृपा है।

(३) 'बड़े......छोटे हैं'—जैसे, अजामेल, झूठे ही, आपका नाम पुकार कर यम-यातना से बच गया। ५७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(४) 'कहत नसानी है'—क्योंकि, "आरत स्वारथी सब कहैं बात बावरी।" यही बात, रामचरितमानस में, लिखी मिलती है —

'बात कहौं सब स्वारथ हेतू। रहत न आरत के चित चेतू॥'

महाकवि कालिदास भी लिख गये हैं—

'कामार्त्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु।' (मेघदूत)

राग बिलावल

(१७६)

कहाँ जाउँ, कासों कहौं, को सुनै दीन की।
त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन * की॥ १॥
जग जगदीस घर घरनि घनेरे हैं।
निराधार के अधार गुनगन तेरे हैं॥ २॥
गजराज-काज खगराज तजि धायो को।
मोसे दोष-कोष पोसे तोसे माय जायो को॥ ३॥
मोसे कूर कायर कुपूत कौड़ी आध के।
किये बहुमोल तैं करैया गीध-स्राध के॥ ४॥
तुलसी की तेरे ही बनाये, बलि, बनैगी।
प्रभु की बिलंब-अंब दोष-दुख जनैगी॥ ५॥

शब्दार्थ—अंगहीन=निःसहाय। खगराज=गरुड़ से तात्पर्य है। दोष-कोष =अपराधों का भाण्डार, महा अपराधी। पोसे=पोषण किया, पालन किया। जायो=जना, पैदा किया।

भावार्थ—कहाँ जाऊं ? किससे कहूं ? कौन इस गरीब की सुनेगा ? जिसे कहीं ठौर-ठिकाना नहीं, जो सब तरह से निःसहाय है, उसकी गति, तीनों लोक में, एक तूही है (केवल तूही उसे शरण में ले सकता है)॥ १॥ यों तो दुनिया में घर-घर बहुत से "जगदीश" पाये जाते हैं (सभी अपने को कहते हैं कि दुनिया भर के जो कुछ हैं सो हमी हैं!), पर जिसे कोई सहारा नहीं उसके लिये एक तेरी ही गुणावली आधार है। भाव, वह तेरेही गुणों का गान कर-कर संसार-सागर पार करता है॥ २॥ हाथी के छुड़ाने के लिये

*पाठान्तर 'अंगहीन'

गरुड़ को छोड़ कर कौन दौड़ा था ? और जिसने मेरे-जैसे महा अपराधी का भी पालन-पोषण किया, ऐसा, तुझे छोड़ कर, माता ने किसे जना है ? किसी माई के लाल में यह बूता नहीं था कि जो मुझ-सरीखे घोर पापी का उद्धार कर देता ॥ ३ ॥ मेरे जैसे दुष्ट, कायर, कुपूत और आधी कौड़ी की कीमत वालों को भी, हे जटायु के श्राद्ध करनेवाले ! तूने बहुमूल्य बना दिया, बेश-क़ीमती कर दिया (मुझे पहले कोई फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं समझता था, पर आज, तेरी कृपा से, मैं संसार में पूज्य माना जाता हूं) ॥ ४ ॥ बलिहारी ! तुलसी की (बिगड़ी हुई) करनी तेरे ही बनाये बन सकती है, (यदि तू तनिक कृपा-दृष्टि कर दे तो) तेरी बिलम्बरूपी माता दोष और दुःख उत्पन्न करेगी । भाव यह है कि, यदि तूने मुझे निहाल करने में देर लगाई, तो मुझे दोष और दुःख के सिवाय मिलेगा ही क्या ? अतएव शीघ्र ही मेरी करनी बना दे ॥ ५ ॥

टिप्पणी— (१) 'अंगहीन'—अंगहीन पर यह दोहा बहुत ठीक घटता है—

'नहिं विद्या, नहिं बाहुबल, नहिं खरचन को दाम ।
तुलसी मोसे पतित की, तुम पति राखो राम ॥'

(२) 'गजराज·········धायोको'—निम्नलिखित कवित्त देखिये—

दीन भयो गजराज हीन भयो बल हू तें,
टूटि गयो मान टेर्‌यो 'हरी हरी' करि कै ।
पौढ़े प्रभु रमा-संग पीत पट राते रंग,
सोय, उठि धाये नाथ नैन आये भरि कै ॥
आधीरात धाय नाथ चक्र सुदर्सन लिये,
काटि दीनो ग्राहफंद जरी जरी करि कै ।
'तुलसी' त्रिलोकी नाथ, भक्तनि के सदा साथ,
गरुड़ छाँड़ि धाये नाथ 'करी करी' करि कै ॥

(३) 'करैया गीध-स्राध के'—४३ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये ।

(४) 'मोसे कूर·········बहुमोल'—कवितावली में भी यही बात ज्योंकी त्यों दोहराई गई है—

'राम नाम ललित ललाम कियो लाखनि को,
बड़ो कूर कायर कपूत कौड़ी आध को'

(१८०)

बारक बिलोकि बलि कीजै मोहिं आपनो ।
राय दसरथ के तू उथपन-थापनो ॥ १ ॥
साहिब सरनपाल सबल न दूसरो ।
तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो ॥ २ ॥
बचन करम तेरे मेरे मन गड़े हैं ।
देखे सुने जाने मैं जहान जेते बड़े हैं ॥ ३ ॥
कौनै कियो समाधान सनमान सीला को ।
भृगुनाथ सो रिषी जितैया कौन लीला को ॥ ४ ॥
मातु-पितु-बंधु-हित, लोक-बेदपाल को ।
बोल को अचल, नत करत निहाल को ॥ ५ ॥
संग्रही सनेहबस अधम असाधु को ।
गीध-सबरी को कहौ करिहै सराधु को ॥ ६ ॥
निराधार को अधार, दीन को दयालु को ।
मीत कपि-केवट-रजनिचर-भालु को ॥ ७ ॥
रंक निरगुनी नीच जितने निवाजे हैं ।
महाराज सुजन, समाज ते बिराजे हैं ॥ ८ ॥
सांची बिरुदावली न बढ़ि कहि गई है ।
सीलसिंधु, ढील तुलसी की बार भई है ॥ ९ ॥

भावार्थ—बलिहारी ! हे नाथ, एक बार मेरी ओर देखकर मुझे अपना कीजिए । हे श्रीदसरथ-किशोर ! आप उखड़े हुए जीवों को फिर से जमाने वाले हैं, जिनका सर्वस्व हरण हो चुका है, उन्हें उनके पद पर स्थापित करने वाले हैं ॥ १ ॥ आपके समान कोई दूसरा शरणागतों का पालनेवाला एवं समर्थ स्वामी नहीं है । आपका नाम लेते ही ऊसर खेत भी उपजाऊ हो जाता है । भाव, जिनके पूर्व संस्कारों में सुख का नाम भी नहीं, वह भी आपके नाम के प्रभाव से भक्ति, आनन्द, ज्ञान आदि धान्य से संपन्न हो जाते हैं ॥ २ ॥ आपके वचन और कर्म मेरे मन में जम गये हैं (मुझे यह दृढ़ विश्वास हो चुका है कि शरणागतों का उद्धार करते हैं और दीनों पर

दया करना आपका स्वभाव है)। और मैंने उन लोगों को भी सुन और समझ लिया है जो दुनिया में बड़े कहे जाते हैं ॥ ३ ॥ उनमें से किसने पाषाणी अहल्या को शान्ति प्रदान की, और किसने सहज ही परशुराम-जैसे महाक्रोधी ऋषि पर विजय प्राप्त की ? (किसीने नहीं) ॥ ४ ॥ माता, पिता और भाई के लिये किसने लोक और वेद की मर्यादा का पालन किया ? किसकी बात अटल रही ? और प्रणाम करते ही किसने निहाल कर दिया ? (केवल एक श्रीरघुनाथजी ने) ॥ ५ ॥ प्रेम के अधीन हो कर किसने नीचों और दुष्टों को इकट्ठा किया, अपनाया ? और गीध और शबरी का पिता-माता की नाईं कौन श्राद्ध करेगा ? ॥ ६ ॥ जिनका कहीं कोई आश्रय नहीं है, उनका आधार कौन है ? दीनों पर कृपा करनेवाला कौन है ? और बन्दर, निषाद, राक्षस तथा रीछों का मित्र कौन है ? (सिवा रघुनाथ जी के दूसरा कौन हो सकता है) ॥ ७ ॥ हे महाराज ! आपने जितने ग़रीब, मूर्ख और नीचों पर कृपा कर दी है, ये सब साधुओं के समाज में शोभायमान् हो रहे हैं, सन्तों के बीच में उनकी भी गणना हो रही है ॥ ८ ॥ यह आपकी सच्ची-सच्ची बड़ाई कही गई है, (एक अक्षर भी) बढ़ा कर नहीं कहा हैं। किन्तु हे शील के समुद्र! तुलसीदास के लिये इतना विलम्ब क्यों हो रहा है ? (यही एक आश्चर्य है। आपकी विरुदावली के अनुसार अब तक इसकी भो सुनाई हो जानी चाहिए थी) ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'उथपन-थापनो'—जैसे, सुग्रीव और विभीषण को, जो कि अपने अपने भाई के साथ द्रोह करने से जड़ से उखड़ चुके थे, फिर से स्थापित किया, उन्हें राज्य-पद दिला दिया।

(२ 'सीला'—'सिला' का अपभ्रंश है। यह शब्द विकृत हो जाने से भ्रान्त सा हो गया है। बस, आर्ष-प्रयोग ही मानना पड़ेगा।

(३) 'भृगुनाथ सो'—सा (सारिखे) से परशुरामजी के अपरिमेय बल, वीर्य और तेज की ध्वनि निकलती है।

(४) 'गीध'—जटायु; ४३ पद की पांचवी टिप्पणी देखिये।

(५) 'सबरी'—१०६ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(६) 'न बढ़ि कहि गई है'—इस कथन में अत्युक्ति या कवि-चमत्कार का लेश-मात्र भी नहीं है, यह हृदय के सच्चे उद्गार हैं, चापलूसी नहीं है।

(१८१)

केहू भांति कृपासिंधु मेरी ओर हेरिए।
मोको और ठौर न, सुटेक एक तेरिए ॥१॥
सहस सिला तें अति जड़ मति भई है।
कासों कहौं, कौने गति पाहनहिं दई है ॥२॥
पद-राग-जाग चहौं कौसिक ज्यों कियो हौं।
कलि-मल खल देखि भारी भीति भियो हौं ॥३॥
करम-कपीस बालि-बली-त्रास-त्रस्यो हौं।
चाहत अनाथ-नाथ तेरी बाँह बस्यो हौं ॥४॥
महा-माह-रावन विभीषन ज्यों हयो हौं।
त्राहि तुलसीस! त्राहि तिहूं ताप तयो हौं ॥५॥

शब्दार्थ—टेक = सहारा, बल। पद-राग = चरणों में अनुराग। जाग = (योग) यज्ञ। कौसिक = विश्वामित्र। भियो हौं = डर गया हूं। तयो हौं = जल रहा हूं।

भावार्थ—हे कृपासागर! किसी भी तरह मेरी ओर देखो। मुझे और ठिकाना नहीं है, एक तुम्हारा ही आसरा है (यदि तुम्हीं ने छोड़ दिया, तो फिर भला किसका होकर रहूंगा?) ॥१॥ मेरी बुद्धि हज़ार शिलाओं से भी अधिक जड़ हो गई है। (अब मैं उसे चैतन्य करने के लिये तुम्हें छोड़ कर) और किससे कहूं? पत्थरों को किस ने मुक्त किया है। (तुम्हीं ने, बस इतने ही से समझ लो। जैसे तुमने एक अहल्या का उद्धार कर दिया था, वैसे मेरी जड़ बुद्धि को भी शुद्ध बना दो, क्योंकि जिससे जो काम बन पड़ता है, वही उसे कर सकता है। पत्थरों का तारना तुम्हारे हिस्से पड़ा है) ॥२॥ जिस प्रकार महर्षि विश्वामित्र ने (तुम्हारे रक्षण में निर्विघ्न) यज्ञ किया था, उसी प्रकार मैं भी एक यज्ञ करना चाहता हूं। वह यज्ञ तुम्हारे चरणों में भक्ति प्राप्त करना है। किन्तु कलि के पापरूपी दुष्टों को देख कर मैं बहुत ही भय-भीत हो रहा हूं (कि कहीं यह सारा किया-कराया नष्ट-भ्रष्ट न कर दें, जैसे मारीच, ताड़का आदि ने विश्वामित्र का यज्ञ विध्वंस कर दिया था) ॥३॥ कर्मरूपी बन्दरों के बलवान राजा बालि से मैं बहुत डर रहा हूं, सो हे

अनाथों के नाथ ! जैसे तुमने बालि को मार कर सुग्रीव को अभय कर दिया था उसी प्रकार मुझे अपनी बाहु की छाया में बसा लो, मुझे कुटिल कर्मों से बचा कर अपनालो ॥४॥ जैसे रावण ने बिभीषण को प्रहार किया था, उसी प्रकार मुझे यह बड़ा भारी मोह मार रहा है, हे तुलसी के स्वामी ! मुझे बचालो, मैं संसार के तीनों तापों से जला जा रहा हूं ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'सिला—अहल्या; ४३ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(२) 'त्राहि'—संस्कृतमें 'त्रा' धातु आत्मनेपदी है, जिसका रूप लोट् में 'त्रायस्व' होता है। किंतु हिंदी में यह धातु परस्मैपदी मान ली गयी है और प्रायः सभी कवियों ने 'त्राहि' रूप ही लिखा है।

(३) 'तिहूँ ताप'—दैहिक, भौतिक और दैविक।

(१८२)

नाथ, गुनगाथ सुनि होंत चित चाउ सो।
राम रीझिबे को जानो भगति न भाउ सो ॥ १ ॥
करम सुभाउ काल ठाकुर न ठाउँ सो।
सुधन न सुतन न सुमन सुआउ सो ॥२॥
जाँचो जल जाहि कहै अमिय पिआउ सो।
कासों कहौं काहू सों न बढ़त हिआउ सो ॥ ३ ॥
बाप, बलि जाउँ, आपु करिये उपाउ सो।
तेरेही निहारे परै हारेहू सुदाउ सो ॥ ४ ॥
तेरेही सुझाये सूझै असुझ सूझाउ सो ।
तेरेही बुझाये बूझै अबुझ बुझाउ सो ॥ ५ ॥
नाम-अवलंबु-अंबु दीन मीन-राउ सो।
प्रभु सों बनाइ कहौं जीह जरि जाउ सो ॥ ६ ॥
सब भांति बिगरी है एक सुबनाउ सो।
तुलसो सुसाहिबहिं दियो है जनाउ सो ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—ठाकुर = मालिक। सुआउ = (सुआयु) बड़ी उम्र। अमिय = अमृत। हिआउ = साहस। अबुझ = जो समझ में न आवे। जीह = जीभ। जनाउ = सूचना।

भावार्थ—हे नाथ ! आपकी गुणावली सुन कर मेरे चित्त में आनन्द सा होता है, किन्तु हे रघुनाथजी ! जिस भक्ति और भाव से आप प्रसन्न होते हैं, उसे मैं नहीं जानता (जो जानता होता तो मुझे आपके सान्निध्य से वह परमानन्द प्राप्त ही हो गया होता) ॥१॥ कारण कि, न तो मेरी करनी अच्छी है, न प्रकृति अनुकूल न अच्छा समय है, (कलियुग है,) न मालिक है, न कहीं कोई ठौर-ठिकाना है, न अधिक धन है, न नीरोग शरीर है (कि जिससे योगाभ्यास आदि करूं) न निश्चल चित्त है. और न बड़ी भारी आयु ही है। सारांश, भगवत्प्राप्ति का एक भी मेरे पास साधन नहीं है। सब प्रकार से पंगु हूं ॥२॥ जिससे मैं (प्यास के मारे) पानी माँगता हूं वह उलटे मुझसे अमृत पिलाने के लिये कहता है। मैं अपनी बात किससे कहूं ? कहने को किसीसे भी हिम्मत नहीं पड़ती (मन की मन ही में है) ॥३॥ हे पिताजी ! बलिहारी ! आप कुछ ऐसा उपाय करवा दीजिये (कि जिससे यह सारी असमंजस दूर हो जाय) क्योंकि आपके देख देने मात्र से हारने पर भी अच्छा दांव हाथ लग जाता है। भाव, बड़े बड़े पापी भी आपकी कृपासे स्वर्ग के अधिकारी हो जाते हैं ॥४॥ आप यदि सुझा दें तो अदृष्ट वस्तु भी दीखने लगती है, और आपके समझा देने पर अगोचर पदार्थ अनुभव में आ जाते हैं, इसलिये (जो मेरी समझ में नहीं आ रहा है उसे समझा दीजिये ॥५॥ देखिये, आपके नाम का जो आधार है, वही तो पानी है और उसमें रहनेवाला मैं दीन मछलियों का राजा हूं, बड़ा भारी मत्स्य हूं। जो मैं अपने स्वामी से कपटभरी बात कहता होऊं, तो जीभ जल जाय ॥६॥ मेरी करनी सभी तरह से बिगड़ चुकी है, केवल एक ही अच्छी बात रह गई है, और वह यह कि, तुलसीदासने अपनी करनी की इत्तिला अपने मालिक को दे दी है, नहीं तो फिर कोई आशा संसार-सागर से बचने की नहीं थी॥७॥

टिप्पणी—(१)'करम...सुभाउ'—एक तो कुटिल कर्म, तिसपर नीच स्वभाव, तिस पर कलियुग। इतना ही नहीं, वरन् सब तरह से अनाथ भी हूं, कोई धनी धोरी नहीं, ठौर-ठिकाना नहीं, महाकंगाल, आजन्म रोगी और चंचल चित्त ! यह भी नहीं कि, आयु बड़ी हो कि जिससे कुछ न कुछ साधन ही कर लेता। अब भला बतलाइये कि मेरा इलाज क्या हो सकता है ?

'ग्रह-गृहीत पुनि बातबस, तापर बीछी मार।
ताहि पियाई बारुनी, कहौ कौन उपचार ॥' (रामचरितमानस)

(२) 'जांचो······पिश्राउ सो'—इसका तात्पर्य यह है कि जब मैं किसीसे भूख-प्यास के मारे कुछ मांगता हूँ, तब वह मुझे सिद्ध समझ कर मुझसे उलटा धन-संपत्ति, स्त्री-पुत्र आदि मांगा करता है। मैं इन लोगों के कारण जैसे-तैसे अपना जीवन भी नहीं बिता सकता, सब मेरे पीछे पड़े रहते हैं। यह लोक-मान्यता मुझे बहुत खलती है, क्योंकि –

'लोक-मान्यता अनल सम, कर तप-काननदाह।'

(३) 'तेरे ही···सुदाउसो'—क्योंकि भरतजी ने भी यही कहा है –

'हारेहु खेल जितायेहु मोही।' (रामचरितमानस)

(४) 'मीन–राउ'—बड़ा मत्स्य तालाब में नहीं रह सकता। उसका निवास-स्थान तो एक समुद्र ही है। इसी प्रकार मैं केवल राम-नाम के ही सहारे जीवित हूं, मुझे अन्य साधन कृतकृत्य नहीं कर सकते।

राग आसावरी

(१८३)

राम प्रीति की रीति आप नीके जनियत है।
बड़े की बड़ाई, छोटे की छोटाई दूरि करै,
ऐसी विरुदावली बलि बेद मनियत है॥ १॥
गीध को कियो सराध, भीलनी के खाये फल,
सोऊ साधु-सभा भलीभांति भनियत है।
रावरे आदरे लोक वेद हूं आदरियत,
जोग ग्यान हूं तें गरू गनियत है॥ २॥
प्रभु की कृपा कृपालु कठिन कलि हूं काल,
महिमा समुझि उर अनियत है।
तुलसी पराये बस भये रस अनरस,
दीनबन्धु द्वारे हठ ठनियत है॥ ३॥

शब्दार्थ–सराध=श्राद्ध। भनियत है=कहते हैं। रावरे आदरे=आपके द्वारा आदर किये गये (लोग)। गरू=बड़े।

भावार्थ—हे रघुनाथजी! प्रीति की रीति को आपही भलीभांति समझते हैं।

बलिहारी ! वेद आपकी विरुदावली को इस प्रकार मान रहे हैं कि आप बड़ों के बड़प्पन को, अभिमानियों के गर्व को एवं छोटे की छोटाई अर्थात् अकिंचन दीन जनोंकी दीनावस्थाको दूर कर देते हैं ॥१॥ आपने जटायु गीधको पिंडदान दिया और शबरी के (जूठे) बेर खाये, यह बात भी संत-समाज में अच्छी तरह बखानी जाती है। जिस किसी ने भी आपसे आदर पाया, उसे लोक और वेद दोनों ही आदर की दृष्टि से देखते हैं। और उसका भाव, योग और ज्ञान से भी, बड़ा माना जाता है। (बड़े बड़े योगी और ज्ञानी भी उसके आगे तुच्छ हैं) ॥ २ ॥ हे कृपालु ! आपकी कृपा से इस कराल कलिकाल में भी आपकी महिमा समझ कर हृदय में धारण करता हूं। यद्यपि तुलसी पराधीन होकर इससे अनरस, अर्थात् आपके प्रेमानन्द से विमुख हो रहा है, तथापि हे हरे ! वह आपके द्वार पर सत्याग्रह किये बैठा है (बिना आपकी कृपा-दृष्टि पाये वह हटने का नहीं) ॥ ३ ॥

टिप्पणी-(१) 'प्रीति'—यह रीति छः प्रकार की है—

'ददाति, प्रतिगृह्णाति, गुह्यं वक्ति, च पृच्छति ।
भुङ्क्ते, भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥

(२) 'बड़े ··दूरि करे'–जो उचित अवस्था से बढ़ गया है, उसे छोटा कर देते हैं और जो उचित अवस्था से गिर गया है, उसे उठा देते हैं, सारांश, सबको एक दृष्टि से देखते हैं, वैषम्य कहीं भी नहीं रहने पाता।

(३) 'गीध'—जटायु; ४३ पद की पांचवी टिप्पणी देखिये।

'दसरथ तें दसगुन भगति-सहित तासु करि काज।
सोचत बंधु समेत प्रभु, कृपसिंधु रघुराज ॥

(४) 'भीलनी'—शबरी; १०६ पद की पांचवी टिप्पणी देखिये।

' पद पंकजात पखारि पूजे पंथ स्रम विरहित भये।
फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दौना नये ॥
प्रभु खात पुलकित गात, स्वाद सराहि आदर जनु लये ॥
फल चारेहू फलचारि दहि परचारि फल सबरी दये ॥

(५) 'रावरे ··आदरियत'—कहा भी है—

'जा पर कृपा राम की होई, ता पर कृपा करहिं सब कोई' (रामचरितमानस)

(६) 'योग·····गनियत हैं'—प्रमाण लीजिये—

'योगिनामपि सर्वेषां, मद्गतेनांतरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो माम्, स मे युक्ततमो मतः (भगवद्गीता)

(७) 'परायेबस'—मन और इन्द्रियों के अधीन।

(१८४)

राम-नाम के जपे जाइ जिय की जरनि।
कलिकाल अपार उपाय ते अपाय भये,
जैसे तम नासिबे को चित्र के तरनि ॥ १ ॥
करम-कलाप परिताप, पाप-साने सब,
ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि।
दंभ, लोभ, लालच, उपासना बिनासि नीके,
सुगति साधन भई उदर भरनि ॥ २ ॥
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ग्यान,
बचन बिसेष बेष, कहूं न करनि।
कपट कुपथ कोटि, कहनि रहनि खोटि,
सकल सराहैं निज निज आचरनि ॥ ३ ॥
मरत महेस उपदेस हैं कहा करत,
सुरसरि-तीर कासी धरम-धरनि।
राम-नाम को प्रताप, हर कहैं जपैं आपु
जुग जुग जानैं जग बेदहूँ बरनि ॥ ४ ॥
मति राम-नाम ही सों, रति राम-नाम ही सों,
गति राम-नाम ही की बिपति-हरनि।
राम-नाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुंक,
तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अपाय = व्यर्थ, अनिष्टरूप। तरनि = सूर्य। कलाप = समूह।
फोकट = वृथा, किसी काम का नहीं। करनि = करनी, कर्तव्य। ढरेंगे = कृपा करेंगे

भावार्थ—मन की जलन एक राम-नाम ही के जपने से जायगी (मन शान्त होगा)। इस कलियुग में और जितने कुछ साधन हैं, वे सब व्यर्थ से जान पड़ते हैं। वे ऐसे हैं, जैसे अंधेरा दूर करने के लिये चित्रांकित सूर्य ! (जैसे चित्र में लिखे हुए सूर्य अंधकार नष्ट नहीं कर सकते, उसी प्रकार कलियुग में किये गये साधन सिद्ध नहीं होते, फिर उनके बूते पर संसार से पार होना तो असंभव ही है) ॥ १ ॥ कर्मों का तो समूह का समूह है (कर्मकाण्ड-शास्त्रों में अगाध भरा पड़ा है) परन्तु, वह सब दुःख और पापों में लिप्त हैं (पाप-संताप के कारण एक भी सत्कर्म विधि-विहित पूर्ण नहीं हो पाता)। कर्मों का करना ऐसा है, जैसे किसी वृक्ष में बड़े ही सुन्दर फूल फूलें, पर फल किसी काम के नहीं। भाव यह है, कि यज्ञ, योग प्रभृति साधन देखने-सुनने में तो सुसाध्य और सरल समझ पड़ते हैं, पर करने पर दुसाध्य और दुष्कर हो जाते हैं, बीच ही में भ्रष्ट हो जाते हैं, फल कुछ भी हाथ नहीं आता। पाखंड, लोभ और लालच ने उपासना को चौपट कर दिया है। और मोक्ष पेट भरने की साधन हो गई है। (जिन कर्मों से मुक्ति प्राप्त की जानी चाहिये, उनसे पेट राम की पूजा की जाती है) ॥ २ ॥ न तो योग ही बनता है, न समाधि ही उपाधि-रहित है (उस में भी संकल्प-विकल्प उठा करते हैं), वैराग्य और ज्ञान बड़ी बड़ी बातें मारने के लिये और ऊपरी दिखावे के लिये रह गये हैं। करनी कुछ भी नहीं, कथनी ही है। कपट-भरे करोड़ों बुरे-बुरे मार्ग दिखाई देते हैं। कहना और रहन-सहन सभी खोटा हो गया है (न किसी की बात ही मानने योग्य है और न आचरण ही अनुकरणीय है)। सभी अपने अपने आचरण की तारीफ करते हैं, सभी अपने को सर्वश्रेष्ठ समझ रहे हैं ॥ ३ ॥ मालूम है, शिवजी गंगा के किनारे काशी की पवित्र भूमि पर मरते समय जीव को क्या उपदेश देते हैं ? वह श्रीराम-नाम के प्रताप का वर्णन करते हैं। दूसरों से कहते हैं और स्वयं भी जपते हैं। अनेक युगों से इसे संसार जानता है और वेद भी कहते चले आये हैं। सारांश, राम-नाम की महिमा जगत-उजागर है, किसीसे छिपी नहीं है ॥ ४ ॥ राम-नाम ही में अपनी बुद्धि को लगाना चाहिये और राम-नाम ही से लगन लगाना चाहिए, क्योंकि एक रामनाम ही की शरणागति जीव की विपत्तियों को दूर करनेवाली है (अन्य किसी साधन से जन्म-मरण नहीं छूट सकता) हे तुलसी ! यदि तू राम-नाम पर विश्वास

किये रहेगा और सदा अपने प्रेम को दृढ़ बनाये रहेगा, तो श्रीरघुनाथजी कभी न कभी अवश्य अपने दयालु स्वभाव से तुझ पर कृपा करेंगे (इसमें लेश मात्र भी संदेह नहीं है) ॥ ५ ॥

टिप्पणी ---(१) 'वेष......करनि'—पाखण्ड ही पाखंड का साम्राज्य है----

'करनी बिनु कथनी कथै, अज्ञानी दिन रात ।
कूकर ज्यों भूँसत फिरै, सुनी सुनाई बात ॥' (कबीरदास)

(२) 'मरत......धरनि'—ध्यान से सुनिये---

'पेयं पेयं श्रवणपुटके रामनामाभिरामं,
ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम् ।
जल्पन् जल्पन् प्रकृति-विकृतौ प्राणिनां कर्णमूले,
वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपि काशी-निवासी ॥'

(३) ढरनि'—सहज-स्वभाव; जिस स्वभाव से, जिस कारुणिक भावसे, शबरी, गीध, अजामेल आदि पापी मुक्त करदिये गये हैं ।

(१८५)

लाज न आवत* दास कहावत ।
सो आचरन बिसारि सोच तजि, जो हरि तुम कहँ भावत ॥ १ ॥
सकल संग तजि भजत जाहि, मुनि जप तप जाग बनावत ।
मोसम मंद महाखल† पाँवर, कौन जतन तेहि पावत ॥ २ ॥
हरि निरमल मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत ।
जेहि सर काक कंक बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवत ॥ ३ ॥
जाकी सरन जाइ कोविद दारुन त्रयताप बुझावत ।
तहूं गये मद मोह लोभ अति, सरगहु मिटत न सावत ॥ ४ ॥
भव-सरिता कहँ नाउ संत, यह कहि औरनि समुझावत ।
हौं तिनसों हरि परम वैर करि, तुम सों भलो मनावत ॥ ५ ॥
नाहिंन और ठौर मो कहँ, ताते हठि नातो लावत ।
राखु सरन उदार-चूड़ामनि ! तुलसिदास गुन गावत ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तर 'लागत ।' † पाठान्तर 'महाबल' इस का पदच्छेद 'महाअबल' किया गया है।

शब्दार्थ—भावत = अच्छा लगता है। संग = आसक्ति। जग = याग-यज्ञ। असमंजस = दुबिधा। कंक = गीध। सावत = ईर्ष्या। नाव = नौका।

भावार्थ—हे रघुनाथजी! मुझे (आपका) दास कहलाने में शर्म भी नहीं आती। जो आचरण आप को अच्छा लगता है, उसे मैं सहर्ष छोड़ देता हूं। (संत-स्वभाव के छोड़ देने में मुझे पश्चात्ताप भी नहीं होता है। किन्तु आश्चर्य है! इतने पर भी मैं आपका दास बनता हूं।)॥ १ ॥ सब प्रकार की विषयासक्ति छोड़ कर जिसे मुनि भजते हैं, जिसके लिये जप, तप और यज्ञ करते हैं, उस प्रभुको भला मुझ-जैसा मूर्ख, बड़ा भारी दुष्ट और पापी कैसे पा सकता है। मुझे तो भगवत्प्राप्ति असंभव ही है॥ २ ॥ भगवान् तो विशुद्ध हैं और मेरा हृदय पापपूर्ण, महामलिन। मुझे यह असमंजस जान पड़ती है कि जिस तालाब में कौए, गीध, बगुले और सुअर रहते हैं, वहां हंस क्यों आने लगे? तात्पर्य यह कि, मेरे महा मलिन हृदय में भगवान् रामचंद्र नहीं आवेंगे। वह तो उन्हीं मुनियों के हृदय-मंदिर में विहार करेंगे, जिन्होंने ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि साधनोंद्वारा अपने हृदय को स्वच्छ कर रखा है॥ ३ ॥ जिसकी शरण में जाकर बड़े बड़े ज्ञानी पुरुष सांसारिक कठिन तीनों तापों को शान्त कर देते हैं, दैहिक, दैविक और भौतिक दुःखों से मुक्त हो जाते हैं, वहां भी जाने पर मुझे अहंकार, अज्ञान और लोभ और भी अधिक सतावेंगे, क्योंकि सौतिया डाह स्वर्ग में भी नहीं छूटता, वहां भी साथ लगा फिरता है। भाव, मुझे कहीं शान्ति मिलने को नहीं॥ ४ ॥ मैं यह दूसरों को कह कर समझाता फिरता हूँ कि "देखो, संसाररूपी नदी के पार जाने के लिये संत जनही नौका-हैं"--किन्तु, हे हरे! मैं (स्वयं) उनसे शत्रुता कर के आप से कल्याण की इच्छा रखता हूँ, (यह सोचता हूँ कि आप संत-द्रोह करने से मुझपर प्रसन्न होंगे।)॥ ५ ॥ मैं संत-द्रोही होने के कारण आपके साथ संबंध जोड़ने के लायक तो नहीं हूँ, पर करूं क्या, लाचारी है) मुझे कहीं और ठौर-ठिकाना तो हुई नहीं, इसी से ज़बरदस्ती आपसे रिश्ता जोड़ता फिरता हूँ, और आपका बनना चाहता हूँ। हे दाताओं में श्रेष्ठ रघुनाथजी! यह तुलसीदास आप के गुणों का गान कर रहा है इसे अपना लीजिये (मेरी भलाई-बुराई को ताक में रख दीजिये और अपने सहज स्वभाव से कृपा कर दीजिये)॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'सो आचरण'--जैसे, वैराग्य, विवेक, शान्ति, क्षमा, समता, श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति और जीवमात्र पर दया है।

(२) 'क्यों मराल......आवत'–जिस सरोवर में श्रीरामरूपी हंस विहार करते है, उसका वर्णन श्रीबैजनाथजी ने यों किया है–

"जिनके हृदयरूप तड़ाग में प्रेमरूप पावन अमल जल भरा, समता, शान्ति, संतोष ज्ञान, विराग, विवेक कमल फूले, राम-नाम स्मरणरूप मुक्तासमूह तहां रामरूप हंस विहार करते हैं। अरु मेरा हृदयरूप जो तड़ाग में तामें विषय-वासनारूपी मैला जल भरा, परस्त्रीचाह विष्ठा है, ताते कामरूप सूकर बसत, पर धन चाह शंबुक भेक है, तहँा लोभ रूप बगुला है, परहानि अपवाद मृतक मांस है, ता हेतु क्रोध ईर्षा काक कंक बसत, तहां राघव रूप हंस कैसे आवहिंगे ?"

उपर्युक्त सांगोपांग वर्णन श्रीबैजनाथजी ने बड़ाही सुंदर किया है। आप ने, यहां, सोने में सुगंध भरने का काम किया है।

(३) 'मिटत नसावत'–जीव की दो स्त्रियां है-प्रवृत्ति और निवृत्ति। यह दोनों दिनरात कलह मचाये रहती हैं। स्थूल शरीर छूट जानेपर भी इन से पिंड नहीं छूटता। सूक्ष्म शरीर में भी इनका लड़ना-झगड़ना ज्यों का त्यों बना रहता है, जहां जहां जीव जाता है तहां तहां ये दोनों सौतिया-डाह से उसके पीछे पीछे लगी फिरती है। बेचारे को पल भर भी कल नहीं मिलती।

(१८६)

कौन जतन बिनती करिये।
निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ॥ १ ॥
जेहि साधन हरि द्रवहु जानि जन सो हठि परिहरिये।
जाते बिपति-जाल निसिदिन दुख, तेहि पथ अनुसरिये ॥ २ ॥
जानत हूं मन बचन करम परहित कीन्हें तरिये।
सो बिपरीत देखि परसुख, बिनु कारन ही जरिये ॥ ३ ॥
स्रुति पुरान सब को मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये।
निज अभिमान मोह ईर्षा बस तिनहिं न आदरिये ॥ ४ ॥
संतत सोइ प्रिय मोहिं सदा जाते भवनिधि परिये।
कहौ अब नाथ, कौन बल तें संसार सोक हरिये ॥ ५ ॥
जब कब निज करुना सुभाव तें, द्रवहु तौ निस्तरिये।

तुलसिदास बिस्वास आन नहिं, कत पचि पचि मरिये ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—द्रवहु=कृपा करते हो। अनुसरिये=चलते हैं। आदरिये=आदर करते हैं। संतत=सदा। निधि=समुद्र से आशय है।

भावार्थ—हे नाथ! उपाय ही क्या कि जिससे मैं आप की विनती करूं? जब अपने आचरणों की ओर देखता हूं, उन पर विचार करता हूं, समझता हूं, तब साहस छोड़ कर मन ही मन दहल जाता हूं (कि अरे! मैं तो आपके सामने आने ही योग्य नहीं, ऐसा घोर पापी हूं)॥१॥ हे हरे! जिस साधन से आप कृपा कर इस जीव को अपना लेते हैं, उसे मैं हठपूर्वक छोड़ रहा हूं। और जहाँ दिन-रात विपत्ति का जाल फैला फँसा कर दुःख देता है, उसी मार्ग पर चला करता हूं (ऐसा अभागा और मूर्ख हूं!)॥२॥ यह जानने पर भी कि मन, वचन और कर्म से दूसरे की भलाई करने से संसार-सागर पार कर जाऊंगा, मैं उलटा ही आचरण करता हूं, अर्थात् दूसरे के सुख को देख कर बिना ही कारण के जला जा रहा हूं (द्वेषाग्नि में भस्म होना चाहता हूं)॥३॥ वेदों और पुराणों सभी का यह सिद्धान्त है कि संतों का संग खूब दृढ़तापूर्वक करना चाहिये, सत्संग किसी भी प्रकार न छोड़ना चाहिये, किन्तु मैं अपने अहंकार, अज्ञान और ईर्षा के अधीन होकर कभी उनका आदर नहीं करता, सदा उनका द्रोह ही किया करता हूं॥४॥ (सौ बात की बात तो यह है कि) मुझे सदा वही अच्छा लगता है कि जिससे संसार-सागर ही में पड़ा रहूं। फिर हे नाथ! आप ही बतलाइये, मैं किस बूते पर संसारी दुःख दूर करूं? (मेरे पास एक भी साधन नहीं है)॥५॥ यदि कभी आप अपने कारुणिक स्वभाव से मुझपर प्रसन्न हो जायँ, तभी मेरा निस्तार होगा, नहीं तो नहीं। क्योंकि तुलसीदास को किसी और का विश्वास ही नहीं, वह किसलिये (इधर उधर भटकता हुआ) पच-पच कर मरे?॥६॥

टिप्पणी—(१) 'निज आचरन'—राम-भक्तों के आचरण, महारामायण में, लिखे हैं—

'शान्तः समानमनसश्च सुशीलयुक्तस्तोषक्षमागुणदयामृजु बुद्धियुक्तः।
विज्ञान ज्ञान विरक्तिः परमार्थवेत्ता, निर्धामकोऽप्रभयमनः स च रामभक्तः॥'

(२) 'सन्तत सोइ प्रिय'—वह क्या? विषयासक्ति, देहाभिमान, पुत्र-कलत्र, धन-सम्पत्ति को ही सर्वस्व मानना, पर-द्रोह, असद्व्यवहार आदि।

(१८७)

ताहि ते आयो सरन सबेरे।
ग्यान विराग भगति साधन कछु सपनेहुँ नाथ न मेरे ॥ १ ॥
लोभ मोह मद काम क्रोध* रिपु फिरत रैनि दिन घेरे।
तिनहिं मिले मन भयो कुपथ-रत फिरै तिहारेहिं फेरे ॥ २ ॥
दोष-निलय यह विषय सोक-प्रद कहत संत स्रुति टेरे।
जानत हूं अनुराग तहां अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे ॥ ३ ॥
बिष पियूष सम करहु अगिनि हिम, तारि सकहु बिनु बेरे।
तुम सम ईस कृपालु परम हित पुनि न पाइहौं हेरे ॥ ४ ॥
यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरे।
तुलसिदास यह बिपति बाँगुरो तुमहि सों बनै निबेरे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—सबेरे = जल्दी। निलय = घर। बेरे = बेड़ा। बाँगुरो = जाल।

भावार्थ—हे नाथ ! इसी कारण से मैं जल्दी आपकी शरण में आया हूं (जल्दी इसलिये कि न जाने कब मौत के चंगुल में फँस जाना पड़े)। मेरे पास स्वप्न में भी ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि साधन नहीं हैं (कि जिनके भरोसे मैं संसार-सागर से पार हो जाता) ॥ १ ॥ लोभ, अज्ञान अहंकार, काम और क्रोधरूपी शत्रु मुझे सदा घेरे रहते हैं, क्षणभर भी पिंड नहीं छोड़ते। इन सब के साथ मिलकर यह मन भी कुमार्गी हो गया है। अब यह आपके ही फेरने से फिरेगा, निश्चल होगा, अन्यथा नहीं ॥ २ ॥ सन्त जन और वेद पुकार-पुकार कर कहते हैं कि यह विषयासक्ति, विषय-वासना, दोषों की खानि है, दुःखों की देनेवाली है पर यह जानते हुए भी मैं उसीमें अनुरक्त रहता हूं। सो हे हरे ! आपकी ही प्रेरणा है (नहीं तो ऐसा कौन मूर्ख होगा कि जो जान-बूझकर कुएँ में गिरे ?) ॥ ३ ॥ आप (अपने सामर्थ्य से) विष को अमृत एवं अग्नि को बरफ बना सकते हैं, आप बिना ही बेड़ा के पार कर सकते हैं। आपके समान समर्थ कृपालु और परमहितू ढूढ़नेपर भी कहीं नहीं मिलेगा (यदि इस जन्ममें आप को भूलकर चूक गया तो फिर अगले जन्मों में ऐसा दाँव मिलने का नहीं) ॥ ४ ॥ हृदय में यह जानकर हे रघुनाथजी ! मैं सब छोड़—

* पाठान्तर 'बोध।'

छाड़ कर आप ही के भरोसे पड़ा हूं। क्योंकि तुलसीदास का यह विपत्तिरूपी जाल आपके ही काटे कटेगा, अन्यथा नहीं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'ताहि तें'—क्योंकि हे भगवन्! मैं आपकी यह प्रतिज्ञा सुन चुका हूं कि--

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वाम् सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥' (गीता)

(२) 'विषय'—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

(३) 'तुम्हरेहिं प्रेरे'—जीव का प्रेरक परमात्मा है। जो वह कराता है, सो यह करता है। यहां दुर्योधन का निम्नलिखित सिद्धान्त स्मरण आ जाता है—

'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥'

(४) 'तुमहिं सो बनै निवेरे'—क्योंकि 'जो बाँधै सो छोरै'।

(१८८)

मैं तोहिं* अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहिं मोहि हरि के बल, प्रगट कपट-आगार ॥१॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि कियो विचार।
ज्यों कदलीतरु-मध्य निहारत, कबहुं न निकसत† सार ॥२॥
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायो पार।
महामोह-मृगजल-सरिता महँ बोर्यो हौं वारहिं वार ॥३॥
सुनु खल, छल बल कोटि किये बस, होहिं न भगत उदार।
सहित सहाय तहां बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार ॥४॥
तासों करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार।
सो परि डरै मरै रजु अहि तें बूझै नहिं व्यवहार ॥५॥
निज हित सुनु सठ हठ न करहिं जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभु के दासनि तजि भजहिं जहां मदमार ॥६॥

---

* पाठान्तर 'तू।'
† पाठान्तर 'निकरत, निकसन।'

शब्दार्थ—आगार = स्थान। कमनीय = सुन्दर। विचार = ज्ञान। सार = गूदा। सहाय = सेना। रजु = रज्जु, रस्सी। मार = कामदेव।

भावार्थ—अरे संसार! मैंने आज तुझे जान लिया, तेरा ठीक ठीक रहस्य आज मेरी समझ में आ गया। तू सोलहो आने कपट का घर है, पर अब तू मुझे (अपने कपटजाल में) नहीं बांध सकता, क्योंकि मुझे भगवान् का बल है (और परमात्मा के सामने तेरी अस्ति तक नहीं रहती, छलबल पूछता ही कौन है) ॥१॥ देखने मात्र में तू सुन्दर मालूम होता है, पर विचार करने पर, विवेक बुद्धि से सोचने पर, तू कुछ भी नहीं है, वस्तुतः तेरा अस्तित्व ही नहीं है। जैसे केले के पेड़ को देखो, उसमें से कभी गूदा नहीं निकलता (कितना ही छीलो, छिलका ही छिलका निकलता आयगा, उसी प्रकार संसार पर जितना ही अधिक विचार करोगे, उसे अन्वयव्यतिरेक से देखोगे, उतना ही निःसार प्रतीत होगा) ॥२॥ अरे तेरे लिये मैं अनेक जन्मों से भटकता हूं, पर आज तक तेरा पार नहीं मिला था (यह ज्ञान नहीं हुआ था कि तू क्या है, किसलिये है, मेरा-तेरा क्या संबन्ध है)। तूने मुझे महामोहरूपी मृगतृष्णा की नदी में बार-बार डुबाया अर्थात् संसार की झूठी विषयासक्ति में मुझे अनेक बार पड़ना पड़ा ॥३॥ अरे शठ! सुन, भले ही तू करोड़ों प्रकार के छल-बल किया करे पर भगवान् का परमभक्त तेरे वश में होने का नहीं। तू तो अपनी सेना-समेत वहीं जाकर डेरा डाल, जिस हृदय में श्रीनन्दनंदन कृष्ण भगवान् का वास न हो (भगवत्-शून्य हृदय में ही सांसारिक प्रवृत्तियों का साम्राज्य रहता है) ॥४॥ जो तेरा भेद न समझता हो, उसीके साथ अपनी चाल चल, क्योंकि वही रस्सीरूपी सांप से डर कर मरेगा, जो उसके भेद को न जानता होगा ॥५॥ अरे दुष्ट! अपने हित की बात सुन, जो तू अपने कुटुम्ब समेत अपनी खैर मनाना चाहता है तो हठ न कर। तुलसीदास के स्वामी श्रीरघुनाथजी के सेवकों को छोड़ कर तू वहीं भाग जा, जहां अहंकार और काम रहते हों ॥६॥

टिप्पणी—(१) इस पद में गुसाईंजी ने संसार को मायावाद के अनुसार, मिथ्या माना है, पर साथ ही हमें उनका यह वाक्य—'कोउ कहि सत्य, कोउ कहि मिथ्या, जुगल प्रबल करि मानै। तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै'—न भूल जाना चाहिये। भगवत्प्राप्ति के लिये विरति का होना आवश्यक है और प्रायः इसीलिये संसार तो क्या संसार की विषयासक्ति मिथ्या मानी गई है।

(२) 'न पायो पार'—वस्तुतः जिस समुद्र का अस्तित्व ही नहीं, उसका पार क्या खाक मिलेगा ? पार पा लेना 'वंध्यापुत्रान्वेषण' ही है !

(३) 'नन्दकुमार'—गुसाईंजी श्रीरामकृष्ण को एक ही परात्पर परब्रह्म समझते थे। उनकी दृष्टि में दोनों अवतार एक ही थे।

(४) 'सहित ...नंदकुमार'—क्योंकि—

'कहु रहीम का करि सकैं,जारी चोर लबार।
जो पति राखनहार है, माखन चाखन हार ॥'

(५)'सहाय'—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, संकल्प, विकल्प, प्रवृति, निवृत्ति आदि।

राग गौरी

(१८६)

राम कहतु चलु, राम कहतु चलु, राम कहतु चलु भाई रे।
नाहिँ तौ भव-बेगारि महँ परिहौ छूटत अति कठिनाई रे ॥१॥
बाँस पुरान साज सब अटखट* सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करम चँद मन्द मोल बिनु डोला रे ॥२॥
विषम कहार मार-मद-माते चलहिं न पाँउ बटोरा रे।
मन्द बिलन्द अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे ॥३॥
काँट कुराय लपेटन लोटन ठांवहिं ठाउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे ॥४॥
मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँकर भूला रे।
तुलसिदास भव-त्रास हरहु अब होहु राम अनुकूला रे ॥५॥

शब्दार्थ—पुरान = पुराना। अटखट = अंटसंट,गड़बड़। सरल = सड़ा, जर्जर। दिहल = दिया। खटोला = पालकी, कंधों पर ले जाने की सवारी। मार = कामदेव। मन्द-बिलंद = नीचा-ऊंचा। अभेरा = धक्का। दलकन = झटका। कुराय = कंकड़ी। लोटन = सांप से आशय है, इसका झाड़ी भी अर्थ है। बझाऊ = उलझन। संबल = मार्ग-व्यय, कलेवा।

*पाठान्तर 'अठकठ'

भावार्थ—अरे भाई! राम-राम कहते चलो, नहीं तो संसारी बेगार में पड़ जाओगे, जहां से छूटना बड़ा कठिन है। (अत्यन्त कठिन इसलिये है कि न तो संसार का ही कभी अंत होगा और न तेरी प्रवृत्तियों ही का, जन्म-मरण का चक्र सदा चलता रहेगा। हां, यदि तू राम राम जपता चला जायगा, तो यमदूत तुझे बेगार में न पकड़ सकेंगे, क्योंकि उनको इस काम की मनाही है) ॥ १ ॥ हमारे कुटिल कर्मों नें, चन्द्रडोले का नाम लेकर ऐसा निकम्मा डोला, बिना ही दाम का, मत्थे मढ़ दिया है कि जिसका बांस पुराना है, जिसमें बेतरकीब, अंटसंट, साज लगी हुई है, जो सड़ा-गला है, और तीन कोने का खटोला है (यहां, इस तिकोन खटोले से शरीर की उपमा दी गई है। कर्म बढ़ई है; उसने हमें यह शरीररूपी डोला बना कर दे दिया है, मुफ्त ही दिया है! हमारी तो इसे लेने की इच्छा भी नहीं थी। अनेक जन्म-जन्मान्तरों से जो विषय-प्रवृत्ति चली आ रही है, वही इसमें पुराना बांस है। प्रकृति, महत्तत्व और अहंकार, यह तीन पाटी तथा सत्व, रज और तमोगुण, यह तीन पावे हैं। यही इसमें अंटसंट साज लगी हुई है। वास्तव में, इसकी सारी सामग्री, ज्ञानदृष्टि से, क्षणभंगुर है। इसीसे इसे सड़ा-गला कहा है। जागर्ति, स्वप्न और सुषुप्ति, यह जो तीन अवस्थाएँ, हैं यही इस खटोले के तीन कोने हैं। अज्ञानियों के लिये तो यह चन्द्रडोला ही है, वह इसी शरीर को सर्वस्व मानकर, विषय-वासनाओं में डूबे हुए, सुख मान रहे हैं, पर ज्ञानियों की दृष्टि में यह मंद डोला है, यह स्वयं उनके लिये भारस्वरूप हो रहा है, आवागमन का कारण बन रहा है। अब इस शरीररूपी डोले के सम्बन्ध में और भी स्पष्टरीति से कहते हैं) ॥ २ ॥ इसको उठानेवाले कहार एक से नहीं हैं (दो, चार या आठ कहार डोला उठाया करते हैं, पर इस शरीररूपी डोले के उठानेवाले कहार पांच हैं, और वह हैं जिह्वा, नेत्र, नासिका, कर्ण और त्वचा, अथवा इनके विषयरस, रूप, गंध, शब्द और स्पर्श)। वे कामरूपी मद्य में मतवाले हैं और इसी से वह एक से, पैर रखते हुए नहीं चलते, कोई किधर जा रहा है, तो कोई किधर (नेत्र अपने विषय की ओर दौड़ता है, तो कान अपने विषय की ओर! कान किधर को भागता है, तो जीभ किसी और ही तरफ! भला इस मनमानी घरजानी चाल चलने से डोला कब तक चल सकेगा!) कभी नीचे की ओर और कभी ऊंचे की ओर चलने से धक्के और

झटकें लग रहे हैं और इस खींचतान में बड़ा ही दुःख हो रहा है (इंद्रियां कभी तो बुरी वासनाओं की ओर दौड़ती हैं और कभी सद्वासनाओं की ओर। किन्तु मन के संकल्प-विकल्प के कारण पूरा कुछ भी नहीं होता, जीव बीच में व्यर्थ ही धक्के खा रहा है; और इस ऐंचाऐंची के झंझटमें पड़कर रो रो कर दिन बिता रहा है;न दीन ही बनता है, न दुनिया ही) ॥ ३ ॥ रास्तेमें कांटे बिछे हैं (अनेक विघ्न बाधाएं उपस्थित हैं), कंकड़ पड़े हैं, सांप अलग लिपट जाते हैं। जगह जगह पर उलझन है (शरीर-यात्रा के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं; मोह-ममता ही कंकड़ हैं, विषैले विषय सांप हैं और कर्मों की विकट झंझट उलझन है। इन सब कारणों से कदम कदम पर रुक जाना पड़ता है, शरीर-यात्रा निर्विघ्न हो ही नहीं सकती)। और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों (लक्ष्यस्थान) दूर होता चला जा रहा है (तात्पर्य यह है कि आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये जब जो-जो उपाय करते हैं, तब माया बीच में पड़ कर सारा किया-कराया मिट्टी में मिला देती है। चाहते तो हैं कि ब्रह्मानन्द का पीयूष पान करें, पर मिलता है विषय-सुखों का ज़हरीला प्याला ! सुलझने की ज्यों ज्यों चेष्टा करते हैं त्यों त्यों उलझते जाते हैं)। कोई संगी-साथी भी तो नहीं मिलता कि उसके साथ-साथ जैसे तैसे वहां तक पहुंच जायँ (सब तरह से आफत ही है) ॥ ४ ॥ मार्ग बड़ा कठिन है (परमार्थ पर चलना तलवार की धार पर चलना है), साथ में राह-खर्च भी नहीं है (ऐसे सत्कर्म भी नहीं किये हैं कि जिनके बल-भरोसे पर मार्ग तय कर लिया जाय), और जहां जाना है उस गांव का नाम तक याद नहीं। (यह और भी कठिनता है। कहीं जैसे तैसे चलते-चलते किसी और ही गांव में पहुंच जायँ तो बड़ी आफ़त हो)। इसलिये, हे श्रीरामचन्द्रजी ! इस तुलसीदास के सांसारिक भय को, जन्म-मरण के दुःख को, आप ही कृपा कर दूर कीजिए (नहीं तो वह कभी निर्दिष्ट स्थान तक पहुंच ही नहीं सकता)॥ ५ ॥

टिप्पणी--(१) 'राम कहत......भाई'—यहां, 'राम कहत चलु' तीन बार लिखा गया है। संभव है, जीव का त्रिविध दुःख—दैहिक, दैविक, भौतिक—दूर करने के लिये तीन बार यह उपदेश दिया गया हो।

(२) 'विषम......बटोरा रे'—स्वर्गीय पंडित रामेश्वर भट्टजी ने, इस चरण

का अर्थ लिखते हुए, इंद्रियों के वैषम्य और खींचतान पर बड़ा ही सुन्दर छप्पय दिया है। देखिये—

'कान निरन्तर गान-तान सुनिबोही चाहत।
आँखें चाहति रूप रैनिदिन रहति सराहत॥
नासा अतर सुगंध चहति फूलन की माला।
त्वचा चहति सुख सेज संग कोमल तन बाला॥
रसना हू चाहति रहति नित खाटे, मीठे, चरपरे।
न पंचन इहि परपंच सों भूपन को भिच्छुक करे॥'

(३) 'निज वास'—जीव का खास घर, जिसे कबीरसाहब 'हंसलोक' वा 'सत्य-लोक' कहते हैं। यहां बरबस महात्मा कबीर का यह शब्द याद आ जाता है—

'रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै॥
बिना ताल जहँ कमल फुलाने, तेहिं चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उजियारी दरसै जहँ तहँ हंसा नजर परै॥
दसवें द्वारे तारी लागी अलख पुरुख जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै, काम क्रोध मद लोभ जरै॥
जुगन जुगन की तृषा बुझाती करम भरम अघ व्याधि टरै।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय, कबहूं न मरै॥' (कबीर)

(४) यह पद जन-साधारण की भाषा में लिखा गया है। इसमें कई प्रान्तीय शब्द आये हैं। मुहावरे भी ग्रामीण जड़े गये हैं। इतना ऊँचा सिद्धान्त सर्व साधारण के हृदयंगम कराने के लिये ही गुसाईंजी ने ऐसा किया है। कबीरदासजी के सिद्धान्तों का प्रचार भी ऐसी ही सीधी-सादी भाषा की कविता द्वारा हुआ है।

(१६०)

सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेह।
तातें भव-भाजन भयो, सुनु अजहुँ सिखावन एह॥ १॥
ज्यों मुख मुकुर बिलोकिये अरु चित न रहै अनुहारि।
त्यों सेवतहुँ न आपने, ये मातु पिता सुत नारि॥ २॥

दै दै सुमन तिल बासि कै अरु खरि परिहरि रस लेत।
स्वारथ हित भूतल भरे मन मेचक तनु सेत ॥ ३ ॥
करि बीत्यो अब करतु है, करिबे हित मीत अपार।
कबहुँ न कोउ रघुबीर सो नेह निबाहनिहार ॥ ४ ॥
जासों सब नातो फुरै, तासों न करी पहिचानि।
तातें कछू समुझ्यो नहीं कहा लाभ कह हानि ॥ ५ ॥
साँचो जान्यो झूठ को, झूठे कहँ साँचो जानि।
को न गयो, को जात है, को न जैहै करि हितहानि ॥ ६ ॥
बेद कह्यो, बुध कहत हैं, अरु हौंहुँ कहत हौं टेरि।
तुलसी प्रभु साँचो हितू, तू हिये की आंखिन हेरि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—भव-भाजन = संसार का पात्र; संसार में बार बार आने जाने के योग्य। मुकुर = दर्पण। अनुहारि = सूरत। खरि = खली; तेल निकाल लेने के बाद तिलों में से जो फोक निकलता है। मेचक = काला। फुरै = सच्चा साबित होता है। हौंहुं = मैं भी।

भावार्थ—तूने निष्कारण ही स्नेह करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी से स्नेह नहीं किया। इसीसे तू संसारी हुआ है, बार बार जन्म लेने और मरने के योग्य हुआ है। (फिर भी अभी कुछ बिगड़ा नहीं है) अब भी यह शिक्षा सुन ॥ १ ॥ जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिंब दीख पड़ता है, पर वह आकृति वस्तुतः उसके भीतर नहीं होती; उसी प्रकार यह माता, पिता, पुत्र और स्त्री, सेवा करते हुए भी अपने नहीं हैं। तात्पर्य यह कि इनके साथ जो सम्बन्ध मान लिया गया है, वह स्वार्थ मात्र का है, वास्तव में कोई किसीका सगा सम्बन्धी नहीं है ॥ २ ॥ (अब तनिक स्वार्थियों की लीला तो देखिये) जैसे फूलों के बीचमें तिल रखकर उन्हें सुगन्ध मय बनाते हैं, किन्तु तेल निकाल लेने पर उन्हें फोक समझ कर फेंक देते हैं, वैसे ही सम्बन्धियों की दशा है (अर्थात्, जब तक किसीमें सौन्दर्य रहता है, धन कमाने की शक्ति रहती है, बल-पौरुष रहता है, तब तक उसकी बलैया ली जाती है, उसपर सर्वस्व निछावर किया जाता है, पर ज्योंही रूप चला गया, बल कम हो गया, त्योंही उसे कुत्ते की नाईं छोड़ देते हैं,)

इस पृथिवी पर ऐसे कितने ही स्वार्थी भरे पड़े हैं. जिनका मन काला है, पर

शरीर शुभ्र है, ऊपर से तो बड़े ही सुन्दर दृष्टि आते हैं, पर मन महामलीन और कपटी है।।३।। तूने कितने मित्र बनाये, कितने बना रहा है और कितने अभी बनायेगा, किन्तु कभी त्रिकाल में भी श्रीरघुनाथजी-सरीखा प्रेम को (एक रस) निभानेवाला मित्र मिलने का नहीं ।। ४ ।। अरे ! जिसके कारण सारे सम्बन्ध सच्चे प्रमाणित हों, उसके साथ तूने (आज तक) पहचान नहीं की ! और इसी कारण से तूने अभी तक यह नहीं समझ पाया कि क्या तो लाभ है और क्या हानि, अर्थात् अभीतक तुझे सदसत् वस्तु का विवेक प्राप्त नहीं हुआ ॥ ५ ॥ जिसने झूठको सच्चा (शरीर को आत्मा) और सच्चे को झूठ (आत्मा को शरीर) मान रखा है, ऐसा अपने हित को नष्ट करनेवाला कौन (संसार से) नहीं चला गया, कौन नहीं जा रहा है, और कौन नहीं जायगा (सारांश, ऐसे मूढ़ जीव सहस्रों की संख्या में मरते-जीते रहते हैं, उनका जन्म लेना व्यर्थ है) ॥ ६ ॥ वेदों ने कहा है, पण्डित कहते हैं और मैं भी पुकार कर कह रहा हूँ, कि तुलसी के स्वामी श्रीरघुनाथजी ही सच्चे हितू हैं। तनिक तू अपने हृदय के नेत्रों से देख तो, अन्तःकरण में इस बात पर विचार तो कर ॥ ७ ॥

टिप्पणी—(१) 'ज्यों मुख......अनुहारि'--इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि जैसे दर्पण में मुख देख चुकने पर उसके प्रतिबिम्ब की चेष्टा चित्त में नहीं रहती है, निष्प्रयोजन होने के कारण तत्काल ही भूल जाती है।

(२) 'दै दे......लेत'—यह दृष्टान्त बड़ा ही उपयुक्त और सुंदर है। स्वार्थी मनुष्य, वास्तव में, काम-वश सौन्दर्य आदि का उपभोग करते हैं, उपासना नहीं। यदि परमेश्वरीय विभूति समझ कर वे उसकी उपासना करें, उसका उपभोग छोड़ दें, तो यह नरकोपम संसार उसी क्षण स्वर्ग हो जाय, मिथ्या जगत् सत्यरूप हो जाय।

(३) 'मन......सेत'—अथवा यों कहना चाहिये कि—

'विषरस भरा कनकघट जैसे।'

(४) 'नेह निवाहनिहार'—प्रेम तो प्रायः एक क्षण में ही हो जाता है, पर उसे एकसा निबाहना महाकठिन जान पड़ता है। बाह्य जगत का प्रेम ऐसाही अस्थायी माना गया है। प्रेम तो आन्तर्जगत् का ही, ईश्वरीय ही, सच्चा सदा एक-सा हुआ करता है। कहा है—

'भंग-पान अति सहज है, लहर कठिन पै होय।'

(५) 'सांचो......जानि'—आत्मको अनात्म और अनात्मको आत्म मानना ही हेर-फेर का ज्ञान अथवा अविद्या है। कुछ का कुछ मान लेने से किसी वस्तु का बिल्कुल ही न जानना अच्छा है। पाखण्डी आस्तिक से तो नास्तिक ही भला है।

(६) इस पद में "एक परमात्मा ही इस जीव का सर्वस्व है"—यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।

(१९१)

एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु।
प्रेम कनौड़ा राम सों नहिं दूसरो दयालु॥ १॥
तन-साथी सब स्वारथी, सुर व्यवहार-सुजान।
आरत अधम अनाथ हित को रघुबीर समान॥ २॥
नाद निठुर, समचर सिखी, सलिल सनेह न सूर।
ससि सरोग, दिनकर बड़े, पयद प्रेम-पथ-क्रूर॥ ३॥
जाको मन जासों बँध्यो, ताको सुखदायक सोइ।
सरल सील साहिब सदा, सीतापति-सरिस न कोइ॥४॥
सुनि सेवा सही को करै, परिहरै को दूषन देखि।
केहि दिवान दिन दीन को आदर अनुराग बिसेखि॥ ५॥
खग सबरी पितु मातु ज्यों माने, कपि को किये मीत।
केवट भेंट्यो भरत ज्यों ऐसो को कहु पतित-पुनीत॥ ६॥
देह अभागहिं भाग को, को राखै सरन सभीत।
वेद विदित विरुदावली, कबि कोबिद गावत गीत॥ ७॥
कैसेउ पाँवर पातकी जेहि लई नामकी ओट।
गाँठी बाँध्यो दाम तो परख्यो * न फेरि खर खोट॥ ८॥
मन मलीन, कलि किलविषी होत सुनत जासु कृत काज।
सो तुलसी कियो आपनो रघुबीर गरीब निवाज॥ ९॥

शब्दार्थ—कनोड़ा = कृतज्ञ। सुजान = चतुर। नाद = राग, स्वर। समचर = समदृष्टा। सिखी = आग। पयद = मेघ। क्रूर = निष्ठुर। दिवान = दरबार।

---

* पाठान्तर 'परखो'।

सभीत = डरा हुआ। कोविद = ज्ञानी। दाम = धन, पैसा। खर = खरा, अलग। किलविपी = (किल्बिषी) पापी।

भावार्थ—केवल कोसलेन्द्र श्रीरामचंद्रजी ही एक सच्चे स्नेही हैं (जीव-मात्रके कल्याण-कर्त्ता हैं)। प्रेम-प्रीतिका माननेवाला रामजीके समान दूसरा दयालु नहीं है ॥१॥ इस शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले जितने भी हैं, वे सबके सब मतलबी यार हैं (स्वार्थ सधा कि चटसे अलग हो गये) और देवता व्यवहारमें कुशल हैं (जितनी उनकी सेवा करोगे, उतना वे फल दे देंगे। और यदि कुछ बिगड़ गया, तो सारा किया-कराया मिट्टीमें मिला देंगे)! दुखी नीच और अनाथका हित करनेवाला श्रीरघुनाथजी के समान दूसरा कौन है? (कोई भी नहीं) ॥२॥ (अब प्रेमियोंकी दशा देखिये) राग अथवा संगीत का स्वर निर्दय होता है (वीणा के स्वर पर मोहित हो कर हिरण उसके बजानेवाले के पास खिच कर चला आता है, थोड़ी देर में बेचारा जालमें फंस जाता है और उसे प्राणोंसे हाथ धोने पड़ते हैं। कसाई नाद को तनिक भी दया नहीं आती कि अपने प्रेमीके प्राण तो बचाले)। अग्नि सब पर एक सा व्यवहार करनेवाली होती है, जलानेसे किसीको भी नहीं छोड़ती (बिचारे पतंगे दीपककी रूप माधुरी पर मुग्ध हो कर उसे चुम्बन करने आते हैं, पर यह जालिम उन्हें भूंज डालता है!) जल भी प्रेम निबाहनेमें वीर नहीं है (मछली तो उसके बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रहती है, पर वह ऐसा लापरवाह हैं कि उसके प्रेमका कुछ भी मूल्य नहीं समझता)। चंद्रमा (आजन्म) रोगी है (पर उसका प्रेमी चकोर उसपर मरा जा रहा है। रात भर टक लगाये उसकी ओर देखा करता है। कभी-कभी तो अंगार को, चंद्रमा समझ कर, खा जाता है; किन्तु चंद्रमा यद्यपि रोगी है तथापि अपने रूप के ही घमंडमें चूर रहता है चकोर पर जरा भी तर्स नहीं खाता) सूर्य्य बड़प्पन में भूल रहे हैं! (कमल उन्हें देख देख कर फूला नहीं समाता पर वह उसे नीच समझ कर क्षण भर में सुखा डालते हैं!) और मेघ तो प्रेम-पंथके लिये बड़ा ही क्रूर है (पपीहा का प्रेम आदर्श माना गया है। वह समुद्र तक को उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता है। केवल स्वाति नक्षत्रकी बूंदके लिये प्यासा रहता है पीउ पीउ करता हुआ अपने प्यारे मेघके नाम पर अलख जगाता है, पर इसका पीउ, निर्दय पीउ, उसपर ओले बरसाता है, महीनों तरसाता है, एक

बूँद भी समय पर नहीं देता)॥ ३ ॥ बात तो यह है कि जिसका मन जिससे बँध गया, जो जिसपर मोहित हो, उसे वही सुख देनेवाला होता है (दुख को भी सुख मान लेता है); किन्तु (मेरी दृष्टि में) श्रीरघुनाथजी के समान सीधा-सादा सुशील स्वामी दूसरा नहीं है ॥ ४ ॥ सेवा सुनते ही उसपर 'सही' कर देनेवाला कौन है, सेवा मान लेने वाला दूसरा कौन है ? और अपराध देखकर भी उन्हें कौन उपेक्षणीय समझता है ? किसके दरबारमें दीनोंका मान बड़े प्रेमसे किया जाता है ? ॥ ५ ॥ पक्षी जटायु और शबरी को किसने पिता और माताके समान माना, उन्हें पिता और माता के समान पिंड-दान दिया ? किसने बंदर (सुग्रीव) को अपना मित्र बनाया ? जिन रामचन्द्रजीने केवटको अपने सगे भाई भरतकी तरह हृदयसे लगा लिया, उनके समान, कहो तो, पापियोंका उद्धार करनेवाला और कौन है ? (कोई नहीं) ॥ ६ ॥ अभागेको कौन भाग्यवान् बनाता है ; और डरे हुओं को कौन अपनी शरणमें लेता है ; वेदोंमें किसकी कीर्ति जगमगा रही है, और कवि एवं विद्वान् किसके गीत गा रहे हैं ? (भगवान् रामचन्द्र ही एक ऐसे दीनबन्धु भक्तवत्सल हैं, और कोई नहीं) ॥ ७ ॥ जिसने भी उनके नाम (राम) का आश्रय लिया । चाहे वह कैसा ही नीच और पापी क्यों न हो— उसे उन्होंने इस प्रकार अपना लिया जैसे कोई विनाही परखे हुए धन को गांठमें बाँध लेता है, भले ही वह खरा हो या खोटा ॥ ८ ॥ जो ऐसा मलिन मनवाला है, घोर पापी है, कि कलियुगमें उसके किये हुए कर्मों को सुन कर दूसरे पापी हो जाते हैं, उसे भी, उस तुलसीदास को भी, उन्होंने अपनी शरण में लिया । श्रीरघुनाथजी दीनों पर इस प्रकार कृपा करनेवाले हैं ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) 'प्रेम···दयालु'—धन्य । हनुमानजीसे आप कहते हैं—

'प्रति उपकार करौं का तोरा । सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥'

(२) 'तन-साथी'—शरीर जब तक है, तब तक माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि संबंधी है । प्राणों के साथ कोई भी नहीं जाता, सब यहीं रह जाते हैं ।

'फूला फूला फिरै जगत में रे मन, कैसा नाता रे ।
मात कहै यह पुत्र हमारा, बहिन कहै बिर मेरा ॥
कहै भाइ यह भुजा हमारी, नारि कहै नर मेरा ।
पेट पकरि कै माता रोवै, बाँह पकरि कै भाई ।

लपटि झपटि कै तिरिया रोवै, हंस अकेला जाई ॥
घर की तिरिया रोवन लागी, ढूंढ़ फिरी चहुँ देसा ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, छाड़ों जग की आसा ॥'

(३) 'नाद निठुर' —कुरंग का प्रेमरंग कितना पक्का है !

' आयु व्याध को रूप धरि , कुहो कुरंगहि राग ।
तुलसी जो मृगमन मुरे , परै प्रेम पर दाग ॥' (दोहावली)

(४) 'सलिल सनेह' —मछली की भी प्रीति सराहनीय है । गुसाईंजी लिखते हैं—

' मकर, उरग, दादुर, कमठ, जल जीवन जल गेह ।
तुलसी एकै मीन को, है सांचिलो सनेह ॥' (दोहावली)

(५) 'पयद प्रेमपथ क्रूर'—चातक की अनन्य निष्ठा तो देखिये—

' जियत न नाभी नारि , चातक घन तजि दूसरहि ।
सुरसरि हू को वारि , मरत न मांगउ अरघ जल ॥
बरषि परुष पाहन पयद , पंख करौ टुक टूक ॥
तुलसी परी न चाहिये , चतुर चातकहि चूक ॥' (दोहावली)

(६) 'खग'—जटायु; इसमें सन्देह नहीं कि श्रीरघुनाथजी ने जटायु को पिता-तुल्य मान लिया था । गीतावली में लिखा है—

' राघौ गीध गोद करि लीन्हों ।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहुँ अरघ जल दीन्हों ॥
सुनहु लखन, खगपतिहिं मिले बन में पितु-मरन न जान्यो ।
सहि न सक्यो सो कठिन बिधाता बड़ो पछु आजुहि भान्यो ॥

(७) 'सबरी'—१०६ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये ।

(८) 'कवट'—गुह; १०६ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये ।

(१६२)

जो पै जानकिनाथ सों नातो नेह न नीच ।
स्वारथ परमारथ कहाँ कलि कुटिल बिगोयो बीच ॥१॥
धरम बरन आस्रमनि के पैयत पोथि ही पुरान ।
[illegible] ज्यों सरीर बिन प्रान ॥२॥

बेद-बिदित साधन सबै, सुनियत दायक फल चारि।
राम-प्रेम बिनु जानिबो जैसे सर सरिता बिनु बारि ॥३॥
नाना पथ निरबान के नाना बिधान बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे जपु राम नाम दिन राति ॥४॥

शब्दार्थ--बिगोयो = ठग लिया। जानिबो = ज्ञान। बारि = जल। निर्वाण = मोक्ष।

भावार्थ—अरे नीच! यदि श्रीजानकीवल्लभ रामचन्द्रजी से तूने प्रेम नहीं किया, उनसे नाता नहीं जोड़ा, तो स्वार्थ और परमार्थ तू कहाँ सिद्ध कर सकेगा। भाव यह है कि, बिना भगवत्प्रेमके न तो कोई अपना ही हित कर सकता है और न दूसरोंका ही, न लोक बनता है, और न परलोक ही ॥ १ ॥ वर्ण और आश्रमके धर्म केवल पोथियों और पुराणों में ही लिखे पाये जाते हैं। करनी कहीं नहीं दिखाई देती है, केवल भेष ही भेष देख लो। जैसे बिना प्राणोंके शरीर हों, वैसेही बिना धर्माचरणके यह कोरे भेप हैं, इनसे कोई लाभ नहीं ॥ २ ॥ सुनते हैं कि वेदों में जितने प्रसिद्ध प्रसिद्ध (कर्मकाण्ड के) साधन हैं, वे सब अर्थ, धर्म, काम और मोक्षके देनेवाले हैं, किन्तु बिना श्री राम-भक्तिके उन सबका मानना ऐसा है, जैसे कि बिना पानीके तालाब और नदियाँ। सारांश यह है कि, भगवत्प्रेम-विहीन समस्त वेद-वेदान्तका ज्ञान निस्सार और व्यर्थ है ॥ ३ ॥ मुक्तिके अनेको पंथ हैं और तरह-तरहके उपाय हैं, किन्तु हे तुलसी! तू तो, मेरे कथनानुसार, दिन-रात केवल राम-नामका ही जप किया कर (अन्य साधनों और मत-मतान्तरोंसे कुछ भी प्रयोजन न रख) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'नातो'—सेव्य-सेवक-भाव के नाते से ही प्रयोजन हो सकता हैं, क्योंकि बिना इस संबंध के मुक्ति दुर्लभ सी जान पड़ती है। कहा भी है—

'सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।' (रामचरितमानस)

(२) 'धरम......पुरान'—इस युग में तो यह वाक्य और भी पुष्ट हो गया है। वास्तव में, आज आर्यजाति इतनी पतित हो गई है कि उसकी वर्णाश्रम धर्म की ओर तनिक भी श्रद्धा नहीं रही। मनुस्मृति आदि धर्मस्मृतियों एवं श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में ही वर्णाश्रम-व्यवस्था लिखी हुई मिलती है। उसपर चलनेवाला

प्राय: एक भी नहीं दिखाई देता। सुधारक लोग सुधार के बहाने रही सही धर्म-व्यवस्था को और भी चौपट किये देते हैं। हरेरिच्छा बलीयसी!

(३) 'करतब......देखिये'--कबीरसाहब ने सत्य ही कहा है —

'साधू भया तो, क्या हुआ, माला पहिरी चार।
बाहर भेस बनाइया, भीतर भरी भँगार॥'

(४) 'रामप्रेम......वारि'—यहां, सिद्धान्तरूप से, भक्ति को ज्ञान से बड़ा माना है। 'केवल ज्ञान' श्रेयस्कर नहीं हो सकता है। भक्ति के बिना वह निष्प्राण है। सानुराग ज्ञान ही मुक्ति का द्वार है।

(५) 'नाना पथ निरवान के'—दार्शनिकों ने मुक्ति की अनेकों परिभाषाएँ लिखी हैं। जैसे—

'वस्तु' का सावयव (सांगोपांग) ज्ञान ही मोक्ष है;
शास्त्रों के अर्थ के अनुकूल निर्दिष्ट आचरण करना ही मोक्ष है;
दृश्य और अदृश्य के ज्ञान का जो अभाव है, वही मोक्ष है;
महावाक्यों (तत्त्वमसि, सोऽहं आदि) का विवरण ही मोक्ष है;
स्वात्मानन्द की ज्ञानमय अवस्था ही मोक्ष है;
'अस्ति' और 'नास्ति' इस उभय ज्ञान के विच्छेद को ही मोक्ष कहते हैं;
'शब्द ब्रह्म' के यथेष्ट ज्ञान को ही मोक्ष मानना चाहिए;
निर्विकल्प समाधिगत आनंद को मोक्ष मानना चाहिए;
एक देशिक सिद्धान्त से सिद्ध जो भक्ति का विधान है, वही मोक्ष है;
आत्मसमर्पण करने के अनन्तर भगवत्प्राप्ति के लिये परम विरहाकुलता होती है, उसेही मोक्ष कहना चाहिए; इत्यादि अनेक मतमतान्तर हैं।

(६) 'तू मेरे......रीति' - केवल 'राम-नाम-स्मरण' से मुक्ति-प्राप्ति संभव है, यह निष्कर्ष निकलता है। गुसाईंजी का यही सर्वतोभद्र सिद्धान्त है।

(१६३)

अजहुँ आपने रामके करतब समुझत हित होइ।
कहँ तू, कहँ कोसलधनी, तो को कहा कहत सब कोइ॥१॥

रीझि निबाज्यो कबहिं तू, कब खीझि दई तोहि गारि।
दरपन बदन निहारि कै, सुबिचारि *मान हिय हारि ॥ २ ॥
बिगरी जनम अनेक की सुधरत पल लगै न आधु।
'पाहि कृपानिधि' प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु ॥ ३ ॥
बाल्मीकि-केवट-कथा, †कपि-भील-भालु-सनमान।
सुनि सनमुख जो न राम सों तिहि को उपदेसहि ग्यान ॥ ४ ॥
का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति-रीति-निरबाहु।
जासु बन्धु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सोहात न काहु ॥ ५ ॥
भजन बिभीषन को कहा, फल कहा दियो रघुराज।
राम गरीब-निबाज के बड़ी बाहँ-बोल की लाज ॥ ६ ॥
जपहि नाम रघुनाथ को, चरचा दूसरी न चालु।
सुमुख सुखद साहिब सुधी समरथ कृपालु नतपालु ॥ ७ ॥
सजल नयन, गदगद गिरा, गहबर मन पुलक सरीर।
गावत गुनगन रामके केहि की न मिटी भव-भीर ॥ ८ ॥
प्रभु कृतग्य सरबग्य हैं, परिहरु पाछिली गलानि।
तुलसी तोसों राम सों कछु नई न जान पहिचानि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—खीझि = रूठकर। पाहि = रक्षा करो। आधु = आधा। बाँह-बोल = रक्षा करने का वचन। चालु = चला कर। सुधी = बुद्धिमान्। नतपालु = दीनों को पालनेवाले। गहबर = प्रेमपूर्ण। भीर = कष्ट।

भावार्थ—अब भी, जो तू अपने श्रीरामचन्द्रजी के करतब को समझ ले तो, तेरा कल्याण हो सकता है। देख, कहाँ तो तू है और कहाँ कोसलेन्द्र महाराज रामचन्द्रजी! (पृथ्वी-आकाश का अन्तर है) तुझे सब लोग क्या कहते हैं? ('तदीय' अर्थात् यह जीव भागवत है। 'तू भगवान् का है' क्या यह सम्बन्ध सुलभ है। अरे! यह सम्बन्ध बड़े बड़े योगियों को भी प्राप्त नहीं होता, पर तुझे यह सौभाग्य से मिल गया है) ॥ १ ॥ तुझपर प्रसन्न होकर रघुनाथजी ने कब कृपा की और अप्रसन्न होकर कब तुझे गालियां दीं?

---

*पाठान्तर 'सो बिचारि।'
†पाठान्तर 'तथा।'

तनिक शीशे में मुँह देखकर इसपर अच्छी तरह विचार तो कर और फिर अपने-आप हार मान ले (विवेकरूपी दर्पण में देखने से यह प्रकट हो जायगा कि जो तूने भगवान् की कभी सेवा की होगी, तो वह प्रसन्न हुए होंगे। यदि नहीं हुए, तो समझ ले कि तूने कभी उनकी सेवा भी नहीं की। और जो तुझे गालियां मिली हों, तो तुझसे अवश्य सेवा में कोई चूक पड़ गई होगी। अब भविष्य में भगवान् को सदा प्रसन्न रख, कभी अप्रसन्नता का अवसर न आने दे। अभी जो तू उनपर वृथा दोषारोपण कर रहा है, वह सब विवेकपूर्वक विचार करने पर भ्रम मालूम होगा, क्योंकि भगवान् न्याय ही करते हैं, अन्याय नहीं)॥ २॥ इसको कोई चिंता नहीं कि तेरी सारी करनी बिगड़ी हुई है, क्योंकि अनेकों जन्मों की बिगड़ी हुई करनी सुधारने में आधा पल भी नहीं लगता। "हे कृपानिधान मेरी रक्षा कीजिये"– इस प्रकार प्रेमपूर्वक कहने पर श्रीरामचन्द्रजी ने किसे साधु नहीं बना दिया ? (सभी को, विनम्र होने पर साधु बना दिया)॥ ३॥ वाल्मीकि और गुह निषाद की कथा और सुग्रीव, शबरी रीछ जाम्बवान्. आदि का आदर-सत्कार सुनकर भी जो श्रीरामजी की शरण में नहीं गया, उसे कौन ज्ञानोपदेश करेगा ? (अर्थात् वह इतना अभागा और मूर्ख है कि उसे बृहस्पति और ब्रह्मा भी कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर नहीं ला सकते)॥ ४॥ सुग्रीव ने कौन सी सेवा की, और प्रीति की कौन सी रीति का निर्वाह किया (राज्य पाकर श्रीरामजी को, मदान्ध हो, भूल गया) ? पर (यह सब भूल कर) उसके भाई को (उसे राज्य दिलाने के लिये, अपने ऊपर कलंक लेकर) व्याध की नाईं मार डाला। यह (अनीतिपूर्ण कार्य किसीको भी पसन्द नहीं आया ॥ ५॥ विभीषण ने क्या भजन किया था, कितनी भक्ति प्राप्त की थी ? (बिलकुल ही थोड़ी)। किन्तु, हे रघुनाथजी ! आपने उसे, उसके बदले, क्या फल दिया ? (लंका का महान् साम्राज्य)। बात तो यह है कि दीनबन्धु, दीनानाथ रामचन्द्रजी को रक्षा करने के वचन की बड़ी लाज है। (वह यह नहीं देखते कि शरणागत दुष्ट है या साधु)॥ ६॥ इसलिये तू रघुनाथजी का ही नाम जपा कर, कोई संसारी चर्चा न चलाया कर, क्योंकि सुन्दर सुख देनेवाले, बुद्धिमान्, समर्थ, कृपासागर और दीनों के पालनेवाले स्वामी एक वही हैं॥ ७॥ कहो तो ऐसा कौन है कि जिसने आंखों में आंसू भरकर, गद्गद् वाणी से प्रेमपूर्ण चित्त से,

तथा पुलकायमान् होकर श्रीरामचन्द्रजी की गुणावलि का गान किया हो, और उसका सांसारिक कष्ट (जन्म-मरण) दूर न हुआ हो ? (ढूंढ़ने पर भी ऐसा कोई न मिलेगा) ॥ ८ ॥ पश्चात्ताप करना छोड़ दे । प्रभु रामचन्द्रजी उपकार माननेवाले हैं। वह घट घट की बात जानते हैं (उनसे तेरी भलाई या खोटाई छिपी नहीं है)। तुलसीदास ! रामजी से तेरी कुछ नई जान-पहचान नहीं है। भाव, जीव-ब्रह्म का सदा से सम्बन्ध चला आता है।

टिप्पणी—(१) 'पाहि......साधु'—क्योंकि यह आपकी प्रतिज्ञा है—
'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। कोटि जनम अघ नासौं तबहीं॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना॥'

(२) 'बाल्मीकि'—६४ पदकी चौथी टिप्पणी देखिये।

(३) 'केवट'—गुहनिषाद; १०६ पदकी तीसरी टिप्पणी देखिये।

(४) 'भील'—यहां, भीलनी शबरी से तात्पर्य है। श्रीमान् भट्टजी ने 'निषाद' लिखा है, किन्तु केवट पहले ही कह चुके हैं। अतएव 'शबरी' ही मानना युक्ति-युक्त होगा। १०६ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(५) 'जासु बंधु......काहु'—बालि ही स्वयं कह रहा है—
'मैं बैरी सुग्रीव पियारा। कारन कवन नाथ मोंहिं मारा?
धरम हेतु अवतरेउ गुसाईं। मारेउ मोहि व्याध की नाईं॥

(६) 'बिभीषण'—१४५ पदकी पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(७) 'तोसों पहिचानि'—क्योंकि,—
'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (भगवद्गीता)

(१६४)

जो अनुराग न राम-सनेही सों।
तौ लह्यो लाहु कहाँ नर-देही सों॥ १॥
जो तनुधरि परिहरि सब सुख भये, सुमति राम-अनुरागी।
सो तनु पाइ अघाइ किये अघ, अवगुन-उदधि अभागी॥ २॥
ग्यान बिराग जोग जप तप मख जग मुद-मग नहिं थोरे।
राम-प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृग-जल जलधि-हिलोरे॥ ३॥

लोक बिलोकि, पुरान बेद सुनि, समुझि-बूझि गुरु ग्यानी ।
प्रीति-प्रतीति राम-पद-पंकज सकल सुमंगल खानी ॥ ४ ॥
अजहुँ जानि जिय मानि हारि हिय, होइ पलक महँ नीको ।
सुमिरु सनेह सहित हित रामहिं मानु मतो तुलसी को ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—लाहु = लाभ । अवाइ = पेट भरकर, बहुत अधिक । उदधि = समुद्र । मख = यज्ञ । मुद-मद = आनन्द के उपाय । मृगजल-जलधि = मृग-तृष्णा का समुद्र । नीको = भला । मतो = सिद्धान्त ।

भावार्थ—यदि स्नेही श्रीरामचन्द्रजी के प्रति प्रेम नहीं है, तो नर-शरीर धारण कर लाभ ही क्या हुआ ? (भगवद्भक्ति के बिना जीना ही निरर्थक है) ॥ १ ॥ जिस शरीर को धारण कर ज्ञानी लोग सारे संसारी सुखों को तिलांजलि दे श्रीरामजी के प्रेमी बनते हैं, उस (दुर्लभ) शरीर को पाकर अरे महा नीच और अभागे ! तूने पेट भर भर कर पाप किये (धिक्कार !) ॥ २ ॥ संसार में, ज्ञान, वैराग्य, योग, जप, तप, यज्ञ आदि अनेक आनन्द के उपाय हैं, परमानन्द के साधन हैं, किन्तु बिना श्रीरघुनाथजी के प्रेम के यह सारे साधन इस प्रकार व्यर्थ हैं, जैसे मृग-तृष्णा के समुद्र की लहरें ॥ ३ ॥ संसार को देख कर, पुराणों और वेदों को सुन कर तथा ज्ञानी गुरुजनों से समझ-बूझ कर श्रीरामजी के चरणारविन्दों में लौ लगा, जो समस्त कल्याणों की आकर है, मूल कारण है (भगवत्प्रेम द्वारा ही ऐहिक और पारलौकिक कल्याण प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं) ॥ ४ ॥ यदि अब भी तूने मन में समझ लिया और अपने दोष स्वीकार कर लिये, तो एक क्षण में तेरा कल्याण हो जायगा । प्रेमपूर्वक श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण कर, क्योंकि वही (सच्चे) हितू हैं । तुलसीदास का यह सिद्धान्त मानले (इसी में तेरा श्रेय है) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'ज्ञान बिराग......हिलोरे'—भाव-सादृश्य देखिये—

'श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो,
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥' (श्रीमद्भागवत)

(१६५)

बलि जाऊँ हौं राम गुसाईं । कीजै कृपा आपनी नाईं ॥ १ ॥
परमारथ सुरपुर-साधन सब स्वारथ सुखद भलाई ।
कलि सकोप लोपी सुचाल, निज कठिन कुचाल चलाई ॥ २ ॥
जहँ जहँ चित चितवत हित, तहँ नित नव बिषाद अधिकाई ।
रुचि भावती भभरि भागहिं, समुहाहिं अमित अनभाई ॥ ३ ॥
आधि-मगन मन, व्याधि-बिकल तन, बचन मलीन झुठाई ।
एतेहुँ पर तुमसों तुलसी की, प्रभु सकल सनेह सगाई ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—लोपी = मिटा डाला । भावती = मनोवाञ्छित । भभरि = डर कर । समुहाहिं = सामने आ जाती हैं । अनभाई = बुरी, अनिष्टकारिणी । आधि = चिंता, संकल्प-विकल्प । व्याधि = रोग ।

भावार्थ—हे श्रीरामजी ! हे नाथ ! मैं अपने को आपपर न्योछावर करता हूं । आप अपने स्वभावानुकूल (दीन-वत्सलताकी दृष्टि से) मुझपर कृपा कीजिये ॥ १ ॥ परमार्थ के, स्वर्ग के, तथा स्वार्थ के अर्थात् व्यवहार के, जो जो सुख देनेवाले और कल्याण-कारक उपाय हैं, उन सब की रीतियाँ कलियुग ने क्रोध करके लुप्त कर दी हैं, और अपनी दुःखदायक बुरी बुरी चालों का प्रचार किया है (पुण्यों और सत्कर्मों का लोप करके दम्भ, छल, कपट आदि का प्रचार किया है) ॥ २ ॥ जहां जहां यह मन अपना हित देखता है वहां नित्य नूतन दुःख बढ़ता हुआ दिखाई देता है । रुचि को अच्छी लगनेवाली बातें दूर से ही डर कर भाग जाती हैं, मनचाही एक भी बात पूरी नहीं होती, और सामने वह चीजें आ जाती हैं जो पसंद नहीं । भाव, इष्ट-साधन करते हुए अनिष्ट घेर लेते हैं ॥ ३ ॥ मन, संकल्प-विकल्प में लीन हो रहा है, शरीर रोगों के मारे व्याकुल है, और वाणी झूठ के कारण मैली हो रही है (मन, तन और वचन तीनों ही अयोग्य और मलिन हो गये हैं) । किन्तु यह सब होते हुए भी हे नाथ ! आपके साथ इस तुलसीदास का सम्बन्ध और प्रेम पूरा का पूरा ही बना हुआ है । (इसीसे तो मैं आपकी बलैया लेता हूं । धन्य !) ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'कलि ...... चलाई'—कबीरसाहब इसे स्पष्ट करके कह गये हैं—

'डर लागै औ हाँसी आवै अजब जमाना आयारे ।
धन दौलत ले माल खजाना, बेस्या नाच नचायारे ॥
मुट्ठी अन्न साधु कोइ मांगै, कहैं नाज नहिं आयारे ।
कथा होय तहँ स्रोता सोवैं, वक्ता मूंड़ पचायारे ॥
होय जहां कहिं स्वांग तमासा, तनिक न नींद सताया रे ॥
भंग तमाखू सुलफा गाँजा, सूखा खूब उड़ाया रे ।
गुरु चरनामृत नेम न धारै, मधुवा चाखन आया रे ।
उलटी चलन चली दुनिया में, ताते जिय घबराया रे ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, का पाछे पछताया रे ॥'

(२) 'समुहाहिं......अनभाई'—स्वर्गीय भट्टजी ने इसका यह अर्थ किया है—"......वे समुहाहिं कहिये सामने इतनी चली आती हैं कि जिनका ठिकाना नहीं" 'जिनका ठिकाना नहीं' कदाचित 'अनभाई' का अर्थ किया गया है । किन्तु 'अनभाई' 'रुचि-भावती' का उलटा शब्द है, जिसका अर्थ 'नापसन्द' होता है । 'अनभाई' शब्द कविता के लिये गढ़ा हुआ जान पड़ता है ।

(३) 'सगाई'—सेव्य-सेवक भाव का संबंध ।

(१६६)

काहे को फिरत मन, करत बहु जतन,
मिटै न दुख बिमुख रघुकुल बीर ।
कीजै जो कोटि उपाइ त्रिविध ताप न जाइ,
कह्यो जो भुज उठाय मुनिवर कीर ॥१॥
सहज टेव बिसारि तुही धौं देखु विचारि,
मिल न मथत बारि घृत बिनु छीर ।
समुझि तजहि भ्रम भजहि पद जुगम,
सेवत सुगम गुन गहन गँभीर ॥२॥
आगम-निगम ग्रन्थ, रिषि मुनि सुर संत,
सबही को एक मत सुनु, मति धीर ।
तुलसिदास प्रभु बिनु पियास मरै पसु;
जद्यपि है निकट सुरसरि-तीर ॥३॥

शब्दार्थ—कीर = शुकदेवजी से अभिप्राय है। टेव = आदत। वारि = पानी। जुगम—(युग्म) दोनों। आगम = शास्त्र। निगम = वेद। रिषि = ऋषि।

भावार्थ—अरे मन, तू किसलिये बहुत से उपाय करता फिरता है? देख, (तू भलेही अनेक यत्न किया कर, पर) तेरे दुःख कभी दूर होने के नहीं, क्योंकि तू रघुवंश-शिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी से विमुख हो रहा है (अतएव तू कभी सुखी नहीं हो सकता)। भगवद्विमुख करोड़ों उपाय क्यों न करे, पर उसके तीनों ताप—दैहिक, दैविक, भौतिक—नष्ट नहीं हो सकते, यह बात मुनि-श्रेष्ठ शुकदेवजी ने हाथ उठाकर कही है। (इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥१॥ अपने सहज स्वभाव को भूल कर अर्थात् चंचलता छोड़कर एकाग्रचित्त से तूही विचार कर देख तो, कि कहीं पानी के मथने से, बिना दूध के, घी मिल सकता है? कदापि नहीं (इसी प्रकार विषयों में तल्लीन रहकर कोई ब्रह्मानन्द का पीयूष पान नहीं कर सकता, वह सुधा तो विरक्ति और विवेक से ही प्राप्त होगी, अन्यथा नहीं)। सोच समझकर भ्रम को छोड़ दे (जो तू शरीर ही को आत्मा मान रहा है, इस मिथ्या ज्ञान को अलग कर दे) और श्रीरामचन्द्रजी के उन युगल चरणों का भजन कर, जो सेवा से सुलभ हैं और सद्गुणों के गंभीर वन हैं, अर्थात् जिन चरणों की सेवा करने से विवेक, वैराग्य, क्षमा, शान्ति आदि सद्गुण अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ॥२॥ बुद्धि को स्थिर करके शास्त्रों, वेदों, अन्य ग्रन्थों, ऋषियों, मुनियों, देवताओं और संतों का जो एक निर्धारित सिद्धान्त है, उसे सुन (और वह सिद्धान्त यही है कि विषयासक्ति छोड़कर भगवद्भजन करना चाहिये)। हे तुलसीदास! यद्यपि गंगा का तट निकट है, तो भी बिना स्वामी के पशु प्यासा ही मरा जाता है (इसी प्रकार यद्यपि मुक्ति के सारे साधन यहां वर्तमान हैं, तथापि बिना भगवत्-कृपा के यह जीव शान्ति के लिये तड़प तड़प कर मर रहा है) ॥३॥

टिप्पणी—(१) 'क्यों......कीर'—श्रीमद्भागवत में मुनिश्रेष्ठ बाल परमहंस शुकदेव जी ने कहा है—

'घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्वधर्मविवर्जिताः।
वासुदेवपरा मर्त्यास्ते कृतार्था न संशयः ॥'

(२) 'सहज टेव'—जैसे—

'हरष विषाद, ज्ञान अज्ञाना। जीवधर्म अहमिति अभिमाना॥'

(३)अन्य साधन छोड़कर, सच्चे भाव से, भगवच्छरणागति प्राप्त करना ही इस पद का सिद्धान्त है।

(१६७)

नाहिंन चरन-रति ताहि तें सहौं बिपति,
कहत स्रुति सकल मुनि मतिधीर।
बसै जो ससि-उछंग सुधा स्वादित कुरंग
ताहि क्यों भ्रम निरखि रविकर-नीर ॥१॥
सुनिय नाना पुरान मिटत नाहिं अग्यान,
पढ़िय न समुझिय जिमि खग कीर।
बझत* बिनहिं पास सेमर-सुमन-आस
करत चरत तेइ फल बिनु हीर ॥२॥
कछु न साधन सिधि, जानौं न निगम-बिधि
नहिं जप तप, बस मन न समीर।
तुलसिदास भरोस परमकरुना कोस,
प्रभु हरिहैं विषम भवभीर ॥३॥

शब्दार्थ—उछंग = गोद। कुरंग=हिरण। रविकरनीर=मृगतृष्णा का जल। कीर=तोता। बझत=बँध जाता है। पास=(पाश) जाल। हीर=गूदा।

भावार्थ—श्रीरघुनाथजी के चरणों में मेरा प्रेम नहीं है, इसीसे दुःख झेल रहा हूं, यह बात (मैं ही नहीं, वरन्) वेदों और समस्त बुद्धिमान् मुनियों ने कही है। क्योंकि जो हिरण चन्द्रमा के अंक में रह कर अमृत का आस्वादन करता है, उसे भला मृगतृष्णा के जल में क्यों भ्रम होगा? (इसी प्रकार जिस जीव ने ब्रह्मानन्द के रस का चसका पा लिया, उसे संसारी विषय धोखे में नहीं डाल सकते। मैं विषयों में पड़ा हुआ हूं, इसीसे दुःख भोग रहा हूँ। जो भगवत्-चरणारविन्दों का उपासक होता, तो यह दुःख ही क्यों सहने पड़ते)॥ १ ॥ जैसे तोता पढ़ता तो सब कुछ है, पर समझता नहीं है, वैसेही मैं अनेक पुराण सुनता रहता हूं, किन्तु मोह नहीं दूर होता, अज्ञान ज्यों का त्यों बना हुआ है। (अज्ञानी) तोता बिना ही फंदे के स्वयं

फँस जाता है, आप ही चोगली पकड़ कर लटक रहता है, और इतने में उसे बहेलिया पकड़ लेता है। (और भी मूर्खता देखिये) वह (तोता) सेमर के फूल की आशा करता है, (देखता है कि जब इस का फूल इतना सुंदर है, तो फल कितना मीठा न होगा, पर) ज्योंही उसमें चोंच मारता है, उसे बिना गूदे का, निःसार, फल मिलता है अर्थात् रुई को छोड़ कर उसमें खाने के लिये कुछ भी नहीं मिलता, पछतावा ही रह जाता है (इसी प्रकार मनुष्य विषरूपी चोगली पकड़ कर आनंद मना रहा है, उसे यह स्मरण नहीं कि कालरूपी व्याधा आकर पकड़ लेगा। तोते की तरह वह भी स्त्री पुत्र, धन आदि पर मोहित होकर उनका उपभोग करने जाता है, पर वहाँ भ्रम को छोड़ रखा ही क्या है? उसकी सारी आशा पर पानी पड़ जाता है) ॥ २ ॥ न तो मेरे पास कोई साधन है और न कोई सिद्धि ही जानता हूँ। मुझे वैदिक विधि भी मालूम नहीं। जप-तप भी करना नहीं जानता हूं और न प्राणायाम से मनही वश में किया है (समाधि लगाना असंभव है)। इस तुलसीदास को तो करुणा के भण्डार भगवान् रामचन्द्रजी का ही आश्रय है। वही इसकी असह्य सांसारिक वेदना दूर करेंगे, जन्म-मरण से मुक्त करेंगे ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'सुनिय......अज्ञान'—महात्मा कबीर भी कहते हैं—

'पढ़े गुने सीखे सुने, मिटी न संसय सूल।
कह कबीर कासों कहूँ, येही दुख का मूल ॥
साखी कहे गहे नहीं, चाल चली नहिं जाय।
सलिल मोह नदिया बहै, पाँव नहीं ठहराय॥'

(२) 'सेमर......हीर'—कबीर साहब भी तोते को चेतावनी दे रहे हैं—

'सेमर सुवना वेगि तजु, घनी बिगुर्चन पाँख।
ऐसा सेमर जो सेवै, हृदया नाहीं आँख ॥'

(३) 'साधन'—जैसे, शम, दम, उपराम, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान, विवेक, विराग, मुमुक्षुत्व आदि।

(४) 'विधि'—जैसे, सत्य, शौच, दान, यज्ञानुष्ठान, पुरश्चरण, यंत्र-मंत्र, पंचाग्नि, जलशयन, प्राणायाम, समाधि आदि

(९) 'करुना'—भक्तवर बैजनाथजी 'करुणा' की परिभाषा इस तरह लिखते हैं—

'सेवक दुख तें दुखित ह्वै, स्वामि बिकल ह्वै जाय ।
दुख हरि सुख साजै तुरत, करुना गुन सो आय ॥'

राग भैरवी

(१९८)

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही ते ॥ १ ॥
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते ।
हम हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ॥ २ ॥
सुत बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते ।
अंतहु तोहि तजैंगे, पामर ! तू न तजै अबही ते ॥ ३ ॥
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते ।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग बहु घी ते ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—ही ते=हृदय से । रीते=खाली हाथ । पामर = नीच ।

भावार्थ—अरे मन ! समय निकल जाने पर तुझे पछताना पड़ेगा । इसलिये कठिनतासे प्राप्त होनेवाले मनुष्य-शरीर को पाकर भगवच्चरणारविन्दों का भजन, कर्म, वचन और हृदय से कर (अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है) ॥ १ ॥ सहस्रबाहु और रावण-जैसे (महाप्रतापी) राजा भी बलवान् काल से नहीं बचे, उन्हें भी कराल काल का ग्रास बनना पड़ा । जिन्होंने 'हम हम' करते हुए धन और धाम सँभाल-सँभाल कर रखे थे, वे भी अंत समय, मरते समय, खाली हाथ चले गये (एक कौड़ी भी साथ नहीं गई) ॥ २ ॥ पुत्र, स्त्री आदि को मतलबी यार समझ, इन सब से प्रेम न बढ़ा, क्योंकि यह तेरे सदा के साथी नहीं हैं, न पहले थे और न आगे होंगे । (स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर कोई किसी का नहीं रहता है) । अरे अधम ! जब यह सब तुझे अंत समय छोड़ ही देंगे, तो तू इन्हें अभी से क्यों नहीं छोड़ देता ? (जैसे यह तेरे साथी न बनेंगे वैसे तू भी इनका साथी न बन) ॥ ३ ॥ अरे मूर्ख ! (अविद्या-रूपी निद्रा से) जाग, अपने स्वामी (श्रीरघुनाथजी) से प्रेम कर और हृदय

से संसारी आशा को त्याग दे, विषय-वासनाओं को तिलांजलि दे दे। कारण कि, हे तुलसी ! कहीं कामरूपी अग्नि बहुत से विषयरूपी घी के डालने से बुझती है ? (वह तो और भी प्रज्ज्वलित होगी। शान्तिरूपी जल से उसका बुझना संभव है) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१)'हमहम······ रीते' —यहां, कबीरसाहब का निम्नलिखित भजन हठात् स्मरण आ जाता है—

'हम काँ ओढ़ावै, चदरिया, चलती बिरिया।
प्रान राम जब निकसन लागे, उलट गई दोउ नैन पुतरिया॥
भीतर से जब बाहर लाये, छूट गई सब महल अटरिया॥
चार जने मिलि खाट उठाइन, रोवत ले चले डगर डगरिया॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, संग चली वह सूखी लकरिया॥'

और भी—

पाँचो नौबत बाजती, होत छतीसो राग।
सो मंदिर खाली पड़ा, बैठन लागे काग॥
आस पास योधा खड़े, सबी बजावैं गाल।
माँझ महल से ले चला, रैसा काल कराल॥

(२) 'सुत बनितादि······स्वारथरत'—यहां वाल्मीकि का दृष्टान्त घटता है। नारदजी के कहने पर जब उन्होंने अपने कुटुम्बियों से पूछा कि, तुम लोग मेरे पुण्य-पापके साथी रहोगे या नहीं ? तब कुटुम्बियों ने उत्तर दिया, हमें पुण्य-पाप से क्या मतलब है ? हम तो खाने-पीने के साथी हैं। हम क्या जाने कि तुम हमारे लिये भोजन कहां से किस प्रकार लाते हो ? उनका यह स्वार्थ देख कर वाल्मीकि को ज्ञानोदय हो गया।

(३) 'बुझै······बहु घीते'–भाव सादृश्य देखिये–

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥' (मनुस्मृति)

(१९९)

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो।

तजि हरिचरन सरोज सुधारस, रविकर-जल लय लायो॥ १॥

त्रिजग देव नर असुर अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो ।
गृह बनिता सुत बंधु भये बहु, मातु पिता जिन्ह जायो ॥ २ ॥
जाते निरय-निकाय निरन्तर सोइ इन्ह तोहि सिखायो ।
तुव हित होइ कटै भव-बंधन, सो मगु तोहिं न बतायो ॥ ३ ॥
अजहुं विषय कहुं जतन करत जद्यपि बहुविधि डहँकायो ।
पावक-काम, भोग-घृत तें सठ, कैसे परत बुझायो ॥ ४ ॥
विषयहीन दुख मिले बिपति अति, सुख सपनेहुं नहिं पायो ।
उभय प्रकार प्रेत-पावक ज्यों धन दुखप्रद स्रुति गायो ॥ ५ ॥
छिन छिन छीन होत जीवन दुरलभ तनु बृथा गँवायो ।
तुलसिदास, हरि भजहि आस तजि काल उरग जग खायो ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—रविकरजल = मृगतृष्णा का पानी, कोरा भ्रम । त्रिजग = (तिर्य्यक्) पशु, पक्षी, सर्प आदि । बनिता = स्त्री । निरय = नरक । निकाय = समूह । डहँकायो = छला गया । प्रेतपावक = लुक की चमक, जिसे लोग भूत की आग कहा करते हैं । यह जंगलों में प्रायः दिखाई देती है, और चमक कर तुरन्त बुझ जाती है । इसे 'फास्फरस' भी कहते हैं । उरग = साँप ।

भावार्थ—अरे मूर्ख मन ! किसलिये दौड़ा दौड़ा फिरता है ? श्रीहरि चरणारविन्दरूपी अमृत के रस छोड़कर मृगतृष्णा के जल में लौ लगा रहा है ! भाव, ब्रह्मानन्द छोड़कर संसार के झूठे विषयों की ओर मन-मृग को दौड़ाता है ॥ १ ॥ पशु-पक्षी, देवता, मनुष्य, राक्षस एवं और और संसारी योनियोंमें तू भटक आया । जहाँ जहाँ तू गया, तहाँ तहाँ बहुत से घर, स्त्री, पुत्र, भाई तथा तुझे उत्पन्न करनेवाले माता-पिता हो चुके हैं (न जाने, कितने बार तू सम्बन्ध जोड़ चुका है) ॥ २ ॥ जिस कर्म के करने से तुझे सदा अनेको नरकों में जाना पड़े, वही इनलोगों ने तुझे सिखाया (स्वार्थवश, जैसे-तैसे काम-कांचन के संग्रह करने के उपाय बतलाये) । पर कभी उन लोगों ने ऐसा मार्ग नहीं सुझाया, जिसपर चलने से तेरा संसारी-बंधन कट जाय, जन्म-मरण से मुक्त हो जाय ॥३॥ यद्यपि कई तरह से तू छला जा चुका है,फिर भी आज तक तू विषयों के ही लिये उपाय कर रहा है ! (इन्द्रिय-लोलुप होकर भोग-बिलासोंके प्राप्त करनेके साधन कर रहा है) । अरे दुष्ट ! (तनिक

विचार तो कर) कामरूपी अग्निमें भोगरूपी घी डालने से वह कैसे शान्त होगी ? (जितना ही विषय भोग करेगा, उतनी ही कामाग्नि प्रज्ज्वलित होगी, वह तो विरक्तिरूपी जलसे ही बुझेगी, अन्यथा नहीं) ॥ ४ ॥ फिर, विषयों की पूर्ति न होने के कारण भी तुझे दुःख भोगना पड़ा, स्वप्नमें भी सुख नहीं मिला। इसलिये वेदों ने इस विषयरूपी संपत्ति को, दोनों ही प्रकार से, भूत की आगके समान दुःखमय बतलाया है (जैसे वनमें यात्री भ्रम की आग देख कर मार्ग भूल जाते हैं, और उसके भ्रममें पड़कर उनसे न आगे ही बढ़ा जाता है और न लौटा ही जाता है, उसी प्रकार विषयोंके मिथ्या प्रलोभनमें पड़ कर मनुष्य, लोक और परलोक दोनों से हाथ धो बैठता है। न तो उसे यथेष्ट विषय-साधन ही मिलते हैं और न उनकी ओर से अरुचि ही होती है) ॥ ५ ॥ अरे ! तेरा जीवन पल पल पर क्षीण होता जा रहा है, और इस दुर्लभ शरीर को तूने यों ही गँवा दिया (दुर्लभ इसलिये कि मनुष्य शरीर द्वारा मुक्ति अत्यन्त सुलभ है, यह सब साधनोंका मुख्य द्वार है)। अतएव, हे तुलसीदास ! तू संसारी आशा छोड़ कर केवल भगवद्भजन कर, कारण कि, काल रूपी सांप संसारको ग्रसे जा रहा है (न जाने, कब किस घड़ी तू भी काल-कलेवा हो जाय ॥ ६ ॥)

टिप्पणी—(१)'जाते······सिखायो'—संक्षेपमें, प्रायः माता-पिता अपनी संतान को यही शिक्षा देते हैं—

"बेटा जब कुछ बड़े हो जाओ, तब ऐसा काम करना, जिससे चार पैसे हाथमें आ जायँ। विद्या ऐसी पढ़ना (आजकल अंग्रेजी !), जिससे बड़ा—बड़ा ओहदा मिले, खूब रुपया इकट्ठा हो (भले ही कुल-मर्यादा पर पानी पड़ जाय), लोग तुम्हें बड़ा समझ कर तुम से डरें। जहां तक हो, दूसरों से लेना सीखो, कभी किसी को एक पैसा भी न देना। गीता-भागवत न पढ़ना, क्योंकि यह चीज़ें तो बुढ़ापे की हैं, और घर-गृहस्थी वालों को तो यह बाबा-वैरागियोंकी पुस्तकें पढ़ना ही न चाहिये, तुम्हें तो बही-खाते के लिखने पढ़ने में चंट होना चाहिये। (सांराश, जिन जिन कर्मों से स्वार्थ साधन हो, वही करना)"।

(२) 'तुम ··बतायो'—जिन्होंने अपनी संततिको बचपन से ही परमार्थ का उपदेश दिया है, ऐसे माता-पिता इने-गिने ही मिलेंगे। उदाहरणार्थ सुनीति (ध्रुव की माता) और महारानी मदालसा।

(३) 'पावक··बुझायो'—क्योंकि जब तक विषयों में आसक्ति रहेगी तब तक वे कभी शांत होने के नहीं। अनासक्त कर्म बंधनका हेतु नहीं है, किन्तु अनासक्त होना बड़ा ही कठिन है। अतएव वैराग्य का अभ्यास डालना ही श्रेयस्कर है। यह मन अभ्यास और वैराग्य से ही वश में हो सकता है, जैसा कि गीता में कहा गया है—

'असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलं।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च ग्रह्यते॥'

(४) 'छिन छिन·· तन'—कबीरसाहब इस क्षण-भंगुरता पर लिखते हैं—

'पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष का जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥'

(२००)

ताँबे सो पीठि मनहुँ तनु पायो!
नीच, मीचु जानत न सीस पर, ईस निपट बिसरायो॥ १॥
अवनि रवनि धन धाम सुहृद सुत को न इन्हहिं अपनायो?
काके भये, गये संग काके, सब सनेह छल छायो॥ २॥
जिन्ह भूपनि जग-जीति बाँधि जम, अपनी बाँह बसायो।
तेऊ काल कलेऊ कीन्हें, तू गिनती कब आयो॥ ३॥
देखु बिचारि सार का साँचो, कहा निगम निजु गायो।
भजहिं न अजहुँ समुझि तुलसी तेहि जेहि महेस मन लायो॥ ४॥

शब्दार्थ—मीचु = मौत। रवनि = (रमणी) स्त्री। कलेऊ = कलेवा, भोजन। निगम = वेद। निजु = सिद्धान्तरूप से। लायो = लगाया।

भावार्थ—अरे जीव! (क्या कहना!) मानो तूने ताँबे से मढ़ा हुआ शरीर पाया है! भाव यह है कि तू इस, पानी के बुलबुले के समान, नश्वर शरीर को ऐसा मज़बूत समझ बैठा है कि वह सदा अजर-अमर रहेगा, न गलेगा न सड़ेगा। हे नीच! तू यह नहीं जानता कि मौत तेरे सिर पर नाच रही है (जब चाहे तब तुझे झटक कर पकड़ लेगी)? तूने परमात्मा को बिलकुल ही भुला दिया (शरीर के भरण-पोषण ही को सर्वस्व समझ लिया

है ! छिः छिः !!) ॥ १ ॥ पृथ्वी, स्त्री, धन, बड़े बड़े मकान, मित्र और पुत्रको किसने नहीं अपनाया, अपना कर नहीं माना (सभी मेरे-तेरे के फन्दे में फँसे हैं)? किन्तु (तनिक विचार तो कर) यह किसके हुए ! किसके साथ (मरते समय) गये ? इन सबके प्रेम में कपट भरा है, स्वार्थ के मीत हैं ॥ २ ॥ जिन राजों ने संसार भर को जीत कर, दिग्विजय कर, कालको क़ैद करके अपने अधीन कर लिया था, उन्हें भी जब एक दिन मौत भक्षण कर गई, तब तेरी गिनती ही क्या है ? ॥ ३ ॥ विचारपूर्वक (ज्ञान-दृष्टि से) देख, क्या सच्चा सार है ? और वेदों ने सिद्धान्तरूप से किसका निरूपण किया है ? हे तुलसी ! अब भी तू उसे समझ कर नहीं भजता है कि जिसके प्रति शिवजी ने प्रेम किया है ! (भाव, श्रीरघुनाथजी के चरणों में प्रेम कर, क्योंकि तेरा यह नश्वर शरीर एक न एक दिन नष्ट होने को है। अतएव 'शुभस्य शीघ्रम्' विचार कर तुरन्त, विषयों की ओर से चित्त हटाकर, भगवान् में लगा दे, नहीं तो अन्तकाल पछताना ही पड़ेगा) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'नीच'...'सीस पर'—कबीरसाहब की साखी सुनिये—

'माली आवत देखिकै, कलियाँ करैं पुकार।
फूली फूली चुनि लिये, काल्हि हमारी बार।'

(२) 'गये संग काके'—इस पर भी कबीरसाहब की अनूठी साखी है—

'इक दिन ऐसा होयगा, कोउ काहू का नाहिं।
घर की नारी को कहे, तन की नारी जाहिं।'

(३) 'जिन्ह भूपति'—जैसे रावण, हिरण्यकशिपु, सहस्रबाहु, दुर्योधन, सिकन्दर आदि।

(४) 'जेहि महेस मन लायो' —शिवजी ने पार्वतीजी से कहा था—

'अहं जपामि देवेशि, रामनामाक्षरद्वयम्।
श्रीरामस्य स्वरूपस्य ध्यानं कृत्वा हृदिस्थले।'

(२०१)

लाभ कहा मानुष-तनु पाये।

काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराये ॥ १ ॥

जो सुख सुरपुर नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलाये ।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाये ॥ २॥
परदारा, पर द्रोह, मोह बस किये मूढ़ मन भाये ।
गरभबास दुखरासि जातना तीव्र बिपति बिसराये ॥ ३ ॥
भय, निद्रा, मैथुन, अहार सबके समान जग जाये ।
सुर दुरलभ तनु धरि न भजे हरि मद अभिमान गँवाये ॥ ४ ॥
गई न निज-पर-बुद्धि सुद्ध ह्वै रहे न राम लय लाये ।
तुलसिदास यह अवसर बीते का पुनि के पछिताये ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—काय = (काया) शरीर । घटत = करता है, आता है । मैथुन = स्त्री-प्रसंग । निज-पर-बुद्धि = अपने-पराये का भेद । लय = प्रेम, ध्यान ।

भावार्थ—मनुष्य-शरीर पाने से क्या लाभ हुआ, यदि वह कभी, स्वप्न में भी, मनसा, वाचा, कर्मणा (तन, मन और वाणी अर्थात् निष्कपट भाव से) पराये काम नहीं आया । उससे कोई परोपकार नहीं बना ॥ १ ॥ विषय-सम्बन्धी जो सुख बिना ही बुलाये आपसे आप, स्वर्ग, नरक, घर और वन में आ जाता है, प्राप्त हो जाता है, उस सुख के लिये अरे मन! तू नाना प्रकारके उपाय कर रहा है! समझाने पर भी नहीं समझता ॥ २ ॥ हे मूढ़! तूने पराई स्त्री के लिये और दूसरों से वैर करने के लिये अज्ञानवश जो मन में आया, सो किया (कुछ विवेक से काम नहीं लिया)। पूर्व जन्म में तुझे गर्भ में जो बहुत से दुःख मिले, उनका दारुण कष्ट भूल गया? (पहले जन्म में जो पाप किये थे, उनके कारण गर्भ में आना पड़ा और अब फिर यदि वही दुष्कर्म करेगा, तो फिर गर्भ में जाकर असह्य कष्ट भोगने होंगे, इसलिये, अब विवेक द्वारा सदसत् का विचार कर परोपकार और परमार्थ में चित्त लगा)॥ ३ ॥ यों तो जिस जिसने संसार में जन्म लिया है, उस उसमें डर, नींद, काम-केलि, अहार आदि सब एकही से पाये जाते हैं, किन्तु जो देवतों को भी दुर्लभ मनुष्य-शरीर है, उसे पाकर यदि तूने अहंकार किया, तो तेरा जीना व्यर्थ है (क्योंकि, पशु और मनुष्य में अन्तर ही क्या रहा?)॥ ४ ॥ जिन्होंने अपने-पराये का भेद नहीं छोड़ा है और निर्मल अन्तःकरण से श्रीरघुनाथजी के प्रति प्रेम नहीं किया है, उसे हे तुलसीदास! यह अवसर निकल जाने पर फिर पछताने से क्या मिलेगा? (पछताना ही हाथ रहेगा, हाथ कुछ भी न लगेगा)॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'घटत न काज पराये'—पिछले कई पदों में वैराग्य का प्रतिपादन किया गया है। कच्चे दिलवालों पर वैराग्य बड़ी जल्दी चढ़ जाता है और उतर भी तुरन्त जाता है। ये अज्ञानवश संसार का ठीक ठीक रहस्य नहीं समझ पाते, उसे दूर से ही देखकर डर जाते हैं और कायर की तरह पूंछ दबाकर भागते हैं। 'वैराग्य' का प्रायः यही अर्थ किया जाता है कि संसारी पदार्थों को, जिस रूपमें वे हैं, उसी रूप में, छोड़ देना चाहिये, भले ही उनमें आसक्ति बनी रहे! इस पद में गुसाईंजी स्वार्थ से विरक्त कराकर जीव को पुनः परोपकार-लोक-संग्रह के कर्मों में प्रवृत्त करा रहे हैं। वह विरक्त का अर्थ 'वीर' करते हैं, कायर नहीं परोपकार-लोकोपकार के लिये स्वार्थत्याग की बड़ी आवश्यकता रहती है, और इसी कारण विषयों की ओर से घृणा करा कर विरक्ति का उपदेश किया गया है। यह पद गीता के कर्मयोग की ओर हठात मन को आकृष्ट करता है।

(२) 'भय·······जाये,—भाव सादृश्य देखिये—

'आहार निद्रा भय मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।' (भर्तृहरि)

(३) 'यह अवसर......पछिताए'—सत्य है,

'आछे दिन पाछे गये, हरि से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करे, चिड़ियां चुग गई खेत॥' (कबीरदास)

(२०२)

काज कहा नरतनु धरि सार्‌यो।
पर उपकार सार स्रुति को जो सो धोखेहु न विचार्‌यो॥१॥
द्वैतमूल भयसूल सोकफल भवतरु टरै न टार्‌यो।
रामभजन-तीछनकुठार लै सो नहिं काटि निबार्‌यो॥२॥
संसय-सिंधु नाम-बोहित भजि निज आतमा न तार्‌यो।
जनम अनेक बिबेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्‌यो॥३॥
देखि आन की सहज संपदा द्वेष-अनल मन जार्‌यो।
सम दम दया दीन-पालन सीतल हिय हरि न सँभार्‌यो॥४॥
प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति तैं मन क्रम बचन बिसार्‌यो।
तुलसिदास यहि आस सरन राखिहि जेहि गीध उधार्‌यो॥५॥

शब्दार्थ—सान्यो = पूरा किया, बनाया। बोहित = नौका। दम = जितेन्द्रियता

भावार्थ—तूने मनुष्य-शरीर धारण कर क्या काम किया ? परोपकार सब वेदों का सार है, सो उसे तूने भूल कर भी नहीं विचारा (उसपर विचार तक नहीं किया, करना तो दूर रहा) ॥१॥ यह संसार मानों एक वृक्ष है, द्वैत-भाव अर्थात् भेदबुद्धि तो इसकी जड़ हैं, भय काँटे हैं और दुःख इसके फल हैं। यह वृक्ष हटाने पर भी नहीं हटता (क्योंकि इसकी जड़ बड़ी मज़बूत है, अर्थात् भेदबुद्धि बड़ी ही कठिनता से दूर होती है)। यह वृक्ष तो केवल रामनामरूपी पैनी कुल्हाड़ी से कटता है, सो तूने ऐसा नहीं किया (राम-नाम स्मरण कर जन्म-मरण से छूटने का उपाय नहीं किया) ॥ २ ॥ संशय-रूपी समुद्र के पार होने के लिये राम-नाम नौका रूप है, सो उसका सेवन कर, भजन कर, तूने अपनी आत्मा को (अविद्यासे) मुक्त नहीं किया। अनेकों जन्म तक, अज्ञानवश, नाना योनियों में घूमता हुआ भी आज तक, नहीं थका ! (आश्चर्य है !) ॥ ३ ॥ दूसरों की सहज सम्पत्ति देख कर ईर्ष्यारूपी आग में मन को जलाता रहा (यह देख कर जल-भुन गया कि हाय ! अमुक मनुष्य के पास इतना धन क्यों आगया, मेरे पास क्यों नहीं है)। शम, दम, दया और दीनों का पालन करते हुए हृदय को शान्त कर भगवत्सेवा नहीं की। तूने मन से, कर्म से और वचनसे अर्थात् ध्यान-धारणा से, पूजा-सेवा से और भजन-स्तवन से उन श्रीरघुनाथजी को भुला दिया है, जो तेरे (सच्चे) स्वामी हैं, गुरु हैं, पिता हैं, और मित्र हैं। हे तुलसीदास ! इतनी तो आशा बनी है कि जिसने जटायु गीध को तार दिया, वही तुझे अपनावेंगे ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'पर उपकार सार स्रुति को'—प्रमाण लीजिए—

'अष्टादश पुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारं पुण्याय, पापाय परपीड़नम् ॥'

विशेष, पद २०१ की पहली टिप्पणी में देखिये।

(२) 'भवतरु'—निम्नलिखित छद में 'संसार वृक्ष का सांगोपांग वर्णन मिलता है। देखिये—

'अव्यक्त मूल अनादि तरु त्वक चारि निगमागम भने।
षट कन्ध साखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन घने ॥

फल जुगल बिधि कटु मधुर वेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवित फूलति नवल नित संसार-बिटप नमामहे।' (रामचरितमानस)

'संसार वृक्ष' का रूपक बहुत प्राचीन है। वेद में भी लिखा है—

'पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतोदिजि।'

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषदों में भी यह रूपक मिलता है।

(३) 'गीध'---जटायु; ४३ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(२०३)

श्रीहरि गुरु-पदकमल भजहु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख-निधान भगवान ॥१॥
परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम-मिलन अति दूरि।
जद्यपि निकट हृदय निज रहे सकल भरिपूरि ॥२॥
दुइज द्वैत-मति छाँड़ि चरहि महि-मंडल धीर।
बिगत मोह-माया-मद हृदय बसत रघुबीर ॥३॥
तीज त्रिगुन-पर परम पुरुष श्रीरमन मुकुन्द।
गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानन्द ॥४॥
चौथि चारि परिहरहु बुद्धि-मन-चित अहँकार।
बिमल बिचार परमपद निज सुख सहज उदार ॥५॥
पाँचइ पाँच परस, रस, सब्द, गंध अरु रूप।
इन्ह कर कहा न कीजिये, बहुरि परब भव-कूप ॥६॥
छठि षड़बर्ग करिय जय जनकसुतापद लागि।
रघुपति-कृपा-बारि बिनु नहिं बुताइ लोभागि ॥७॥
सातैं सप्तधातु-निर्मित तनु करिय बिचार।
तेहि तनु केर एक फल कीजै पर-उपकार ॥८॥
आठइँ आठ प्रकृति-पर निर्बिकार श्रीराम।
केहि प्रकार पाइय हरि हृदय बसहिँ बहु काम ॥९॥
नवमी नवद्वार पुर बसि जेहि न आपु भल कीन्ह।

ते नर जोनि अनेक भ्रमत दारुन दुख दीन्ह ॥१०॥

दसइँ दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि।
साधन बृथा होइँ सब मिलहि न सारँगपानि ॥११॥
एकादसी एकमन बस कै सेवहु जाइ।
सोइ व्रत कर फल पावै आवागमन नसाइ ॥ १२ ॥
द्वादसि दान देहु अस अभय होइ त्रैलोक।
परहित-निरत सो पारन बहुरि न ब्यापत सोक ॥ १३ ॥
तेरसि तीन अवस्था तजहु भजहु भगवंत।
मन-क्रम-वचन-अगोचर व्यापक, व्याप्य, अनन्त ॥ १४ ॥
चौदसि चौदह भुवन अचरचर रूप गोपाल।
भेद गये बिनु रघुपति अति न हरहिं जग-जाल ॥ १५ ॥
पूनो प्रेम भगति रस हरिरस जानहिं दास।
सम सीतल गत-मान ग्यानरत विषय-उदास ॥ १६ ॥
त्रिविध सूल होलिय जरै खेलिय अब फागु।
जो जिय चहसि परमसुख तौ यहि मारग लागु ॥ १७ ॥
स्रुति-पुरान-बुध सम्मत चाँचरि चरित मुरारि।
करि विचार भव तरिय परिय न कबहुं जमधारि ॥ १८ ॥
संसय समन, दमन-दुख सुखनिधान हरि एक।
साधु-कृपा बिनु मिलहिं न करिय उपाय अनेक ॥ १९ ॥
भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन।
तुलसिदास प्रयासबिनु मिलहिं राम दुखहरन ॥ २० ॥

शब्दार्थ—द्वैतमति = भेद-बुद्धि। चरहि = विचरण कर। त्रिगुन = सत्त्व, रज और तम। श्रीरमन = लक्ष्मीकांत, विष्णु भगवान्। परस = स्पर्श। षड्वर्ग = काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। सप्तधातु = अस्थि, चर्म, रक्त, मांस, मज्जा, मेद और वीर्य। नौ द्वारपुर = नौ छेदवाला शरीर। सारंगपानि = धनुष धारण करनेवाले श्रीरामचंद्रजी। पारन = व्रत के उपरान्त का भोजन। अति = जड़से। उदास = विरक्त। लागु = आरूढ़ हो। चाँचरि = फाग के गीत। मुरारि = मुर दैत्य के शत्रु, विष्णु भगवान्।

भावार्थ—हे मन ! तू भगवत्स्वरूप श्रीगुरु के चरणारविन्दों का, निरभि-

मान हो कर, भजन कर । उनकी सेवा करने से आनंदघन नारायण का साक्षात्कार हो जाता है ॥ १ ॥ जैसे प्रतिपदा (पक्ष में) सब से पहला दिन है, उसी प्रकार (सर्व साधनों में प्रथम) प्रेम है । बिना प्रेमके श्रीरघुनाथजी का मिलना अत्यन्त दुष्कर है, अर्थात् भगवत्प्राप्ति का मुख्य साधन एक प्रेम ही है । यद्यपि सर्वव्यापी श्रीरामचंद्रजी संपूर्ण कलाओं के सहित अपने हृदय में वास करते हैं तथापि बिना प्रेमके उनसे साक्षात्कार कर लेना असंभव सा है ॥ २ ॥ द्वितीया के समान दूसरा साधन यह है कि भेद-बुद्धि (अपने-पराये का भेद) छोड़ कर (समदृष्टि से) धैर्य धारण करके समस्त पृथ्वी-मंडल में (निश्चिन्त होकर) विचरण करना चाहिये । अज्ञान, माया और अहंकार को हटाकर हृदय में सदा श्रीरघुनाथजी का चिन्तवन करना चाहिये (जबतक हृदय में माया-मोह का निवास है तबतक भगवत्-ध्यान करना संभव नहीं है, क्योंकि काम और राम एक साथ नहीं रह सकते) ॥ ३ ॥ तृतीया के समान तीसरा उपाय यह है कि पुरुषोत्तम,लक्ष्मीकान्त मुकुन्द भगवान् (मायात्मक) तीन गुणों से परे हैं । अतएव त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रज और तम) प्रकृति का त्याग कर देना चाहिये । बिना ऐसा किये ब्रह्मानंद-प्राप्ति महा कठिन है (सगुण, सगुण को प्राप्त करता है, और निर्गुण, निर्गुण को । इस सिद्धांत से जीव को यदि ब्रह्म-साक्षात्कार करना है, तो उसे गुणों का त्याग देना ही श्रेयस्कर है) ॥ ४ ॥ चतुर्थी के समान (भगवत्प्राप्ति का) चौथा साधन यह है कि बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार—इनका जो "अन्तःकरण-चतुष्टय" है, उसे त्याग देना चाहिए (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को अपने अधीन कर लेना चाहिए, क्योंकि जो इनके वश में चलता है, उसका सर्वनाश अनिवार्य्य है) । इस त्याग के अनन्तर शुद्ध विवेक का उदय होगा और तब स्वाभाविक (एक रस) आत्मानन्दरूपी परम पद की प्राप्ति हो सकेगी, वह पद बड़ा ही विशाल है ॥ ५ ॥ पंचमी के अनुसार पांचवां साधन यह हैं कि शब्द स्पर्श, रस, गंध और रूप, यह जो पंचेद्रियों के विषय हैं, इनके अनुकूल, इनके अधीन हो कर, कभी न चलना चाहिये, क्योंकि इनमें फंसकर (निश्चय) जीव को संसाररूपी कुएं में गिरना पड़ेगा (आवागमन के चक्र में पड़ना होगा) ॥६॥ षष्ठी के समान छठा उपाय यह है कि श्रीजानकी-वल्लभ रघुनाथजी की प्राप्ति के लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य पर विजय लाभ करना

चाहिए और लोभरूपी अग्नि तो विना भगवत्कृपा के शान्त हो ही नहीं सकती लोभ सबसे अधिक प्रबल कहा गया है। (यहां लोभ का नाश श्रीहरि-कृपासे ही संभव है । अतः सदा तदीय कृपा का आश्रय किये रहना चाहिए।) ॥ ७॥ सप्तमी के समान, भगवत्प्राप्ति का सातवां उपाय यह है कि इस सात-धातुओं (त्वचा, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, मेद और शुक्र) से बने हुए शरीर पर विचार करना चाहिए (सदा यह विचार करना चाहिए कि यह शरीर नाशवान् है, नर्कका रूप है, इसे भोग-विलासों में लिप्त न करना चाहिए) इस शरीर का केवल एक यही फल है कि इस से परोपकार ही करना चाहिए (परोपकार में ही नर-शरीर की सार्थकता है) ॥ ८ ॥ अष्टमी के समान आठवां उपाय क्या है कि श्रीरामचंद्र-जी अष्टप्रकृति (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) से परे शुद्ध स्वरूप हैं। जबतक हृदय स नाना प्रकार की कामनाएं दूर नहीं हुई तब तक वह कैसे मिल सकते हैं (शुद्ध आनंदघन भगवान् का निवास निष्काम, निर्विकार और पवित्र हृदय में होता है) ॥ ९ ॥ नवमी के समान नवां साधन यह है कि जिसने इस नौ दरवाज़े की नगरी अर्थात् नौ छेदवाले शरीर में रहकर अपनी आत्मा का भला नहीं किया, वह अनेक योनियों में भटकता फिरेगा और अपनी आत्मा को दुःख देगा (क्योंकि विषयों में फँस कर वह कभी भी जन्म-मरण से छुटकारा न पा सकेगा और सदा आत्मघाती कहा जायगा) ॥ १० ॥ दशमी के समान दसवां साधन यह है कि संयम करना चाहिये, क्योंकि जिसने दसो इंद्रियोंका संयम करना नहीं जाना, दशेन्द्रियों को वश में नहीं किया, उसके सारे साधन निष्फल हो जाते हैं और उस असंयत जीवको धनुषधारी रघुनाथजी की प्राप्ति नहीं होती (इंद्रिय-लोलुप को भगवत्-रसास्वादन स्वप्न के समान है) ॥११॥ एकादशीके समान ग्यारहवां साधन यह है कि एकवृत्त चित्त करके (सब ओर से हटाकर एक लक्ष्य में लगा कर) भगवत्-सेवा करना चाहिए। इसी आराधन से (परमार्थ-रूपी एकादशी) व्रत का फल मिलता है, और वह फल है जन्म-मरण से मुक्त हो जाना ॥१२॥ द्वादशी के दिन जैसे दान दिया जाता है, वैसे बारहवाँ साधन यह है कि ऐसा दान देना चाहिये कि जिस से तीनों लोकों में कोई भय न रहे। उस द्वादशीरूपी बारहवें साधन का पारण यही है कि सदा परोपकार में लगा रहना चाहिये। (इस दान और

पारण से) फिर शोक नहीं व्यापता हैं ॥१३॥ तृयोदशी के समान तेरहवाँ साधन यह है कि जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं को त्याग कर भगवान् का भजन करना चाहिये (सदा एकरस, निरवाधित रूप से, भगवद्-भजन करना चाहिये)। नारायण मन, कर्म और वाणी से परे हैं, सब में व्याप रहे हैं, स्वयं व्याप्य हैं अर्थात् दृश्यरूप हैं और अनन्त, अपरिमित हैं (अतएव उनका भजन अवस्थाओं को त्याग देने पर ही संभव हो सकता है, क्योंकि जब तक जीव अवस्था-भेद में रहेगा तब तक वह अनंत, सर्वव्यापी परमात्मा का पूर्णरूपेण चिंतवन कर ही नहीं सकता) ॥१४॥ चतुर्दशी के समान गोपाल (इन्द्रियों के नियन्ता) भगवान् चौदहों लोकों में रम रहे हैं। जड़ और चैतन्य सब उन्हीं का रूप है। जब तक जीव की भेद-बुद्धि दूर नहीं हुई, 'मेरे-तेरे' का भाव सर्वथा नाश नहीं हुआ, तब तक श्रीरघुनाथजी संसाररूपी जाल को छिन्न-भिन्न नहीं करते, जन्म-मरण से नहीं छुड़ाते ॥१५॥ अब पूर्णमासी के समान पंद्रहवाँ साधन, जो सर्वोत्कृष्ट, पूर्ण साधन है, वह यह है कि शान्त, शीतल, अभिमान-रहित, ज्ञानमय और विषयों से विरक्त हो जाना चाहिये। तभी परमानन्द का सुधारस प्राप्त होता है। इस रस को केवल भगवान् के सेवक ही जानते हैं (विषयी क्या समझ सकेंगे!) ॥१६॥ (यहां गुसाईंजी ने फाल्गुन मास की पूर्णिमासी का वर्णन किया है। यह पूर्णमासी और महीने की पूर्णमासी से कहीं अधिक आनन्दमयी समझी जाती है) होली में दैहिक, भौतिक, दैविक—इन तीनों तापों को भस्म कर देना चाहिए। तब फिर फाग खेलना चाहिए (आनन्द मनाना चाहिए, जब तक संसारी दुःखों का लेश भी रहेगा, तब तक जीव निश्चिन्त होकर परमानन्द का उत्सव नहीं मना सकता।) जो तू अपने मन में परमानन्द की इच्छा करता है, तो इस मार्ग पर चल (उपर्युक्त पंद्रह साधनों को क्रम-क्रम से साध) ॥१७॥ वेद, पुराण और पंडितों का एक मत यही है कि, भगवान् की लीलाओं का गान ही होली में गाने के गीत हैं। भाव, हरिकीर्तन करना ही सर्वप्रधान है। इन सब साधनों पर विचार कर के संसार-सागर को पार कर जाना चाहिये और फिर कभी (भूल कर भी) यम-सेना के फन्दे में न पड़ना चाहिये (जन्म-मरण के चक्र में न फँसना चाहिए) ॥१८॥ अविद्या के नाश करनेवाले, दुःखों के दूर करनेवाले और आनंद की राशि केवल एक नारायण ही हैं।

भले ही अनेक उपाय करो, पर वह संतों की कृपा के बिना नहीं मिल सकते (संत-कृपा सर्वसाधनों में प्रधान है) ॥१९॥ संसाररूपी समुद्र से तरने के लिये संतों के पवित्र चरण ही नौका हैं। हे तुलसीदास ! (इस नौका पर चढ़ कर अर्थात् संतों की चरणों की सेवा करके) दुःखों के नाश करनेवाले श्रीरामचन्द्र जी बिना ही परिश्रम के मिल जाते हैं ॥२०॥

टिप्पणी--(१) 'श्रीहरि गुरु'—यहां गुरु और हरि में अभेद का प्रतिपादन किया गया है। गुरु की सेवा करने से हरि की प्राप्ति होती है। कबीरदासजी कहते हैं—

'गुरु गोविंद दोउ खड़े, काके लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय॥'

(२) 'परिवा'—-चन्द्रमा की षोड़श कलाएँ हैं। एक एक तिथि में एक एक कला की वृद्धि होती है। शारदातिलक में षोड़श कलाओं के नाम इस प्रकार दिये हैं—

'अमृतां, मानंदा तुष्टिम्पुष्टिम्प्रीतिं रतिं तथा।
लज्जां, श्रियं, स्वधां, रात्रिं, ज्योत्स्नां, हंसवतीन्ततः॥
छायां च पूरर्णी वामामाचन्द्रकला इमाः ॥'

श्रीबैजनाथजी ने, इसी प्रकार, जीव की भी षोड़श कलाएँ लिखी हैं—

'निराशा, सद्वासना, कीर्ति, जिज्ञासा, करुणा, मुदिता, स्थिरता, सुसंग, उदासीनता, श्रद्धा, लज्जा, साधुता, तृप्ति, क्षमा, विवेक, विद्या।'

(३) 'प्रेम......दूरि'—रामचरितमानस में लिखा है--

'यद्यपि प्रभु सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगटि होत भगवाना॥'

(४) 'सप्त...विचार'—इस क्षणभंगुर शरीर के सम्बन्ध में कबीरदासजी कहते हैं—

'जारे देह भसम ह्वै जाई, गाड़े माटी खाई।
कांचि कुम्भ उदक ज्यों भरिया तन की यहै बड़ाई॥'

(५) 'नवद्वारपुर'—इस नगरी पर निम्नलिखित शब्द बड़ा ही उत्तम है—

'ऐसी नगरिया में काहे विध रहना। नित उठ कलंक लगावै सहना॥
एकै कुवां पांच पनिहारी। एकै लै जुर भरै नौ नारी।
फट गया कुवाँ बिनस गई बारी। बिलग भई पाँचो पनिहारी॥
कहैं कबीर नाम बिनु बेरा। उठ गया हाकिम लुट गया डेरा॥'

(६) 'सारँगपानि'—यहां यह शब्द बड़ा ही सार्थक प्रयुक्त हुआ है। इन्द्रियों पर विजय लाभ करने के लिये धनुर्धारी राम का स्मरण किया गया है।

(७)'परिहित'—२०१ पद की पहली टिप्पणी देखिये।

(८)'चौदह भुवन'—भूः, भुवः, स्वः, जन, तप, सत्य, ब्रह्म, तल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, रसातल और पाताल।

(९)'प्रेम......दास'—प्रेमपरा भक्ति का आनन्दरस दासभाव के भक्त ही जानते हैं। सर्व साधनों के अनंतर प्रेम-भक्ति मिलती है। दासभाव में जीव सब तरह से परख लिया जाता है, उसे सभी साधनों को धीरज के साथ पार करना पड़ता है और तब कहीं प्रेम-पराभक्ति की प्राप्ति होती है।

(१०)'संतन के चरन'—क्योंकि—

'मथुरा भावे द्वारिका, भावै जा जगनाथ।
साधु-चरन-सेवन बिना, कछु ना आवे हाथ॥' (कबीरदास)

(११) यह पद साहित्य, भक्ति एवं तत्वज्ञान की दृष्टि से बड़ा ही सुंदर, सारमय और भावपूर्ण है। साधक जनों के तो हृदय का हार ही है। क्रमशः इस पद के सिद्धांत पर चलता हुआ साधक पूर्णावस्था को प्राप्त कर सकेगा, इसमें किंचित् मात्र भी संदेह नहीं है।

राग कान्हरा

(२०४)

जो मन लागै रामचरन अस।
देह गेह सुत बित कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस॥१॥
द्वन्द्वरहित गतमान ग्यानरत बिषय-बिरत खटाइ नाना कस।
सुखनिधान सुजान कोसलपति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होहिं बस॥२॥
सर्बभूत-हित निर्ब्यलीक चित भगति प्रेम दृढ़ नेम एक रस।
तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतो सीसदस॥३॥

शब्दार्थ—कलत्र=स्त्री। खटाई=निभा जाये, परख में ठीक ठीक उतरे। कस=परीक्षा। निर्व्यलीक=निर्मल, निष्कपट। एकरस=त्रिकालाबाधित दशा। सीसदस=दश शिरवाला रावण।

भावार्थ—जो यह मन श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें इस प्रकार लग जाय, जैसे कि वह शरीर, गृह, पुत्र, धन और स्त्री में, सहज रीतिसे, मग्न हो जाता है, स्वभाव से ही उनके मोह में फँस जाता है ॥ १ ॥ तो वह द्वन्द्वों (सुख-दुःख आदि) से रहित हो जाय, उसका अभिमान दूर हो जाय, ज्ञान में लौलीन हो जाय तथा अनेकों परीक्षाओं में पूर्ण उतरे, कसौटी पर खरा निकले, फिर आनन्दघन, सुचतुर कोसलेन्द्र श्रीरामचन्द्रजी क्यों न प्रसन्न होकर उसके अधीन हो जायँगे ? (यदि यह मन सारी संसारी वासनाओं को छोड़कर भगवान् के चरणों में प्रीति करे, तो अवश्य ही परमात्मा उसके वश में हो जायँगे, जैसा वह कहेगा, तैसा उन्हें करना पड़ेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है) ॥ २ ॥ (जो जीव भगवच्चरणारविन्दों में इस तरह प्रेम करेगा) वह सब प्राणियों के हित में अपने को लगा देगा, उसका चित्त शुद्ध हो जायगा, भक्ति और प्रेम दृढ़ हो जायँगे और उसके नियम त्रिकालाबाधित, सदा एक से रहेंगे, अर्थात् वह सुख-दुःख, संपत्ति-विपत्ति आदि द्वन्द्वों में सम्पन्न वा विपन्न न होगा। हे तुलसीदास ! यह दशा तभी प्राप्त हो सकती है, जब रावण के मारनेवाले समर्थ स्वामी (श्रीरामजी) कृपा करें (अन्यथा नहीं) ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'जो मन......अस'—इस प्रकार भगवत्सेवा करना चाहिये, जैसा कि श्रीमद्भागवत में लिखा है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्ग संगमम्।
घ्राणं च तत्पाद-सरोज सौरभे श्रीमत्तुलस्यारसनां तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये नतु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकगुणाश्रया रतिः ॥'

(२) 'खटाइ नाना कस'—श्रीबैजनाथजी के अनुसार स्वर्गीय भट्टजी ने इसका यह अर्थ किया है—"वह (संसार के) विषयों से ऐसे अलग हो जाता है कि जैसे कस (काँसा) के पात्रों में धरी अनेक खट्टी वस्तुओं से मन फिर जाता है"

यह अर्थ भी घट सकता है, किन्तु कुछ खींचतान करने पर यह अर्थ ठीक ठीक बैठता है। श्रीवैजनाथजी ने इसे खूब विस्तारके साथ लिखा है।

(३) 'जेहि···सीसदस'—जिसने दश शिरवाले रावण को मारा है, वही दशों इंद्रियों पर विजयलाभ कराकर इस परमहंस अवस्थाको पहुँचावेगा।

(४) सहज स्वभाव से, निष्कपट भावसे, भगवच्चणारविन्दों में प्रेम करना चाहिए -यही इस पद का निचोड़ है।

(२०५)

जौ मन भज्यो चहै हरि-सुरतरु।
तौ तजि बिषय-बिकार, सार भजु, अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु ॥१॥
सम, संतोष, बिचार बिमल अति, सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु ॥२॥
स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयनन निरखि कृपा-समुद्र हरि अगजगरूप भूप सीतावरु ॥३॥
इहै भगति वैराग्य ग्यान यह हरि-तोषन यह शुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास सिव-मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु ॥४॥

शब्दार्थ—सम=(शम) शान्ति, समभाव। निसेष=(निःशेष) पूर्णरूप से। अग=जड़। जग=चैतन्य। तोषन=प्रसन्न करनेवाला। सिव मत=शिवजी का बतलाया हुआ सिद्धान्त, कल्याणकारी मत।

भावार्थ—हे मन ! जो तू भगवत्‌रूपी कल्पवृक्ष का सेवन करना चाहता है, तो विषयों के विकार को, काम-लिप्सा को, छोड़ कर साररूप श्रीराम-नामका भजन कर और जो मैं कहता हूं उसे अब भी कर (अभीतक कुछ बिगड़ा नहीं) ॥ १ ॥ समता, संतोष, निर्मल ज्ञान और सत्संग, इन चारों साधनों को दृढ़तापूर्वक (हृदय में) रख ले, इन्हें हृदयंगम करले, इन पर अनुसरण कर। और काम, क्रोध, लोभ, अज्ञान, अहंकार एवं राग और द्वेष को बिलकुल ही छोड़ दे, हृदय में इनका लेशमात्र भी न रहे (क्योंकि जब तक इन दुर्गुणों का निवास रहेगा तब तक उपर्युक्त सद्गुणों की दाल गलने की नहीं, काम-कांचन के आगे धर्म-कर्म का निर्वाह नहीं हो सकता) ॥ २ ॥ कानों से भगवत्कथा सुना कर, मुख से (राम) नाम स्मरण किया कर, हृदय में भगवद्ध्यान किया कर,

मस्तक से प्रणाम तथा हाथों से भगवान् की सेवा किया कर। नेत्रों से कृपा-सागर, जड़-चैतन्यमय महाराज जानकीवल्लभ रामचन्द्रजी के दर्शन किया कर (इन्हीं कर्मों में तेरे शरीर की सार्थकता है, नहीं तो विषयों का अनुसरण करते हुए तू मनुष्य-शरीर को योंही व्यर्थ खो देगा, न लोक बनेगा न पर-लोक ही) ॥ ३ ॥ यही भक्ति है, यही वैराग्य है, यही ज्ञान है और इसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं, अतएव तू इसी शुभ-कल्याणकारी व्रत का साधन कर। हे तुलसीदास ! यह मार्ग शिवजी का बतलाया हुआ है। इस (कल्याण-युक्त) मार्ग पर चलने से स्वप्न में भी भय नहीं रहता (वह जीव, जो इस मार्ग पर चलता है, जन्म-मरण के भय से मुक्त हो जाता है) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'विषय-विकार' = शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, मैथुनादि, इन्द्रियों के भोगविलास जो बिलकुल ही सारहीन हैं। विवेक द्वारा इन विषयों की निःसारता देख कर सारस्वरूप आत्मा की उपासना करनी चाहिये। जब अन्तःकरण-चतुष्टय निःशेषरूप से विशुद्ध हो जाय, तब भगवद्भक्ति का, हरि-कैंकर्य का, अधि-कार प्राप्त होता है।

(२) 'अगजगरूप'—सर्वव्यापी परमात्मा ;

'सियाराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥'

(रामचरित मानस)

(३) 'हरि तोषन'—भगवान् एक अनन्य भक्ति द्वारा ही प्रसन्न होते हैं। अनन्य उपासक का लक्षण यह मिलता है—

'न विधिर्न निषेधश्च प्रेमयुक्तं रघूत्तमे ।
इन्द्रियाणामभावः स्यात् सोनन्योपासकः स्मृतः ॥' (श्रीमहारामायण)

(४) 'सपनेहुँ नाहिंन डरु'—क्योंकि प्रमाण मिलता है—'निर्भयं वैष्णवं पदं।'

शरणागत जीव, वास्तव में, निर्भय हो जाता है। भगवान् ने स्वयं उसे निर्भय कर देने का वचन दिया है। देखिये—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥' (वाल्मीकि-रामायण)

(२०६)

नाहिंन और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम बिपति-निवारन।
काको सहज सुभाउ सेवकबस, काहि प्रनत पर प्रीति अकारन ॥ १ ॥
जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।
परम कृपालु, भगत-चिन्तामनि, बिरद पुनीत पतितजन-तारन ॥ २ ॥
सुमिरत सुलभ, दास-दुख सुनि हरि चलत तुरत पटपीत सँभार न।
साखि पुरान निगम आगम सब, जानत द्रुपद-सुता अरु बारन ॥ ३ ॥
जाको जस गावत कबि-कोबिद, जिन्हके लोभ मोह मद मार न।
तुलसिदास तजि आस सकल भजु, कोसलपति मुनिबधू-उधारन ॥४॥

शब्दार्थ—प्रनत = सेवक, नम्र। निगम = वेद। आगम = शास्त्र। द्रुपद-सुता = द्रौपदी। बारन = हाथी। कोविद = ज्ञानी, विद्वान्। मार = काम।

भावार्थ—श्रीरघुनाथजी के समान विपत्तियों का दूर करनेवाला तथा शरण में लेने योग्य दूसरा कोई नहीं है (शरण में तो उसीके जाना चाहिये जो निर्भय हो कर रक्षा कर सके, सो परमात्मा को छोड़ कर ऐसा कोई भी समर्थ नहीं है। सभी किसी न किसी भय से पीड़ित हो रहे हैं)। किसका ऐसा निष्कपट स्वभाव है जो अपने सेवकों के वश में हो कर रहता है, और दीन भक्तों पर, बिना किसी कारण के, किसका प्रेम है ? (किसी का नहीं, सभी अभिमानी और स्वार्थी दिखाई देते हैं। ऐसे तो एक श्रीरामजी ही हैं) ॥ १ ॥ जब श्रीरघुनाथजी अपने दास के ज़रा से गुण को देखते हैं, तब वह उसे सुमेरु पर्वत की तरह बड़ा मानते हैं, और उसके करोड़ों दोषों को कुछ भी नहीं लेखते, भूल ही जाते हैं। वास्तव में, वह बड़े ही दयालु, भक्तों के लिये चिंतामणिस्वरूप (जो जो भक्त मांगते हैं, सो सो पाते हैं) और पवित्र यशवाले तथा पापी लोगोंको (संसार-सागरसे) पार कर देनेवाले हैं ॥ २ ॥ स्मरण करते ही, बिना किसी कठिनाई के, प्राप्त हो जाते हैं। और अपने दासका कष्ट सुन कर इतनी शीघ्रता से (दुःख दूर करने को उसके पास) दौड़ आते हैं कि वह अपने पीताम्बर तक को नहीं सँभालते (जहां जैसे बैठे होते हैं, तहां से वैसे ही दौड़ कर चले आते हैं)। इस बात के साक्षी पुराण, वेद, शास्त्र, द्रौपदी और गजेन्द्र, यह सब हैं (मैं कवि-कल्पना से काम नहीं ले रहा हूँ,

इसके उदाहरण भी पाये जाते हैं) ॥ ३ ॥ जिन्होंने लोभ, मोह, अहंकार और काम को छोड़ दिया है, ऐसे कवि और ज्ञानी पुरुष जिनकी कीर्ति का गान करते हैं, हे तुलसीदास ! सारी (सांसारिक) आशाओं को छोड़ कर, अहल्या के उद्धार करनेवाले उन प्रभु का भजन कर ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'प्रीति अकारन'—निष्कारण और निष्काम प्रेम ही, वास्तव में, प्रेम है। किसी वस्तु की इच्छा करके जो प्रेम किया जाता है वह व्यापार है, प्रेम नहीं। और ऐसा सकाम प्रेम स्थिर भी नहीं रहता है। प्रेम तो स्थायी, निष्काम, श्रेयस्कर और सर्वस्वरूप होना चाहिए। सो ऐसा वात्सल्य अथवा कैंकर्य प्रेम भगवान् ही जीवों के साथ कर सकते हैं और किसी की सामर्थ्य नहीं है।

(२) 'पतितजन'—जैसे, अजामेल, अहल्या, केवट, श्वपच, म्लेच्छ आदि।

(३) 'द्रुपदसुता'—दौपदी ; ९३ पदकी चौथी टिप्पणी देखिये।

(४) 'बारन'—गजेन्द्र ; ८३ पदकी टिप्पणी देखिये।

(५) 'पटपीतसम्हार न'—श्रीमान् भट्टजीने यह अर्थ किया है—"दास के दुःख को सुनते ही वे तुरंत अपने पीताम्बर को सँभाल कर चलते हैं, अर्थात् भक्त का दुःख दूर करने के लिये पीताम्बर पहन तुरन्त जाने को तैयार हो जाते हैं।" पर, यदि पीताम्बर पहनने लगेंगे, तो देर न हो जायगी? पीताम्बर तो पहले से ही पहिने हैं। बात यह है कि पीताम्बर यदि कुछ खुला सा पड़ा है तो उसे वैसा ही रहने देते हैं और तुरन्त दौड़ कर बिना उसे सँभाले ही अपने भक्त के पास चले जाते हैं। पाठ 'सँभार न' है, न कि 'सम्हारन'।

(६) 'मुनिबधू'—अहल्या ; ४३ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(२०७)

भजिबे लायक, सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिंन।
आनंदभवन, दुखदवन, सोकसमन रमारमन गुन गनत सिराहिं न ॥१॥
आरत अधम कुजाति कुटिल खल पतित सभीत कहूँ जे समाहिं न।
सुमिरत नाम बिबसहूँ बारक पावत सो पद जहाँ सुर जाहिं न ॥ २ ॥
जाके पदकमल लुब्ध मुनिमधुकर बिरत जे परम सुगतिहु लुभाहिं न।
तुलसिदास सठ तेहि न भजसि कस, कारुनीक जो अनाथहिं दाहिन ॥३॥

शब्दार्थ—दवन=(दमन) दूर करनेवाला। समन=(शमन) शांत करनेवाला। सिराहिं न=पूरे नहीं होते हैं। बारक=एक बार। लुब्ध = लोभी। विरत = विरक्त। सुगति = मोक्ष। कारुनीक = करुणामय, कृपालु।

भावार्थ—भजन करने योग्य, आनन्द देनेवाला और शरण में रखनेवाला श्रीरघुनाथजो के समान दूसरा कोई नहीं है। उन आनन्दधाम (आनन्दराशि) दुःखों के नाश करनेवाले, शोकके हरनेवाले लक्ष्मीकान्त भगवान् के गुण गिनते गिनते भी समाप्त नहीं होते हैं। भाव, वह अनन्तगुणविशिष्ट हैं ॥१॥ जो दुखी, नीच, अंत्यज, कपटी, दुष्ट, पापी और भयभीत कहीं भी नहीं बच सकते हैं(जिन्हें कोई शरणमें रखने को तयार नही है) वह भी-जैसे तैसे-एक बार ही श्रीरामनाम-स्मरण कर उस पद पर पहुंच जाते हैं, जहां देवता भी नहीं जाने पाते,अर्थात् वह निर्वाण पदको प्राप्त कर,जन्म-मरणसे,सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं ॥ २ ॥ जिनके चरणस्वरूपी कमलों में वह विरक्त मुनिरूपी भौंरे लुब्ध हो रहे हैं (रसलोलुप बने बैठे हैं) जिन्हें मोक्ष तक का लोभ नहीं है। भाव, वे मोक्ष सुख को तुच्छ समझ कर भगवत्-चरणारविन्दों का पराग पान कर रहे हैं। हे तुलसीदास ! जो अनाथों पर भी अनुकूल रहता है, हे शठ ! उस करुणामय—दयामूर्ति—प्रभु का भजन क्यों नहीं करता है ? (आश्चर्य है कि ऐसे करुणामय स्वामी को छोड़ कर तू संसारके द्वार-द्वार पर भटकता फिरता है ! कल्पवृक्ष को छोड़ कर एरण्ड का सेवन करता है !) ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'सुमिरत......जाहिं न'-प्रमाण लीजिये-

'सकृदुच्चारयेद्यस्तु रामनाम परात्परम्।
शुद्धान्तःकरणो भूत्वा निर्वाणमधिगच्छति ॥' (पद्मपुराण)

(२) 'सुगतिहु लुभाहि न'-क्योंकि-

'सगुन-उपासक मोच्छ न लेहीं'— (रामचरितमानस)

'चारौ मुक्ति भरैं तहं पानी, धर छावैं ब्रह्मग्यानी !' (व्यासजी)

राग कल्याण

(२०८)

नाथसों कौन बिनती कहि सुनावौं।
*त्रिविध अनगनित अवलोकि अघ आपने,
सरन सनमुख होत सकुचि सिर नावौं ॥ १ ॥

* पाठान्तर 'बिबिध'।

बिरचि हरिभगति को वेष वर टाटिका,
कपट-दल हरित पल्लवनि छावौं ।
नामलगि लाइ लासा-ललित-बचन कहि,
व्याध ज्यों बिषय-बिहँगनि बझावौं ॥ २ ॥
कुटिल सतकोटि मेरे रोम पर वारियहि,
साधुगनती में पहलेहिं गनावौं ।
परम बर्बर खर्ब गर्ब-पर्बत चढ़्यो,
अग्य सर्बग्य जन-मनि जनावौं ॥ ३ ॥
साँच किधौं झूठ मोको कहत,
कोउ कोउ राम ! रावरो हौं तुम्हरा कहाँवौं ।
बिरद की लाज करि दासतुलसीहिं देव,
लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावौं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—टाटिका = टट्टी । लगि = लग्गी । लाइ = लगा कर । लासा = चेप । बझावौं = फँसाता हूं । बर्बर = मूर्ख । खर्ब = नीच । जनमनि = भक्तों में शिरोमणि, सर्वश्रेष्ठ । बावौं = बायां, पीठ ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपको मैं किस तरह अपनी विनती कहकर सुनाऊँ ? तीन प्रकार के (मन, वचन और कर्म से उत्पन्न) अगणित अपने पापों की ओर देख कर जब मैं आपकी शरण में आता हूं, तब सामना होते ही लज्जा के कारण सिर नीचा कर लेता हूँ (आंखसे आंख नहीं मिला सकता, क्योंकि मेरे पास एक भी पुण्य का वल नहीं है कि जिससे आपकी शरण प्राप्त कर सकूं)॥ १ ॥ भगवद्भक्तों के भेष को धारण कर मानों सुंदर (धोखे की) टट्टी बनाता हूं । और कपटरूपी हरे हरे पत्तों से उसे छा देता हूं । (तिलक लगाकर, कण्ठी-माला पहिन कर, राम राम जपता हूं और इस धोखे से दूसरों की आँखों में धूल डालता हूं । 'मुख में राम राम बगल में कसाई के काम' इस लोकोक्ति का स्वरूप हूं, पर पाखंड कर कर लोगों को ठगना मेरा कर्त्तव्य हो गया है)। आपके (राम) नाम की लग्गी लगा कर, मधुर वचनों का लासा लगा देता हूं ! (राम राम जपता हुआ ऐसी मधुर वाणी बोलता हूं कि लोग सचमुच ही मुझे महात्मा समझने लगें) और फिर बहेलिया की तरह विषयरूपी

पक्षियों को फँसा लेता हूं। (लोगों की दृष्टि में तो वैष्णव बना हुआ राम राम जपता फिरता हूं, पर करता क्या क्या हूं सो सुनिये—रूपवती स्त्रियों को काम दृष्टि से देखता हूं, काम-वार्त्ता सुनता हूं, सुगंध-मय माला धारण करता हू और जितने कुछ भोग-विलास हैं, उनमें इन्द्रियों को फँसाता हूं) ॥ २ ॥ मेरे एक रोम पर सौ करोड़ पापी निछावर किये जा सकते हैं, पर तो भी अपने को साधुओं की गणना में सर्व प्रथम गिनवाना चाहता हूं, संत-शिरोमणि बनने का दावा रखता हूं। मैं बड़ा ही मूर्ख हूं, नीच हूं और अभिमानरूपी पहाड़ पर चढ़ा बैठा हूं, अर्थात् बड़ा भारी अभिमानी हूं। (इतना ही नहीं, वरन्) महा मूर्ख भी हूं, किन्तु सर्वज्ञ और भक्त-श्रेष्ठ बनता हूं। भाव, जानता तो कुछ भी नहीं, पर बकवाद कर कर लोगों की दृष्टि में षट्शास्त्री एवं पहुंचा हुआ अनन्य भक्त हो रहा हूं ॥ ३ ॥ हे भगवन्! कह नहीं सकता कि झूठ है, या सच पर कोई कोई मुझे यह कहते हैं कि 'यह रामजी का है' और मैं भी 'आपही का' कहलवाना चाहता हूं। हे नाथ! अपने बाने की बात रख कर इस तुलसीदास को अपना ही लीजिये, पीठ न दीजिये (क्योंकि यदि आपने मुझे न अपनाया तो फिर मैं किसका होकर रहूंगा? मेरे पाखंड की कलई खुल जाने पर कोई भी मुझ पर विश्वास न करेगा और न अपनी शरण में लेगा) इसलिये आपही अपनाइये। अब और कहाँ जाऊँ ? ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'नाथसों......नावौं'--कबीरदासजी भी यही बात कह रहे हैं—

'क्या मुख ल विनती करौं, लाज आवत मोहिं।
तुम देखत औगुन करौं, कैसे भावौं तोहिं॥'

(२) 'हरि भक्ति को बेष'—सच्चा भेष तो यह है—

'तत्व तिलक माथे दिया, सुरति सरवती कान।
करनी-कंठी कंठ म, परसा पद निर्वान॥' (कबीरदास)

(३) 'लेहि अपनाइ'—अपनाकर मेरे दंभों और पाखण्डों को दूर कर दीजिये, जिससे मैं शुद्ध अंत:करण से आत्मस्वरूप पहिचान सकूँ।

(२०९)

नाहिनै नाथ, अवलम्ब मोहिं आनकी।

करम मन बचन पन सत्य, करुनानिधे,

एक गति राम, भवदीय पदत्रान की ॥ १ ॥

कोह मद मोह ममतायतन जानि मन,
बात नहिं जाति कहि ग्यान-बिग्यान की।
काम-संकल्प उर निरखि बहु बासनहिं,
आस नहिं एक हू आँक निरबान की ॥ २ ॥
बेद-बोधित करम धरम बिनु अगम अति.
जदपि जिय लालसा अमरपुर जान की।
सिद्ध सुर मनुज दनुजादि सेवत कठिन,
द्रवहिं हठजोग दिये भोग बलि प्रान की ॥ ३ ॥
भगति दुरलभ परम संभु सुक मुनि मधुप,
प्यास पदकंज-मकरंद-मधुपान की,
पतित-पावन सुनत नाम बिस्रामकृत,
भ्रमत पुनि समुझि चित ग्रन्थि अभिमान की ॥४॥
नरक-अधिकार मम घोर संसार-तम-कूप कहिं,
भूप, मोहि सक्ति आपान की।
दासतुलसी सोउ त्रास नहिं गनत मन,
सुमिरि गुह गीध गज ग्याति हनुमान की ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पन = प्रतिज्ञा । भवदीय = आपके । पदत्रान = जूता । कोह = क्रोध । ममतायतन = (ममता + आयतन) ममता का घर । आँक = अंश । निरबान = (निर्वाण) मोक्ष । बोधित = समझाये हुए । लालसा = इच्छा । अमरपुर = स्वर्ग । द्रवहिं = कृपा करते हैं । मकरंद = पराग । बिस्राम = शान्ति । ग्रन्थि = गांठ । कूपक = कुवां । आपान की = आपकी । ग्याति = (ज्ञाति) जाति ।

भावार्थ—हे नाथ ! मुझे किसी और का सहारा नहीं है । हे करुणा-निधान ! मन, वचन और कर्म से मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा है कि मुझे केवल आपकी जूतियों का ही भरोसा है (मैं अनन्य व्रत से आपकी जूतियों की शरण में रहता हूं) ॥ १ ॥ मेरा मन, क्रोध, अज्ञान और ममता का स्थान है, इसलिये ज्ञान-विज्ञान की बात कहना उसके लिये असंभव है, अथवा ज्ञान-विज्ञान के बल पर उसका निस्तार नहीं हो सकता। और हृदय में अनेक कामनाओं के संकल्प उठ रहे हैं। वहाँ नाना प्रकार की (विषय-) वास-

नाएँ देखकर मोक्ष की तो एक अंश भी आशा नहीं है (क्योंकि वासनाओं के आत्यंतिक लय को ही मोक्ष कहते हैं, सो बिना वासना दूर हुए मोक्ष की आशा करना ख-पुष्पवत् ही है) ॥ २ ॥ यद्यपि मैं स्वर्ग जाने के लिये लालायित हो रहा हूं, पर वेद-विहित कर्म-धर्म किये बिना वहाँ जाना अत्यन्त कठिन है (इस पर भी पानी फिर गया !) और सिद्ध देवता, मनुष्य एवं राक्षसों की सेवा बड़ी कठिन है। यह लोग तभी प्रसन्न होंगे, जब इनके लिये हठयोग किया जाय, यज्ञ का भाग दिया जाय और प्राणों का बलि चढ़ाया जाय (यह कुछ भी मुझसे नहीं हो सकता, अतएव इन लोगों की कृपा की आशा करना भी व्यर्थ है, अब शेष क्या रहा, सो सुनिये) ॥ ३ ॥ भक्ति कैसी है, बड़ी कठिन; क्योंकि शिव, शुकदेव तथा मुनिरूपी भौंरे आपके चरणारविन्द के मधुर पराग के पीने के अर्थ प्यासे बने रहते हैं (इस रस को पीते पीते उन्हें भी तृप्ति नहीं होती, फिर मेरे-जैसे नीच के लिये वह सौभाग्य कहां है ?)। हां, आपका नाम निःसन्देह पापियों का उद्धार करनेवाला तथा शान्ति देनेवाला सुना जाता है, किन्तु चित्त में अहंकार की गांठ पड़ जाने के कारण मन फिर भ्रम जाता है। भाव, संशयात्मा होने से मैं विषयों की ही ओर दौड़ता हूं ॥ ४ ॥ हे महाराज ! मेरा तो बस नरक में ही पड़ने का अधिकार है, क्योंकि मैंने कर्म ही ऐसे घोर किये हैं कि जिनसे संसाररूपी अंधेरे कुएं में पड़ा रहूं, किन्तु मुझे फिर भी आपका बल है। और इसीसे गृद्ध, जटायु, गजेन्द्र और हनुमान की जाति याद कर के यह तुलसीदास उस भय को, संसार के जन्म-भय को, कुछ भी नहीं समझता (क्योंकि जब बड़े बड़े पापियों के तर जाने के उदाहरण उपस्थित हैं, तब मुझे भी, हे दीनवत्सल ! आपके हाथ से मुक्त हो जाने की आशा है) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'अवलम्ब'—यह शब्द पुंल्लिंग है, किन्तु गुसाईंजीने क-वि-स्वातंत्र्य के अधिकार से, इसे यहां, स्त्रीलिंग माना है।

(२) 'काम......निरबान की'—अविद्या का मूल कारण वासना है। विषयों का चिंतवन करते करते उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से कामना और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह और मोह से स्मरण भ्रष्ट हो जाता है। स्मृति नष्ट होते ही बुद्धि का नाश और फिर बुद्धि-नाश से आतमोन्नति चौपट हो जाती है। लिखा है—

'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः समोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥' (श्रीभगवद्गीता)

(३) 'वेद-बोधित कर्म'—नित्य, नैमित्तिक और काम्य यह तीन प्रकार के कर्म हैं । भेदोपभेद से यज्ञ, दान, तप, होम, व्रत, स्वाध्याय, संयम, जप, तप, स्नान, तीर्थाटन, चांद्रायण आदि उपवास, चातुर्मास, तर्पण आदि सहस्रों प्रकार के सत्कर्म हैं ।

(४) 'हठ जोग'—चौरासी आसन, धोती नेती, पंचाग्नि-तापना, जल-शयन, समाधि आदि हठयोग के अनेक अंग हैं । 'हठयोग प्रदीपिका' एवं 'शिव-संहिता' में हठयोग पर विस्तृत वर्णन मिलता है ।

(५) 'भगवान् की शरण ही जीव के लिये श्रेयस्कर है'—यही इस पद का सिद्धांत है ।

(२१०)

और कहँ ठौर रघुबंस-मनि, मेरे ।
पतित-पावन प्रनत-पाल असरन-सरन,
बाँकुरो बिरद बिरुदैत केहि केरे ॥ १ ॥
समुझि जिय दोष अति रोष करि राम जो,
करत नहिं कान बिनती बदन फेरे ।
तदपि ह्वै निडर हौं कहौं करुना-सिन्धु,
क्योंऽब रहि जात सुनि बात बिन हेरे ॥ २ ॥
मुख्य रुचि होत बसिबे की पुर रावरे,
राम, तेहि रुचिहि कामादि गन घेरे ।
अगम अपवर्ग, अरु स्वर्ग सुकृतैक फल,
नाम-बल क्यों बसौं जम-नगर नेरे ॥ ३ ॥
कतहुं नहिं ठाउँ, कहँ जाउँ कोसलनाथ !
दीन बितहीन हौं बिकल बिनु डेरे ।
दास तुलसिहिं बास देहु अब करि कृपा,
बसत गज गीध व्याधादि जेहि खेरे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बाँकुरो=बाँका, निराला। बिरुदैत=बानावाला। करत नहिं कान=सुनते नहीं हैं। क्योंऽब=क्यों+अब। अपवर्ग=मोक्ष। सुकृतैक=सुकृत (पुण्य)+एक। नेरे=पास। खेरे=खेड़े में, गांव में।

भावार्थ—हे रघुवंश-शिरोमणे! मेरे लिये और कहां स्थान है? (आपको छोड़कर कहाँ जाऊँ?) पापियों को पवित्र करनेवाले, दीनों को पालनेवाले एवं अनाथों को शरण देनेवाले एक आपही हैं। आपका सा निराला बाना किस बानेवाले का है? (किसीका भी नहीं)॥ १॥ हे रघुनाथजी! अपने मन में मेरे अपराध समझ कर क्रोधपूर्वक आप मेरी विनती पर ध्यान नहीं देते हो और मेरी ओर से अपना मुंह फेरे हुए हो, तो भी मैं निर्भय होकर, हे कृपामूर्ते! कहता ही जाता हूं। मेरी बात सुनकर उसपर ध्यान दिये बिना आपसे कैसे रहा जाता है? (क्योंकि जब आप किसी दीन की पुकार सुनते हैं, तो तुरन्त ही उसपर ध्यान देते हैं, किन्तु मेरी बार के लिये टाल-टूल कर रहे हो, इसी से आश्चर्य होता है।)॥ २॥ (यदि आप मेरी इच्छा पूछते हैं तो (सुनिये) सबसे प्रधान कामना तो मेरी यह है कि मैं आपके धाम (साकेत लोक) में जाकर रहूं, किन्तु हे नाथ! उस रुचि को काम, क्रोध, लोभ और मोह घेरे हुए हैं (यह दुष्ट उस इच्छाको दबा देते हैं)। और मोक्ष दुर्लभ है (क्योंकि कामनाओं का नाश नहीं हुआ)। स्वर्ग मिलना भी कठिन है, क्योंकि वह केवल पुण्यों के फल से प्राप्त होता है (मैंने कोई सत्कर्म तो किया नहीं, फिर स्वर्ग कैसे जा सकता हू?)। अब रहा नर्क, सो आपके नाम के बल-भरोसे पर वहां भी नहीं जा सकता हू (क्योंकि जो राम-नाम स्मरण करता है वह नर्क-यातना से छूट जाता है)॥ ३॥ अब मुझे कहीं रहने के लिये स्थान नहीं रहा, कहाँ जाऊँ? हे कोसलेश! मैं निर्धन और दीन हू। (धनाढ्य होता, तो कहीं रहने का स्थान बनवा लेता) निवास-स्थान के न होने से व्याकुल हो रहा हू। इससे हे नाथ! इस तुलसी-दास को कृपा कर उस गाँव में रहने की जगह दे दीजिये, जहां कि गजेन्द्र जटायु, व्याध (वाल्मीकि) आदि रहा करते हैं। सारांश, जैसे आपने इन पापियों को अपना लिया हैं, वैसे मुझे भी शरण में ले लीजिये॥ ४॥

टिप्पणी—(१) 'करत नहिं······फेरे'—ऐसा न कीजिये, क्योंकि—

'सुरति करौ मेरे साइयां, हम हैं भव-जल मांहिं।
आये ही बहि जायँगे, जो नहिं पकरौ बाहिं॥'

(२) 'स्वर्ग.....मेरे'—स्वर्ग जाने के लिये मेरे पाप बाधक हो रहे हैं और नर्क जाने के लिये आप का राम-नाम। साधक कहीं का कोई नहीं दिखाई देता। अब कहिये, कहां जाऊँ ?

(३) 'गज'—गजेन्द्र; ८३ पद की टिप्पणी देखिये।

(४) 'गीध'—जटायु; ४३ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(५) 'व्याध'—वाल्मीकि; ६४ पद की टिप्पणी देखिये।

(२११)

कबहुँ रघुबंसमनि, सो कृपा करहुगे।
जेहि कृपा ब्याध गज बिप्र खल नर तरे,
तिन्हहिं सम मानि मोहिं नाथ उद्धरहुगे॥ १॥
जोनि बहु जनमि किये करम खल बिबिध बिधि,
अधम आचरन कछु हृदय [illegible]
दीनहित अजित सर्बग्य समरथ प्रनतपाल
चित मृदुल निज गुननि अनुसरहुगे॥ २॥
मोह मद मान कामादि खल-मंडली
सकुल निरमूल करि दुसह दुख हरहुगे।
जोग जप जग्य बिग्यान ते अधिक अति,
अमल दृढ़ भगति दै परम सुख भरहुगे॥ ३॥
मन्दजन-मौलिमनि सकल साधन-हीन,
कुटिल मन मलिन जिय जानि जो डरहुगे।
दासतुलसी बेद-बिदित बिरुदावली
बिमल जस नाथ केहि भाँति बिस्तरहुगे॥ ४॥

शब्दार्थ—अमल = निर्विकार, शुद्ध, निष्काम। मौलि = शिर। विरुदावली = कीर्ति-कलाप। विस्तरहुगे = फैलाओगे।

भावार्थ—हे रघुवंश-शिरोमणे! क्या कभी आप मुझपर वैसी कृपा करेंगे कि जिस कृपा से व्याध (वाल्मीकि), गजेन्द्र, ब्राह्मण अजामेल और

अनेक दुष्ट मनुष्य संसार-सागर से पार हो गये ? हे नाथ ! क्या आप उन्हीं पापियों के समान मुझे मानकर मेरा उद्धार करेंगे ? ॥ १ ॥ अनेक योनियों में जन्म ले ले कर मैंने नाना प्रकार के दुष्ट कर्म किये हैं। क्या आप मेरे नीच आचरण को मन में तो न लायँगे ? (यदि आपका ध्यान मेरी कुटिल करनी पर गया, तो फिर हो चुका ! इस तरह मेरा कभी उद्धार होने का नहीं। भला तो यह है कि आप मेरे कर्मों पर से आँख ही हटा लें)। क्या आप, दोनोंका भला करना, किसी से भी न हारना, घट घट की बात जानना, समर्थ होकर सेवकों का पालन करना आदि गुणों का, कोमल स्वभाव से, अनुसरण करेंगे ? अर्थात् जैसे आपके नाम हैं, उन्हीं के अनुसार मेरे साथ बर्त्ताव करेंगे ? (क्या आप मेरा भला करेंगे ? मुझे निर्भय बना देंगे ? मेरे अन्तःकरण के कर्मों और विचारों को समझ कर दूर कर देंगे ? मेरी रक्षा करेंगे ? और मुझ दीन पर दया-भाव रखेंगे ?) ॥ २ ॥ मेरे हृदय में अज्ञान, अहंकार, मान, काम आदि दुष्टों की जो मंडली बस रही है, उसे समूल नष्ट करके क्या आप मेरे दुखों को दूर करेंगे ? और क्या आप अपनी उस भक्ति को देकर मेरे हृदय में परमानन्द भर देंगे कि जो योग, जप, यज्ञ, और विज्ञान से भी निर्मल और बढ़ कर हैं। (भाव यह है कि, मुझे अन्य साधनों एवं तज्जन्य फलों वा सुखों की कामना नहीं है, मुझे तो एक आप की निष्काम भक्ति ही चाहिये) ॥ ३ ॥ यदि आप इस तुलसीदास को अधम जनों का शिरोमणि, सब साधनों से रहित, पापी एवं विकारी मनवाला समझ कर अपने मन में कुछ शंका करेंगे (यह विचार करेंगे कि इतने भारी पापी का उद्धार करने से कदाचित् हम पर लोग यह दोषारोपण न करें कि परमात्मा अन्यायी है।) तो हे प्रभो ! आप वेद-प्रख्यात अपनी विरुदावली तथा उज्ज्वल कीर्ति का विस्तार कैसे करेंगे ? (यदि आपको कीर्ति का प्रचार करना है, तो मेरा उद्धार अवश्यमेव करना होगा) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'व्याध'—वाल्मीकि; ६४ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(२) 'गज'—५७ पद की टिप्पणी देखिये।

(३) 'विप्र'—अजामेल, ५७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(४) 'विज्ञान'—आत्मज्ञानसे तात्पर्य है, न कि पदार्थ-विज्ञानसे। आत्मज्ञान वा स्वरूप-ज्ञान का प्राप्त हो जाना ही सर्वस्व नहीं है। इसके आगे भी कुछ है, और

वह है परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान। यह ज्ञान पराभक्ति द्वारा प्राप्त होता है। अतः पराभक्ति, साधन होते हुए भी, साध्य वा लक्ष्यरूप मानी गई है।

(५) 'बिरुदावली......बिस्तरहुगे'—मुझे त्याग देने से वर्तमान् में अयश फैल जायगा और पूर्व यश भी मलिन पड़ जायगा। भविष्य में भी कोई विश्वास न करेगा। हम दीन जनों का त्याग ठीक नहीं है, क्योंकि—

'हम गरीबों से है सारी बादशाही आपकी।'

राग केदारा

(२१२)

रघुपति बिपति-दवन।
परम कृपालु प्रनत-प्रतिपालक पतित-पवन ॥ १ ॥
कूर कुटिल कुलहीन दीन अति मलिन जवन।
सुमिरत नाम राम पठये सब अपने भवन ॥ २ ॥
गज पिंगला अजामिल से खल गनै धौं कवन।
तुलसिदास प्रभु केहि न दीन्हि गति जानकी-रवन ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—दवन = (दमन) नाश करनेवाले। जवन = यवन। रवन = (रमण) रमनेवाले। पवन = पवित्र करनेवाले; शुद्ध शब्द 'पावन' है।

भावार्थ—श्रीरघुनाथजी विपत्तियों के हरनेवाले हैं। आप बड़े ही कृपालु, दीनों के पालनेवाले और पापियों को पुनीत करनेवाले हैं ॥ १ ॥ निर्दयी लोगों को, दुष्टों को, नीच शूद्रों को, गरीबों को और बड़े ही अपवित्र म्लेच्छों तक को, नाम लेते ही, राम-नाम स्मरण करते ही, श्रीरामचन्द्रजी ने अपने साकेतलोक को भेज दिया (ऊँच-नीच का विचार न कर, सबको एक सी गति दे दी) ॥ २ ॥ गजेन्द्र (जो बड़ा ही मदोन्मत्त था), पिंगला वेश्या, अजामेल (जो महान् पापी था) आदि दुष्टों की गणना कौन करे (इनके समान और भी असंख्य पापी हैं)? हे तुलसीदास! श्री जानकी-वल्लभ प्रभु रामचन्द्रजी ने किस किसको मुक्त नहीं कर दिया (कैसा भी पापी हो, जिसने उनकी शरण ली, वह संसार-सागर से पार हो ही गया)? ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'पवन'—पावन; यह आर्ष प्रयोग है।

(२) 'जवन'—एक विशेष यवन से भी अभिप्राय हो सकता है, जिसे मरते दम, 'हराम' (फ़ारसी भाषा में शूकर) कहने पर, भगवान् ने मुक्त कर दिया था। कवितावली में लिखा है—

'आंधरो, अधम, जड़, जाजरोजरा जवन,
सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मग मैं।
गिर्यो हिये हहारि, हराम हो हराम हन्यो—
हाय हाय करत परीगो कालफंद मैं॥
तुलसी विसोक ह्वै त्रिलोकपति-लोक गयो,
नाम के प्रताप, बात विदित है जग मैं।
सोई रामनाम जो सनेह सों जपत जन।
ताकि महिमा क्यों कही है जाति अगमैं॥'

(३) 'गज'—८७ पद की टिप्पणी देखिये।

(४) 'पिंगला'—६४ पद की टिप्पणी देखिये।

(५) 'अजामिल'—८७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(२१३)

हरि-सम आपदा-हरन।
नहिं कोउ सहज कृपालु दुसह दुखसागर-तरन॥ १॥
गज निज बल अवलोकि कमल गहि गयो सरन।
दीन बचन सुनि चले गरुड़ तजि सुनाभ-धरन॥ २॥
द्रुपद-सुता को लग्यो दुसासन नगन करन।
'हा हरि पाहि!' कहत पूरे पट बिबिध बरन॥ ३॥
इहै जानि सुर नर मुनि कोबिद सेवत चरन।
तुलसिदास प्रभु को न अभय कियो नृग-उद्धरन॥ ४॥

शब्दार्थ—सुनाभ=चक्र। पाहि=रक्षा करो। पट=वस्त्र। बरन=रंग। कोविद=ज्ञानी। नृग=एक राजा का नाम।

भावार्थ—भगवान् के समान आपत्तियों का हरनेवाला, स्वभाव से ही, निष्कारण कृपा करनेवाला और असहनीय दुःखरूपी समुद्र से पार कर देनेवाला

कोई दूसरा नहीं है ॥ १ ॥ जब गजेन्द्र अपने बल को देख कर (हार गया) और (भेंटस्वरूप) कमल के फूल को लेकर आपकी शरण में गया, तब उस के दीन वचन सुन कर चक्रसुदर्शन लेकर आप गरुड़ को वहीं छोड़, तुरंत (दौड़ते हुए) चले आये (आधे क्षण भी उसके आर्त्तवचन न सह सके। धन्य !) ॥ २ ॥ जब (भरी सभा में) दुःशासन द्रौपदी के वस्त्र उतारने लगा, तब केवल उसके इतना कहने पर कि 'हाय ! भगवन्, मेरी लाज रखिये' आपने रंग-विरंगे वस्त्रों का ढेर लगा दिया (उसकी साड़ी को इतना लम्बा चौड़ा बना दिया कि खींचते खींचते दुःशासन हार गया, पर उसे उसका छोर न मिला) ॥ ३ ॥ यह समझ बूझ कर देवता, मनुष्य, मुनि और विद्वज्जन आप के चरणों की सेवा करते हैं। राजा नृग के उद्धार करनेवाले समर्थ भगवान् ने किस किसको अभय नहीं किया ? भाव, जो उनकी शरण में गया, उसे मृत्यु से अभय कर दिया ॥ ४ ॥

टिप्पणी — (१) 'सुनाभ'—श्रीमान् भट्टजी ने इसका अर्थ 'नाभि' लिखा है, अर्थात् नाभि को धारण करनेवाले भगवान् ! इस अर्थ में कितना शैथिल्य है ! 'सुनाभ' का अर्थ चक्र होता है। यही अर्थ नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित तुलसी-ग्रन्थावली में भी मान्य है।

(२) 'द्रौपदी'—६३ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(३) 'नृग'—राजा नृग बड़ा ही दानी था। यह नित्य एक करोड़ गायों का दान करता था। एक बार इसने एक ब्राह्मण को एक गाय दान में दी। वह गाय किसी तरह भाग कर राजा की गायों में मिल गई। दूसरे दिन राजा ने उसे न पहिचान कर दूसरे ब्राह्मण को दे दिया। पहला ब्राह्मण अपनी गाय की तलाश में फिर रहा था। उसने इस ब्राह्मण के पास गाय देखकर इसे चोर समझा और दोनों में झगड़ा होने लगा। दोनों राजा के पास गये। राजा ने उन्हें राजी करना चाहा, पर वे राज़ी न हुए। गाय छोड़ कर चले गये और यह शाप दे गये कि, हे राजन् ! तूने हमें धोखा दिया है। जा, गिरगिट की योनि को प्राप्त हो। राजा गिरगिट हो गया। बेचारा एक सहस्र वर्ष तक द्वारिका के एक कुएँ में पड़ा रहा। श्रीकृष्ण ने उसे निकाल कर उसका उद्धार कर दिया और दिव्य शरीर पाकर वह वैकुंठ चला गया। यह कथा श्रीमद्भागवत में प्रसिद्ध है।

राग कल्याण

(२१५)

ऐसी कौन प्रभु की रीति ?
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥ १ ॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ ॥ २ ॥
काम मोहित गोपकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह ।
जगत-पिता बिरञ्चि जिन्हके चरन की रज लीन्ह ॥ ३ ॥
नेम ते सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि ।
कियो लीन सु आपु में हरि राज-सभा मँझारि ॥ ४ ॥
ब्याध चित दै चरन मार्‌यो मूढ़मति मृग जानि ।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ॥ ५ ॥
कौन तिन्ह की कहै जिन्ह के सुकृत अरु अघ दोउ ।
प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—कालकूट = विष । जादवराइ = यादवों के राजा, श्रीकृष्ण । बिरंचि = ब्रह्मा । बानि = स्वभाव । सुकृत = पुण्य । पातक = पाप ।

भावार्थ—(भगवान्‌को छोड़ कर) और किस स्वामी का ऐसा स्वभाव है जो अपने बाने की लाज रखने के लिये पवित्रात्माओं को त्याग कर नीचों पर प्रेम करता हो ? (किसी का नहीं) ॥ १ ॥ पूतना स्तनों में विष लगा कर उन्हें (भगवान् कृष्ण को) मारने गई थी, किन्तु कृपामूर्ति यादवेन्द्र श्रीकृष्ण ने उसे वह गति दी, जो माता को दी जाती है (उसे माता मान कर स्वर्ग भेज दिया) ॥ २ ॥ आपने कामान्ध गोपियों पर तो अपूर्व ही कृपा की। ऐसी कृपा की, कि उनके चरणों की धूलि को जगत्पिता ब्रह्मा ने अपने मस्तक पर चढ़ाया (क्योंकि प्रेमस्वरूपा गोपियों को आपने अपना ही स्वरूप दे दिया था) ॥ ३ ॥ जो शिशुपाल नियम बाँध कर नित्य गिन गिन कर गालियाँ देता था (नित्य श्रीकृष्ण को सौ गालियाँ देने का उसका संकल्प था), उसे भगवान् ने राजाओं की सभा के बीच में देखते देखते अपने में लीन कर लिया, अपने ही में मिला लिया ॥ ४ ॥ मूर्ख बहेलिये ने तो मृग

समझ कर आपके चरण में निशाना लगा कर (वाण) मारा, पर उसे आपने, अपने दयालु स्वभाव से, सदेह गोलोक को भेज दिया। (धन्य !) ॥५॥ जिन्हों ने पुण्य और पाप दोनों ही किये हैं उनके सम्बन्ध में क्या कहा जाय? (क्योंकि उनका सद्गति पाने का कुछ न कुछ तो अवश्य ही अधिकार था) किन्तु उन्हों ने प्रत्यक्ष पापमूर्त्ति तुलसी को जो शरण में रख लिया है, यही आश्चर्य है ॥६॥

टिप्पणी—(१) 'पूतना'—यह किसी जन्म में अप्सरा थी। भगवान् वामन का बालस्वरूप देखकर, वात्सल्य स्नेहवश, इसके मन में यह आया कि, मैं इस बालक को पुत्र मानकर अपने स्तनों का दूध पिलाऊँ। अन्तर्यामी भगवान् उसकी मनोवाञ्छा जान गये। वह अप्सरा पूतना के नाम से, किसी घोर पाप के कारण, राक्षसी हुई। भगवान् ने मातृ-भक्ति दिखाकर उसे स्वर्ग भेज दिया।

(२) 'काम मोहित गोपिकनि पर'—महाभाग गोपिकाएँ 'काम मोहित' तो नहीं कही जा सकतीं। श्रीमद्भागवत में महाराज परीक्षित ने ब्रह्मर्षि शुकदेवजी से जब यह प्रश्न किया कि गोपियां तो काम-मोहित थीं, उन्हें परमपद कैसे मिला, तब महर्षि ने यह उत्तर दिया कि जिन्होंने समस्त संसार को, यहां तक कि अपने जीवन को भी श्रीनन्दनन्दन पर न्यौछावर कर दिया और उनसे निष्काम प्रीति जोड़ी, भला वे काम मोहित हो सकती हैं? अहा! गोपियाँ गोपियाँ ही थीं। त्रिलोक में, त्रिकाल में उनकी उपमा किसीके साथ नहीं दी जा सकती। देखिये, इस गोपी की लगन कितनी ऊँची है—

'तौक पहिरावौ, पाँव बेड़ी लै भरावौ,
गाढ़े बंधन बँधावौ औ खिचावौ काची खाल सों।
विष लै पिलावौ तापै मूठ भी चलावौ, मांझ
धार में बहावौ बांधि पत्थल 'कमाल' सों॥
बिच्छू लै बिछावौ, तापै मोहि लै सुलावौ फेरि,
आग भी लगाओ बाँधि कापड़ दुसाल सों।
गिरि से गिरावौ, काले नाग से डसावौ,
हा हा प्रीति ना छुड़ावौ गिरिधारी नंदलाल सों॥' और भी—

'कोउ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोउ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं॥

कैसो देवलोक परलोक तिरलोक में तौ,

लीनो हौं अलोक लोक लीकन तें न्यारी हौं ॥

तन जावौ, धन जावौ, 'देव' गुरुजन जावौ,

जीव क्यों न जावौ, टेक टरत न टारी हौं।

वृन्दावनवारी गिरिधारी के मुकुट वारी।

पीतपटवारी बाँकी मूरति पै वारी हौं॥' (देव)

धन्य! तभी तो गोपीजनों के सम्बन्ध में यह पद प्रसिद्ध है—

'गोपी प्रेम की धुजा।

जिनने गुपाल किये बस अपने, उर धरि स्याम-भुजा॥

सुक मुनि व्यास प्रसंसा कीनी, उद्धव संत सराहीं।

भूरि भाग्य गोकुल की वनिता, अति पुनीत जगमाहीं॥

कहा भयो जु विप्र-कुल जनम्यो, सेवा सुमिरन नाहीं।

स्वपच पुनीत दास परमानंदजो हरि सनमुख जाहीं॥

(अष्टछाप के परमानन्द दास)

(३) 'सिसुपाल'—यह चेदि का राजा था। आजकल चेदि नगर को चँदेरी कहते हैं, जो ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत है। शिशुपाल बड़ा ही पराक्रमी राजा था। कहते हैं, पूर्व जन्म में यह रावण था। यह नित्य श्रीकृष्ण को सौ गालियाँ दिया करता था। भगवान् कृष्ण सौ गालियाँ सुन लेते थे, इससे कुछ भी नहीं कहते थे, क्योंकि इसकी माता ने, जो श्रीकृष्ण की बुआ थीं, भगवान् से यह वचन ले लिया था कि अपने छोटे भाई को क्षमा कर दिया करो। एक दिन यह पांडवों की राज्य-सभा में सौ से भी अधिक गालियाँ देने लगा। भगवान् ने चक्रसुदर्शन से इसका सिर काट डाला। देखते देखते इसकी आत्म-ज्योति भगवान् के श्रीमुख में प्रवेश कर गयी। यह कथा श्रीमद्भागवत में है।

(४ 'व्याध'—पूर्व जन्म में यह बालि बन्दर था। अपना बदला चुकाने के लिये इसने भी, धोखे से, भगवान् कृष्ण के चरण में प्रहार किया। चरण में, पद्म के चिन्ह में, मृग के नेत्र का भय हो जाने से इसने तीर चला दिया। पीछे, समीप आने पर, इसे बड़ा दुःख और पश्चात्ताप हुआ, किन्तु भगवान् ने इसे सदेह स्वर्ग भेज दिया।

(५) उदार हृदय गुसाईंजी ने इस पद में श्रीकृष्ण भगवान् का ही गुणानुवाद गाया है। भेद-बुद्धि तो उनमें लेशमात्र को भी नहीं थी। किंतु अनन्य (?) रामभक्त वैजनाथजी ने, अपनी टीका में, यह सिद्ध करने के लिये, कि इस पद में श्रीकृष्ण का महत्व गौण है और ध्वनि से श्रीरामजी का ही प्राधान्य सिद्ध होता है, व्यर्थ ही पृष्ठ रंग डाले हैं। इस पद में तो कहीं भी ऐसे विचित्र अर्थ की संभावना नहीं दीख पड़ती है। 'श्रीकृष्ण-गीतावली' के रचयिता गुसाईंजी के उदार हृदय में कभी भी ऐसी संकीर्णता के भावों का उदय न हुआ होगा। इस विचित्र चित्रकारी के अधिकारी टीकाकार महोदय ही हैं।

(२१५)

श्रीरघुबीर की यह बानि।
नीचहू सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि ॥ १ ॥
परम अधम निषाद पाँवर, कौन ताकी कानि ?
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहचानि ॥ २ ॥
गीध कौन दयालु जो बिधि रच्यो हिंसा सानि ?
जनक ज्यों रघुनाथ ता कहँ दियो जल निज पानि ॥ ३ ॥
प्रकृति-मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन-खानि।
खात ताके दिये फल अति रुचि बखानि बखानि ॥ ४ ॥
रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि।
भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह-दसा भुलानि ॥ ५ ॥
कौन सुभग सुसील बानर, जिनहिं सुमिरत हानि।
किये ते सब सखा, पूजे भवन अपने आनि ॥ ६ ॥
राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिनदानि।
भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—कानि = आदर। जनक = पिता। पानि = हाथ। रजनिचर = राक्षस। दिन = नित्य।

भावार्थ—श्रीरघुनाथजी की ऐसी प्रकृति है कि वह मन में निष्कपट प्रेम समझ कर नीच के साथ भी स्नेह करते हैं॥ १ ॥ (विश्वास न हो तो उदाहरण लीजिये) गुह निषाद महान् नीच और पापी था, उसका आदर कौन करता

था ? किन्तु, रघुनाथजी ने उसके प्रेम को पहचान कर उसे पुत्र की नाईं हृदय से लगा लिया (वात्सल्य भाव से उसका स्नेहालिंगन किया) ॥ २ ॥ जटायु गीध, जिसे ब्रह्मा ने हिंसामय बनाया था, कौन बड़ा भारी दयालु था ? किन्तु रघुनाथजी ने, अपने पिता के समान, उसे अपने हाथ से जलांजलि दी। तात्पर्य यह है कि एक महान् हिंसक जीव को भी, उसका सच्चा प्रेम देखकर, परम धार्मिक के मिलने योग्य सद्गति प्रदान कर दी ॥ ३ ॥ शबरी स्वभाव से ही मैली-कुचैली थी, नीच जाति की थी और सभी दोषों की खान थी, एक भी सद्गुण नहीं था, परन्तु (उसकी सच्ची प्रीति देखकर) उसके हाथ के फल आपने स्वाद बखान बखान कर बड़े प्रेम से खाये (सूरदासजी ने तो यहां तक लिखा है कि उसके जूठे बेर खाये, क्योंकि वह चख चख कर मीठे बेर देती थी, और खट्टे फेंक देती थी) ॥ ४ ॥ राक्षस एवं शत्रु विभीषण को शरण में आया जान कर आपने उठकर उसे भरत के समान छाती से लगा लिया, और प्रेमाधिक्य के कारण अपने शरीर की भी सुध-बुध भूल गये ॥ ५ ॥ बन्दर कहां के सीधे-साधे और शील स्वभाववाले थे ? जिनका नाम लेने से अनिष्ट हुआ करता है, उन्हें भी आपने अपना मित्र बना लिया। (इतना ही नहीं वरन्) जब अपने घर पर, अयोध्या में आये, तब उनका आदर सत्कार भी किया। (बलिहारी !) ॥ ६ ॥ (इन सब उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि) श्रीरामचन्द्रजी स्वभाव से ही दयावान्, कोमल स्वभाववाले (करुणाशील) गरीबों के हितू और सदा दान देनेवाले हैं। इसलिये हे तुलसी ! छल-कपट को छोड़कर ऐसे स्वामी का भजन कर (निष्कपट भाव से, निष्काम होकर, सदा प्रेमपूर्वक भजन किया कर) ॥ ७ ॥

टिप्पणी—(१) 'निषाद'—१०६ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(२) गीध, वास्तव में, भगवान् रामचन्द्रजी ने जटायु के साथ पिता-जैसा बर्ताव किया। गोद में जटायु को लिये आप कहते हैं—

'मेरे जान तात ! कछु दिन जीजै।
देखिय आपु सुवन-सेवा-सुख, मोहि पितु को सुख दीजै॥
दिव्य देह इच्छा जीवन जग बिधि मनाइ मँगि लीजै।
हरिहर सुजस सुनाइ, दरस दै लोग कृतारथ कीजै॥

देखि बदन, सुनि वचन अमिय, तन रामनयन जल भीजै।
बोल्यो विहंग विहँसि 'रघुवर वलि, कहौं सुभाय पतीजै॥
मेरे मरिबे सम न चारि फल होहिं तौ क्यों न कहीजै॥
तुलसी प्रभु दियो उतरु मौन ही, परी मानो प्रेम सहीजै॥'

४३ पद की पांचवीं टिप्पणी भी देखिये।

(३) 'सबरी'—१०६ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(४) 'विभीषन'— १४५ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(५)'जिनहिं सुमिरत हानि'—स्वयं हनुमानजी ने कहा है—

'प्रात लेइ जो नाम हमारा। तादिन ताहि मिलै न अहारा॥'

(६) 'दिनदानि'—महान उदार; श्रीभगवद्गुणदर्पण में 'औदार्य्य' का यह लक्षण लिखा है—

'पात्रापात्रविवेकेन, देशकालाद्युपेक्षणात्।
वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्य्यं वचसा हरे॥'

(७) इस पद में गुसाईंजी ने श्रीरघुनाथजी के सौशील्य, औदार्य्य, पतित-पावनता, वात्सल्य, गांभीर्य आदि सद्गुणों का वर्णन किया है।

(२१६)

हरि तजि और भजिये काहि ?
नाहिनै कोउ राम सो ममता प्रनत पर जाहि॥ १॥
कनककसिपु बिरंचि को जन करम, मन अरु बात।
सुतहिं दुखवत बिधि न बरज्यो, काल के घर जात॥ २॥
संभु-सेवक जान जग, बहु बार दिये दस सीस।
करत राम-बिरोध सो सपनेहु न हटक्यो ईस॥ ३॥
और देवन की कहा कहौं, स्वारथहि के मीत।
कबहुँ काहु न राखि लियो कोउ सरन गयउ सभीत॥ ४॥
को न सेवत देत संपति ? लोक हूं यह रीति।
दासतुलसी दीन पर इक राम ही की प्रीति॥ ५॥

शब्दार्थ—कनककसिपु=हिरण्यकशिपु नाम का दैत्य। जन=भक्त। बात=वचन। बरज्यो=रोका। ईस=शिवजी। सभीत=डरा हुआ।

भावार्थ—श्रीहरि भगवान् को छोड़ कर और किसका भजन करें ? श्री रघुनाथजी के समान ऐसा कोई भी नहीं है, जिसकी दीन शरणागतों पर ममता हो, जिसने उन्हें प्रेमसे अपनाया हो ॥ १ ॥ (उदाहरण लीजिये) हिरण्यकशिपु ब्रह्मा का भक्त था। वह कर्म, मन और वचन से उनकी भक्ति करता था। किन्तु ब्रह्मा ने उसे, पुत्रको ताड़ना देते हुए, न रोका। (फल यह हुआ कि) वह यमलोक चला गया (और ब्रह्मा खड़े-खड़े देखते ही रह गये ! यदि वह पहले से उसे रोक देते और उसे उसका हित सुझा देते, तो क्यों बेचारा काल का ग्रास बनता। यह तो हुई ब्रह्मा की करतूत, अब शिवजी को देखिये) ॥ २ ॥ संसार जानता है कि रावण शिवजी का भक्त था, और उसने कई बार अपने सिर काट काट कर शिवजी को अर्पित किये थे, किन्तु जब उसने श्रीरघुनाथजी के साथ वैर बिसाहा, तब आपने उसे स्वप्न में भी न रोका (चुप बैठे-बैठे देखते रहे और उसे अपने सामने यमधाम भेजवा दिया) ॥ ३ ॥ (ब्रह्मा और शिव का जब यह हाल है, तब) और देवताओं के संबंध में क्या कहा जाय ? वह भी सब मतलबी यार हैं। कभी किसी ने भयभीत शरणागत की रक्षा नहीं की (जब स्वयं ही बेचारे निर्भय नहीं हैं, तब दूसरों की क्या रक्षा करेंगे ? उनकी शरण में जाना ही व्यर्थ है) ॥ ४ ॥ खुशामद करने से कौन धन नहीं देता हैं ? (सभी देते हैं) यह दुनिया का चलन ही है (जो सेवा करेगा, वह मेवा पायेगा)। किन्तु, हे तुलसीदास ! दीनों पर तो एक श्रीरघुनाथजी का ही स्नेह है। (निष्कामी या निष्कारण प्रेमी, यदि कोई है, तो केवल भगवान् ही) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'कनककसिपु'—९३ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(२) 'देवन'·····'मीत'—रामचरितमानस में भी कहा है—

'सुरनर मुनि सब ही की रीती। स्वारथ लागि करहिं ये प्रीती ॥'

(३) 'सरन गये सभीत'—'सभीत' शब्द का अर्थ मृत्यु के भय से डरे हुए जीव का है। मृत्यु-भय से बचानेवाला भगवान् के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

(२१७)

जोप दूसरो कोउ होइ।

तौ हौं बारहिंबार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ ॥ १ ॥

काहि ममता दीन पर, को पतितपावन नाम ।
पापमूल अजामिलहि केहि दियो अपनो धाम ॥ २ ॥
रहे संभु बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक ।
सोक-सरि बूड़त करीसहिं दई काहु न टेक ॥ ३ ॥
बिपुल भूपति सदसि महँ नर-नारि कह्यो 'प्रभु पाहि' ।
सकल समरथ रहे काहु न बसन दीन्हों ताहि ॥ ४ ॥
एक मुख क्यों कहौं करुनासिंधु के गुनगाथ ?
भगतहित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ ॥ ५ ॥
आपसे कहुं सौंपिये मोहिं जौ पै अतिहि घिनात ।
दासतुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात ॥ ६ ॥

शब्दार्थ---बिपुल=बहुतसे । सदसि=सभामें । नर-नारि=अर्जुनकी स्त्री द्रौपदी । पाहि=रक्षा करो । करीस=गजेन्द्र । गाथ=कथा ।

भावार्थ—हे नाथ ! यदि कोई दूसरा ही होता, तो मैं बार बार रोकर अपना दुख आपको क्यों सुनाता ? (मैं उसीके आगे अपना दुख रोता, आपको तनिक भी कष्ट न देता । पर क्या करूं, आपको छोड़ कर ऐसा कोई मिलता ही नहीं, जो दीनों के कष्ट को दूर करे) ॥ १ ॥ (आपको छोड़ कर) दीनों पर किसकी ममता है, कौन गरीबों को अपनाता है ? पापियों का उद्धार करनेवाला नाम किसका है ? और महापापी अजामेल को (धोखे से अपने पुत्र नारायण का नाम लेने पर,) किसने अपना गोलोक धाम दिया ? सारांश यह है कि, ऐसे एक आप ही हैं, और कोई नहीं है ॥ २ ॥ शिव, ब्रह्मा इन्द्र और अनेक लोकपाल तो थे, पर दुःखरूपी नदी में डूबते हुए गजेन्द्र को किसीने भी सहारा न दिया (आपही को पैदल दौड़ना पड़ा)॥३॥ जब बहुतसे राजाओं की सभा में अर्जुन की स्त्री द्रौपदीने (दुःशासन द्वारा लाज जाते समय) कहा कि 'हे नाथ ! मेरी रक्षा कीजिए'--तब सभी तो समर्थ थे, पर किसने उसे वस्त्र-दान दिया (सब लोग बैठे-बैठे देखते ही रहे, किसीने उसकी लाज न रखी) ॥ ४ ॥ हे करुणा-सागर ! आपके चरित्रों की कथा एक मुंह से कैसे कह सकता हूं (अर्थात्, आपके अनन्त गुणों का वर्णन अनन्त मुखों से ही हो सकता है, एक मुख से नहीं) ? हे कोसलाधीश ! आपने नर-शरीर धर कर भक्तों का क्या क्या हित-साधन नहीं किया ? (भक्तों के हित के लिये आपने सभी कुछ किया) ॥ ५ ॥

यदि आप मुझ से बहुत ही घिनाते हैं, तो मुझे किसी ऐसे के हाथ सौंप दीजिये, जो आप के ही समान हो (पर, यह असंभव है, क्योंकि आपके समान तो संसार में कोई हई नहीं)। तुलसीदास किसी और भाँति आपके चरणों को त्याग कर क्यों जाने लगा ? सारांश यह है कि, मैं आप ही के चरणों की शरण में रहूंगा ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'अजामिल'—५७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(२) 'करीस'—गजेन्द्र; ५७ पद की टिप्पणी देखिये।

(३) 'नरनारि'—द्रौपदी ; ९३ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

'श्रीकृष्णगीतावली' में द्रौपदी-वस्त्रहरण का यह पद प्रसिद्ध है—

'कहा भयो कपट जुआ जो हौं हारी ?
समरधीर महावीर पांच पति, क्यों दैहैं मोहिं होन उघारी ॥
राजसमाज सभासद समरथ भीषम द्रोन धर्मधुरधारी।
अबला अनघ अनवसर अनुचित होति, हेरि करिहैं रखवारी ॥
यों मन गुनति दुसासन दुरजन तमक्यो तकि गहि दुहुँ कर सारी।
सकुचि गात गोवति कमठी ज्यों हहरी हृदय, बिकल भई भारी ।।
अपनेनि को अपनो बिलोकि बल सकल आस बिस्वास बिसारी।
हाथ उठाइ अनाथनाथ सों 'पाहि पाहि प्रभु, पांहि !' पुकारी ॥
तुलसी परखि प्रतीति प्रीतिगति, आरतपाल कृपालु मुरारी।
बसन बेष राखी बिसेखि लखि बिरदावलि मूरति नर-नारी ॥

(४) 'जोपै अतिहि घिनात'—नहीं नहीं, घिन क्यों लगेगी ? घिन तो तब नहीं लगी जब केवट को हृदय से लगा लिया। रुधिर में सने हुए जटायु को गोद में रख लिया, तब भी नहीं घिन लगी। शबरी के जूठे बेर खाते समय भी घिन नहीं लगी। फिर गुसाईंजी महाराज ! आपको देखकर क्यों घिन लगेगी ? घिन का कोई कारण नहीं दिखाई देता। टाल-टूल का तो कोई और ही कारण होगा, सो वे ही जानते होंगे।

(२१८)

कबहिं देखाइहौ हरि चरन ?
समन सकल कलेस कलिमल, सकल मंगल-करन ॥ १ ॥

सरद-भव सुंदर तरुनतर अरुन बारिज बरन।
लच्छि-लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन॥ २॥
गंग-जनक, अनंग-अरि-प्रिय, कपटु बटु बलि-छरन।
विप्रतिय, नृग, बधिक के दुख-दोष-दारुन-दरन॥ ३॥
सिद्ध-सुर-मुनि-वृन्द-बन्दित सुखद सब कहँ सरन।
सकृत उर आनत जिनहिं जन होत तारन-तरन॥ ४॥
कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत-आरतिहरन।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन॥ ५॥

शब्दार्थ—तरुनतर=बहुत ही तरुण, अत्यंत नवीन। लच्छि=(लक्ष्मी) लालित=प्यार किये गये। जनक=पिता; उत्पन्नकर्त्ता। अनंग-अरि=कामदेव के शत्रु शिवजी। बटु=ब्रह्मचारी। छरन=छलनेवाले। विप्रतिय=अहल्या से तात्पर्य है। दरन=दलनेवाले, नाशकर्त्ता। सकृत=एक बार। आरति=दुःख।

भावार्थ—हे हरे! क्या कभी आप अपने उन चरणों के दर्शन करायेंगे, जो कलिकाल के समस्त दुःखों के दूर करनेवाले और सब कल्याण-मंगल के कारण हैं? ॥ १ ॥ जिनका रंग शरद ऋतु में उत्पन्न सुन्दर और अत्यन्त नवीन लाल लाल कमलों के समान है, जिन्हें लक्ष्मीजी अपनी सुन्दर हथेलियों से दाबा करती हैं, और जो ऐसे लावण्यमय हैं कि उपमा ही नहीं दी जा सकती ॥ २ ॥ जो गंगाजी के पिता हैं (अर्थात् जिन चरणों से गंगा की उत्पत्ति हुई है), कामदेव को भस्म करनेवाले शिवजी के प्यारे हैं तथा जिन्होंने, कपट ब्रह्मचारी का वेष धारण कर, राजा बलि को छला है। जिन्होंने (गोतम) ब्राह्मण की स्त्री अहल्या को शाप-विमुक्त कर दिया, राजा नृग को दिव्य देह प्रदान की और हिंसक निषाद के सारे दुःख और घोर पाप दूर कर दिये ॥ ३ ॥ सिद्ध, देवता, और मुनियों के समूह जिनकी वंदना किया करते हैं; जो सभी को सुख और शरण देनेवाले हैं, और एक बार भी जिनका, हृदय में ध्यान करने से, जीव स्वयं तर जाता है और दूसरों को तार देता है (भक्तों के दर्शनमात्र से मनुष्य मुक्त हो जाता है) ॥ ४ ॥ हे कृपासागर सुचतुर रघुनाथजी! आप अपने भक्तों के दुःख दूर करनेवाले हैं। यह तुलसीदास

आपके उन चरणों के दर्शन की आशारूप प्यास के मारे मरने ही वाला है। तात्पर्य यह कि, अब आप शीघ्र ही अपने चरण-कमल दिखाइये ॥ ५ ॥

टिप्पणी— १) २१७ पद के अंतिम चरण के क्यों 'चरन परिहरि जात' और इस पद के 'कबहि देखाइहौ हरि चरन' में सिंहावलोकन-सम्बन्ध है। यहां, गुसाईं जी प्रेमाधीर होकर चरणों के दर्शन करना चाहते हैं।

(२) 'लच्छि......करतल'—यहां क्याही स्वाभाविक और सुन्दर अनुप्रास की छबि-छटा है। भाव भी बड़ा कोमल और मनोहर है।

(३) 'विप्रतिय'—अहिल्या ; ४३ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(४) 'नृग'—२१२ पद की टिप्पणी देखिये।

(५) 'वधिक'—गुह निषाद; १०६ पद की टिप्पणी देखिये।

(६) भक्त-शिरोमणि गुसाईंजी भगवच्चरणारविन्दों के कैसे सुदृढ़ उपासक थे, यह इस पद से भलीभांति सिद्ध हो जाता है। जो सज्जन गुसाईंजी को 'माया वादी' कहते हैं, उन्हें अवश्य ऐसे ऐसे पदों का अवलोकन कर अपना भ्रम निवारण करना चाहिए। ऐसे चरणों को छोड़ कर जो 'ब्रह्मवाद' या 'मायावाद' के नीरस बखेड़े में पड़ते हैं, उनके समान और कौन अभागा होगा ?

(२१९)

द्वार* हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि और न कौर ही तें काज ॥ १ ॥
कलि कराल दुकाल दारुन सब कुभाँति कुसाज।
नीच जन, मन ऊँच, जैसी कोढ़ में की खाज ॥ २ ॥
हहरि हिय में सदय बूझ्यो जाइ साधु-समाज।
मोहु से कहुँ कतहुँ कोउ तिन्ह कह्यो कोसलराज ॥ ३ ॥
दीनता दारिद दलै को कृपा-बारिधि बाज।
दानि दसरथराय के तुम बानइत-सिरताज ॥ ४ ॥
जनम को भूखो भिखारी हौं गरीब-निवाज।
पेट भरि तुलसिहि जेंवाइय भगति-सुधा सुनाज ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—रिरिहा = रें रें करके या गिड़गिड़ाकर मांगनेवाला। आरि = अड़, हठ। हहरि = डरकर। बाज = छोड़ कर, बिना। बानइत = बाना।

भावार्थ—हे नाथ! आज मैं सवेरे से ही आपके द्वारपर बैठा हूँ। रें रें करके रट रहा हूँ, गिड़गिड़ाकर मांग रहा हूँ। मुझे और किसी चीज़ के लिये हठ नहीं है। एक कौर टुकड़े से ही काम बन जायगा। भाव, ज़रासी कृपादृष्टि कर देने से ही मेरी करनी सुधर जायगी ॥ १ ॥ (यदि आप यह कहें कि कोई उद्यम क्यों नहीं करता? भीख मांगना तो एक दम निषिद्ध कर्म है, तो इसका उत्तर यही है कि) इस भयंकर कलियुग में बड़ा ही विकराल दुर्भिक्ष पड़ा है, जितने उद्यम या साधन हैं. वे सभी बुरे हैं। सारांश, इस युग में धर्म-कर्म कुछ भी निर्विघ्न नहीं पूरा होता है, इससे आपसे भीख मांगना ही मैंने उचित समझा है। हू तो मैं अधम; पर इच्छा कर रहा हूँ पुण्यात्मा जैसी! यह तो वही बात हुई, जैसे कोढ़ में खाज होजाय॥ एक तो वैसेही-पापों के मारे निस्तार नहीं है, तिस पर स्वर्ग जाने की इच्छा कर रहा हूं! ॥ २ ॥ (जो जो पाप कर चुका था, उनके भोगनेका दुःख तो बिल्कुल ही भूल गया और नये नये विषयों के क्षणिक सुखों में मगन होगया, इसकी भी कुछ खबर नहीं रही कि इस "कोढ़ में खाज" से होनेवाला परिणामरूप दुःख क्या क्या भोगना पड़ेगा। जब मैं इन कष्टों से व्याकुल हो गया, तब) हृदय में भड़भड़ा कर कृपालु संत-समाज से पूछा कि कहिये, मुझ-सरीखे पापी को भी कोई शरण में लेगा? संतों ने यही उत्तर दिया कि एक कोसलेन्द्र महाराज रामचन्द्रजी ही तुझे शरण में रख सकते हैं ॥ ३ ॥ कृपासिंधु रघुनाथजी को छोड़कर और कौन दीनता और दरिद्रता को दूर कर सकता है? (कोई भी नहीं, क्योंकि संसार के यावत् जीव स्वयं ही दीन और दरिद्र हैं) महाराज दशरथ के पुत्र राम राजा ही (सच्चे) दानी और बाना रखनेवालों में श्रेष्ठ हैं ॥ ४ ॥ (संत-समाज के मुख से श्रीरामजी का यश इस भाँति सुनकर) मैं आजन्म का भूखा भिखमंगा, आपके द्वार पर, आया हूँ। आप ग़रीबों को निहाल कर देनेवाले हैं। बस, अब इस तुलसी को भक्तिरूपी अमृत के समान सुन्दर भोजन पेट भर खिला दीजिये (अपने चरणों में इतनी अधिक भक्ति दे दीजिये कि फिर मुझे कभी संसारी विषयों की ओर न दौड़ना पड़े, सर्वस्व त्याग कर आपमें ही लव लगा दूं) ॥ ५॥

टिप्पणी—(१) 'भोर'—जीव के चैतन्य होने का समय, विरक्ति के उदय का समय। जो 'भोर' ही से सावधान हो गया, वही चैतन्य है, क्योंकि—

'पाव पलक की सुधि नहीं, करै काल्ह का साज ।
काल अचानक मारसी, ज्यों तीतर को बाज ॥' (कबीरदास)

(२) 'कलि कराल......कुसाज'—पूर्णरूपक इस प्रकार हो सकता है—

कलि = अवृष्टि । धर्म = क्षेत्र । सत्कर्म = कृषि । अधर्म = दुर्भिक्ष । अश्रद्धा = उद्यम का अभाव ।

(३) 'कोढ़......खाज'—यह लोकोक्ति यहां पर खूब घटती है ।

(४) 'कृपा-वारिधि बाज'—श्रीबैजनाथजी का अनुसरण करते हुए स्वर्गीय भट्टजी इसका यह अर्थ करते हैं —

"वे गरीबी और दरिद्र (रूपी पक्षियों) के नाश करने को बाजरूप हैं । (जो कहो कि बाज तो निर्दई होता है, सो नहीं) वे दया के समुद्र हैं (अर्थात् जीवमात्र पर दया करते हैं) ।"

क्या ही खींचतान का अर्थ है ! और फिर मज़ा यह कि इतने पर भी "बाज" का स्वाभाविक तात्पर्य सिद्ध नहीं होता है ! "बाज" का अर्थ बाज़ चिड़िया नहीं, किन्तु 'छोड़कर, विना, बगैर' है ।

(५) कहते हैं कि—

'उत्तम खेती, मध्यम बान । निकृष्ट चाकरी, भीख निदान ॥'

पर, यहां गुसाईंजी ने 'भीख' को उत्तम सिद्ध कर दिया है । इस भीख पर सारे उद्यम न्यौछावर हैं । वास्तव में, इस भीख के भिखारी महाभाग हैं, सच्चे पुरुषार्थी हैं और परमार्थी हैं ।

(२२०)

करिय सँभार, कोसलराय ।
और ठौर न और गति, अवलंब नाम बिहाय ॥ १ ॥
बूझि अपनी, आपनो हित, आप बाप न माय ।
राम राउर नाम गुरु सुर स्वामि सखा सहाय ॥ २ ॥
रामराज न चले मानस-मलिन के छल-छाय ।
कोप तेहि कलिकाल कायर, मुएहि घालत घाय ॥ ३ ॥

लेत केहरि को बयर ज्यों भेक हनि गोमाय।
त्योंहि राम-गुलाम जानि निकाम देत कुदाय ॥ ४ ॥
अकनि याके कपट करतब अमित अनय अपाय।
सुखी हरिपुर बसत होत परीछितहिं पछिताय ॥ ५ ॥
कृपासिंधु, बिलोकिये जन-मन की सांसति साय।
सरन आयो, देव दीनदयालु ! देखन पाय ॥ ६ ॥
निकट बोलि न बरजिये, बलि जाउँ, हनिय न हाय।
देखिहैं हनुमान गोमुख-नाहरनि के न्याय ॥ ७ ॥
अरुन मुख, भ्रू बिकट, पिंगल नयन रोष कषाय।
बीर सुमिरि समीर को घटिहै चपल चित चाय ॥ ८ ॥
विनय सुनि बिहँसे अनुज सों बचन के कहि भाय।
भली कही कह्यो लषन हूं हँसि, बने सकल बनाय ॥ ९ ॥
दई दीनहिं दादि सो सुनि सुजन सदन बधाय।
मिटे संकट सोच पोच प्रपंच पाप-निकाय ॥ १० ॥
पेखि प्रीति प्रतीति जनपर अगुन अनघ अमाय।
दासतुलसी कहत मुनिगन, 'जयति जय उरगाय' ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सँभार=रक्षा। बिहाय=छोड़ कर। मुएहि=मरे हुए को। घालत=मारता है। बयर=वैर, शत्रुता। भेक=मेढ़क। गोमाय=गीदड़। कुदाय=घात। साय=शांत हो। अकनि=सुनकर। अपाय=विघ्न। सांसति=कष्ट। गोमुख नाहर का न्याय=देखने में तो गाय के समान सीधा, पर वास्तव में शेर के समान निर्दय। पिंगल=पीला। कषाय=लाल। दादि=इन्साफ। अमाय=निष्कपट। उरगाय=विष्णु भगवान् का एक नाम।

भावार्थ—हे कोसलेन्द्र ! मेरी रक्षा कीजिये। आपके नाम को छोड़कर मुझे न तो कहीं और ठिकाना है, न दूसरे तक पहुंच है और न किसीका सहारा ही है (मेरी तो आपके नाम तक ही दौड़ है, सो आप नाम के नाते मुझे बचाइये) ॥ १ ॥ आप स्वयं समझ-बूझ कर अपने सेवकों का ऐसा भला कर देते हैं, जैसा (सगे) माता-पिता भी नहीं करते। भाव, आप मा-बाप से भी अधिक स्नेह करनेवाले हैं। हे रघुनाथजी ! आपका नाम ही

मेरा गुरु, देवता, स्वामी, मित्र और बल है (आपका नाम मेरे लिये जीवन-सर्वस्व है) ॥ २ ॥ हे नाथ ! आपके 'राम-राज्य' में मलीन मनवाले कलि-काल के कपट की छाया भी नहीं पड़ती है, किन्तु यह कायर कलिकाल क्रोध कर के मुझ मरे हुए को भी चोटों से घायल कर रहा है। (एक तो वैसा ही मैं अपने दुष्कर्मों के मारे मर रहा हूं, दूसरे यह दुष्ट विषय-वासनारूपी आघातों से मुझे पीड़ा पहुंचा रहा है। इसे इतना भी भय नहीं कि मैं राम-राज्य में बस रहा हूं) ॥ ३ ॥ जैसे गीदड़ मेढक को मारकर शेर के बैर का बदला चुकाता है, उसी प्रकार यह मेरे साथ वर्ताव कर रहा है, अर्थात् जब इसकी दाल रामजी के सामने न गली, तब उनके छोटे छोटे दासों को सताने लगा। यह निकम्मा घात करने लगा ॥ ४ ॥ यद्यपि महाराज परी-क्षित आनन्दपूर्वक वैकुण्ठ में वास कर रहे हैं, पर इसके कपट भरे काम, अनीति और अनेक विघ्न-बाधाएँ सुनकर उन्हें भी पछतावा हो रहा है (इसलिये पछ-तावा हो रहा है कि इसे पकड़ कर हमने क्यों जीता छोड़ दिया ? मार डालते तो अच्छा होता) ॥ ५ ॥ हे कृपासागर ! तनिक इस ओर कृपादृष्टि कीजिये, जिससे इस दास के चित्त की पीड़ा, मानसिक यातना, शांत हो जाय। हे दीनदयालु ! हे देव ! मैं आपके चरणों के दर्शन करने आया हूं (तात्पर्य यह कि आपके चरणों के दर्शनमात्र से मेरी मानसिक यातना दूर हो जायगी, आपको और कुछ भी न करना होगा) ॥ ६ ॥ यदि आप (दयावश) उसे (कलियुग को) पास बुला कर रोकना नहीं चाहते हैं, या उसकी 'हाय हाय' सुनकर उसे मारना नहीं चाहते हैं, तो हनुमानजी को संकेत कर दीजिये। वे इसे ताड़ जायँगे, जो ऊपर से गाय की तरह सीधा, पर असल में शेर के समान क्रूर है (आपको दया आ जायगी, पर उन्हें, भेद समझ लेने पर, दया-वया कुछ न आयगी) ॥ ७ ॥ जब हनुमानजी लाल मुंह से, टेढ़ी भौंहें करके और पीली आँखों को क्रोध से लाल करके देखेंगे, तब पवन-कुमार वीर हनुमान् का स्मरण कर इस चंचल चित्तवाले कलि का सारा चाव कम हो जायगा (अपना सब पौरुष भूल जायगा) ॥ ८ ॥ मेरी यह विनय सुनकर श्री रघुनाथजी मुस्कराये और अपने छोटे भाई लक्ष्मण को इन बातों का भावार्थ समझाया (कि देखो, तुलसीदास कैसा चतुर है ! कैसी कैसी बात बना रहा है !) लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा कि ठीक तो कहा है। बस, अब मेरी सारी

बात बन जायगी (क्योंकि वहां सिफारिश भी पहुंच चुकी है, और सिफारिश किसकी, सगे भाई की) ॥ ९ ॥ भगवान् रामचन्द्रजी ने इस गरीब का न्याय कर दिया (कलियुग को डांटदपट कर सामने से दूर कर दिया और अपने भक्त को अपनी शरण में रख लिया), यह सुनकर संतों के यहाँ बधाई बजने लगी (कलि की बाधाओं से मुक्त होकर सब लोग आनन्द मनाने लगे)। दुःख, चिन्ता, क्षुद्र छल-कपट और पाप-पुञ्ज नष्ट हो गये ॥ १० ॥ निर्गुण (मायात्मक तीन गुणों से परे) पवित्र और निष्कपट प्रेम और विश्वास अपने सेवक पर देखकर, हे तुलसीदास ! मुनि लोग कहने लगे कि 'भगवान् की जय हो, जय हो' ॥ ११ ॥

टिप्पणी-(१) 'आप......माय'--कहा भी है-

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥'

(२) 'कोप......घाम'—आजकल यह दृश्य प्रत्यक्ष सामने उपस्थित हो रहा है। यहां के राजे-महाराजे ब्रटिश-सिंह के सामने से तो दुम दबा कर भागते हैं और बेचारे दीन किसानों का खून चूसते हैं। इसपर भी इन गीदड़ों को वीर बनने का हौसिला है ! धिक्कार !!

(३) 'परीक्षित'—एक बार महाराज परीक्षित शिकार खेलते-खेलते एक ऐसे वन में पहुँचे, जहां एक काला पुरुष एक गाय और एक लँगड़े बैल को मारता हुआ खदेड़ रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि गाय पृथ्वी है, लंगड़ा बैल धर्म है और काला पुरुष कलियुग। राजा ने ज्योंही कलि को मारने के लिये तलवार निकाली, त्योंही वह गिड़गिड़ा कर पैरों पर गिर पड़ा। शरणागत समझ कर उसे राजा ने छोड़ दिया, किन्तु उसने रहने के लिये राजा से १४ स्थान मांग लिये, जिनमें एक सुवर्ण भी था। राजा, जब कि लौट रहे थे, प्यास के मारे व्याकुल होकर एक ध्यानावस्थित ऋषि के पास गये। जब ऋषि ने कुछ उत्तर न दिया, तब राजा ने उन्हें पाखण्डी समझ कर, उनके गले में एक मरा हुआ सांप डाल दिया और चले गये। जब मुनि के पुत्र ने यह बात सुनी, तब उसने यह साप दिया कि वह मदांध राजा सांप के काटने से सातवें दिन मर जाय। उस दिन राजा परीक्षित सिरपर सोने का मुकुट रखे थे। और सोने में था कलि का वास। इसीसे उनकी बुद्धि मारी गयी। अस्तु, श्रीमद्भा

गवत का सप्ताह-पारायण सुन कर महाराज सातवें दिन स्वर्गस्थ हो गये। यह कथा श्रीमद्भागवत में प्रसिद्ध है।

(४) 'गोमुख......न्याय'—श्रीमान् भट्टजी यह अर्थ कर रहे हैं—

" जब हनुमानजी शेर की तरह भयंकर मुँह करके उसकी ओर देखेंगे।" इससे 'गोमुख' शब्द स्पष्ट नहीं होता है।

(५) 'उरगाय'—इसका, 'उर गाय' पाठ मान कर, श्रीवैजनाथजी, श्री भट्टजी तथा लाला भगवानदीनजी ने यह अर्थ किया है कि "हृदय में राम के गुण गाकर।" यह अर्थ असंगत सा है। "उरगाय" पाठ ठीक है, न कि "उर गाय" "उरगाय अर्थात् विष्णु भगवान् की जय हो जय हो-" ऐसा मुनिजन कह रहे हैं। उरगाय पाठ नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली की विनयपत्रिका में पाया जाता है। यही पाठ शुद्ध है।

(६) इस पद में गुसाईंजी ने खूब पाण्डित्य, चातुर्य और काव्यकला से काम लिया है। इसमें उनके मनोराज्य का बड़ा ही सुन्दर चित्र दिखाई देता है।

(२२१)

नाथ, कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिनराति।
होइ धौं केहि काल दीनदयालु जानि न जाति ॥ १ ॥
सुगुन, ग्यान, बिराग भगति सुसाधननि की पाँति।
भजे बिकल बिलोकि कलि अघ अवगुननि की थाति ॥ २ ॥
अति अनीति कुरीति भई भुइँ तरनि हूँ ते ताति।
जाउँ कहँ ? बलि जाउँ, कहूँ न ठाउ, मति अकुलाति ॥ ३ ॥
आप सहित न आपनो कोउ, बाप ! कठिन कुभाँति।
स्यामघन सींचिये तुलसी सालि सफल सुखाति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—थाति = जमा की हुई सम्पत्ति। भुइँ = भूमि। तरनि = सूर्य। ताति = गरम। सालि = धान। सुखाति = सूखती है।

भावार्थ—हे नाथ ! मैं दिनरात, गरीब की नाईं, आपकी कृपा की ही राह देखता रहता हूं (यही टक लगाये बैठा रहता हूँ कि कब इस दीन पर कृपा कर दें)। हे दीनदयालु ! यह समझ में नहीं आता कि किस घड़ी आप

की वह कृपा-दृष्टि मेरी ओर होगी ॥ १ ॥ सद्गुण, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तथा अच्छे अच्छे साधनों की पंक्ति, कलि को देखते ही व्याकुल हो, चम्पत हो गये। और रह क्या गये, पापों और दुर्गुणों के समूह ॥ २ ॥ बड़े बड़े अन्यायों और अनिष्टों से, पृथ्वी, सूर्य से भी अधिक, गरम हो गई है। (भला ऐसी अंगार के समान पृथ्वी पर कोई कैसे रह सकता है ?) अब मैं कहा जाऊँ ? मैं आपकी बलैयां ले रहा हूं। मुझे और कहीं ठौर-ठिकाना नहीं रहा। इस समय मेरी बुद्धि व्याकुल हो रही है (कहीं भागते भी नहीं बनता कि इस पापमयी अग्नि के समान पृथ्वी की असह्य ज्वाला से बच जाऊं) ॥ ३ ॥ हे पिता ! जब अपनी देह ही अपनी नहीं हैं (अन्तकाल यह भी आत्मा को छोड़ देती है) तब दूसरे क्यों अपने होंगे ? सारांश, अपना सगा सम्बन्धी कोई भी नहीं है। सब कठोर दुराचारी ही दिखाई देते हैं। (न तो किसीमें दया ही है और न सदाचार)। हे घनश्याम ! तुलसी-रूपी फूली फली धान की खेती सूखनेवाली हैं, अब भी उसे मेघ बन कर (भक्ति-जल से) सींच दीजिए ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'पंथ-चितवत'—कबीरदासजी भी इसी तरह बाट जोह रहे हैं-

'अँखिया तो झाईं परीं, पंथ निहारि निहारि।
जीहड़ियाँ छाला परा, नाम पुकार पुकारि ॥
बहुत दिनन की जोवती, रटत तुम्हारो नाम।
जिउ तरसै तुव मिलन को, मन नाहीं विश्राम ॥
नैननि तो झरि लाइया, रटत बहै निसिबास।
पपिहा ज्यों पिउ पिउ रटै, पिया-मिलन की आस ॥

(२) 'अति......ताति'--तब चाहे यह बात कवि-कल्पना की सीमा के अंतर्गत हो, पर आज यह दृश्य इतना सच्चा है, जितना कि प्रातःकाल सूर्य का उदय। वस्तुतः आज भारत-भूमि विदेशियों के स्वेच्छाचार एवं अत्याचार से तप्तांगार के समान जल रही है। देखें, घनश्याम कब कृपा-वृष्टि करते हैं।

(३) 'जाउँ कहां......अकुलाति'--इसी प्रकार घबरा कर भक्तवर ललित किशोरीजी भी अपनी मन कह रहे हैं—

'वृन्दावन अब रमते हैं, दिल दुनिया से घबराया है।
मानुष-गंध न भाती है, सँग मरकट मोर सुहाता है॥'

(४) 'आपु सहित न आपुनो'--सत्य है----

'इक दिन ऐसा होयगा, कोउ काहू का नाहिं।
घर की नारी को कहै, तनकी नारी जाहिं॥ (कबीरदास)

(२२२)

बलि जाउँ और कासों कहौं ?
सद्गुनसिंधु स्वामि सेवक-हितु कहुँ न कृपानिधि सो लहौं॥ १॥
जहँ जहँ लोभ लोल लालचबस निजहित चित चाहनि चहौं।
तहँ तहँ तरनि तकत उलूक ज्यों भटकि कुतरु-कोटर गहौं॥ २॥
काल सुभाव करम बिचित्र फलदायक सुनि सिर धुनि रहौं।
मोको तौं सकल सदा एकहि रस दुसह दाह दारुन दहौं॥ ३॥
उचित अनाथ होइ दुखभाजन, भयो नाथ किंकर न हौं।
अब रावरो कहाइ न बूझिये सरनपाल ! साँसति सहौं॥ ४॥
महाराज राजीवबिलोचन ! मगन-पाप-संताप हौं।
तुलसी प्रभु जब तब जेहि तेहि बिधि राम निबाहे निरबहौं॥ ५॥

शब्दार्थ—लोल = चंचल। तरनि = सूर्य। कोटर = पेड़ की पोल। साँसति = कष्ट। राजीव = कमल। विलोचन = नेत्र।

भावार्थ—बलिहारी ! और किसे सुनाऊँ ? (अपने दुःख और किसके आगे रोऊँ ?) आपके समान सद्गुणों का समुद्र, सेवकों की भलाई करनेवाला और कृपानिधान स्वामी कहीं भी नहीं मिलता (जो आपके समान कहीं कोई दूसरा मालिक मिल जाता, तो मैं उसीको सब कहानी सुना देता, आपको कष्ट न देता, पर ऐसा कोई मिलता ही नहीं। लाचार हूं)॥ १॥ जहां जहां लोभ और लालच स चञ्चल चित्त में अपने श्रेय की इच्छा करता हूं, वहां वहां से मैं इस तरह निराश हो लौट आता हूं, जैसे सूर्य को देखते ही उल्लू भटकता हुआ पेड़ के खोंडरों में घुस जाता है (जैसे उल्लू किसी उद्यम के लिये बाहर तो निकलता है, पर सूर्य को देखते ही फिर उसी कोटर में घुस जाता है वैसे ही मैं इधर-उधर स सार में अपना भला चाहता फिरता हूँ,

किन्तु प्रचण्ड कलिकाल को देखते ही फिर पिछड़ जाता हूँ, पौरुषहीन हो जाता हूँ) ॥ २ ॥ जब यह सुनता हूं कि, काल, स्वभाव और कर्म विचित्र विचित्र फल देनेवाले हैं, तब सिर पटक पटक कर, मन मसोस कर, रह जाता हूँ (कुछ उद्यम करने को साहस नहीं बँधता। इसलिये कि कहीं कुछ का कुछ फल न भोगना पड़े, क्योंकि कर्मों की गति बड़ी विचित्र है)। मुझे तो सदा एक सी असहनीय और कठिन जलन जलाया करती है। भाव, काल कर्म आदि मुझे कभी अनुकूल नहीं हुए हैं, सदा प्रतिकूल ही रहे हैं ॥ ३ ॥ मैं दुःखों का पात्र रहा, सो ठीक ही है, क्योंकि हे नाथ! मैं अनाथ था, मेरा कोई धनी-धोरी नहीं था और न मैं आपका सेवक ही बना था, किन्तु हे शरणागत-रक्षक! अब आपका कहा कर भी मैं, न जाने, क्यों दुःख भोग रहा हूं, यह समझ में नहीं आ रहा है ॥ ४ ॥ हे महाराज! हे कमलनेत्र! मैं पाप-सन्ताप में डूबा जा रहा हूँ। हे नाथ! तुलसीदास का तभी निर्वाह हो सकता है, जब आप जैसे-तैसे उसका निस्तार कर देंगे। भाव, उसका बनना-बिगड़ना सब आपके ही हाथ है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'तहँ तहँ......कोटर गहौं'—इसका यह भी अर्थ हो सकता है—'मैं असार संसाररूपी वृक्ष में रहनेवाला हूं। अनीति-रात्रि में घूमता फिरता हूँ। सत्संग-वश बाहर भी निकलता हूं, तो ज्ञानरूपी प्रचण्ड सूर्यके सामने नहीं जा सकता। चकचौंध लगनेके कारण फिर विषय-वासनारूपी कोटर में आ घुसता हूं।'

(२२३)

आपनो कबहुँ करि जानिहौ।
राम गरीबनिवाज राज-मनि, बिरद-लाज उर आनिहौ ॥ १ ॥
सील-सिंधु सुन्दर सब लायक समरथ सद्गुन-खानि हौ।
पाल्यो है, पालत, पालहुगे प्रभु प्रनत-प्रेम पहिचानि हौ ॥ २ ॥
वेद पुरान कहत, जग जानत, दीनदयालु दीन-दानि हौ।
कहि आवत, बलि जाउँ, मनहुँ मेरी बार बिसारे बानि हौ ॥ ३ ॥
आरत दीन अनाथनि के हित मानत लौकिक कानि हौ।
है परिनाम भलो तुलसी को सरनागत-भय भानि हौ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—प्रनत = शरणागत, नम्र भक्त। दिन-दानी = नित्य दान करने-वाले। बानि = आदत। कानि = लज्जा। आनिहौ = नष्ट करोगे।

भावार्थ—हे नाथ ! क्या कभी आप मुझे अपना समझेंगे ? हे राम ! आप दीनों को निहाल करनेवाले और राजाधिराज हैं। क्या कभी आप अपने विरद की लाज मन में विचारेंगे ? (यह समझ कर कि हमारे नाम 'गरीबनिवाज' 'पतितपावन' आदि हैं, आप क्या कभी मुझ गरीब और पापी पर कृपा करेंगे ?) ॥ १ ॥ आप शील के तो समुद्र ही हैं। सुन्दर हैं, सब कुछ करने योग्य हैं, समर्थ हैं (सर्वशक्तिमान् हैं) और अच्छे अच्छे गुणों की खान हैं। अपने शरण में आये हुए भक्तों की रक्षा की है, कर रहे हैं और करेंगे। तो क्या आप मेरे प्रेम को पहिचानेंगे ? (अवश्य मेरे भाव को पहिचान कर मेरा पालन करेंगे) ॥ २ ॥ वेद और पुराण कह रहे हैं तथा संसार भी जानता है कि आप दीनों पर दया करनेवाले और सदा दान देने-वाले हैं (कभी किसी को, बिना कुछ दिये, नहीं लौटाते)। कहते ही बनाता है (मन मारे कब तक बैठा रहूं), आपकी बलैया लेता हूं, आप तो मानों मेरी बार अपनी आदत ही भूल गये (यद्यपि यह ढिठाई है, पर क्या करूं ? आपका मौन व्रत देखकर मुझे इतना कहना पड़ा) ॥ ३ ॥ आप, दीन, दुखियों और अनाथों के हितू होने पर भी, क्या संसार का भय मान रहे हैं ? (कदाचित् आपके मन में यह शंका हो कि कोई हमें अन्यायी न कहे, समदर्शिता में कोई अन्तर न आ जाय !) जो भी हो, तुलसीदास का तो अन्त में अच्छा ही होगा, क्योंकि आप शरण में आये हुए के भय को (अवश्यमेव) नष्ट करेंगे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'कहि आवत......बानि हौं'—इस चरण में क्या ही प्रौढ़ता गांभीर्य और चातुर्य्य है। ढिठाई भी हो रही है, न्यौछावर भी हो रही है, मीठा व्यंग्य भी है, उपालंभ भी खासा है। वाह ! शब्दों की लड़ी हो तो ऐसी।

(२) इस पद को पढ़ कर कबीरसाहब का यह दोहा याद आ जाता है—

'सो दिन कैसा होयगा, गुरू गहैंगे बाँह।
अपना कर बैठावहीं, चरन कमल की छाँह॥'

इस मनोराज्य में क्या ही भीगा हुआ भाव है; हलका हलका नशा है, अनिर्व-चनीय आनन्द की भीनी झलक है !

(२२४)

रघुबरहिं कबहुं मन लागिहै ?

कुपथ, कुचाल, कुमति, कुमनोरथ, कुटिल कपट कब त्यागिहै ॥ १ ॥

जानत गरल अमिय बिमोहबस, अमिय गनत करि आगिहै।
उलटी रीति प्रीति अपने की तजि प्रभुपद अनुरागिहै ॥ २ ॥
आखर अरथ मंजु मृदु मोदक राम-प्रेम-पाग पागिहै।
ऐसे गुन गाइ रिझाइ स्वामि सों पाइहै जो मुहँ माँगिहै ॥ ३ ॥
तू यहि बिधि सुख-सयन सोइ है, जिय की जरनि भूरि भागिहै।
†राम प्रसाद दासतुलसी उर राम-भगति जोग जागिहै ॥ ४ ॥

शब्दार्थ——गरल = ज़हर। अमिय = अमृत। आखर = अक्षर। मन्जु = सुन्दर। सयन = शैय्या, सेज। भूरि = बहुत। जागिहै = सिद्ध हो जायगा।

भावार्थ—अरे मन! क्या कभी तू श्रीरघुनाथजी से भी लगेगा, प्रेम करेगा? तू कुमार्ग, बुरी चाल, दुर्बुद्धि, बुरी कामनाएं और छल-कपट कब छोड़ेगा? (अपने सहज स्वभाव को छोड़ कर कब भगवान् के चरणों में प्रीति लगायगा) ॥ १ ॥ तुझे इतना अधिक अज्ञान हो गया है कि उसके मारे तू विष को तो अमृत मान रहा है (संसारा विषय-वासनाओं को सर्वस्व मानता है) और अमृत को आग के समान समझ रहा है! (परमार्थ से इतना दूर रहता है जैसे कोई आग से बच रहा हो)। अपनी इस उलटी रीति और विषया में प्रीति त्याग कर श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में तू कब प्रेम करेगा? ॥ २ ॥ क्या तू कभी राम-नाम के सुन्दर अक्षर और कोमल अर्थ-रूपी लड्डुओं को श्रीरघुनाथजी के प्रेमरूपी शीरे में पागेगा? भाव यह कि, क्या तू अनुराग-सहित श्रीराम-नाम स्मरण करेगा? जो तू इस तरह अपने स्वामी के गुणोंका गान करेगा और उन्हें प्रसन्न रखेगा, तो जो जो तू मांगेगा, सो मिलेगा (प्रभु तेरी सारी मनस्कामनाएँ पूरी कर देंगे) ॥ ३ ॥ इस प्रकार (प्रेमपूर्वक, निष्कपट भाव से भगवद्‌-भजन और भगवदर्चन करता हुआ) आनन्दरूपी सेज पर (बेखटके) सोयगा और तेरे हृदय में जो (रागद्वेषादि द्वन्द्वों को) बड़ा भारी दाह रहता है; वह शांत हो जायगा (सन्तोष प्राप्त हो जायगा)। तुलसीदास! श्रीरामचंद्र के अनुग्रह से तेरे हृदय में भगवद्भक्तिरूपी योग सिद्ध हो जायगा, तुझे प्रेमपरा भक्ति प्राप्त हो जायगी ॥ ४ ॥

† नागरीप्रचारिणी सभाद्वारा प्रकाशित तुलसी-ग्रन्थावली की विनय पत्रिका में कदाचित् छपने कीअसावधानी से यह चरण छूट गया है।

टिप्पणी (१) रघुबरहिं... ...लागिहै'----निम्नलिखित दोहे में, इसी भाव से प्रेरित होकर गुसाईंजी ने मन को शिक्षा दी है—

'रे मन सब सों निरस हो, सरस राम सों होहि ।
भलो सिखावन देत हैं, निसिदिन तुलसी तोहि ॥'

(२) 'आखर......पागिहै'---श्रीबैजनाथजी ने इन लड्डुओं का पूरा पूरा रूपक इस प्रकार लिखा है

"प्रथम बेसन रवा आदि मैदा चाहिये सो राम-यश-वर्णन में जो आखर वर्ण शब्दादि है सोई मंजु उज्ज्वल मैदा है, पुनः घृत चाहिये सो मंजु आखरन में जो मृदु कोमल अर्थ है सोई घृत है, सुथल सत्संग चूल्हा, विराग अग्नि, शुभाशुभ कर्म ईंधन लगाइ श्रवण-कीर्त्तनादि में जो रघुनाथजी में प्रेम होता है सोई पाग शक्कर को जलाव सरीखे हैं ता में पागि है। भाव, जब प्रेम सहित श्रवण-कीर्त्तनरूप रामयशरूप मोदक पाइ जीव पुष्ट होयगा।"

बैजनाथजी को, पूरा पूरा रूपक लिखने में, खूब सूझती थी ।

(३) 'भगति जोग'----भक्तियोग सिद्ध हो जाने पर भक्त इस दशा पर पहुँच जाते हैं—

'अन्ये विहाय सकलं सदसच्च कार्यं,
श्रीरामपंकजपदं सततं स्मरन्ति ।
श्रीरामनामरसनाग्र पठन्ति भक्त्या,
प्रेम्णा च गद्गद्गिरोऽप्यथ हृष्टलोमाः ॥' (महारामायण)

कबीरसाहब कहते हैं—

'कबिरा प्याला प्रेम का, अंतर लिया लगाय ।
रोम रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय ॥
सोओं तो सुपने मिलै, जागौं तो मन माहिं ।
लोयन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूं नाहिं ॥'

(२२५)

भरोसो और आइहै उर ताके ।
कै कहु लहै जो रामहिं सो साहिब, कै आपनो बल जाके ॥ १ ॥

कै कलिकाल कराल न सूझत मोह-मार-मद-छाके।
कै सुनि स्वामि-सुभाउ न रह्यो चित जो हित सब अँग थाके ॥ २ ॥
हौं जानत भलि भाँति अपनपौ, प्रभु सो सुन्यो न साके।
उपल, भील, खग, मृग, रजनीचर भले भये करतब काके ॥ ३ ॥
मोको भलो रामनाम, सुरतरु सो रामप्रसाद कृपालु कृपा के।
तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सब अंग = सब प्रकार से। साका = यश, कीर्ति। उपल = पत्थर, यहाँ अहल्या से तात्पर्य है। निसोच = निश्चिन्त। बबा = बाप।

भावार्थ—उसी के मन में किसी दूसरे का बल-भर सा होगा, जिसे या तो कहीं श्रीरामचंद्रजी के समान कोई मालिक मिल गया हो, या जिसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास हो (मुझे तो न कोई मालिक ही ऐसा मिला है कि जो श्रीरघुनाथजी की तरह समर्थ हो और न अपने ही पुरुपार्थ पर रत्ती भर भरोसा है। इसलिये मेरी दौड़ तो एक रामजी तक है) ॥ १ ॥ अथवा अज्ञान, काम, और अहंकार में मतवाला हो जाने के कारण भीषण कलिकाल न सूझता हो (क्योंकि मदान्धों को सामने उपस्थित मृत्यु भी नहीं दिखाई देती है। मुझ पर मोह आदि मादक पदार्थों की इतनी कृपा है कि उन्होंने अंधा नहीं किया, कलिकाल मुझे बराबर सूझ रहा है, और उसके विकराल भय से डर कर मैं भगवान् की शरण स्वीकार कर चुका हूँ)। अथवा जिसके चित्त में सब प्रकार से थके हुए लोगों को हितकारी प्रभु रामचंद्रजी का स्वभाव सुनने पर भी ठीक ठीक न जमा हो (भगवान् की पतित-पावनता, जनवत्सलता आदि जिसके हृदय में न अंकित हुई हो। किन्तु भगवत्कृपा से मेरे संबंध में यह बात भी नहीं कही जा सकती। मुझे सदा उनके दीनदयालु स्वभाव का ध्यान बना रहता है) ॥ २ ॥ मैं अपना पुरुषार्थ अपना बल भलीभांति जानता हूँ (यह मुझे अच्छी प्रकार ज्ञात है कि मैं अपने परिमित पुरुषार्थ से अपरिमित भक्ति प्राप्त नहीं कर सकता हू)। और मैंने, श्रीरघुनाथ-जी के अतिरिक्त, और किसी स्वामी की ऐसी कीर्त्ति नहीं सुनी है (कि जो पापियों और नीचों का उद्धार करता हो)। पाषाणी (अहल्या), भील, पक्षी (जटायु), मृग (मारीच) और राक्षस (विभीषण) इन सबों में किसने सुकृत किये थे ? (किसी ने भी नहीं। यह सभी घोर पापी थे, किन्तु-

भगवान् ने इन सबका उद्धार कर दिया) ॥ ३ ॥ मुझे तो एक रामनाम ही कल्पवृक्ष के समान सुख देनेवाला हो गया है, और वह कृपालु रामचंद्रजी की कृपा के प्रसाद से हुआ है। (इसमें भी मेरा कोई पुरुषार्थ नहीं है कि रामनाम पर कल्पवृक्ष के समान मेरी श्रद्धा हो गई है। यह भी भगवत्कृपा से हुआ है)। अब तुलसी इस अनुग्रह के कारण ऐसा सुखी और निश्चिन्त हैं, जैसे कोई बालक अपने माता-पिता के राज्य में होता है ॥ ४ ॥

टिप्पणी- --(१) इस पद में गुसाईं जी ने स्पष्टतया जीव की पौरुषहीनता और भगवदनुग्रह का प्राधान्य प्रतिपादित किया है। भक्तिवाद में यही तो सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त है। इस 'पौरुष-हीनता' में निराशावाद अथवा कायरता का लेशमात्र भी नहीं है, प्रत्युत आशावाद और वीरताकी झलक दिखाई देती है।

(२) 'उपल'--अहल्या; ४३ पदकी दूसरी टिप्पणी देखिये।

(३) 'भील'--निषद; १०६ पदकी तीसरी टिप्पणी देखिये।

(४) 'खग'--जटायु; ४३ पदकी पाँचवी टिप्पणी देखिये।

(५) 'मृग'--मारीच; यह रावण का मामा था। रावणकी आज्ञा से यह माया-मृग बन कर पंचवटी में गया। वहां इसका अलौकिक मनोहर रूप देखकर सीताजी ने इसका चर्म लाने को कहा। जब भगवान् इसे मारने को गये, और पीछे इस के मरण-समय का आर्त्तनाद सुन कर सीताजी ने लक्ष्मण को वहां भेज दिया, उसी समय अवसर पाकर रावण आश्रम में आया, और सीताजी को रथ पर बिठा कर लंका में ले गया। मारीच स्वयं भगवान् का भक्त था, किन्तु रावण की प्रेरणा से उसे ऐसा करना पड़ा। माया-मृग के प्रसंग का गीतावली में निम्न लिखित पद बड़ाही सुंदर और भावमय है-

'बैठे हैं राम लषन अरु सीता।
पंचवटी बर परनकुटी तर कहैं कछु कथा पुनीता॥
कपट-कुरंग कनक मनिमय लखि प्रिय सों कहति हँसि बाला।
पाये पालिबे जोग मंजु मृग, मारेहु मंजुल छाला॥
प्रिया-वचन सुनि बिहँसि प्रेमबस गवहिं चाप सर लीन्हें।
चल्यो भाजि फिरि फिरि चितवत मुनि-मख-रखवारे चीन्हें॥
सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि, नवनि. बिलोकनि बिथकनि बसै 'तुलसी' उर आछे॥'

(६)'रजनीचर'—विभीषण; १४५ पद की पाँचवीं टिप्पणी देखिये।

(२२६)

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥ १॥
करम उपासन ग्यान वेदमत सो सब भांति खरो।
मोहिं तो "सावन के अंधहिं" ज्यों सूझत रंग हरो॥ २॥
चाटत रह्यों स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो॥ ३॥
स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं "कुंजरो नरो।"
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि-कटक तरो॥ ४॥
प्रीति-प्रतीति जहां जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो॥ ५॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो रामनामहिं तें तुलसिहिं समुझि परो॥ ६॥

शब्दार्थ—फरो = फला है। पातरि = पत्तल। परुसि = परोसा हुआ। परमारथ = परमपद, मोक्ष। नहिं कुञ्जरो नरो = 'नरो वा कुञ्जरो वा' अर्थात् हाथी है या मनुष्य ऐसी दुबिधा इसमें नहीं है। कटक = फौज। सरो = पूरा हुआ। आखर = अक्षर। अरनि = हठ। अरो = अड़ गया हूं, जिद पकड़ गया हूं। जीह = जीभ। गरो = गल जाय। अपनो = आत्मा का।

भावार्थ—जिसे दूसरे का भरोसा हो, सो करे। मुझे तो इस कलियुग में कल्याणरूपी फलों से फला हुआ, एक राम-नाम ही, कल्पवृक्ष है। तात्पर्य यह कि मुझे जितने कल्याण प्राप्त हो सकते हैं, वह राम-नाम द्वारा ही संभव हैं, अन्यथा नहीं (हाँ, किसी को यदि दूसरे साधन का बल हो, तो वह भले ही उसे साधे, मुझे उससे कोई मतलब नहीं) ॥ १॥ यद्यपि कर्मकांण्ड, उपासना-काण्ड, ज्ञानकाण्ड एवं वैदिक सिद्धान्त, यह सभी सब प्रकार से खरे हैं, सच्चे हैं, किन्तु मुझे तो सावन के अन्धे की तरह, जहाँ देखता हूं, तहां, हरा ही हरा रङ्ग दीखता है। भाव यह है कि, जैसे कोई यदि सावन के महीने में हरी हरी घास देखता हुआ अन्धा हो जाय, तो उसे सदा वही हरियाली का

भास रहेगा, उसी प्रकार मुझे सदा सर्वत्र श्रीराम-नाम ही सूझ रहा है। ज्ञान कर्म आदि मेरे ध्यान में ही नहीं आते हैं, यद्यपि वह भी सच्चे हैं, उनकी भी अस्ति है ॥ २ ॥ पहले मैं कुत्ते की नाईं पत्तलों को चाटता फिरता था, पर कभी भी मेरा पेट नहीं भरा। आज मैं नाम-स्मरण करने से अमृत रस परोसा हुआ देखता हूं। भाव यह है कि, पहले मैंने अनेक साधन किये, किन्तु किसी से भी परमानन्द-प्राप्ति नहीं हुई। अब राम नाम के प्रभाव से मुझे ब्रह्मानन्द का रस पीने को मिल गया है, पूर्ण सन्तोष प्राप्त हो गया है ॥ ३ ॥ मेरे लिये राम-नाम स्वार्थ और परमार्थ दोनों का ही साधक हैं, संसार के काम भी सध जाते हैं, और परलोक भी बन जायगा। यह बात 'हाथी है या मनुष्य' की सी दुविधा भरी नहीं है (त्रिकालाबाधित सत्य है)। मैंने सुना है कि इस नाम के प्रभाव से बन्दरों की सेना पत्थरों का पुल बनाकर समुद्र पार कर गयी थी ॥ ४ ॥ जहां जिसका प्रेम और विश्वास है, वहीं उसका काम पूरा हुआ है (यह अमिट सिद्धान्त है)। मेरे मा-बाप तो यह दोनों अक्षर—'र' और 'म'—हैं। इन्हीं के आगे मैं बालहठ से अड़ रहा हूं, मचल रहा हूं (जो मैं माँगूँगा, सो यह दोनों अक्षर मुझे दे देंगे, इसमें सन्देह नहीं) ॥ ५ ॥ जो मैं कुछ छिपा कर कहता होऊं, बात बनाता होऊँ, तो शिव-जी साक्षी हैं और मेरी जीभ गल जाय। अर्थात् मैंने यहाँ 'कवि-कल्पना' से काम नहीं लिया है, सचसच सुनाया है। बस, तुलसीदास को तो अपना कल्याण एक रामनाम से ही समझ पड़ा है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'मोहि तो......हरो'—कदाचित् आजकल के कतिपय धुरंधर विद्वान् इसे 'अंधविश्वास' कहें! पर, किया क्या जाय, प्रेमान्ध लोगों के लिये तो यही 'अंधविश्वास' श्रेयस्कर है। 'रुचिभिन्नहि लोके' के अनुसार उन सज्जनों को अपनी शंका का समाधान कर लेना चाहिए।

(२) नहिं कुंजरो नरो—महाभारत में जब द्रोणाचार्य, कौरवों का पक्ष लेकर पांडवों की सेना का संहार करने लगे तब कृष्ण भगवान् ने अर्जुन से कहा कि अब द्रोणाचार्य्य का वध करना ही ठीक होगा। गुरु-हत्या करने से अर्जुन हिचक गये। जब यह न हो सका, तब भगवान् की सलाह से भीमसेन ने अश्वत्थामा नाम के हाथी को मार गिराया। अश्वत्थामा द्रोणाचार्य के पुत्र का भी नाम था, और वह

इन्हें बड़ा ही प्यारा था। समाचार सुनते ही द्रोणाचार्य ने धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा कि कौन अश्वत्थामा मारा गया है। धर्मराज ने दबी जबान से उत्तर दिया 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा' अर्थात् अश्वत्थामा मनुष्य मारा गया वा हाथी। 'मनुष्य मारा गया' तो खूब जोर से कह दिया और 'वा हाथी' धीरे से। नीति का पालन करते हुए धर्मराज ने सत्य की रक्षा करनी चाही, किन्तु यह न हो सका। राज-नीति और धर्म में बड़ा अन्तर है। असत्य बोलने का कलंक उन्हें लग ही गया। अस्तु, पुत्रमरण सुन कर ज्योंही द्रोणाचार्य मूर्च्छित से हुए, त्योंही धृष्टद्युम्न ने उनका मस्तक काट लिया। 'नरो वा कुंजरो वा' तब से कहावत के रूप में प्रयुक्त होने लगा है।

(२) 'दोउ आखर'—रकार और मकार; श्रीरामानुजाचार्यजीने राममंत्र का, इस प्रकार, अर्थ किया है—

'रकारार्थो रामः सगुण परमैश्वर्यजलधि—
मकारार्थो जीवः सकल विधि कैंकर्यनिपुणः।
तयोर्मध्याकारो युगल मथ संबंधमनयो—
रनन्यार्हं ब्रूते त्रिनिगमसुसारोऽयमतुबः॥'

(२२७)

नाम, राम रावरोई हित मेरे।
स्वारथ परमारथ साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे॥ १॥
जननी-जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे।
मोहुँ सों कोउ कोउ कहत रामहि को, सो प्रसंग केहि केरे॥२॥
फिर्यौ ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहिं हेरे।
नाम-प्रसाद लहत रसाल-फल अब हौं बबुर बहेरे॥ ३॥
साधत साधु लोक परलोकहिं, मुनि गुनि जतन घनेरे।
तुलसी के अवलंब नाम को, एक गाँठि कई फेरे॥ ४॥

शब्दार्थ—रावरोई = आपका ही। अवडेरे = चक्करदार। ललात फिर्यो = मांगता हुआ दीन सा फिरता रहा। बबुर = बबूल। बहेरे = बहेड़ा। रसाल = आम। फेरे = लपेट।

भावार्थ—हे रामजी! आपका नाम ही मेरा भला करनेवाला है। यह बात मैं हाथ उठा कर स्वार्थ के और परमार्थ के संगी-साथियों से पुकार पुकार

कर कहता हूं (इसकी मैं घोषणा कर रहा हूं)॥ १ ॥ माता-पिता ने तो मुझे उत्पन्न करके ही छोड़ दिया था, और ब्रह्मा ने भी अभागा और कुछ बेढब सा बनाया था। फिर भी कोई कोई मुझे "राम का" कहते हैं, सो यह किसके नाते से कहते हैं ? (कदाचित् इसी राम-नाम के प्रताप से, क्योंकि राम-नाम-स्मरण करने से ही 'भागवत' का पद मिलता है, अन्यथा नहीं)॥ २॥ बिना राम-नाम लिये, पेट भरने को मैं (द्वार द्वार पर) ललचाता फिरता था। मेरी ओर देख कर दुःख को भी दुःख होता था (मेरी बड़ी ही करुणोत्पादक दशा थी) पहले मुझे बबूल और बहेड़े के वृक्षों के साथ रहना पड़ता था, पर आज उन्हीं पेड़ों से आम के फल मिल रहे हैं। अभिप्राय यह कि, जो लोग पहले मेरा निरादर करते थे, वही आज, राम-नाम के प्रभाव से, मेरा आदर कर रहे हैं॥ ३ ॥ संत जन तो सुन कर और मनन कर अनेक साधनों से अपना लोक और परलोक बनाते हैं (शास्त्रों को सुनते हैं, उनपर विचार करते हैं, अनुशीलन करते हैं, और तदनुसार चलते हैं, तब कहीं लोक-परलोक सुधार सकते हैं), किन्तु तुलसी के लिये एक राम-नाम का ही सहारा है। यह ऐसा, जैसे गांठ तो एक ही होती है, लपेटे चाहे जितने हों (साधन चाहे अनेक हों, पर सब का लक्ष्य एक राम-नाम ही है)॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'जननी.........अवेडेरे'—यह किंवदन्ती बहुत कुछ प्रसिद्ध है कि गुसाईंजी की जन्म-पत्री में कुछ ऐसे अनिष्टकारी ग्रह थे कि उनके माता पिता ने, ज्योतिषी की राय से, उन्हें बचपन में ही त्याग दिया था। 'अनिष्ट ग्रहों के कारण त्याग देना' यह मत ज्योतिष के किसी प्राचीन ग्रंथ में नहीं पाया जाता है, केवल 'मुहूर्तचिन्तामणि' नामक ग्रंथ में इसकी चर्चा है। मुहूर्तचिन्तामणि गुसाईंजी के पीछे बना है। इस पद से तथा कतिपय ऐसे ही छन्दों से लोगों ने यह ध्वनि निकाल ली कि गुसाईं जी उनके माता-पिता द्वारा त्याग दिये गये थे। सोचने की बात है कि वात्सल्य-प्रेम कितना ऊँचा होता है। कैसे ही अनिष्ट ग्रह क्यों न हो, कोई मा-बाप अपनी संतान को यों नहीं छोड़ देते हैं। यह संभव है, कि इन्हें छोड़ कर इनके माता पिता बचपन में ही परलोकगामी हो गये हों और यह ला-वारिश की तरह निराश्रय हो इधर उधर भटकते फिरे हों। और 'बिधिहु सृज्यो हौं अवडेरे' इसका अर्थ साधारणतया यही है कि ब्रह्मा ने भी मुझे ऊटपटांग सा बनाया, भाग्यहीन रचा।

(२) 'फिरौं........हेरे'—इसी प्रसंग का, कवितावली में, निम्नलिखित कवित्त मिलता है। देखिये—

'जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हो चार फल चार ही चनक को॥
तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच बिधिहू गनक को।
नाम, राम! रावरो सयानो किधौं बावरो,
जो करत गिरी तें गुरु तृन तें तनक को॥'

(३) 'लहत रसाल........बहेरे' श्रीबैजनाथजी इसका यह अर्थ लिखते हैं "बबुर बहेरा के वृक्ष तें रसाल फल पायो भाव पूर्व पिशाचे सिद्धि द्वारा राम भक्ति लाभ भई. यह भक्तमाल में प्रसिद्ध है।"

(४) 'एक गांठि कई फेर'—सारांश, राम-नाम के आधार पर ही सारे साधन दृढ़ता से अवलंबित हैं।

(२२८)

प्रिय रामनाम तें जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि मध्य परिनामो॥ १॥
सकुचत समुझि नाम-महिमा मद लोभ मोह कोह कामो।
राम-नाम जप-निरत सुजन पर करत छाँह घोर घामो॥ २॥
नाम-प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो।
जो सुनि सुमिरि भाग-भाजन भइ सुकृतसील भील-भामो॥ ३॥
बाल्मीकि अजामिल के कछु हुतो न साधन सामो।
उलटे पलटे नाम-महातम गुंजनि जितो ललामो॥ ४॥
राम तें अधिक नाम-करतब जेहि किये नगर-गत गामो।
भये बजाइ दाहिने जो जपि तुलसिदास से बामो॥ ५॥

शब्दार्थ—परिनामो=(परिणाम) अन्त। कोह=क्रोध। सिला=पत्थर। सरोरुह=कमल। जामो=जम उठा, अंकुरित हुआ। भाग-भाजन=भाग्यवती। भीलभामों=भील की स्त्री, शबरी। सामो=सामान। जितो=प्राप्तकर लिया। ललामो=(ललाम) यहाँ रत्न से तात्पर्य है। नगर-गत=नागर; शहर में रहनेवाले चतुर मनुष्य। गामो=ग्रामीण। बजाइ=डंका बजाकर। बामो=बुरा।

भावार्थ—जिसे राम-नाम की अपेक्षा श्रीरामचन्द्रजी भी प्यारे नहीं हैं (जिसे स्वयं श्रीरामचंद्रजी से उनका नाम अधिक प्रिय है, उसका इस कराल कलिकाल में, आदि, मध्य और अंत में, भला होगा (क्योंकि कलियुग में मुक्ति का देनेवाला भगवन्नाम-स्मरण ही है। जो नामानन्य होगा, वह सदा सर्वथा सुखी रहेगा) ॥१॥ नाम की महिमा समझ कर अहंकार, लोभ, अज्ञान, क्रोध और काम भी लज्जित हो जाते है, सामने नहीं आ सकते हैं। जो सज्जन सदा राम-नाम-स्मरण करते रहते हैं, उनपर कड़ी धूप भी छाया कर देती है (कठिन से कठिन अनिष्ट भी इष्ट हो जाते हैं, बड़े बड़े दुःख भी सुख में परिणत हो जाते हैं)॥ २ ॥ यदि कोई कहे, कि नाम के प्रभाव से पत्थर पर कमल अंकुरित हुआ है, तो मिथ्या नहीं है, सच है। भाव, नाम के प्रभाव से असंभव बातें भी संभव हो जाती हैं। जिस नाम को सुन कर भीलनी शबरी भी जपते जपते भाग्य और पुण्य की पात्र हो गई (फिर 'शिला-कमल' वाली असंभव घटना क्या संभव नहीं हो सकती है ? अवश्य हो सकती है।)॥ ३ ॥ वाल्मीकि और अजामेल के पास न तो कोई साधन ही था और न कोई सामग्री (न योगाभ्यास ही किया था, न यज्ञ, योगादिक ही), किन्तु वह भी उलटे-पुलटे नाम के महात्म से, घुंघचियों ने ज़वाहरात जीत लिये (बहेलिया के तो कर्म किये, पर नाम के प्रभाव से, 'मरा मरा' जपने से 'महर्षि' पद को प्राप्त कर लिया)॥ ४ ॥ नाम का पुरुषार्थ श्री रघुनाथजी से भी अधिक है, क्योंकि उसने ग्रामीण मनुष्योंको चतुर नागर बना दिया (जिनको बोलने. रहने, उठने, बैठने की भी योग्यता नहीं थी, वे शिष्ट, कवि, महात्मा आदि हो गये)। अधिक क्या, जिसे जप कर तुलसीदास-सरीखे बुरे जीव भी, डंके की चोट से, अच्छे हो गये (कौड़ियां भी अशर्फियां हो गयीं) ॥ ५ ॥

टिप्पणी (१) 'प्रिय...रामो' भक्तपुंगव हनुमानजी ने भी यही कहा है—

'राम त्वत्तोधिकं नाम इति मे निश्चला मतिः ।
त्वया तु तारिताऽयोध्या, नाम्ना तु भुवन त्रयम् ॥'

रामचरित मानस में—

'निर्गुन ते इहि भाँति बड़, नाम प्रभाव अपार ।
कहउँ नाम बड़ राम तें, निज बिचार अनुसार ॥
राम भक्तहित नरतनु धारी । सहि संकट किय साधु सुखारी ॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा । भक्त होहिं मुद-मंगल दाता ॥
राम एक तापस तिय तारी । नाम कोटि खल-कुमति सुधारी ॥
रिषिहित राम सुकेतु-सुताकी । सहित सेन सुत कीन बिबाकी ॥
सहित दोष दुख दास दुरासा । दलइ नाम जिमि रवि निसि नासा ॥
भंजेउ राम आप भव चापू । भवभयभंजन नाम प्रतापू ॥
दंडक वन प्रभु कीन सुहावन । जनमत अमित नाम किय पावन ॥
निशिचर-निकर दल रघुनंदन । नाम सकल कलि-कलुष-निकंदन ॥
सवरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन रघुनाथ ।
नाम उधारे अमित खल, बेद बिदित गुनगाथ ॥
राम सुकंठ विभीषन दोऊ । राखे सरन जान सब कोऊ ॥
नाम अनेक गरीब निवाजे । लोक बेद बर बिरद विराजे ॥
राम भालु कपि कटक बटोरा । सेतुहेतु स्रम कीन न थोरा ॥
नाम लेत भव-सिंधु सुखाहीं । करहु बिचार सुजन मन माहीं ॥
राम सकुल रन रावन मारा । सीय सहित निजपुर पगु धारा ॥
राजा राम अवध रजधानी । गावत गुन सुर मुनि बर बानी ॥
सेवक सुमिरत नाम सप्रीती । बिनु स्रम प्रबल मोह-दल जीती ॥
फिरत सनेह मगन सुख अपने । नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने ॥'

धन्य गोस्वामी जी ! आपने नाम-महिमा के बहाने पूरी रामकथा ही कह डाली ! 'यह राम-नाम-रामायण' नित्य पारायण करने योग्य है । किसी किसी सज्जन के दृष्टि-कोण में यह 'नाम-माहात्म्य' कवि-कल्पना की पराकाष्ठा तक पहुँच गया है, अत्युक्ति का बढ़िया उदाहरण कहा जाता है, पर यह उनका भ्रम है । गुसाईंजी ने ही नहीं

अनेक अनुभवी पारदर्शी महात्माओं ने नाम का प्रभाव ऐसा ही कहा है। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव नाम-कीर्तन ही को महत्ता दिया करते थे। कबीरदासजी ने भी नाम की बड़ी महिमा गायी है। देखिये—

'राम का नाम संसार में सार है, राम का नाम है अमृत बानी।
राम के नाम ते कोटि पातक टरैं, राम का नाम बिस्वास मानी॥

* * * *

कहाँ लौं कहौं आगाध लीला रची, राम का नाम काहू न जानी।
राम का नाम लै कृष्णगीता कथी, बाँधिया सेत तबै मर्म जानी॥
ब्रह्म सनकादि कोइ पार पावै नहीं, तासु का नाम कह राम राया।
कहैं कबीर वह शख्स तहकीक कर, राम का नाम जो पृथी लाया॥'

अन्यत्र—

'शून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
नाम-सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय॥'

(२) 'करत छांह घोर घन घामो'—प्रमाण लीजिए

'किये जाहिं छाया जलद, सुखद वहै बर बात।
तस मग भयउ न राम कहँ, जस भा भरतहिं जात॥' (रामचरितमानस)

(३) 'भील भायो'—शबरी; १०६ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(४) 'वाल्मीकि'—६४ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(५) 'अजामिल'—५७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(६) 'उलटे......ललामो'—रामचरितमामस में भी लिखा है—

उलटा राम जपत जग जाना। वाल्मीकि भे ब्रह्म समाना॥

'उलटे नाम' की कथा संस्कृत के किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं है। संस्कृत के अनुसार मरा मरा का कुछ अर्थ भी नहीं होता है। भाषा में भी 'मारो, मारो' होता है, 'मरा-मरा' नहीं। किन्तु जो भी हो इस उक्ति में काव्य-सौन्दर्य अवश्य है।

(७) 'दहिने......बायो',—देखिये कवितावली में अपने विषय में स्वयं गुसाईंजी ने एक स्थल पर कहा है—

'राम नाम को प्रभाव, पाउ महिमा प्रताप
तुलसी से जग मनियत महा मुनी सो।
अति ही अभागो अनुरागत न रामपद,
मूढ़ पेतो बड़ो अचरजु देखि सुनी सो॥'

(२२९)

गरैगी जीह जो कहौं और को हौं।
जानकी-जीवन! जनम जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं॥ १॥
तीनि लोक तिहुँ काल न देखत सुहृद रावरे जोर को हौं।
तुम सों कवट करि कलप कलप कृमि ह्वै हौं नरक घोर को हौं॥ २॥
कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियो *भौंतुवा भौंर को हौं।
तुलसिदास सीतल नित यहि बल, बड़े ठेकाना ठौर को हौं॥ ३॥

शब्दार्थ—गरैगी = गल जायगी। जीह = जीभ। ज्यायो = जिलाया हुआ। जोर = (जोड़) बराबरी। कृमि = कीड़ा। भौंतुवा = छोटासा काला कीड़ा, जो प्रायः जल में नावों के पास रहा करता है। शीतल = संतुष्ट, प्रसन्न।

भावार्थ—जो मैं यह कहूं कि मैं रामजी को छोड़ कर किसी और का हूं, तो मेरी यह जीभ गल जाय (नष्ट हो जाय)। हे श्रीजानकी-वल्लभ! मैं तो इस संसार में आपके ही टुकड़े से (जूँठन) जी रहा हूं। भाव, सदा से आप ही का गुलाम हूँ॥ १॥ तीनों लोकों में तथा तीनों कालों में (पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग में एवं भूत, वर्तमान और भविष्यत् में) आपकी बराबर का हितू नहीं दिखायी दिया। यदि मैं आपके साथ छल-कपट करूंगा, तो मुझे घोर नर्क का, कल्प कल्प में, कीड़ा होना पड़ेगा (क्योंकि आप, सर्वव्यापी, के आगे कपट कब तक चल सकता है?॥ २॥ क्या हुआ जो कलियुग ने मिलकर मेरे मन को भौंतुवा बना दिया? तात्पर्य यह है कि, भौंतुवा, जैसे, जल में रहता हुआ भी जल के ऊपर ही तैरता रहता है, उसमें डूब नहीं सकता, वैसे ही कलि-काल ने यद्यपि मुझे भव-नदी में डाल दिया है, तथापि मैं, रामजी के प्रताप से उसमें डूबूंगा नहीं, उतराता ही रहूंगा। संसार मुझ पर अपना अधिकार न कर सकेगा। इसी बल-भरोसे पर तुलसीदास सदा प्रसन्न रहता है कि वह

* पाठान्तर 'भुरुह।'

बड़े ठौर ठिकाने का रहनेवाला है (श्रीरघुनाथजी के राज दरबार का सेवक है। कलियुग उसका क्या कर सकता है ?) ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'जानकी...को ह्वै'—यदि यह जीव श्रीजानकीजीवन का गुलाम होकर नहीं रहा तो उसका जीना न जीना बराबर ही है, कहा भी है--

'तिन्ह तें खर कूकर सूकर स्वान भले, जड़तावस ते न कहैं कछु वै।
तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं सो सही पसु पूँछ बिखान न द्वै ॥
जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै।
जरि जाउ सो जीवन जानकी नाथ ! जियै जग में तुम्हरो बिन ह्वै ॥'(कवितावली)

देखिये, भक्तवर प्रह्लाद क्या कहते हैं--

'नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वा सुरात्मजाः !
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या, न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥' (श्रीमद्भागवत)

(२) 'सुहृद'—वास्तव में, श्रीरघुनाथजी के समान कोई दूसरा सखा और हितू नहीं है। हनुमान जी ने कहा है—

'कहँ हम पसु साखामृग चंचल, बात कहौं मैं विद्यमान की ।
कहँ हरि सिव-अज-पूज्य ग्यानघन कहिं बिसरत वह लगनि बान की ॥
(गीतावली)

(२३०)

अकारन को हितु, और को है।
बिरद 'गरीब-निबाज' कौन को, भौंह जासु जन जोहै ॥ १ ॥
छोटो-बड़ो चहत सब स्वारथ जो बिरंचि बिरचो है।
कोल कुटिल कपि भालु पालिबो कौन कृपालुहि सोहै ॥ २ ॥
काको नाम अनख आलस कहें अघ अवगुननि बिछोहै।
को तुलसी से कुसेवक संग्रह्यो, सठ सबदिन साईं द्रोहै ॥ ३ ॥

शब्दार्थ--जोहै = देखे। कोल = भील। सोहै = शोभा देता है। अनख = क्रोध।

भावार्थ—बिना किसी कारण के हित करनेवाला (श्रीरामचन्द्रजी को छोड़ कर) और कौन है? गरीबों को निहालकर देने का बाना किसका है कि जिसकी भृकुटी की ओर यह जीव देखा करे? (श्रीरामजी ही दीन-बन्धु दीनानाथ हैं, उन्हीं की भौंह को बेचारे भक्त देखते रहते हैं, उन्हीं की कृपा के आधार पर जीते हैं) ॥ १ ॥ छोटे या बड़े जो भी ब्रह्मा के रचे हुए हैं वे सब मतलब गाँठना चाहते हैं, सभी मतलबीयार हैं (बिना स्वार्थ के कोई किसी का भला नहीं करता)। कहिये तो, भील, बन्दर, और रीछ आदि पापियों का पालन-पोषण करना और किस कृपालु स्वामी को शोभा देता है? (रामचन्द्रजी के अतिरिक्त किसी को नहीं, इतनी दया किसी के हृदय में नहीं है, जो निःस्वार्थ कपटी और पापी जीवों का उद्धार करता हो) ॥ २ ॥ ऐसा किसका नाम है जिसे आलस्य या क्रोध के साथ भी लेने से पाप और दोष दूर हो जाते हों (श्री राम-नाम ही ऐसा है)? जिसने सदा मूर्खतावश अपने स्वामी से द्रोह किया है, ऐसे तुलसी-सरीखे नीच सेवक को किसने अपनाया? (श्रीरघुनाथजी को छोड़ कर और कौन अशरण शरण है, कोई भी नहीं) ॥३॥

टिप्पणी—(१) 'भौंहैं......जोहैं'—'भौंह जोहने' का अर्थ कृपा-कटाक्ष की प्रतीक्षा करना है, अनुग्रहीत होने की आशा करना है।

(२) 'छोटो......बिरचो हैं'—कहा भी है—

'सुर नर मुनि सब ही की रीती स्वारथ लागि करहिं ये प्रीती॥'

तथा—

'जगत में झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुख सों सब लागे, क्या दारा क्या मीत॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं, हित सों बाँध्यो चीत।
अंतकाल संगी नहिं कोऊ यह अचरज की रीत॥
मन मूरख अजहू नहिं समुझत सिख दै हार्‌यो नीत।
'नानक' भव-जल पार परै जो गावै प्रभु के गीत॥'

(३) 'कोल'—भील, यहां निषाद और शबरी दोनों से ही तात्पर्य है। १०६ पद की तीसरी और पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(४) 'अनख आलस'—कहा भी है—

'भाव कुभाव अनख आलसहू । नाम जपत मंगल दिसि दसहू ॥'
(रामचरितमानस)

(२३१)

और मोहि को है, काहि कहिहौं ?
रंकराज ज्यों मन को मनोरथ, केहि सुनाइ सुख लहिहौं ॥ १ ॥
जम-जातना जोनि-संकट सब सहे दुसह अरु सहिहौं ।
मोको अगम, सुगम तुम को प्रभु ! तउ फलचारि न चहिहौं ॥२॥
खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं ।
यहि नाते नरकहुँ सचुपैहौं, या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं ॥३॥
इतनी जिय लालसा दास के कहत पानही गहिहौं ।
दीजै बचन कि हृदय आनिये 'तुलसी को पन निर्वहिहौं' ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सचु = सुख, विश्राम । पनही = जूती । पन = प्रतिज्ञा, हठ ।

भावार्थ—हे नाथ ! मेरे और कौन है, और (तुम्हें छोड़ कर) मैं किससे (अपना दुःख) कहूंगा ? मेरी इच्छा तो ऐसी है जैसी गरीब की राजा बनने की होती है अथवा हूं तो मैं कंगाल, पर मंसूबे राजाओं के ऐसे बांधता हूं । तात्पर्य यह है कि, साधन तो एक भी नहीं किये, पर बनना चाहता हूं संत-शिरोमणि ! सो यह मनोथ किसे सुना कर आनन्द पाऊंगा, कौन मेरी बात सुन कर पूरी करेगा ? (सिवा रघुनाथजी के कोई भी नहीं) ॥ १ ॥ यम-यातना अर्थात् नारकीय क्लेश एवं अनेक योनियों में दारुण दुःख भोगे हैं और भोगूँगा । हे प्रभु ! मुझे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की लालसा नहीं है, यद्यपि मेरे लिये यह दुर्लभ है, पर तुम चाहो तो सहज में दे सकते हो ॥ २ ॥ (फिर मुझे चाहिए क्या सो सुनिए) हे रामजी ! मैं तो तुम्हारे विहार करने का पक्षी, पशु, वृक्ष और किंकर हो कर ही रहना चाहता हूं । इस नाते से मुझे नर्क में भी सुख मिलेगा और यदि यह मनस्कामना पूरी न हुई तो मुझे मोक्ष की भी इच्छा नहीं, क्योंकि बिना इस सुख के मुझे मोक्ष-पद भी दुःखदाई हो जायगा ॥ ३ ॥ इस दास के मन में बस यही एक कामना है कि वह सदा तुम्हारी जूती पकड़े रहे, शरण में रहे । या तो मुझे वचन दे दो (कि हम तेरी यह कामना पूरी कर देंगे) अथवा इस बात को मन में ही रखे रहो कि हम तुलसी का हठ पूरा कर देंगे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'खेलिबे……रहिहौं'—हे नाथ ! मुझे जो पक्षी होना पड़े, तो तुम्हारे खेलने का शुक, सारिका, मोर आदि होऊँ, जो पशु-योनि में जाना पड़े तो तुम्हारा घोड़ा, हाथी, हिरण आदि होऊँ, और यदि वृक्ष का जन्म लेना पड़े तो तुम्हारे विहारस्थल का कदम्ब, रसाल, तमाल आदि बनूँ। इस मनोराज्य पर भक्तवर ललितकिशोरीजी की क्याही सूक्ति है—

'जमुना पुलिन कुंज गहवर की, कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै, मधुरे मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन-बीथिन डोलों, बचे सीत रसिकन के पाऊँ।
'ललित किसोरी' आस यही, ब्रज-रज तज छिन अनत न जाऊँ॥'

अन्यत्र—

'कब हौं सेवा-कुंज में, ह्वैहौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि विरमि हैं, ललित लड़ैती लाल॥
मिलि है कब अँग छार ह्वै, श्रीवन-वीथिन धूर।
परिहैं पद पंकज जुगल, मेरी जीवनमूर॥'

रसिक रसखानि की भी कुछ ऐसी ही भावना है—

'मानुष हौं तौ वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिंदी-कूल कदंब की डारन॥'

(२) 'यहि नाते……दहिहौं'—कविवर बिहारी ने भी इसी भाव पर एक दोहा गढ़ा है। देखिये—

'जो न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति दुख दीन।
जो लहिये सँग सजन तौ, धरक नरक हू कीन॥'

सहृदय 'प्रीतम' ने इसे क्या ही लिबास पहिनाया है—

'नहीं गर यार जिन्नत में तो वह तारे जहन्नुम है।
अगर दोजख में है प्यारा, तो वह जिन्नत से क्या कम है?' (गुलदस्तए-बिहारी।)

अहमद ने भी इसी भाव पर एक दोहा लिखा है—

'अहमद ढाक सराहिये, जो प्रीतम गल बाहँ ।
कहा करौं बैकुंठ लै, कलपवृच्छ की छाहँ ॥'

(२३२)

दीनबन्धु दूसरो कहँ पावों ?
को तुम बिनु पर-पीर पाइहै ? केहि दीनता सुनावों ॥ १ ॥
प्रभु अकृपालु, कृपालु अलायक जहँ जहँ चितहिं डोलावों ।
इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही, कहि भ्रम कहा गँवावों ॥ २ ॥
गोपद बूड़िबे जोग करम करौं बातनि जलधि थहावों ।
अति लालची काम-किंकर मन, मुख रावरो कहावों ॥ ३ ॥
तुलसी प्रभु जिय की जानत सब, अपनो कछुक जनावों ।
सो कीजै जेहि भाँति छाँड़ि छल, द्वार परो गुन गावों ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पाइहै = समझ सकेगा । अलायक = अयोग्य । भ्रम = भेद ।

भावार्थ—दीनों का हितू और दूसरा कहां मिलेगा ? हे नाथ ! आपको छोड़ कर पराई पीर समझनेवाला और कौन है ? किसके आगे मैं अपना दुःख रोता फिरूं ? (भाव, सिवा श्रीरामजी के न तो कोई परोपकार ही करने वाला है, न दूसरे का दुःख जाननेवाला है और न उसे सांत्वना देनेवाला है) ॥१॥ जहां जहा मैं अपने मन को दौड़ाता हूं, वहां वहां कहीं तो ऐसे स्वामी मिलते हैं जिनके दया नहीं है और कहीं ऐसे मिलते हैं कि जो दयावान् तो हैं, पर साथ ही नालायक भी हैं ? मूर्खों की कृपा से क्या लाभ है ? यह सुन समझ कर चुप ही रहता हूं क्योंकि ऐसों के आगे कहना अपना भेद खोलना ही है। (भेद का भेद खुल जायगा और कुछ होगा भी नहीं, इससे मौन धारण किये बैठा रहता हूं) ॥२॥ कर्म तो ऐसे ऐसे किया करता हूं कि गाय के खुर में डूब जाऊं (चुल्लूभर पानी में डूब मरूं)। पर बातें बना बना कर समुद्र की थाह ले रहा हूं ! कोरी कथनी ही कथनी है, करनी रत्ती भर भी नहीं है । मेरा मन बड़ा लोलुप है और काम का दास है, किंतु मुख से आपका सेवक बनता फिरता हूं (हृदय में कामदास हूं और ऊपर से रामदास, भला इस पाखंड का भी कोई ठिकाना है !) ॥३॥ हे नाथ ! आप तुलसी के मन की तो सभी बातें जानते हैं, तो भी मैं कुछ अपनी बात और बतलाना चाहता हूं । वह यह कि,

कुछ ऐसा उपाय कीजिए जिससे कपट छोड़ कर सच्चे हृदय से आपके द्वार पर पड़ा पड़ा आप के गुण गाता रहूँ (इधर उधर न भटकना पड़े) ॥४॥

टिप्पणी—'केहि सुनावों'—बस आप ही एक ऐसे दीन-वत्सल हैं जिनके आगे मैं कुछ अर्ज कर सकता हूं क्योंकि—

'गरज़ी बिचारे को तो अरज़ी किये ही बनै,
मानिये, न मानिये—सो मरज़ी हुजूर की।'

(२) 'अति लालची ···कहावों'—कबीरसाहब कहते हैं—

'साधु भया तो क्या हुआ, माला पहिरी चार।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी भँगार॥'

(३) 'द्वार······गावों'—कविवर बिहारी भी यही भीख मांगते हैं—

'हरि कीजत तुम सों यहै, बिनती बार हजार।
जेहि तेहि भाँति डर्‌यो रहौं, पर्‌यो रहौं दरबार॥'

(२३३)

मनोरथ मन को एकै भांति।
चाहत मुनि-मन-अगम सुकृत-फल, मनसा अघ न अघाति॥१॥
करमभूमि कलि जनम कुसंगति, मति बिमोह-मद-माति।
करत कुजोग कोटि क्यों पैयत परमारथ पद साँति॥२॥
सेइ साधु गुरु, सुनि पुरान स्रुति बूझ्यो राग बाजी ताँति।
तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सो ज्यों दरपन मुख काँति॥३॥

शब्दार्थ—सुकृत=पुण्य। माति=मतवाली। सांति=शान्ति। काँति=कांति, सौन्दर्य।

भावार्थ—मन का मनोर्थ भी एक ही प्रकार का है। वह ऐसे पुण्यों के फल की इच्छा करता है, जो मुनियों के मन को भी दुर्लभ है, अर्थात् जिस परमपद को मुनि लोग मन से विचार भी नहीं सकते हैं। किन्तु पाप करने से तृप्ति नहीं हो रही है (अब दोनों काम एक साथ कैसे हो सकते हैं? पाप भी कमाता जाय और पुण्यफल की इच्छा भी करे!) ॥१॥ इस कर्म-भूमि भारतवर्ष में जन्म भी लिया तो क्या हुआ? क्योंकि कलियुग में जन्म, नीचों का संग, और

अहंकार और अज्ञान से मतवाली बुद्धि तथा करोड़ों बुरे बुरे कर्म—इन कुयोगों से भला मुक्तिपद और शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? (इन अनिष्टों के कारण शान्ति पद दुर्लभ सा दीखता है) ॥२॥ संतों और गुरुकी सेवा करने तथा वेद और पुराणों से मुक्ति का ऐसा निश्चय हो जाता है, जैसा कि सारंगी बजते ही राग पहिचान लिया जाता है । (अर्थात् जैसे सारंगी छेड़ते ही गानेवाला राग का स्वरूप पहिचान लेता है, उसमें तनिक भी संदेह नहीं रहता है, उसी प्रकार गुरुजनों की सेवा से तथा वेद-पुराण सुनने से मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि मुझे परमपद मिलेगा)। हे तुलसी ! प्रभु रामचन्द्रजी की प्रकृति कल्पवृक्ष के समान तो अवश्य है (जो उन से माँगा जाता है, वह मिल जाता है) किन्तु, साथ ही वह ऐसी है, जैसे शीशे में चेहरे की सुन्दरता । भाव यह है कि, जैसा मुंह बनाकर या बिगाड़ कर दर्पण में देखोगे वैसा ही दिखाई देगा । इसी प्रकार भगवान् कल्पवृक्ष तो अवश्य हैं, किन्तु उस वृक्ष के नीचे बैठ कर जैसी इच्छा करोगे वैसा फल मिलेगा । और इच्छा करना अपने कर्मों पर निर्भर है ॥३॥

टिप्पणी--(१) इस पद में भगवत्कृपा और जीव के पुरुषार्थ का बड़ा ही सुन्दर सम्मेलन हुआ है । एक ओर कर्मों का विवेचन है तो एक ओर भगवत्कृपा का सुदृढ़ विश्वास । भक्तिवाद में यह सिद्धान्त बड़ा ही ऊँचा माना गया है । पहले अंतःकरण शुद्ध कर लेना चाहिए तब भगवान् के सम्मुख जाना ठीक होगा । भगवत्स्वरूपी दिव्य दर्पण में स्वच्छ मुख को देखना चाहिए । पाखंडियों को उस दर्पण से दूर रहना ही अच्छा है ! कबीरदासजी ने कहा भी है—

'मुखड़ा क्या देखे दरपन में, तेरे दया धरम नहिं मन में ?'

(२३४)

जनम गयो बादिहिं बर बीति ।
परमारथ पाले न पर्‌यो कछु, अनुदिन अधिक अनीति ॥१॥
खेलत खात लरिकपन गो चलि, जौवन जुवतिन लियो जीति ।
रोग-बियोग-सोग-स्रम-संकुल बड़ि बय बृथहि अतीति ॥२॥
राग-रोष-इर्षा-विमोह-बस रुची न साधु-समीति ।
कहे न सुने गुनगन रघुबर के, भइ न रामपद-प्रीति ॥३॥

हृदय दहत पछिताय-अनल अब, सुनत दुसह भवभीति।
तुलसी प्रभु तें होइ सो कीजिय समुझि बिरद की रीति ॥४॥

शब्दार्थ—बादिहिं=व्यर्थ ही। पाले न पर्यो=हाथ न लगा। अनुदिन =नित्य प्रति। सोग=शोक। संकुल=पूर्ण। अतीति=बीत गयी। समीति= (समिति) सभा। पछिताय=पश्चात्ताप। भीति=भय। बिरद=बाना, यश।

भावार्थ—ऐसा अच्छा जीवन व्यर्थ ही बीत गया। परमार्थ जरा भी हाथ नहीं लगा। नित्यप्रति—दिन दूनी रात चौगुनी—अनीति ही बढ़ती गयी ॥१॥ लड़कपन तो खेलते खाते बीत गया और जवानी को स्त्रियों ने जीत लिया। (जिस यौवन में प्रतिभा और बुद्धि का विकाश होता है, इंद्रियां चैतन्य रहती हैं, चित्त में उमंग और उत्साह बढ़ता है, उसे स्त्रियों ने नयन-बाण से छिन्न-भिन्न कर दिया, सौन्दर्य-पाश में बांध कर गुलाम बना लिया, मदान्ध कर दिया।) अब रहा बुढ़ापा-वह रोग, वियोग और शोक तथा परिश्रम से परिपूर्ण होने के कारण वृथा बीत गया (इस प्रकार व्यर्थ ही तीनों पन नष्ट हो गये, हाथ कुछ भी नहीं आया) ॥२॥ राग, द्वेष, ईर्ष्या और अज्ञान के पाले पड़ कर न तो संतों की सभा अच्छी लगी और न रघुनाथजी की गुणावली ही को कहा और न सुना। श्रीरामजी के चरणों में प्रेम भी नहीं हुआ (सारांश, आत्म-कल्याण के जितने मार्ग हो सकते हैं, वे सभी विफल रहे। सफल हुए तो नारकीय पंथ) ॥३॥ अब यह हृदय पश्चात्ताप-रूपी आग में जला जा रहा है, क्योंकि असहनीय संसार के भय को सुन रहा हूं (विषय-वासना पूरी नहीं हुईं, अतएव बार बार जन्म लेना होगा, अनेक योनियों में भटकना पड़ेगा)। अब इस तुलसी के लिये अपने बाने की लाज रखने के लिये जो कुछ भी प्रभु से बन पड़े, सो करें। भाव यह है कि, मुझसे तो कोई साधन बना नहीं है, पर सुना है कि भगवान् पतित-पावन हैं, सो वह अपने इस नाम के नाते मुझ पापी का भी उद्धार कर देंगे ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'जनम गयो ⋯⋯बीति'—यहां, कबीरसाहब की यह साखियाँ याद आ जाती है—

'रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय॥

'आछे दिन पाछे गये, गुरु से किया न हेत।
अब पछितावा क्या करूँ चिड़िया चुग गईं खेत ॥'

(२) 'खेलत......प्रतीति'—श्रीशंकराचार्यजी भी यही गा रहे हैं। देखिये—

'बालस्तावत्क्रीड़ासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः।
वृद्धास्तावच्चिंतामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥'

(३) 'समीति'—शुद्ध शब्द 'समिति' है। यह आर्ष प्रयोग मानना चाहिए।

(४) 'प्रभु......कीजिय'—बस, यही कीजिये—

'अवगुन मेरे बापजी, बकस गरीब निवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिता को लाज ॥
तुम तो समरथ साँइयाँ, दृढ़ करि पकरौ बाहँ।
धुरही लौ पहुँचाइयो, जनि छाँड़ो मग माहँ ॥' (कबीरदास)

(२३५)

सेहि जनम समूह सिराने।
प्राननाथ रघुनाथ से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने ॥१॥
जे जड़ जीव कुटिल कायर खल, केवल कलिमल-साने।
सूखत बदन प्रससत तिन्ह कहँ, हरि तें अधिक करि माने ॥२॥
सुख हित कोटि उपाय निरन्तर करत न पाँय पिराने।
सदा मलीन पंथ के मल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने ॥३॥
यह दीनता दूरि करिबे को अमित जतन उर आने।
तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने ॥४॥

शब्दार्थ—सिराने=बीत गये। बिराने=पराये, दूसरे के। साने=लिप्त। पिराने=पीड़ा हुई। थिराने=स्थिर हुए। चितामनि=एक स्वर्गीय रत्न जिसे पाकर सारी चिंताएँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—इसी तरह अनेक जन्म बीत गये। प्राणनाथ रघुनाथजी के समान स्वामी छोड़ कर दूसरों के चरणों की सेवा करता रहा (द्वार द्वार पर सभी लोगों की चापलूसी करता फिरा, उनसे याचना की, लात फटकार सही, पर ऐसी निर्लज्जता के मारे वैराग्य न हुआ। धिक्कार!) ॥१॥ जो मूर्ख जीव हैं,

कपटी, कायर और दुष्ट हैं और जो केवल कलि के पापों में लिप्त हो रहे हैं, ऐसों की प्रशंसा करते करते मुख सूख गया है। भाव, दिन-रात निरन्तर उनकी प्रशंसा की है। उन्हें भगवान् से भी बड़ा समझ रखा है। (भला इस मूर्खता का भी कोई ठिकाना है)॥२॥ सुख पाने के लिये सदा करोड़ों यत्न करते करते पैर भी नहीं दुखे (दिन-रात झूठे विषयों के सुखों के लिये दौड़ता फिरा, कभी शान्त नहीं हुआ)। रास्ते के जल की तरह हृदय सदा मैला ही बना रहा, कभी निर्मल अथवा शान्त नहीं हुआ (जैसे रास्ते का जल, सदा उस पर चलते रहने के कारण, कभी स्थिर नहीं होता है, वैसे ही निरन्तर विषय-वासनाओं के उथल-पुथल से हृदय भी निर्विकार और स्वच्छ नहीं हो पाता)॥ ३ ॥ जीव के इस दीनता के दूर करने के लिये हृदय में अगणित उपाय सोचे, पर हे तुलसी ! चित्त की चिन्ता, बिना चिन्तामणि (श्रीरघुनाथजी) पहिचाने, दूर होने की नहीं (जिन परमात्मा के आगे एक चिन्ता उपस्थित नहीं रह सकती, उन्हीं के परिचय से, शरणागति से, इस जीव की सारी चिन्ताएँ दूर होंगी)॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) "ऐसेहि......सिराने'—कैसे बीत गये ? इस तरह—देखिये—

'सब दिन गये विषय के हेत।

तीनौं पन ऐसे ही बीते, केस भये सिर सेत॥

रूँधी साँस मुख बैन न आवत, चंद्र ग्रस्यो जिमि केत।

तजि गंगोदक पियत कूपजल हरि तजि पूजत प्रेत॥

करि प्रमाद गोविंद बिसार्‌यो बूड़यो कुटुम समेत।

सूरदास कछु खरच न लागत, रामनाम मुख लेत॥' (सूरदास)

हाय ! कुछ भी तो न बन पड़ा—

'रचि कै सँवारे नाहिं अंग अंग स्यामा स्याम,

परी धिक्कार और नाना कर्म कीबे पै।

पायँन को धोय निज करतें न पान कियो,

आली, अँगार परै सीतल पय पीबे पै॥

बिचरे न वृन्दावन कुंजन लतान तरे,

गाज गिरै अन्य फुलवारी सुख लीबे पै।

'ललितकिसोरी' बीते बरस अनेक, दृग,
देखे नाहिं प्रानप्यारे छार ऐसे जीवे पै ॥' (ललित किशोरी)

(२) 'यह दीनता'--तब तक कैसे दूर होगी जब तक आशा पिशाचिनी साथ लगी लगी फिरती है। कहा भी है—

'आशा पाशस्य ये दासास्ते दासा जगतामपि।
आशा दासीकृता येन तस्य दासायते जगत्॥'

और भी---

'आसन मारे का भया, मुई न मन की आस।
ज्यों तेली के बैल को, घर ही कोस पचास॥' (कबीरदास)

(२३६)

जो पै जिय जानकी-नाथ न जाने।
ता सब करम धरम स्रमदायक ऐसेइ कहत सयाने॥ १॥
जे सुर सिद्ध मुनीस जोगविद वेद पुरान बखाने।
पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने॥ २॥
काको नाम धोखेहूँ सुमिरत पातकपुंज सिराने *।
बिप्र, बधिक, गज, गीध कोटि खल कौन के पेट समाने॥ ३॥
मेरु से दोष दूरि करि जन के रेनु से गुन उर आने।
तुलसिदास तेहि सकल आस तजि भजहि न अजहुं अयाने॥ ४॥

शब्दार्थ—जोगविद = योगक्रिया जाननेवाले। सिराने=शान्त हुए, नष्ट हुए। बिप्र = ब्राह्मण; यहां अजामेल से तात्पर्य है। बधिक = बहेलिया; यहाँ वाल्मीकि से तात्पर्य है। कौन के पेट समाने = किसने शरण में लिया। मेरु = सुमेरु पर्वत। रेनु = रज का कण। अयाने = मूर्ख।

भावार्थ—अरे जीव! यदि तूने श्रीजानकी-जीवन रघुनाथजी को नहीं पहिचाना तो तेरे सब कर्म, धर्म केवल परिश्रम देनेवाले हैं, अर्थात् उनके करने में तुझे परिश्रम छोड़ कर कुछ भी न मिलेगा, सब व्यर्थ जायगा, ऐसा ज्ञानी मनुष्यों ने कहा है (श्रीरामचन्द्रजी का जान लेना ही समस्त कर्म-धर्म

* पाठान्तर 'परा

का सिद्ध कर लेना है)॥ १ ॥ वेद और पुराण कहते हैं कि जितने देवता, सिद्ध, बड़े बड़े मुनि और योगाभ्यासी हैं वे सब पूजा लेकर उसके बदलेमें सुख देते हैं (सो भी क्षणभंगुर सुख, अर्थात् काम, कांचन, पुत्र, कलत्र संबन्धी)। और ऐसा वे अपनी हानि और लाभ का विचार करके करते हैं, यों ही बिना विचारे नहीं दे डालते)॥ २ ॥ कहिये तो, वह किसका नाम है जिसे धोखे से भी लेनेसे पापों के समूह भागे भागे फिरते हैं ? (श्रीरघुनाथजी का)। और अजामेल ब्राह्मण, वाल्मीकि बहेलिया, गजेन्द्र, जटायु गीध आदि करोड़ों दुष्टों को किसने अंगीकार किया, अपनाया ? (उन्हीं श्रीरामचन्द्र जी ने)॥३॥ जिन्होंने अपने सेवकों के सुमेरु पर्वत के समान (महान् महान्) अपराधों को भुलाकर उनके बालू के कण के समान, (छोटे छोटे) गुणों को अपने हृदय में धारण किया है, हे तुलसीदास ! हे मूर्ख ! उन्हींको, सारी आशा छोड़कर, तू क्यों नहीं भजता है ? ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'जो पै........जाने'--इसी भाव के कतिपय छंद कवितावली में भी हैं। श्रीजानकी-जीवन के न जानने से जीव की क्या दशा है, सो सुनिये—

'काम से रूप, प्रताप दिनेस से, सोम से सील, गनेस से माने।
हरिचंद्र से सांचे, बड़े विधि से, मघवा से महीय विषै सुख-साने॥
सुक से मुनि, सारद से बकता, चिरजीवन लोमस ते अधिकाने।
ऐसे भये तो कहा तुलसी जुपै राजिवलोचन राम न जाने॥'

❀ ❀ ❀ ❀

'सुरराज सो राज-समाज, समृद्धि बिरंचि, धनाधिप सो धन भो।
पवमान सो, पावक सो, जस सोम सो, दूषन सा भवभूषन भो॥
करि जोग समीरन साधि, समाधि कै, धीर बड़ो, बसहू मन भो
सब जाय सुभाय कहै तुलसी जो न जानकी-जीवन को जन भो॥

(२) ' तौ सब........समाने'—प्रमाण लीजिए—

'ये नराधम लोकेषु रामभक्ति पराङ्मुखाः।
जपस्तपो दया शौचः शास्त्राणामवगाहनम्।
सर्वं वृथा विना येन शृणुध्वं पार्वतिप्रिये॥'

तथैव-

'जरउ सो संपति, सदन, सुख सुहृद, मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो रामपद, करइ न सहज सहाइ॥' (दोहावली)

(३) 'धोखेहू सुमिरत'—प्रमाण भी मिलता है—

'श्रद्धया हेलया नाम, वदन्ति मनुजा भुवि।
तेषां नास्ति भयं पार्थ, रामनाम प्रसादतः॥' (आदि पुराण)

(४) 'विप्र—अजामेल; ५७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(५) 'वधिक'—वाल्मीकि; ६४ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(६) 'गीध'—जटायु; ४३ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

(७) 'रेनु मैं...आने'—भाव-सादृश्य देखिये।

'जन गुण परमाणुम्पर्वतीकृत्य नित्यम्'।

यहां भगवान की अप्रतिम गुण-ग्राहकता दिखायी गयी है।

(२३७)

काहे न रसना; रामहिं गावहिं ?
निसिदिन पर-अपवाद बृथा कत रटि रटि राग बढ़ावहिं॥ १॥
नरमुख सुन्दर मंदिर पावन बसि जनि ताहि लजावहि।
ससि समीप रहि त्यागि सुधा कत रविकर-जल कहँ धावहि॥ २॥
काम-कथा कलि कैरव-चंदिनि सुनत स्रवन दै भावहिं।
तिनहि हटकि कहि हरि- कल-कीरति करन-कलंक नसावहि॥ ३॥
जात रूप-मति जुगुति[१] रुचिर मनि रचि रचि हार बनावहि।
सरन-सुखद रबिकुल - सरोज रबि राम नृपहिं पहिरावहि॥ ४॥
बाद-बिबाद-स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहि।
तुलसिदास भव तरहि, तिहूँ पुर तू पुनीत जस पावहि॥ ५॥

शब्दार्थ—अपवाद = निन्दा। रविकर-जल = मृगतृष्णा का (झूठा) पानी। जातरूप = सोना। पुनीत = पवित्र।

भावार्थ—जीभ ! तू श्रीरामचन्द्रजी का गुणगान क्यों नहीं करती ? क्यों दिन रात दूसरों की निन्दा कर कर व्यर्थ ही राग बढ़ा रही है ? ॥१॥ मनुष्यके

१ पाठान्तर 'युवति'।

मुखरूपी सुन्दर और पवित्र मंदिर में रह कर क्यों उसे लज्जित कर रही है ? (मुख की सार्थकता तो इसीमें है कि वहां से सदा भगवद्भनामका शब्द निकला करे)। चन्द्रमा के पास रहती हुई अमृत को छोड़कर मृगतृष्णा के जल के लिये क्यों दौड़ रही है ? (भगवत्-गुणानुवाद पीयूष है और विषयालाप मृगजल। क्योंकि विषयवार्त्ता में कोरा भ्रमही भ्रम है, स्थायी आनंद तनिक भी नहीं है) ॥२॥ काम-प्रवृत्ति की कथाको, जो कलिरूपी कुमोदिनी के लिये चांदनी के तुल्य है, खूब कान लगाकर प्रेमपूर्वक सुना करती है (कलि-कैरव-चंदिनि इसलिये है कि जैसे कुमोदिनी चाँदनी रात में प्रफुल्लित और विकसित हुआ करती है उसी प्रकार 'काम-कथा' के सुनते ही कलियुग प्रसन्न होकर फूल उठता है मनहीं मन कहता है कि बस, अब दाव मार लिया अब इस कामान्ध जीवका निस्तार होना दुर्लभ ही है) अरी जीभ ! उस काम-कथा को रोक कर भगवान् की सुंदर कीर्त्ति का गान कर जो कानों के कलक को दूर कर देती हैं (विषयोंकी वार्ता निरंतर सुनते सुनते कान कलंक-भाजन हो गयी है उनका यह कलंक भगवत्कथा के सुनने से ही दूर हो सकेगा, अन्यथा नहीं) ॥ ३ ॥ बुद्धिरूपी सुवर्ण और युक्तिरूपी सुंदर मणियों को, रच रच कर एक हार तैयार कर। और उस हार को शरणागतों को सुख देनेवाले, सूर्यवंशरूपी कमल के सूर्यस्वरूप महाराज रामचंद्रजी को पहिना, हृदय पर धारण कर। भाव यह है कि, विशुद्ध बुद्धि और युक्तियों द्वारा श्रीहरि-कीर्तन कर और वह कीर्तन भगवत् अर्थही हो ॥ ४ ॥ वाद-विवाद तथा स्वाद को छोड़ कर भगवान् का भजन कर और उनकी रसवती लीला में लौ लगा। यदि तू ऐसा करेगी, तो तुलसीदास संसार-सागर से पार हो जायगा (जन्म-मरणसे मुक्त हो जायगा) और तू भी तीनों लोकों में पवित्र यश की भाजन बन जायगी (एक पंथ दो काज सध जायँगे) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'काहे......गावहिं'—जीभ की सार्थकता श्रीराम-गुण गान करने में ही है। जो जीभ भगवत्भजन से पराङ्मुख है उनके संबंध में गुसाईंजी लिखते हैं—

'रसना सांपिनि, बदन बिल, जे न जपहिं हरिनाम।
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि बिधाता बाम ॥' (दोहावली)

सूरदासजी ने भी कहा है—

'रसना जुगल निधि रस बोल।'

(२) 'जातरूप······बनावहिं'—दो एक विचित्र अर्थ भी देख लीजिए—

(अ) "और हे बुद्धि ! (जैसे मनुष्य सुवर्ण और सुंदर मणियों का हार बनाकर राजाओं की भेंट करते हैं ऐसे ही) तू (भगवान् का यश सो ही हुआ) सुवर्ण और (उनका नाम हुआ) मणि इन (दोनों) का अपनी युक्ति से रच रच कर सुन्दर हार तैयार कर।" (श्रीरामेश्वर भट्टजी)

(इ) "मति जो अमल बुद्धि सोई सुन्दर युवती करु पुनः हरि-कीरति सोई जात रूप नाम सोना है पुनः हरि नाम सोई मुक्ता आदि मणि है, रामचरित की लर सोई धागा है, सोई बुद्धि रचि रचि हार बनावहिं, रामकथामय माला रचहिं।"

(श्रीवैजनाथजी)

श्रीवैजनाथजी 'जुगति' के स्थान पर 'युवति' पाठ लिख रहे हैं। आप एक युवती को बुलाकर उसके हाथ से माला बनवा रहे हैं ! हरिकीर्ति और हरिनाम भी बाहर से बुला लिये गये हैं। यही अनुसरण भट्टजी ने किया है, केवल 'युवती' बाहर निकाला है। न जाने, शब्दों का सीधा सादा स्पष्ट अर्थ छोड़कर टीकाकार महोदय कुछ का कुछ अर्थ लिखने में क्या रहस्य समझते हैं ! स्पष्ट और संक्षिप्त अर्थ तो यही हो सकता है कि—"सुवर्ण-रूपी बुद्धि और युक्ति-रूपी मणि इन दोनों की माला बनाकर भगवान् को अर्पित करो, अर्थात् भगवच्चरित वर्णन करने में बुद्धि और युक्तियों का उपयोग करो।"

(३) 'स्वाद तजि'—क्योंकि कहा है—

'जितं सर्वं रसे जिते।' (श्रीमद्भागवत)

जीभ का उत्तम स्वाद, सच्चा रस, तो यही है—

'सहज तराजू आन करि, सब रस देखा तोल।
सब रस माहीं जीभ रस, जो कोई जानै बोल॥' (कबीरदास)

(४) 'भजि हरि'—पद्माकर भी यही चेतावनी दे गये हैं—

'आँनद के कंद जग ज्यावत जगत-बन्द्य,
दसरथ-नंद के निबाहे ही निबहिये।
कहैं पदमाकर पवित्र पन पालिबे को
चारु चक्रपानि के चरित्रन को चहिये॥

अवध-विहारी के बिनोदनि में बींधि बींधि,
गीध गुह गीधे के गुनानुवाद गाहिये ।
रैनदिन आठो जाम राम राम राम राम
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥'

(२३८)

आपनो हित रावरे सों जो पै सूझै।
तौ जनु तनु पर अछत सीस सुधि क्यों कबंध ज्यों जूझै ॥ १ ॥
निज अवगुन, गुन राम रावरे लखि सुनि मति मन रूझै।
रहनि कहनि समुझनि तुलसी की को कृपालु बिनु बूझै ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अछत=(अक्षत) जिसका नाश न हो, अमर । कबंध=धड़, रुण्ड । जूझै=लड़े । रूझै=रुद्ध हो जाय, रोक हो जाय ।

भावार्थ—हे नाथ ! यदि इस जीव को अपनी भलाई आपकी ओरसे दीख पड़े, तो यह शरीर पर सिर रहते हुए तथा स्मरण रहते हुए, कबंध की तरह क्यों लड़ता फिरे ? भाव यह है कि, जैसे वीर पुरुषों का मस्तक-विहीन रुंड ही, जो उसके आगे आता है, उसे मारता चला जाता है, (चेतना रहित होने के कारण यह नहीं देखता कि किसे मारना चाहिये और किसे नहीं,) वैसे ही यह जीव कामान्ध हो कर अपने हित को तो समझता नहीं, किन्तु सभी के साथ वैर करता फिरता है, यद्यपि इसके शरीर पर सिर है । इसे इस बात का ज्ञान ही नहीं कि मेरा हित, मेरा कल्याण, आपकी कृपासे हो सकता है । इसीलिये यह अन्धे की तरह, ब्रह्म-पीयूष छोड़ कर विषय-विष पान कर रहा है ॥ १ ॥ अपने दोष और आपके गुणोंको देखकर व सुन कर, हे रघुनाथ जी ! मेरी बुद्धि और मन हट जाते हैं, आगे नहीं बढ़ सकते । (जीमें तो आता है कि आपके चरणारविन्दों की शरण में जाऊं, पर अपने दोषों की ओर देख कर बुद्धि पंगु हो जाती है मन लज्जित हो जाता है । सोचता हूं कि भला मुझ-सरीखे पापी को वहाँ कैसे स्थान मिल सकेगा !) । तुलसी का आचरण, कथन और रहस्य आपको छोड़कर, हे कृपालु ! और कौन समझ सकता है ? (आप घट-घट की बात जाननेवाले हैं, सो आप ही सब समझ सकते हैं) ॥ २ ॥

टिप्पणी—(१) 'निज अवगुन'—श्रीवैजनाथजी ने पतित जीव के निम्न लिखित मुख्य मुख्य दोष गिनाये हैं—

'काम क्रोध युत कृपाहत, दुर्वादी अति लोभ।
लंपट लज्जाहीन गणि, विद्याहीन असोभ॥
आलस अति निद्रा वहुत, दुष्ट दया कर हीन।
सूम दरिद्री जानिये, रागी सदा मलीन॥
देत कुपात्रहिं दान पुनि, मरण दान दृढ़ नाहिं।
भोगी सर्व न समुझई, कछु सास्त्रन के माहिं॥
अति अहार प्रिय जानिये, अहंकार युत देखु।
महा अलच्छन पुरुष के, ये अठ्ठाइस लेखु॥'

(२) 'गुन राम रावरे'—वाल्मीकीय रामायण में श्रीरघुनाथजी के दिव्य गुणों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया गया है। कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

'इक्ष्वाकु वंशप्रभवो, रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो, द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी, श्रीमच्छत्रु निर्वर्हणः।
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानांच हिते रतः॥
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्।
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः॥
रक्षिता जीव लोकस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेद वेदांगो तत्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥
❀ ❀ ❀ ❀
सच सर्व गुणोपेतः कौशल्यानंदवर्द्धनः।
समुद्रइव गांभीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥' (बालकाण्ड)

(३) 'रहनि......बूझै'—क्योंकि अन्तर्यामी ही हृदय की बात जानकर उसका यथेष्ठ प्रतीकार कर सकता है। कबीरसाहब विनय कर रहे हैं—

'मैं अपराधी जनम का, नख सिख भरा बिकार।
तुम दाता दुखभंजना, मेरी करो सम्हार॥

अंतरजामी एक तुम आतम के आधार।
जो तुम छोड़ो हाथ तौ, कौनं उतारे पार॥'

(२३६)

जाको हरि दृढ़ करि अङ्ग कर्यो। *
सोइ सुसील पुनीत बेद बिद, बिद्या-गुननि-भर्यो॥ १॥
उतपति पांडु-तनय† की करनी सुनि सतपंथ डर्यो।
ते त्रैलोक्य-पूज्य, पावन जस सुनि सुनि लोक तर्यो॥ २॥
जो निज धरम बेद-बोधित सो करत न कछु बिसर्यो।
बिनु अवगुन कृकलास कूप-मज्जित‡ कर गहि उधर्यो॥ ३॥
ब्रह्म-बिसिख ब्रह्मांड-दहन-छम गर्भ न नृपति जर्यो।
अजर अमर कुलिसहुँ नाहिंन बध सो पुनि फेन मर्यो॥ ४॥
बिप्र अजामिल अरु सुरपति तें कहा जो नहिं बिगर्यो।
उनको कियो सहाय बहुत, उर को संताप हर्यो॥ ५॥

---

* इसी भाव का महात्मा सूरदास-रचित पद देखिये---

'जाको मनमोहन अंग कर्यो।
ताको केस खस्यो नहिं सिर तें, जो जग बैर पर्यो॥
हिरनकसिपु परिहारि थक्यो प्रहलाद न नेकु डर्यो।
अजहूँ तौ उत्तानपाद-सुत राज करत न मर्यो॥
राखी लाज द्रुपद-तनया की कोपित चीर हर्यो।
दुरजोधन को मान भंग करि बसन-प्रबाह भर्यो॥
विप्र भक्त नृग अंधकूप दिप बलि पढ़ि बेद छर्यो।
दीनदयालु कृपानिधि कापै कह्यो पर्यो॥
जो सुरपति कोप्यो ब्रज ऊपर कहिधौं कछु न सर्यो।
राखे ब्रजजन नँद के लाला गिरिधर बिरद धर्यो॥
जाको बिरद है गर्वप्रहारी सो कैसे बिसर्यो।
सूरदास भगवंत भजन करि सरन गहे उधर्यो॥'

† पाठान्तर 'सुतन।' ‡ पाठान्तर 'मज्जतु।'

गनिका अरु कंदरप तें जग मह अघ न करत उबर्यो ।
तिनको चरित पवित्र जानि हरि निज हृदि-भवन धर्यो ॥ ६ ॥
केहि आचरन भलो मानै प्रभु सो तौ न जानि पर्यो ।
तुलसिदास रघुनाथ कृपा को जोवत पंथ खर्यो* ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—अङ्ग कर्यो = अपना लिया, पक्ष किया। वोधित = विहित। कृकलास = गिरगिट। बिसिख = वाण। छम = (क्षम) समर्थ। नृपति = महाराज परीक्षित से आशय है। कन्दर्प = कामदेव। उबर्यो = बचा, बाकी रहा। जोवत = देखता है। खर्यो = खड़ा हुआ।

भावार्थ—जिसे भगवान् ने दृढ़तापूर्वक अपना लिया, वही सुशील है, पवित्र है, वेदज्ञ और समस्त विद्या एवं गुणों से परिपूर्ण है (क्योंकि वह राम का प्यारा है, इसलिये बिना बुलाये ही सारे गुण उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं) ॥ १ ॥ पांडु के पुत्रों की उत्पत्ति और उनके करतब को सुनकर सत्मार्ग तक डर गया था, किन्तु वे, श्रीहरि-कृपा से, तीनों लोकों में पूजनीय माने गये और उनके पवित्र यश को सुन सुन कर लोग तर गये (मुक्त हो गये) ॥ २ ॥ जो वेद-विहित वर्णाश्रम धर्म से तनिक भी विचलित नहीं हुआ था और विना ही किसी दोष के गिरगिट होकर कुएँ में पड़ा हुआ था, उस (नृग राजा) को आपने हाथ पकड़ कर बाहर निकाल लिया और उसका उद्धार कर दिया (गिरगिट की योनि से छुड़ा कर दिव्यलोक को भेज दिया) ॥ ३ ॥ ब्रह्मांड तक को भस्म कर देनेवाले ब्रह्मास्त्र से राजा (परीक्षित) गर्भ में न जल सका, और अजर एवं अमर (नमुचि) दैत्य वज्र से भी न मर कर फेन से मर गया (अस्त्र-शस्त्र सब रखे ही रह गये) ॥ ४ ॥ अजामेल ब्राह्मण और इन्द्र से क्या बात नहीं बिगड़ी (दोनों ने हो बड़े बड़े घोर पातक किये) ? किन्तु आपने उनकी बड़ी सहायता की और उनका कष्ट भी दूर कर दिया ॥ ५ ॥ वेश्या और कामदेव ने, ऐसा कोई भी पाप नहीं है जो न किया हो, किन्तु भगवान् ने उनका चरित्र पवित्र समझ कर उन्हें अपने हृदय-मन्दिर में स्थान दिया ॥ ६ ॥ भगवान् किस आचरण से प्रसन्न होते हैं, यह समझ में नहीं आता। तुलसीदास तो श्रीरघुनाथजी की कृपा का मार्ग देखता रहता है (और कुछ नहीं जानता है, केवल कृपा की प्रतीक्षा करता रहता है) ॥ ७ ॥

---

*पाठान्तर 'खरेउ, करेउ, परेउ' इत्यादि'

टिप्पणी—(१) 'उतपति पांडु तनय की'—पाँडु के पांचों पुत्र पाँच देवताओं के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। युधिष्ठिर धर्मराज से, भीम वायु से, अर्जुन इन्द्र से और नकुल-सहदेव अश्विनीकुमार से उत्पन्न माने जाते हैं। विस्तृत कथा महाभारत में है।

(२) 'करनी'—सब से बुरी करनी तो यही है कि पांचों भाइयों ने एक ही स्त्री 'द्रौपदी' के साथ पतिभाव माना।

(३) 'जो निज धर्म......उधर्‌यो'—२१३ पद की टिप्पणी देखिये—

(४) 'ब्रह्म......जर्‌यो'—अश्वत्थामा ने, पांडवों को निर्वंश करने के लिये, परीक्षित को गर्भ में ही ब्रह्मास्त्र से मारना चाहा था, पर भगवत्कृपा से वह ब्रह्मास्त्र से बाल-बाल बच गये।

(५) 'अजर...मर्‌यों'—नमुचि दैत्य ने ब्रह्मा से यह वर माँग लिया था कि मैं किसी अस्त्र-शस्त्र से न मारा जाऊँ, न शुष्क पदार्थ से ही मेरी मृत्यु हो, न आर्द्र से ही। देवासुर संग्राम में इस ने बड़ा उपद्रव किया। इन्द्र इसे जब न मार सके, तब आकाशवाणी हुई कि यह अस्त्र-शस्त्र से नहीं मारा जा सकता। इसकी मृत्यु समुद्र के फेन से हो सकेगी, क्योंकि वह न शुष्क है और न आर्द्र। बस, फिर क्या—यह फेन द्वारा मारा गया। यह कथा श्रीमद्भागवत में मिलती है।

(६) 'अजामिल'— ५७ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(७) 'सुरपति'—इन्द्र ने ऋषि-पत्नी अहल्या के साथ प्रसंग किया, विश्वरूप ब्राह्मण का वध किया, तथा और भी कई पातक, मदांध होकर किये। इन्द्र की अनेक पापमयी कथाएँ पुराणों में प्रसिद्ध हैं।

(८) 'गनिका'—पिंगला से आशय है; श्रीमुख से भगवान् ने उद्धव के प्रति इसकी प्रशंसा की है। ६४ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(९) 'कंदर्प'—यह प्रसिद्ध ही है कि श्रीकृष्ण भगवान् के पुत्र प्रद्युम्न कामदेव के अवतार थे।

(२४०)

सोइ सुकृती सुचि साँचो जाहि राम! तुम रीझे।
गनिका, गीध, बधिक हरिपुर गये
लै करसी* प्रयाग कब सीझे॥ १॥

*पाठान्तर 'कासी'।

कबहुँ न डग्यो निगम-मग तें पग
नृग जग जानि जिते दुख पाये।
गजधौं कौन दिछित जाके सुमिरत
लै सुनाभ† बाहन तजि धाये॥ २॥

सुर मुनि विप्र बिहाय बड़े कुल,
गोकुल जनम गोपगृह लीन्हों।
बायों दियो बिभव कुरुपति को,
भोजन जाइ बिदुर-घर कीन्हों॥ ३॥

मानत भलहि भलो भगतनि तें
कछुक रीति पारथहिं जनाई।
तुलसी सहज सनेह रामबस
और सबै जल की चिकनाई॥ ४॥

शब्दार्थ--सुकृती = पुण्यकर्मा । करसी कंडो। निगममग = वैदिक धर्म। दिछित = (दीक्षित) मंत्र-शास्त्री, गुरुमुख; यज्ञ में सोम रस का पान करनेवाला। सुनाभ = चक्र। वाहन = गरुड़ से आशय है। बिभव = ऐश्वर्य। कुरुपति = दुर्योधन से अभिप्राय है। पारथ = अर्जुन से आशय है।

भावार्थ—हे रामजी! जिस पर आप प्रसन्न हो गये हैं, वही सच्चा पुण्यात्मा और पवित्रात्मा है। वेश्या (पिंगला), गीध (जटायु) और बहेलिया (वाल्मीकि) जो साकेत धाम चले गये वे कब प्रयाग में कण्डों की आग में जल कर मरे थे (पञ्चाग्नि तप करते हुए मरे थे)? (कभी नहीं, उन्होंने कोई भी तप नहीं किया था)॥ १॥ राजा नृग कभी वेदोक्त मार्ग पर से एक पैर भी नहीं हटा था (सदा धर्म-मार्ग पर डटा रहता था), किन्तु संसार जानता है, उसने कितने दुःख भोगे (अर्थात् गिरगिट की योनि पाकर सहस्रों वर्ष कूएं में पड़ा रहा)! और हाथी कहां का दीक्षित था, कि जिसके एक बार (राम) नाम स्मरण करते ही (उसे ग्राह से छुड़ाने के लिये) आप गरुड़ को छोड़ कर, चक्र सुदर्शन लिये हुए, दौड़े आये?॥ २॥ देवता, मुनि, और ब्राह्मणों के ऊँचे कुल छोड़ कर आपने गोकुल में गोप के घर में जन्म लिया

† पाठान्तर 'सुनाभ'। 'नभबाहन'

(क्योंकि आप वसुदेव और नन्द पर प्रसन्न थे)। कौरवेश महाराज दुर्योधन के ऐश्वर्य को तुच्छ समझ कर आपने (दीन) विदुर के घर जाकर (साग भाजी का) भोजन किया (यह भी आपकी रीझ ही थी) ॥ ३ ॥ भगवान् अपने सद्भक्तों के साथ भला मानते हैं। भाव, भक्तों के प्रेमाधीन रहते हैं, अन्य साधनोंद्वारा वश में नहीं होते। यह भक्त-वत्सलता की रीति कुछ कुछ आप ने अर्जुन को बताई थी। हे तुलसीदास! श्री रघुनाथजी निष्कपट प्रेम के अधीन हैं; और जितने साधन हैं, वे ऐसे हैं, जैसे पानी पर की चिकनाई! भाव यह है कि, पानी पड़ते ही, थोड़ी देर के लिए, शरीर चिकना सा मालूम होता है, पर सूखने पर फिर ज्यों का त्यों रूखा हो जाता है। इसी प्रकार अन्य साधनोंद्वारा क्षणिक सुख-शान्ति प्राप्त होती है, मायारूपी हवा लगते ही न जाने वह सुख-शान्ति कहां हवा हो जाती है! ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'गनिका'—९४ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये।

(२) 'गीध'—जटायु; ४३ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(३) 'ब्याध'—वाल्मीकि; ६४ पदकी चौथी टिप्पणी देखिये।

(४) हरिपुर......सीझे'—'करसी' के स्थानपर 'काशी' पाठ मानने वाले इसका यह अर्थ करते हैं—

"वेश्या, गिद्ध, निषाद को वैकुंठ ले गये, सो इन्होंने काशी और प्रयाग में कब स्नान किये थे।" कौन वैकुण्ठ ले गया? यह नहीं बतलाया।

(५) 'बायों दियो......कीन्हों'—एक बार अभिमानी दुर्योधन ने अपना ऐश्वर्य दिखाने के लिये श्रीकृष्ण का निमंत्रण किया। गर्वप्रहारी भगवान् उसका कपटभाव जान गये। वे उसके यहां न जाकर दीन विदुर के घर चले गये और विदुर की परम साध्वी स्त्री से भोजन मांगने लगे। वहाँ सिवा साग-भाजी के रखा ही क्या था? उसी का आपने बड़े प्रेम से भोग लगाया। विदुर की स्त्री ने प्रेमावेश में केले का गूदा तो अलग फेंक दिया और छिलके भगवान् के हाथ में दे दिये। आप छिलके ही बड़े भाव से खा गये। सूरदासजी ने भी लिखा है—

'कौन धौं जाति अरु पाँति बिदुर की, ताके गृह पग धारत।'

× × × ×

'संतन भक्त मित्र हितकारी, स्याम बिदुर गृह आये।

अति रस नाको प्रीति निरन्तर, साग भोग ह्वै आये।'

(६) 'रीति पारथहिं जनाई'—अधिक क्या, भगवान् ने सारथी बन कर अर्जुन का रथ हांका, समय-समय पर उनकी भली-बुरी बात सुनी, और सदा मैत्री का निर्वाह किया।

(७) 'श्रीसूरदासजी भी इसी रीझ पर एक पद लिख गये हैं। देखिये—

'जापै दीनानाथ ढरै।
सोइ कुलीन बड़ो सुंदर सोइ, जा पर कृपा करै॥
राजा कौन बड़ो रावन तें, गर्वंहि गर्व गरै।
रंक सु कौन सुदामां हू तें, आप समान करै॥
रूपव कौन अधिक सीता तें, जनम बियोग भरै
अधिक कुरूप कौन कुवजा तें हरि पति पाइ वरै॥
जोगी कौन बड़ो संकर तें ताकहँ काम छरै।
कौन विरक्त अधिक नारद सों, निसिदिन भ्रमत फिरै॥
अधम सुकौन अजामिल हू तें जम तहँ जात डरै।
सूरदास भगवन्त-भजन बिनु, फिरि फिरि जठर परै॥'

(२४१)

तब तुम मोहू से सठनि को हठि गति देते*।
कैसेहुँ नाम लेहि कोउ पामर, सुनि सादर आगे ह्वै लेते॥१॥
पाप-खानि जिय जानि अजामिल जमगन तमकि तये ताको भेते।
लियो† छुड़ाइ चले कर मींजत पीसत दाँत गये रिस-रेते॥ २॥
गोतम-तिय, गज, गीध, बिटप, कपि हैं नाथहिं नीके मालुम जेते‡।
तिन्ह तिन्ह काजनि साधु-सभा§तजि कृपासिंधु तब तब उठि गेते॥३॥
अजहुँ अधिक आदर यहि द्वारे, पतित पुनीत होत नहिं केते।
मेरे पासंगहु न पूजिहैं, ह्वै गये, हैं, होने खल जेते॥ ४॥
हौं अबलौं करतूति तिहारिय चितवन हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात मो पै परिहास एते॥ ५॥

---

* पाठान्तर 'तौ तुम मोहूं से शठान हाठ न गाति देते'; 'तौ तुम मोहूं से सठानि को हठि गति न देते।' † पाठान्तर 'लिये।' ‡ पाठान्तर 'तेते।' § पाठान्तर 'तिन्ह के नका साधु समाज।'

शब्दार्थ—गति=मोक्ष। पामर=पापी। तमकि=क्रोध कर के। रिस-रेते=क्रोधिता। विटप=यमलार्जुन से आशय है। गे ते=वे गये थे। पासंगा=तराजू के पलड़ों की कसर।

भावार्थ—तो आप मुझ-जैसे दुष्टों को भी हठपूर्वक मोक्ष देते (यदि आप ने दुष्टों को मोक्ष दी है)। कोई कैसा ही पापी क्यों न हो, पर ज्योंही वह आपका नाम लेता है, आप आदर के साथ उसे आगे होकर लेते हैं (यह तो सिद्ध हो चुका कि आप बड़े बड़े पापियों और दुष्टों को शरण में ले लेते हैं, उन्हें संसार से मुक्त कर देते हैं। पर मुझे अभी तक क्यों गति नहीं दी ? क्या मैं दुष्ट नहीं हूं ? सो तो नहीं, कुछ और ही कारण होगा।)॥ १ ॥ (पापियों के उद्धार के उदाहरण लीजिये) यमदूतों ने अपने जी में अजामेल को पापों की खानि समझ कर उसे डाँट-दपट कर भय दिखाते हुए कष्ट दिया, किन्तु आपने उसे, उनके हाथ से, छुड़ा लिया। बेचारे यमदूत हाथ मलते हुए और दाँत पीसते हुए क्रोध भरे चले गये (कुछ भी वश न चला) ॥ २ ॥ गौतम की स्त्री (अहल्या), हाथी, गीध (जटायु), वृक्ष (यमलार्जुन), बंदर और जो जो आपको अच्छी तरह मालूम हैं, उन सब का जब कोई काम पड़ा, तब आप संत-समाज को भी छोड़कर वहां से चले गये (उनका कष्ट आपको क्षण मात्र को भी सहन न हो सका) ॥ ३ ॥ इस दरवाज़े पर आज भी पापियों का बड़ा आदर है। कितने पापी नित्य पवित्र नहीं बनाये जाते हैं ? (यदि यही बात है कि पापियों का ही आदर और उद्धार होता है, तो मैं इतना भारी पापी हूं कि) संसार में जितने पापी हुए हैं, हैं, और होंगे, वे सब मेरे पसंगे में भी पूरे न होंगे ! (तब तो मेरा उद्धार सब से पहले होना चाहिये था, पर अभी तक नहीं हुआ, इसका क्या कारण है ?)॥ ४ ॥ अब तक मैं आपके करतब की ओर टक लगाये देख रहा था (कि कब आप मुझे शरण में लेते हैं), पर आपने इधर आँख भी नहीं उठाई ! (अब तक कृपा ही नहीं की)। बस, अब तुलसीदास आपके नाम का पुतला बांधेगा, क्योंकि मुझ से अब इतनी हँसी सहन नहीं हो सकती। (लोग खूब तालियां पीट पीट कहते हैं कि देखो, यह कैसा पाखंडी है ! बनने चला रामदास ! जो यह रामदास होता तो यह क्यों मारा-मारा फिरा करता ?) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'कैधौं.....ते' विशेषण इस प्रसंग का प्रमाण है।

कैसा घोर पातकी था, पर शरण में जाने से भगवान् ने उसका कैसा आदर किया, यह किसी से छिपा नहीं है। निम्नलिखित पद देखिये—

'रामहिं करत प्रनाम निहारि कै ।
उठे उमँगि आनंद-प्रेम-परिपूरन बिरद बिचारि कै ॥
भयो बिदेह बिभीषन उत, इत प्रभु अपुनपौ बिसारि कै ।
भली भाँति भावत भरत ज्यों भेट्यो भुजा पसारि कै ॥
सादर सबहिं मिलाइ समाजहिं निपट निकट बैठारि कै ।
बूझत छेम कुसल सप्रेम अपनाइ भरोसे मारि कै ॥
नाथ ! कुसल कल्यान सुमंगल बिधि सुख सकल सुधारि कै ।
देत लेत जे नाम रावरो बिनय करत मुख चारि कै ॥
जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि महेस मन मारि कै ॥
जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि महेस मन मारि कै ।
तुलसी तेहि हौं लियो अंक भरि, कहत कछू न सँवारि कै ॥' (गीतावली)

(२) 'अजामिल'—पद ५७ की चौथी टिप्पणी देखिये ।

(३) 'गोतम तिय'—अहल्या; पद ४३ की दूसरी टिप्पणी देखिये ।

(४) 'गज'—५७ पद की टिप्पणी देखिये ।

(५) 'गीध'—जटायु; ४३ पद की पांचवी टिप्पणी देखिये ।

(६) 'विटप'—यमलार्जुन; ७८ पद की चौथी टिप्पणी देखिये ।

(७) 'पूतरो बांधि है'—जब नटों को खेल दिखाने पर कुछ नहीं मिलता है, तब वे कपड़े का पुतला बना कर बांस पर लटकाये हुए कहते फिरते हैं कि—देखो यह सूम है। सूम इस नकल से लज्जित होकर उनको कुछ न कुछ दे ही देते हैं। इसी प्रकार मैं भी एक पुतला बनाकर लिये फिरूंगा। जब लोग पूछेंगे कि यह क्या है, तो मैं यही उत्तर दूंगा कि यह सूम-शिरोमणि अयोध्याधिप महाराज रामचंद्रजी हैं। इससे आपकी आंखें अवश्य नीची हो जायँगी। और मारे शर्म के मुझे अपनाना ही पड़ेगा।

(२४२)

तुम सम दीनबंधु न दीन कोउ मोसम सुनहु नृपति रघुराई ।
मोसम कुटिल-मौलिमनि नहिं जग, तुमसम हरि न हरन कुटिलाई ॥१॥

हौं मन बचन करम पातक रत, तुम कृपालु पतितन गतिदाई।
हौं अनाथ प्रभु, तुम अनाथ-हित, चित यहि सुरति कबहुं नहिं जाई ॥२॥
हौं आरत आरति-नासन तुम, कीरति निगम पुराननि गाई।
हौं सभीत तुम हरन सकल भय, कारन कवन कृपा बिसराई ॥ ३ ॥
तुम सुखधाम राम स्रम-भंजन, हौं अति दुखित त्रिबिध स्रम पाई।
यह जिय जानि दासतुलसी कहँ, राखहु सरन समुझि प्रभुताई ॥४॥

शब्दार्थ—मौलिमनि = सिरोमणि, सर्वश्रेष्ठ। रत = लगा हुआ, सना हुआ। गति = मोक्ष। आरति = कष्ट। त्रिविध स्रम = दैहिक, भौतिक, दैविक।

भावार्थ—हे महाराज रामचन्द्र जी! आपके समान तो कोई ग़रीबों का भला करनेवाला नहीं है, और मेरे समान कोई ग़रीब नहीं है। (एक संबंध तो मेरा आपका ठीक हो गया, अब दूसरे नाते देखिये) संसार में मेरी बराबरी का दुष्ट-शिरोमणि कोई भी नहीं है और आपके बराबर, हे नाथ! कुटिलता को दूर करनेवाला भी कोई न मिलेगा (यह भी बन गया) ॥ १ ॥ मैं मन से, वचन से और कर्म से पापों में सना हुआ हूं और आप कृपाकर पापियों को मोक्ष देनेवाले हैं (यह भी ठीक है)। हे प्रभो! मैं अनाथ हूं, मेरा कोई धनी-धोरी नहीं है, और आप अनाथों का हित करनेवाले हैं। यह बात मेरे मन से कभी नहीं जाती (सदा मुझे इसका स्मरण रहता है कि मैं अनाथ हूं तो क्या हुआ, मेरा भला करनेवाले श्रीरघुनाथजी तो हैं) ॥ २ ॥ मैं दुखी हूं तो आप दुःखों के दूर करनेवाले हैं। आपका यश वेदों और पुराणों ने गाया है। मैं संसार से डरा हुआ हूं (जन्म-मरण के असह्य दुःख से डर रहा हूं) और आप समस्त भय को नाश करनेवाले हैं। (जब आपके और मेरे इतने नाते हैं, तब) क्या कारण है कि आप मुझपर कृपा नहीं करते? ॥ ३ ॥ हे श्रीरामजी! आप आनन्द के स्थान तथा श्रम के नाश करनेवाले हैं। मैं भी संसार के तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) श्रमों से अत्यंत दुःखी हो रहा हूं। सो अपने मन में इन सब बातों पर विचार करके और अपनी प्रभुता को समझ कर तुलसी दास को अपनी शरण में रख लीजिए, हाथ पकड़ कर अपना लीजिए ॥४॥

टिप्पणी—(१) इस पद में गुसाइजी ने जीव और ब्रह्म के, भक्ति के अन्तर्गत दास्यभाव के अनुसार, कई संबंध गिनाये हैं। कवितावली में भी यही बात दूसरे ढंग से लिखी गयी है। देखिये—

'राम मातु पितु बंधु सुजन गुरु पूज्य परम हित।
साहिब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित।
देस कोस कुल कर्म धर्म धन धाम धरनि गति।
जाति पाँति सब भाँति लागि रामहिं हमारि पति॥
परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ राम तें सकल फल।
कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम तें मोर भल॥'

(२४३)

यहै जानि चरनन्हि चित लायो।
नाहिन नाथ अकारन को हितु, तुम समान पुरान स्रुति गायो॥१॥
जननि, जनक, सुत, दार, बंधुजन भये बहुत जहँ जहँ हौं जायो।
सब स्वारथहित प्रीति कपट चित, काहूनहिं हरिभजन सिखायो॥२॥
सुर, मुनि, मनुज, दनुज, अहि, किन्नर मैं तनुधरि सिर काहि न नायो।
जरत फिरत त्रयताप-पापबस, काहु न हरि, करि कृपा जुड़ायो॥ ३॥
जतन अनेक किये सुख कारन, हरिपद बिमुख सदा दुख पायो।
अब थाक्यो जलहीन नाव ज्यों देखत बिपति-जाल जग छायो॥४॥
मोकहँ नाथ! बूझिये यह गति सुख-निधान निज पति बिसरायो।
अब तजि रोष करहु करुना हरि, तुलसिदास सरनागत आयो॥५॥

शब्दार्थ—जनक = पिता। दार = स्त्री। जायो = उत्पन्न हुआ। जुड़ायो = ठंढा किया, शान्त किया।

भावार्थ—यही समझ कर मैंने आपके चरणों में चित्त लगाया है (प्रेम किया है) कि हे नाथ! आप के समान, बिना किसी स्वार्थ के, हित करनेवाला कोई दूसरा नहीं है। इस बातको वेदों और पुराणों ने कहा है (आप ही को मैं ने निःस्वार्थ और निष्कारण हितू सुना है, और तो सब मतलबी यार हैं। इस लिये सब ओर से मन हटा कर आप के चरणारविन्दों में लगा दिया है)॥१॥ जहां जहां (जिस जिस योनि में) मैंने जन्म लिया, वहां वहां मेरे बहुत से पिता, माता, पुत्र, स्त्री और भाई-बन्धु हुए। वे सब अपना मतलब गाँठने के लिये प्रेम करते रहे और मन में छल-कपट रहा। किसी ने भी मुझे भगवद्भजन का उपदेश नहीं दिया (संसार-जाल में फँसने की ही सलाह दी, छूटने की किसी

ने भी नहीं दी)॥ २ ॥ शरीर धारण कर देवता, मुनि, मनुष्य, राक्षस, सर्प, किन्नर आदि किसको मैंने मस्तक नहीं झुकाया, किस के पैर नहीं पड़ा? (सभी के पैरों पर सिर रखता फिरा), किन्तु हे भगवन्! पाप के कारण तीनों तापों से जलते हुए मुझे किसी ने दया कर शान्ति नहीं दी (वे बेचारे स्वयं त्रिताप से जले जा रहे हैं, मुझे क्या शीतलता देंगे ?)॥ ३ ॥ मैंने सुख के लिये अनेक उपाय किये, पर भगवच्चरणों से विमुख होने के कारण सदा दुःख ही मिला (क्योंकि समस्त सुखों के मूल श्रीहरि-चरणारविंन्द ही हैं)। संसार में विपत्तियों का जाल बिछा हुआ देख कर अब मैं (समस्त साधनों से) ऐसा थक गया हूं, जैसे कि विना पानी के नौका थक जाती है (नाव तो तभी चल सकती है, जब कि पानी हो, बिना पानी के वह कैसे चलेगी ? इसी तरह भगवद्भक्ति-रूपी यदि जल का आधार है, तो यह साधन-नौका चलेगी। बिना इस आधार के नौका का चलना असम्भव है)॥ ४ ॥ हे नाथ! समझ लीजिये, मेरी यह दशा इसलिये हुई है कि मैंने अपने सुख-निधान स्वामी को भुला दिया। अब हे हरे! क्रोध छोड़कर इस शरणागत तुलसीदास पर दया कीजिए॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'जननि······हौं जायो'—ऐसे स्वार्थी माता-पिता और भाईबंधु किस काम के ? कहा है—

'जरउ सो संपति, सदन, सुखद, सुहृद, मातु, पितु, भाइ।
सनमुख होत जो रामपद, करइ न सहज सहाइ॥' (दोहावली)

(२) 'हरिपद ·····पायो'—सो तो ठीक ही है, क्योंकि—

'विनु गुरु होई कि ग्यान, ग्यान कि होई बिराग बिनु ?
गावहिं वेद-पुरान, सुख कि लहिय हरिभगति बिनु ?' (रामचरितमानस)

(३) 'सुखनिधान निजपति'—वास्तव में' इस जीव का सच्चा पति परमात्मा ही है। उसे भुला देने से जीव को, विधवा स्त्री की तरह, कैसी कैसी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, यह कहने की बात नहीं है। देखिये, महात्मा कबीर कांताभाव से परम विरहाकुल होकर इस 'सुखनिधान निजपति' से मिलने के लिये कैसे अधीर हो रहे हैं—

'अबिनासी दुलहा कब मिलिहौ भक्तन के रछपाल।
जल उपजी जल ही सो नेहा, रटत पियास पियास॥

मैं ठाढ़ी बिरहिन मग जोऊँ, प्रियतम तुमरी आस ॥
छोड़े गेह नेह लगि तुम सों, भई चरन लौलीन ।
तालाबेलि होति घट भीतर, जैसे जल बिन मीन ॥
दिवस न भूख रैन नहिं निंदिया, घर-अँगना न सुहाय ।
सेजरिया बैरिन भइ हम को, जागत रैन विहाय ॥
हम तो तुमरी दासी सजना, तुम हमरे भरतार ।
दीनदयाल दया कर आवो, समरथ सिरजनहार ॥
कै हम प्रान तजत हैं प्यारे, कै अपनी कर लेव ।
दास कबीर विरह अति बाढ्यो, हम को दरसन देव ॥

जिस घड़ी यह विरही जीव अपने प्राणप्यारे पति से मिल जायगा, उसी क्षण इसे अखण्ड सुख मिलेगा। जबतक उस सुखनिधान सजन से भेंट नहीं हुई, तबतक इसकी जो दुर्दशा हो सो थोड़ी है।

(२३४)

याहि तें मैं हरि! ग्यान गँवायो ।
परिहरि हृदय-कमल रघुनाथहिं, बाहर फिरत बिकल भयो धायो ॥१॥
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद अति मतिहीन मरम नहिं पायो ।
खोजत गिरि, तरु, लता, भूमि, बिल परम सुगंध कहाँ धौं आयो ॥२॥
ज्यों सर बिमल बारि परिपूरन ऊपर कछु सिवार तृन छायो ।
जारत हियो ताहि तजिहौं सठ, चाहत यहि बिधि तृषा बुझायो ॥३॥
ब्यापत त्रिविध ताप तनु दारुन, तापर दुसह दरिद्र सतायो ।
अपनेहिं धाम नाम सुरतरु तजि बिषय-बबूर-बाग मन लायो ॥४॥
तुम सम ग्यान-निधान मोहि सम मूढ़ न आन पुराननि गायो ।
तुलसिदास प्रभु यह बिचारि जिय कीजै नाथ उचित मन भायो ॥५॥

शब्दार्थ—कुरंग=हिरण। मद=कस्तूरी से आशय है। सिवार=काई। त्रिविध ताप=दैहिक, भौतिक और दैविक।

भावार्थ—हे नाथ! आपको अपने हृदय-कमल में छोड़ कर जो मैं बाहर इधर उधर अनेक साधनों में व्याकुल हो कर दौड़ता फिरा, इसीसे मैंने ज्ञान

खो दिया (अज्ञान में पड़ गया, जिसका फल यह हुआ कि आजतक आपके दर्शन नहीं हुए) ॥१॥ जैसे महान् मूर्ख मृग अपने ही शरीर में सुन्दर कस्तूरी का भेद नहीं समझता, और पहाड़, पेड़, लता, पृथ्वी और बिलों में ढूंढ़ता फिरता है कि यह बड़ी ही सुंदर सुगंध कहां से आ रही है (उसी प्रकार मैं इधर-उधर सुख के लिये दौड़ रहा हूं, यद्यपि अखंड आनन्दस्वरूप परमात्मा मेरे हृदय में ही निवास कर रहे हैं। यह मेरा भ्रम नहीं तो क्या है?) ॥२॥ जैसे तालाब निर्मल पानी से लबालब भरा है, किन्तु ऊपर से काई और घास छाया हुआ है। उस तालाब के स्वच्छ जल को छोड़ कर मैं दुष्ट अपना हृदय जला रहा हूं, और इस तरह से अपनी प्यास बुझाना चाहता हूं! इसका भाव यह है कि, हृदय-सरोवर में आत्मानन्दरूपी जल अगाध भरा है, किन्तु माया-मोह की काई लग जाने से वह दीख नहीं रहा है और यह जीव आनन्द-रूपी प्यास के मारे मरा जाता है, सांसारिक त्रिविध ताप से जला जा रहा है ॥३॥ एक तो वैसे ही शरीर में त्रिविध ताप व्याप रहे हैं जो असहनीय हैं और तिस पर दारुण दरिद्रता सता रही है। यह सब इसलिये हो रहा है कि अपने ही घर में राम-नामरूपी कल्पवृक्ष छोड़ कर मैंने विषयरूपी बबूल के बाग़ में अपना मन लगा दिया (भला उस बाग में कांटों को छोड़ कर क्या रखा है?) ॥४॥ आपके समान तो ज्ञानराशि और मेरे समान मूर्ख और कोई नहीं है, यह बात पुराणों ने कही है (ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है और जीव अज्ञ है) हे नाथ! आप सर्वशक्तिमान् हैं। सो जो आपको अच्छा लगे, वह इस तुलसीदास के लिये कीजिए ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'बाहर फिरत''' ...धायो'—किसी किसी टीकाकार के मत से 'बाहर' शब्द का अर्थ तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा आदि है। किन्तु यह उपयुक्त नहीं जान पड़ता है, क्योंकि गुसाईंजी ने तीर्थ-सेवन और मूर्ति-पूजन का कहीं भी खंडन नहीं किया, प्रत्युत उन्हें भगवत्प्राप्ति का साधन बताया है। 'बाहर' से यह अभिप्राय है कि संसारी भ्रम भरे झूठे सुखों में परमानन्द की इच्छा कर रहा है सो कैसे हो सकता है। 'विषयासक्ति' ही यहां बाहर है।

(२) 'कुरंग'—कबीरसाहब भी यही नज़ीर दे रहे हैं—

'तेरा साईं तुझ में, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूंढ़ै घास॥'

(३) 'ज्ञान निधान'—श्रुति कहती हैं—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।'

वाल्मीकीय रामायण में भगवान् रामचन्द्रजी के ज्ञान के सम्बन्ध में लिखा है—

'सान्त्वयन्सर्वभूतानि, रामः शुद्धेन चेतसा ।
गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः ॥
सत्येन लोकाञ्जयति द्विजान् दानेन राघवः ।
गुरूञ्छुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥
सत्यन्दानन्तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम् ।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥'

(२६५)

मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।
याके लिये सुनहु करुनामय मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो ॥१॥
सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो ।
बहु भाँतिन स्रम करत मोहबस, वृथहिं मंदमति बारि बिलोयो ॥२॥
करम-कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहिं मल धोयो ।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास निचोयो ॥३॥
तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहिं गोयो ।
डासत ही गई बीति निसा सब, कबहुं न नाथ ! नींद भरि सोयो ॥४॥

शब्दार्थ—बिगोयो=बिगाड़ा । सहज सुख=आत्मानन्द । बिलोयो=मथन किया । कीच=कीचड़ । निचोयो=निचोड़ा । गोयो=छिपाया । डासत=बिछौना बिछाते

भावार्थ—मुझे तो इस मूर्ख मनने खूब बिगाड़ा, बिल्कुल ही बरबाद कर दिया । हे करुणामय ! सुनिये, संसार में इस के लिये मैं जन्म-जन्मान्तरमें दुःख ही रोता फिरा (जिस योनि में गया, वहां इसके मारे नाकोदम रहा) ॥१॥ शीतल, मीठा अमृत के समान आत्मानन्द जो समीप ही रहता है, मैं ने उसे यों भुला दिया, जैसे बहुत दूर हो (यह भुलावा मन ही ने दिया, यह सब मन ही की करतूति है) । अज्ञानवश मैंने नाना प्रकार का श्रम किया । मुझ मूर्ख ने

व्यर्थ ही पानी का मथन किया । (विषय वासनाओं के जल को मथ कर उसमें से आत्मदर्शनरूपी घी निकालना चाहा । पर कहीं पानी से भी घी निकलता है । वह तो भगवद्भक्तिरूपी दूध से ही निकलेगा) ॥२॥ यद्यपि मन में यह जानता था कि कर्म-कीचड़ है, फिर भी चित्त को उसीमें सान दिया । (देखते हुए भी अंधे की तरह विषय-वासनारूपी पंक में जा फँसा) । मैं ऐसा दुष्ट और मूर्ख हूं कि प्यास के मारे गंगाजी को छोड़ कर बार बार व्याकुल हो आकाश निचोड़ता फिरा (वास्तव में, आकाश कोई स्थूल पदार्थ नहीं है, जो उसके निचोड़ने से पानी निकले । इसी प्रकार मिथ्या जगत् से आत्मानन्द प्राप्त करने की चेष्टा करता फिरा, जो असंभव है) ॥३॥ हे नाथ ! मैंने अपना एक भी अपराध नहीं छिपाया है, सो अब इस तुलसीदास पर कृपा कीजिये । मुझे बिस्तर बिछाते बिछाते ही सारी रात बीत गयी । पर, हे नाथ ! कभी नींद भर नहीं सोया । भाव यह है कि, सुख-प्राप्ति के उपाय करते करते सारा जीवन बीत गया, पर भरपूर सुख कभी न मिला । वह अखंड सुख केवल आपकी कृपा से मिल सकता है, अन्यथा नहीं, सो, अब कृपा कीजिए ॥४॥

टिप्पणी-(१) 'मोहिं......बिगोयो'—बरबाद करेगा ही, क्योंकि—

'बाजीगर का बंदरा ऐसा जिउ मन साथ ।
नाना नाच नचाइ कै, राखै अपने हाथ ॥' (कबीरदास)

(२) 'कर्म कीच'—इस पद से यह न समझ लेना चाहिए कि गुसाईंजी ने कर्म का खण्डन किया है । निष्काम कर्म का आदेश तो वह यत्र तत्र दे ही चुके हैं । यहां सकाम और विषयासक्त कर्म से तात्पर्य है जो वास्तव में बंधन का कारण है ।

(३)'मनहि मन धोयो'—रामचरितमानस में लिखा है—

'मल कै जाइ मलहिं के धोये ?'

वह तो—

राम-भक्ति जल बिनु खगराई अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई ।'

(४) 'तृषावंत......निचोयो'—अन्यत्र भी कहा है—

'तृषितो जान्हवीतीरे कूपं वाञ्छति दुर्भगः ।'

किन्तु गुसाईंजी की उक्ति इससे बढ़ कर है । 'अकाश निचोयो' में आपने चमत्कार का सारा निचोड़ निचोड़ दिया है ।

(२५८)

लोक बेद हूँ बिदित बात सुनि समुझि,
मोह-मोहित बिकल मति थिति न लहति ।
छोटे बड़े, खोटे खरे, मोटेऊ दूबरे,
राम ! रावरे निवाहे सब ही की निबहति ॥१॥
होती जो आपने बस रहती एक ही रस,
दुनी न हरष सोक साँसति सहति ।
चहतो जो जोई जोई लहतो सो सोई सोई,
केहू भांति काहू की न लालसा रहति ॥ २ ॥
करम काल सुभाउ गुन-दोष जीव-जग माया तें,
सो सभय भौंह चकित चहति ।
ईसनि, दिगीसनि, जोगीसनि, मुनीसनि हूँ,
छोड़ति छोड़ाये तें* गहाये तें गहति ॥ ३ ॥
सतरंज को सो राज, काठ को सबै समाज,
महाराज बाजी रची प्रथम न हति ।
तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ !
बहु बेष बहु मुख सारदा कहति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—थिति=(स्थिति) स्थिरता, शान्ति । दुनी=दुनिया । सासति=कष्ट । लालसा=इच्छा । हति=थी, मारना ।

भावार्थ—छोटे बड़े, बुरे भले, मोटे और दुबले, इन सब की, हे श्रीरामजी ! आपके ही निभाने से निभती है—यह बात संसार और वेदों में प्रकट है । किन्तु इसे सुनकर और विचार कर भी, अज्ञानवश, मेरी बुद्धि ऐसी व्याकुल हो रही है कि वह स्थिर ही नहीं होती, सदा चक्कर लगाया करती है ॥ १ ॥ जो यह संसार अपने वश का होता, तो सदा एक सा रहता, न किसी को हर्ष होता, न शोक । और न यातना ही भोगनी पड़ती । जो जिस चीज़ की इच्छा करता, उसे वही मिलती । किसी की कोई इच्छा बाकी न रहती (सारी कामनाएं पूरी हो जातीं) ॥ २ ॥ किन्तु ऐसा है नहीं । कर्म, काल,

* पाठान्तर 'ते जो गहाये ।'

स्वभाव, गुण, दोष, जीव, जगत् और माया यह सभी मारे डर के भौचक्के से होकर आप की भ्रकुटि की ओर देखते रहते हैं (आपके रुख पर चलते हैं)। वह माया शिव, ब्रह्मा और दिग्पालों को, योगीश्वरों को और मुनीश्वरों को आप के ही छुड़ाने से छोड़ती है और आपके ही पकड़ाने से पकड़ लेती है। सारांश, आपके रुख पर चला करती है ॥ ३ इस माया का सारा समाज शतरंज का सा राज्य है (झूठा है), सब काठ का बना है (असल में न कोई राजा है, न वज़ीर)। हे महाराज ! शतरंज की यह बाज़ी आप ही की बनाई हुई है। यह पहले नहीं थी। तुलसीदास कहते हैं कि, हे प्रभो ! इस बाज़ी की हार-जीत आप ही के हाथ में है (चाहे हराइये, चाहे जिताइये अर्थात्, चाहे बन्धन में डाल दीजिये, चाहे मुक्त कर दीजिये) यह बात सरस्वती ने अनेक वेष धारण कर, अनन्त मुखों से, कही है ॥ ४ ॥

टिप्पणी--(१) 'राम......निवहति'—कहा भी है—

'होवे है वही जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावहिं साखा॥'

× × × ×

'राम कीन चाहैं सो होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'

(२) 'छोड़ति......गहति'—प्रमाण लीजिये—

'भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया।' (भगवद्गीता)

तथा—

'उमा दारु जोषित की नाईं। सबै नचावत राम गुसाईं॥'

(३) 'सतरंज......हति'—श्रीबैजनाथजी ने 'हति' का अर्थ 'थी' लिखा है और 'अधम' का अर्थ 'माया-मोह की बाजी'। यहां आपका अर्थ-चमत्कार मंतव्य है। देखिये—

"हे रघुनन्दन ! महाराज ! मोह दल लै कै माया तथा विवेक दल लै कै जीव दोऊ बाजी रचे खेलि रहे हैं तथा अधम जो मोह की सेना है सो न हति नहीं मारे जाते हैं अरु पीछे कहे जो विवेक सेना सो मरत जाती है अर्थात् श्रवण, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका, हाथ, पद, लिंग, इति आठ कोठा हैं, पुनः प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इति आठो पांतिन के चौंसठि कोठा भये, पुनः माया के दिशि मोह बादशाह ताकी मिथ्या दृष्टि आरूढ़ दिशि की चाल विवेक दल को नाश

करता है। काम वज़ीर पर-स्त्री में रतिटेढ़ी चाल विवेक नाश करता।" इत्यादि। यहां टीकाकार महोदय ने शतरंज का पूरा पूरा खेल रूपक अलंकार में दिखाया है। आपका परिश्रम और चातुर्य परम श्लाध्य है।

(४) 'बहु वेष बहु मुख'—अनेक भाषाओं और युक्तियों से तात्पर्य है।

(२४७)

राम जपु, जीह ! जानि, प्रीति सों प्रतीति मानि,
रामनाम जपै जैहै जिय की जरनि
रामनाम सों रहनि, रामनाम की कहनि,
कुटिल-कलि-मल-सोक-संकट-हरनि ॥ १ ॥
रामनाम को प्रभाउ पूजियत गनराउ,
कियो न दुराव कही आपनी करनि।
भव-सागर को सेतु, कासी हूं सुगति हेतु,
जपत सादर* सम्भु सहित घरनि ॥ २ ॥
बालमीकि ब्याध हे अगाध अपराध-निधि,
मरा मरा जपे पूजे मुनि अमरनि।
रोक्यो बिंध्य, सोख्यो सिन्धु घटजहुं नाम-बल,
हार्‍यो हिय, खारो भयो भूसुर-डरनि ॥ ३ ॥
नाम-महिमा अपार सेष सुक बार बार,
मति अनुसार बुध बेदहुँ बरनि।
नामरति-कामधेनु तुलसी को कामतरु,
रामनाम है बिमोह-तिमिर-तरनि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—जीह = जीभ। गनराउ = गणेशजी। घरनि = स्त्री, पार्वती से तात्पर्य है। हे=थे। घटज = घड़े से उत्पन्न होनेवाले अगस्त्य ऋषि। भूसुर = ब्राह्मण। तरनि = सूर्य।

भावार्थ—हे जीभ ! राम-नाम का जप कर, उसे जान (नाम-सम्बन्धी यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर, अर्थात् वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा, इन चारों

* पाठान्तर 'सारद।'

याणियों से नाम-स्मरण किस प्रकार किया जाता है) और प्रेमपूर्वक उसमें विश्वास रख। एक राम-नाम के स्मरण करने से ही जीव की दाह दूर हो सकेगी (त्रिविध ताप शान्त होगा)। राम-नाम के साथ रहा कर (यावत् आचरण राम-नाम के अनुकूल कर) और राम-नाम ही का कथन किया कर। क्योंकि वह नाम दुष्ट कलियुग के पापों, दुःखों और अनिष्टों का हरनेवाला है (इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि एक राम-नाम-स्मरण ही सर्वसाधनों में श्रेष्ठ और अमोघ है, क्योंकि इससे जीव सहज ही मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है)॥ १॥ रामनाम के प्रभाव से गणेश जी (सर्वप्रथम) पूजे जाते हैं। गणेशजी ने अपनी करनी को स्वयं कहा है, कुछ छिपाव नहीं किया (किस प्रकार वह सर्वप्रथम पूज्य माने गये, यह कथा स्वयं उन्होंने सुनायी है)। यह रामनाम संसाररूपी समुद्र का पुल है (इसपर चढ़कर भक्तजन सहज ही संसार से तर जाते हैं) काशी में भगवान् शंकर भी पार्वती के सहित, मोक्ष-प्रदान करने के लिये इसे जपा करते हैं ॥ २ ॥ वाल्मीकि पहले दोषों की खानि थे और जाति के बहेलिया थे, किन्तु उलटा नाम 'मरा मरा' जप कर वे ऐसे बड़े हो गये कि मुनियों और देवताओं ने भी उनकी पूजा की। और अगस्त्य ऋषि ने भी इसी नाम के बलपर विन्ध्याचल को रोक लिया था एवं समुद्र को सुखा दिया था। पीछे समुद्र इन्हीं ब्राह्मण (अगस्त्य) के भय के मारे खारा हो गया ॥ ३ ॥ नाम का महत्व अपार है। इसे शेष, शुकदेव, वेद और पंडितों ने बार बार अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन किया है। रामनाम से प्रीति का होना तुलसीदास के लिये कामधेनु है। इसी तरह वह कल्पवृक्ष भी है (मनोवाञ्छित फल देनेवाली है)। अधिक क्या-रामनाम अज्ञानांधकार के दूर करने के लिये सूर्यरूप है ॥ ४ ॥

टिप्पणी— १) 'रामजपु······जरनि'—दोहावली में इससिद्धान्त के पुष्टिरूप कई दोहे मिलते हैं। दो चार सुन्दर दोहे देखिये—

'राम नाम रति, राम गति, राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल, दुहुँ दिसि तुलसीदास॥
प्रीति प्रतीति सुरीति सों, राम नाम जपु राम।
तुलसी तेरो है भलो, आदि मध्य परिनाम॥

सकल कामनाहीन जे, राम-भगति-रसलीन ।
नाम-प्रेम-पीयूष-हृद, तिनहुं किये मन मीन ॥
हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम ।
मनहुं पुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम ॥'

(२) 'पूजियत गनराउ'—पहले गणेश जी बड़े उपद्रवी थे। एक तो मदोन्मत्त हाथी-जैसे मुखवाले, दूसरे शिवजी के गणों के नायक ! इन्होंने सैकड़ों मुनियों को मार डाला। वृक्ष गिरा दिये। जंगल उजाड़ डाले। शिवजी को बड़ी चिन्ता हुई। रघुनाथजी का स्मरण किया। प्रकट होकर भगवान् ने शंकरजी से पूछा किस कार्यवश आपने मुझे बुलाया है। शंकरजी ने अपने पुत्र की व्यथामयी कथा कह सुनाई। बोले—भगवन् ! कुछ ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे हमारा पुत्र ब्रह्महत्या से मुक्त होजाय। भगवान् ने कहा—

'ब्रह्महत्या सहस्रस्य प्रायश्चितं वदामिते ।
मुच्यते कोटि हत्याभ्यो जपन्नाम सहस्रकम् ॥'

भगवान् ने गणेशजी को 'रामसहस्रनाम' जपने का उपदेश दिया। अनन्य-निष्ठा से श्रीरामनाम के स्मरण से गणेशजी कुछ ही काल में 'मंगलमूर्त्ति' माने जाने लगे। स्वयं ही गणेशजी ने कहा है—

'ततस्तद्ग्रहणादेव निष्पापोऽस्मि तदैव हि ।
तदादि सर्वदेवानां पूज्योस्मि मुनिरुत्तम ॥'

यह कथा ब्रह्माण्ड पुराण में प्रसिद्ध है।

(३) 'संभु सहित घरनि'—शिवजी ने स्वयं ही कहा है—

'अहो भवन्नाम जपन् कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या ।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मंत्रं तव रामनाम ॥' (अध्यात्म रामायण)

(४) 'वाल्मीकि'—६४ पद की चौथी टिप्पणी देखिये।

(५) 'रोक्यो विन्ध्य'—विन्ध्याचल बड़ा ऊँचा था। सूर्य के प्रचण्ड तेज के कारण जब उसके पेड़ जलने लगे, तब उसे बड़ा क्रोध आया और सूर्यके ढकने के लिये अपना शरीर बढ़ाने लगा। देवता बहुत घबराये। अगस्त्य ऋषि से आकर विनय की की। महर्षि ने रामनाम स्मरण कर विन्ध्याचल के

मस्तक पर हाथ रखकर उस से कहा—देख, जबतक मैं न लौट आऊँ, तब तक यहां ऐसा ही पड़ा रह। न अगस्त्यजी फिर कभी लौटे और न वह उठा। वैसा ही बना रहा। यह रामनाम का ही प्रभाव है।

(६) 'सोख्यो सिंधु'—एक बार सन्ध्या-समय महर्षि अगस्त्य समुद्र-तट पर पाठ-पूजा कर रहे थे। पूर्णिमासी का दिन था। समुद्र का ज्वार प्रतिक्षण बढ़ रहा था। उसकी लहरें महर्षि की पूजा की सामग्री बहा ले गयी। इन्हें बड़ा क्रोध आया और 'ॐ राम' ऐसा कह कर तीन आचमन से समुद्र को सुखा दिया। पीछे देवताओं के सानुनय आग्रह से, मूत्र के मार्ग से, खारा कर, उसे बाहर निकाल दिया। यह भी रामनाम की महिमा है।

(७) 'काम तरु रामनाम'—दोहावली में लिखा है—

'राम नाम कलि कामतरु सकल सुमंगल कंद।
सुमिरत करतल सिद्धि सब पग पग परमानंद॥
नाम राम को कलपतरु कलि-कल्यान-निवास।
जो सुमिरत भयो भाग तें, तुलसी तुलसीदास॥'

(२४८)

पाहि पाहि राम! पाहि, रामभद्र रामचंद्र
सुजस स्रवन सुनि आयो हौं सरन।
दीनबंधु! दीनता-दरिद्र-दाह-दोष-दुख-
दारुन-दुसह-दर-दरप-हरन॥ १॥
जब जब जग-जाल-व्याकुल करम काल
सब खल भूप भये भूतल-भरन।
तब तब तनु धरि भूमि-भार दूरि करि
थापे मुनि सुर साधु आस्रम बरन॥ २॥
वेद लोक सब साखी, काहू की रती न राखी,
रावन की बंदि लागे अमर मरन!
ओक दै बिसोक किये लोकपति लोकनाथ
रामराज भयो धरम चारिहु चरन॥ ३॥

सिला, गुह, गीध, कपि, भील, भालु, रातिचर,
ख्याल ही कृपालु कीन्हें तारन-तरन।
पील-उद्धरन सीलसिन्धु ढील देखियतु
तुलसी पै चाहत गलानि ही गरन॥ ४॥

शब्दार्थ—पाहि=रक्षा करो। दर=डर। दरप=अभिमान। भरन=भार। थापे=स्थापित किये। रती=तेज। अमर=देवता। ओक=आश्रय। सिला=पत्थर, यहाँ अहल्या से तात्पर्य है। रातिचर=राक्षस। ख्याल ही=लीलापूर्वक, योंही। पील=हाथी।

भावार्थ—हे श्रीरामजी! हे कल्याणस्वरूप रघुनाथ जी! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिये। आपका सुयश सुन कर शरण में आया हूं। हे दीन-बन्धो! आप दीनता, दरिद्रता, जलन, दोष, कठिन दुःख, असहनीय भय और गर्व के नाश करनेवाले हैं। मुझमें यह सभी बातें हैं; दीन हूं, दरिद्र हू, त्रिताप से जलरहा हूं, अपराधी हूं, बड़ा ही दुखी हूं, संसार से डर रहा हूं और महान् अभिमानी हूं। विश्वास है, आप मुझे इन दोषों से मुक्त कर अपना लेंगे, संसार-सागर से बचालेंगे॥१॥ जब जब आपके भक्त जगज्जालमें फँस कर दुखी हुए, काल और कर्म के वश में जा पड़े और पृथ्वीपर भारस्वरूप दुष्ट राजे हुए, तब तब आपने शरीर धारणकर पृथ्वीका बोझ दूर कर दिया (दुष्टोंका नाश कर दिया) और मुनि, देवता, संत एवं वर्णाश्रम धर्मकी स्थापना की (उद्धार किया) ॥२॥ वेद और संसार दोनों में ही प्रसिद्ध है कि जब रावण ने किसी का भी तेज न रहने दिया, सब को निस्तेज वा ऐश्वर्यहीन कर दिया और उस के काराग्रह में पड़े पड़े कभी न मरनेवाले देवता भी मरने लगे, तब, हे भगवन! आप ही ने लोक-पतियों को, इन्द्र कुवेर आदि को, आश्रय देकर निश्चिन्त किया और उन्हें फिर से लोकोंका अधिष्ठाता बनाया (जिसका जो लोक था उसे वह दिला दिया)। और आपके राज्यमें धर्म चारो चरणों से हराभरा हो गया, सत्य, तप, दया और दान पनप उठे ॥३॥ हे कृपामूर्ते! आपने लीलापूर्वक ही अहल्या, निषाद, जटायु, बंदर, भील, भालु और राक्षसों को तरण-तारण कर दिया, (उन्हें तो मुक्त किया ही किन्तु, साथ ही उन्हें ऐसा पवित्र बना दिया कि उनके संसर्ग से दूसरे भी संसार-बंधन से छूट गये)। हे गजेन्द्र-उद्धारक! हे शीलसागर! तुलसी पर आपकी ओर से ढील सी दिखाई देती है सो वह

ग्लानि के मारे गला चाहता है। सारांश, उसे इस बात पर लज्जा आ रही है कि बड़े बड़े पापी तर गये पर वह क्यों अभी तक बंधन में पड़ा सड़ रहा है। अतएव कृपा कर शीघ्र ही उसे अपना लीजिये ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'जब जब ·····बरन'—यह गीता के निम्नलिखित पद्योंका छायानुवाद जान पड़ता है—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥'

(२) 'शिला'—अहल्या; ४३ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये।
(३) 'गुह'—निषाद; १०६ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।
(४) 'गृध्र'—जटायु; ४३ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये।
(५) 'रातिचर'—विभीषण; १४५ पद की पांचवी टिप्पणी देखिये।
(६) 'पील'—गजेन्द्र; ५७ पद की टिप्पणी देखिये।

(२५८)

भली भाँति पहिचाने जाने साहिब जहाँ लौं जग
जूड़े होत थोरे ही थोरे ही गरम।
प्रीति न प्रबीन, नीतिहीन, रीति के मलीन,
मायाधीन* सब किये कालहू करम ॥१॥
दानव दनुज बड़े महामूढ़ मूड़ चढ़े
जीते लोकनाथ नाथबल निभरम।
रीझि रीझि दिये बर खीझि खीझि घाले घर
आपने निवाजे की न काहू सरम ॥२॥
सेवा-सावधान तू सुजान समरथ साँचो
सदगुन-धाम राम पावन परम।
सुरुख सुमुख एकरस एकरूप तोहि
बिदित बिसेषि घट घट के मरम ॥३॥

*पाठान्तर 'मायाहीन'।

तोसो नतपाल न कृपाल, न कंगाल मा सो
दया में बसत देव सकल धरम।
राम कामतरु-छाँह चाहै रुचि मन माँह
तुलसी बिकल बलि कलि कुधरम ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—साहिब = मालिक। जूड़े = शीतल, प्रसन्न। गरम = असंतुष्ट। निभरम = निडर, निर्भय। घाले = नष्ट किये। सुरुख = कृपा करनेवाले। घट घट के = प्रत्येक शरीर के, प्रत्येक हृदय के। नतपाल = दीनों के पालनेवाले।

भावार्थ—जहाँ तक दुनिया में मालिक हैं, उन्हें मैंने अच्छी तरह जाँच लिया है और समझ लिया है। वह थोड़ी सी ही बात में संतुष्ट हो जाते हैं और थोड़े में ही असंतुष्ट! (उनमें यह बात नहीं है कि जिसे बना दिया, उसे फिर बिगाड़ना क्या? ज़रा सी भूल होने पर वह अपने सेवकों का सर्वनाश कर डालते हैं)। न तो वह प्रेम के निभाने में कुशल हैं और न नीति ही समझते हैं। उनका बर्त्ताव कपटभरा है, क्योंकि काल, कर्म और माया ने उन्हें अपने अधीन कर लिया है (जब स्वयं वह बद्ध पड़े हैं, तब दूसरों को भला कैसे मुक्त कर सकेंगे?) ॥ १ ॥ हे नाथ! आपके बल पर दानव, दैत्य आदि बड़े बड़े दुष्ट शिर पर चढ़ गये थे और उन्होंने लोकपालों को भी निःशंक हो कर जीत लिया था। इन लोगों को इनके मालिकों (ब्रह्मा, शिव आदि) ने पहले तो इन पर प्रसन्न हो कर वर दिये, और पीछे इनके घर का स्वाहा करा दिया! अपने कृपापात्रों के बिगाड़ते समय किसी को लाज न आई (ऐसे स्वार्थी हैं) ॥ २ ॥ हे रामजी! सेवकों को आपही भली भाँति पहिचानते हैं, क्योंकि सच्चे समर्थ एवं सद्गुणों के स्थान और परम पवित्र आपही हैं। आप सब पर कृपा करनेवाले, प्रसन्न-मुख, सदा एक से रहनेवाले (न हर्षमें प्रफुल्लित और न शोक में चिंतित; त्रिकालाबाधित) और एक रूप हैं। आपको विशेष रीति से घट-घट का भेद मालूम है (जो जैसा होता है, उसे वैसा ही फल दे देते हैं, कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती) ॥ ३ ॥ आपके समान कोई गरीबों का पालनेवाला और कृपा करनेवाला नहीं है, और मुझ-सरीखा कोई कंगाल नहीं है। (अधिक क्या कहूँ?) हे देव! दया में ही समस्त धर्मों का निवास है (तात्पर्य यह कि, यदि आपको पूर्ण धर्मात्मा बनने की इच्छा है तो मुझ दीन पर दया कर

दीजिए)। हे नाथ ! आप कल्पवृक्ष हैं। मेरी रुचि है कि आपकी छाया में रहूँ (शरण में पड़ा रहूँ)। बलिहारी ! यह तुलसी कलियुग के कुटिल धर्मों (हिंसा, असत्य, पाखंड, व्यभिचार आदि) से बड़ा व्याकुल हो रहा है (कृपाकर इसकी रक्षा कीजिए, नहीं तो यह बचने का नहीं) ॥ ४ ॥

टिप्पणी--(१) 'साहिब......गरम'--दो शब्दों में 'मतलबो यार' हैं। गिरिधर कविराय ने इन स्वार्थियों पर क्या ही कुंडलियाँ गढ़ी हैं—

'साईं या संसार में, मतलब का व्यवहार।
जबलगि पैसा गाँठ में, तब लगि ताको यार ॥
तबलगि ताको यार यार संगहिं सँग डोलैं।
पैसा रहा न पास यार मुख से नहिं बोलैं ॥
कह गिरधर कविराय जगत इहि लेखा भाईं।
करत बेगरजी प्रीति यार बिरला कोइं साईं ॥

ऐसा बिरला यार तो एक परमात्मा ही है। इन स्वार्थियों की ओर से ऊब कर कविवर लछिराम कह रहे हैं—

'भरम गंवावै झरबेरी संग नीचन तें, कंटकित बेल केतकीन पै गिरत है।
परिहरि मालती सु माधवी समासदनि, अधम अरूसनके अंग अभिरत है ॥
लछिराम सोभा-सरबर में बिलास हेरि मूरख मलिन्द मन पल ना थिरत है।
रामचन्द्र चारु-चरनाम्बुज बिसारि देस बन बन बेलिन बबूर में फिरत है ॥'

(२) 'सदगुनधाम'—वाल्मीकीय रामायण के निम्नलिखित पद देखिये—

'इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी ॥
बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी श्रीमान् शत्रुनिबर्हणः।
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हितेरतः ॥
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥'

(३) 'घट घट को मरम'—कबीरसाहब कहते हैं—

'पावक रूपी साइयाँ, सब घट रहा समाय।
चित चकमक लागै नहीं, तातें बुझि बुझि जाय ॥'

(२५०)

तौ हौं बारबार प्रभुहिं पुकारिकै खिझावतो न
जो पै मोको होतो कहूँ ठाकुर ठहरु ।
आलसी अभागे मोसे तैं कृपालु पाले-पोसे,
राजा मेरे राजाराम, अवध सहरु ॥ १ ॥
सेये न दिगीस, न दिनेस, न गनेस, गौरी,
हित कै न माने बिधि हरिउ न हरु ।
रामनाम ही सों जोग छेम, नेम प्रेम-पन,
सुधा सो भरोसो एहु दूसरो जहरु ॥ २ ॥
समाचार साथ के अनाथ-नाथ ! कासों कहौं ।
नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहरु ।
निज काज, सुरकाज, आरत के काज राज,
बूझिये बिलंब कहा कहूँ न गहरु ॥ ३ ॥
रीति सुनि रावरी प्रतीति प्रीति रावरे सों,
डरत हौं देखि कलिकाल को कहरु ।
कहैही बनैगी, कै कहाये, बलि जाउँ, राम ।
तुलसी ! तू मेरो हारि हिये न हहरु' ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—ठहरु = स्थान । सहरु = शहर । हित कै = प्रेमपूर्वक । हरु = हर, शिव । जोग छेम (योगक्षेम) = वस्तु-प्राप्ति और उसकी रक्षा । पहरु = (पाहरू) चौकीदार । गहरु = विलम्ब । कहरु = अनीति ।

भावार्थ—हे नाथ ! यदि मुझे कहीं कोई स्वामी या स्थान मिल जाता, तो मैं बार बार आपको पुकार कर अप्रसन्न न करता (पर क्या करूं, मुझे तो कोई ऐसा मिलता ही नहीं कि जिसकी शरण में जाकर निर्भय रहूं । इसीसे बार बार आपके द्वार पर पुकारा करता हूं) । हे महाराज रामचंद्र जी ! मुझ-सरीखे आलसियों और अभागों का पालन-पोषण तो आपने ही किया । इसलिये, हे कृपालु ! आपही मेरे राजा हैं और अयोध्या मेरे लिये नगर है (आप स्वामी हैं और अयोध्या रहने के लिये स्थान है । यही दो चीजें तो मुझे चाहिएँ, सो मिल गयीं) ॥ १ ॥ न तो मैंने दिग्पाल (कुबेर, वरुण आदि), सूर्य, गणेश

और पार्वती ही की प्रेमपूर्वक सेवा की है और न श्रद्धा-सहित ब्रह्मा, शिव और विष्णु का ही आराधन किया है। मेरा तो योगक्षेम एक रामनाम से ही है। उसीसे मेरा नेम, उसीसे प्रेम है और उसीसे अनन्यता है। उसका भरोसा मेरे लिये अमृत के तुल्य है और दूसरे साधन विष के समान हैं। सारांश, रामनाम पर ही मेरी अनन्य निष्ठा है, यही मेरा सिद्धान्त है ॥ २ ॥ हे अनाथों के स्वामी ! मैं अपने साथवालों की बात किससे कहूँ ? क्योंकि चोर और चौकी-दार सब आपही के हाथ में हैं (आप काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि चोरों को रोक देंगे, तो मेरा ज्ञान-रूपी धन बच जायगा और जो इन्हें इशारा देंगे, तो लुट जाऊंगा। अब बचाना या लुटवाना आपकी मरज़ी पर है। मैं क्या कहूं ?) हे महाराज ! तनिक विचारिये तो, आपने अपने कामों में, देवताओं के कामों में और दीन-दुखियों के कामों में क्या कभी देर की है ? (कभी नहीं) फिर मेरे ही लिये क्यों इतना विलम्ब हो रहा है। तात्पर्य यह है कि, मुझे इस संसार-सागर से शीघ्र ही पार कर दीजिए ॥ ३ ॥ आपकी रीति (पतित-पावनता, जन-वत्सलता आदि) सुन कर मैं आप पर प्रतीति कर रहा हूं और इसी से आपके प्रति मेरा प्रेम हो गया है, किन्तु कलियुग की अनीति देख कर मैं बहुत ही डरता हूँ (कि कहीं वह मुझे आपके चरणार-विन्दों से विमुख करा कर विषयों में न फँसा दे)। हे रघुनाथ जी ! मैं आपकी बलैया लेता हूं, कहिए तो, मेरी आपके कहने से बनेगी या किसी के द्वारा कहलाने से ? केवल इतना ही कह देने से मेरी बन जायगी कि 'तुलसी ! तू मेरा है, निराश होकर हृदय में मत घबरा' ॥ ४ ॥

टिप्पणी — 'चोरऊ पहरू' — जीव के जन्म-संघाती चोर और चौकीदार यह हैं— चोर—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, हिंसा, व्यभिचार आदि । चौकी-दार—विवेक, वैराग्य, संतोष, शान्ति, दया, समता आदि। जो भगवदाश्रय होकर रहता है, उसे चोरों का क्या भय है। कहा भी है—

'कहु 'रहीम' का करि सकैं, जारी चोर लबार ?
जो पति राखनहार है, माखन चाखन हार ॥'

अथवा—

'काहू के बल भजन को, काहू के आचार।
'व्यास' भरोसे श्याम के, सोवत पाँव पसार ॥' (व्यास)

(२) 'रीति'—कदाचित इसी रीति से तात्पर्य है—

' सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो, ददाम्येतद्व्रतं मम ॥' (बाल्मीकिरामायण)

अथवा—

' सर्वान्धर्मान्परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज ।
अहंत्वां सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥ ' (गीता)

(३) 'कलिकाल को कहरु'—कबीरसाहब इस कराल कलिकाल का असद् व्यवहार देखकर कह रहे हैं—

' बाबू ऐसो है संसार तिहारो, है यह कलि व्यवहारा ।
को अब अनख सहै प्रतिदिन को, नाहिन रहन हमारा ॥
सुमति सुभाव सबै कोइ जानै, हृदया तत्त न बूझै ।
निराजिव आगे सराजिव थापै, लोचन कछुव न सूझै ॥
तजि अमरत विष काहे अँचवूँ गाँठी बाँधूँ खोटा ।
चोरन को दिय पाट सिंहासन, साहुहिं कीन्हों ओटा ॥
कह कबीर झूठो मिलि झूठा, ठग ही ठग व्यवहारा ।
तीन लोक भरपूर रह्यो है, नाहीं है पतियारा ॥'

(४) 'की कहाये'—हनुमान्, भरत, लक्ष्मण आदि के द्वारा क्या कहलाना होगी

(२५१)

राम, रावरो सुभाव, गुन सील महिमा प्रभाव,
जान्यो हर हनुमान लखन भरत ।
जिन्ह के हिये-सुथल राम-प्रेम-सुरतरु,
लसत सरस सुख फूलत फरत ॥ १ ॥
आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ भाइ पति,
ते सनेह-सावधान रहत डरत ।
साहिब-सेवक रीति प्रीति-परिमिति नीति,
नेम को निबाह एक टेक न टरत ॥ २ ॥

सुक सनकादि प्रह्लाद नारदादि कहैं,
राम की भगति बड़ी बिरति-निरत ।
जाने बिनु भगति न, जानिबो तिहारे हाथ,
समुझि सयानें नाथ ! पगनि परत ।। ३ ।।
छ-मत बिमत, न पुरान मत, एक मत*
नेति नेति नेति नित निगम करत ।
औरनि की कहा चली ? एकै बात भलै भली,
राम नाम लिये तुलसी हूं से तरत ।। ४ ।।

शब्दार्थ—फरत = फलता है । विरत-निरत = वैराग्य में अनुरक्त या परम विरक्त होने से । छ-मत = छः शास्त्रों का मत । बिमत = प्रतिकूल मत । निगम = वेद ।

भावार्थ हे राम जी ! जिनके हृदयरूपी सुन्दर थाल्हे में भगवद्भक्तिरूपी कल्पवृक्ष सुशोभित हो रहा है और जिसमें सरस फूल फूलते हैं और सुखरूपी मीठे फल फलते हैं, ऐसे शिव, हनुमान, लक्ष्मण और भरत आपके स्वभाव, गुण, शील और महिमा का प्रभाव जानते हैं (बिना अनन्य भगवद्भक्त हुए भगवदीय रहस्य का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है) ।। १ ।। आपने अपने सुशील स्वभाव के वश होकर शिवजी को स्वामी, हनुमान् को मित्र और लक्ष्मण एवं भरत को अपना भाई माना है, पर वह सब आपको अपना स्वामी ही मान रहे हैं, प्रेम में सावधान रहते हैं और आपसे डरा करते हैं (कि कहीं सेवा में कोई चूक न पड़ जाय) । यदि स्वामी और सेवक इस रीति से प्रेम करते रहें, नीति और नेम का निबाह सदा एक सा रखें और अपनी टेक से न टलें, तो उनकी प्रीति परम सीमा तक पहुंच जाती है, आजीवन निभ जाती है ।। २ ।। परम-विरक्त होने से ही श्रीरघुनाथजी की बड़ी भक्ति मिलती है—यह शुकदेव, सनकादिक, प्रह्लाद, नारद प्रभृति ने कहा है । और ज्ञान के बिना भक्ति नहीं होती है । किन्तु वह ज्ञान, हे नाथ ! आपके हाथ में है (आपकी ही कृपा से इस जीव को 'स्वरूप और परस्वरूप' का ज्ञान मिलता है) इस बात को खूब समझ कर चतुर लोग आपके चरणों पर आकर

* पाठान्तर 'पथ'।

गिरते हैं (जिन्हें आपकी भक्ति एवं आपके स्वरूप-ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा है, वह सब छोड़-छाड़ कर आपकी शरण में आते हैं) ॥ ३ ॥ छः शास्त्रों के सिद्धांत एक दूसरे के विरुद्ध हैं, पुराणों का भी मत एक सा नहीं है (आपस में एक दूसरे के विरुद्ध हैं) और वेद भी नित्य 'नेति नेति' करते रहते हैं। (परमेश्वर के स्वरूप का यथार्थ बोध वेद, शास्त्र और पुराण नहीं करा सकते) अब औरों के सम्बन्ध में तो पूछना ही क्या? (जब वेद तक 'नेति नेति' कह रहे हैं, तब भला और लोग परमार्थ के विषय में क्या बतला सकते हैं?) मुझे तो बस एक ही बात अच्छी समझ पड़ती है और इसी से भला हो सकता है। वह यह कि, राम-नाम-स्मरण करने से तुलसी-सरीखे भी (संसार-सागर से) मुक्त हो जाते हैं। (राम-नाम स्मरण ही सर्वप्रधान साधन है) ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'हर'—श्रीरघुनाथजी के ऐश्वर्य को शिवजी ही जानते हैं। ऐश्वर्य का बखान करते हुए आप कहते हैं—

'आदि अंत कोउ जासु न पावा मति अनुमान निगम अस गावा ॥
पग बिनु चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै विधि नाना ॥
आनन-रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। गहै घ्रान बिनु बास असेखा ॥
अस सब भांति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥
जेहिं इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोई दसरथसुत भक्तहित, कोसलपति भगवान ॥' (रामचरित-मानस)

(२) 'हनुमान'—भगवान् के सौशील्य के विषय में हनुमानजी का ही कथन पर्याप्त होगा। देखिये—

'कहँ हम पसु साखामृग चंचल बात कहौं मैं विद्यमान की।
कहँ हरि अज शिव पूज्य ग्यानघन नहिं बिसरति वह लगनि कान की ॥'

(३) 'लखन'—जब रघुनाथजी ने लक्ष्मणजी को धर्म और नीति का उपदेश किया, तब आप प्रेम-विह्वल होकर कहने लगे कि, हे नाथ!

'धरम नीति उपदेसिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला ॥'

(४) 'भरत'—भगवान् का स्वभाव तो एक भरतजी ही जानते हैं। अहा!

'मैं जानौं निज स्वामि-सुभाऊ। अपराधिहु पर कोप न काऊ॥
मैं प्रभु-कृपारीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥'

अन्यत्र—

'जद्यपि मोतें, कै कुमातु तें, ह्वै आई अति पोची।
सनमुख गये सरन राखहिंगे रघुपति परम सँकोची॥'

(५) 'आप माने .....माइ'—शिवजी को रघुनाथजी पूज्य भाव से मानते थे। सिद्धान्त वाक्यमें आपने कहा है—

'औरौ एक गुपुत मत, सबहिं कहौं कर जोरि।
संकर-भजन बिना नर, भगति न पावै मोरि॥' (रामायण)

सख्यभाव से हनुमानजी से कहते हैं—

'प्रत्युपकार करौं का तोरा। सनमुख ह्वै न सकत मन मोरा॥'

भरत और लक्ष्मण के विषय में क्या कहा जाय! शक्ति-आहत लक्ष्मणको गोद में लिये रघुनाथजी कहते हैं—

'और निबहि भली बिधि भायप, चल्यो लषन सो भाई॥
पुर पितु मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन बिपति बँटाई।
ता संग हौं सुरलोक सोक तजि, सक्यों न प्रान पठाई॥
जानत हौं या उर कठोर तें कुलिस कठिनता पाई।
सुमिरि सनेह सुमित्रा-सुतको दरकि दरार न जाई॥
तात-मरन तिय-हरन, गीध-बध भुज दाहिनी गँवाई।
तुलसी मैं सब भांति आपने कुल कालिमा लगाई॥'

(६) 'शुक'—श्रीमद्भागवत में शुकदेवजी ने कहा है—

'भजन्ति ये विष्णुमनन्य चेतसस्तथैव तत्कर्मपरायणा जनाः।
विनष्टरागादिविमत्सरा नरास्तरन्ति संसारसमुद्रमश्रमम्॥'

(७) 'प्रहलाद—भक्तवर प्रलहाद का भी सिद्धान्त सुनिये—

'तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽज्ञ आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्च्यात्।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम्॥'
(श्रीमद्भागवत)

(८) 'जानिबो तिहारो हाथ'—कहा भी है—
'सो जानै जेहि देहु जनाई ।' (रामचरितमानस) ।

(९) 'छ–मत'—वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा, इन छः शास्त्रों के मत; १५५ पद की पहली टिप्पणी देखिये ।

(२५२)

बाप, आपने करत मेरी घनी घटि गई ।
लालची लबार की सुधारिये बारक, बलि,
रावरी भलाई सबही की भली भई ॥ १ ॥
रोगबस तनु, कुमनोरथ मलिन मन,
पर-अपवाद मिथ्या वाद बानी हई ।
साधन की ऐसी बिधि, साधन बिना न सिधि
बिगरी बनावै कृपानिधि की कृपा नई ॥ २ ॥
पतित-पावन, हित आरत अनाथनि को,
निराधार को अधार दीनबंधु दई ।
इन्ह में न एकौ भयो बूझि न जूझ्यो न जयो
ताहिते त्रिताप-तपो लुनियत बई ॥ ३ ॥
स्वाँग सूधो साधु को, कुचालि कलि तें अधिक
परलोक फीकी मति लोक रंग रई ।
बड़े, कुसमाज राज आजुलौं जो पाये दिन,
महाराज ! केहू भाँति नाम ओट लई ॥ ४ ॥
रामनाम को प्रताप जानियत नीके आप,
मोको गति दूसरी न बिधि निरमई ।
खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसी की निलजई ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—घनी = बहुत । लबार = झूठा । बारक = (बार + एक) एक बार । अपवाद = निन्दा । हई = नष्ट की । दई = दयालु । जयो = जीता । जूझ्यो = युद्ध किया । रई = रंग गई । निरमई = बनाई । निलजई = बेशर्मी ।

भावार्थ—हे पिता ! मैं ने अपने ही हाथ अपनी करनी बहुत बिगाड़ डाली है, पहले मेरी करनी बहुत अच्छी थी, पर अब सब नष्ट हो गई । बलिहारी ! इस लोभी और झूठे की बात एक बार तो सुधार दीजिए। क्योंकि जिस जिस के साथ आपने भलाई की, उसकी बात बन गई । सो आज मेरी भी खोटी बात खरी कर दीजिए) ॥ १ ॥ शरीर रोगी है, मन बुरी बुरी इच्छाओं से मैला हो गया है और वाणी दूसरे की निन्दा और वितंडावाद से ख़राब हो गई है, रहे साधन, जो वे बिना साधे सिद्ध नहीं होते हैं । इस से, हे कृपानिधे ! आप की एक कृपा ही ऐसी अनूठी है, जो मेरी बिगड़ी बात को बना देगी। (क्योंकि मुझसे न कर्म-कांड सध सकता है, न ज्ञान-निरूपण कर सकता हूं, और न आप का भजन ही बनता है) ॥ २ ॥ आप पापियों का उद्धार करते हैं, दुखियों और अनाथों के हितू हैं, जिनका कहीं ठौर-ठिकाना नहीं है उन्हें आश्रय देते हैं, दीनों का भला करते हैं और सब पर दया-भाव रखते हैं। किन्तु मैं तो इन में से एक भी नहीं हूं (मुझ पर आप क्यों कृपा करेंगे)। न तो मैं ने ज्ञान प्राप्त करके अपने शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह) के ही साथ युद्ध किया और उन पर विजय ही प्राप्त की। (उलटा उनके अधीन हो गया हूं, फिर भला मेरा निस्तार कैसे होगा ?) इसी से मैं दैहिक, भौतिक और दैविक इन तीनों तापों से जल रहा हूं। जो बोया सो काट रहा हूं (किसे दोष दूं ?) ॥ ३ ॥ मैंने स्वाँग तो सरल-साधु जैसा बना लिया है, पर दुराचारी इतना अधिक हूं कि कलियुग भी मेरे सामने कुछ नहीं है। मेरी बुद्धि को पारमार्थिक विषय नीरस जान पड़ता है, क्योंकि वह संसार की बातों में रँगी हुई है (विषय-वासनाएं ही उसे अच्छी लगती हैं, पुत्र-कलत्र और धन पर वह लालायित हो रही है) हे महाराज ! इस बुरी समाज के साथ आजतक जितने दिन बीते वे व्यर्थ ही गये । आज किसी न किसी तरह आपके नाम का आश्रय लिया है (इससे समझ पड़ता है कि अब मेरे दिन फिरेंगे और करनी सुधर जावेगी) ॥ ४ ॥ आप भली भाँति जानते हैं कि आप के नाम का कैसा प्रताप है। मुझे तो सिवा आप के नाम के विधाता ने दूसरी गति बनाई ही नहीं। मेरा भला तो एक आप के नाम से ही होगा, यह मुझे निश्चय है । आपके असंतुष्ट होने के योग्य मेरे करोड़ों कुकर्म हैं, किन्तु संतुष्ट होने के लायक एक निर्लज्जता ही है। मेरी निर्लज्जता पर प्रसन्न होकर कृपा कर दीजिए, क्योंकि मेरी निर्लज्जता अनोखी है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'स्वांग सूधो साधु को......रई'—कलियुगी साधुओं की ओर संकेत जान पड़ता है । व्यासजी ने भी यही बात कही है—

' साधत बैरागी जड़ बंग ।
धातु रसायन औषध सेवत, निसिदिन बढ़त अनंग ॥
सुक बचनन को रंग न लाग्यो, भयो न संसय भंग ।
बिष विकार गुन उपजै वित लगि सबै करत चित भंग ॥
बन में रहन, गहत कामिनि-कुच, सेवत पीन उतंग ।
धनि धनि साधु ! दंभ की मूरति, दियो छाँडि हरि-संग ॥
लोभ बचन बानति अँग अँगनि सोभित निकर निखंग ।
व्यास आस जमपाल गरे तिहि भाव राग न रंग ॥

(२) 'लुनिपुत वई'—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम् ।'
'तुमसों कहा न होय, हा हा ! सो बुझैये मोहि,
हौं हूं रहौं मौन ही, बयो सो जानि लुनिये ॥' (हनुमान बाहुक)

(२५३)

राम, राखिये सरन राखि आये सब दिन ।
बिदित त्रिलोक तिहुं काल न दयालु दूजो,
आरत-प्रनत-पाल को है प्रभु बिन ? ॥ १ ॥
लाले-पाले, पोषे-तोषे आलसी अभागी अघी
नाथ पै अनाथनिसों भये न उरिन ।
स्वामी समरथ ऐसो हौं तिहारो जैसो-तैसो
काल-चाल हेरि होति हिये घनी घिन ॥ २ ॥
खीझि रीझि बिहँसि अनख क्यों हूँ एक बार
' तुलसी तू मेरो ', बलि, कहियत किन ?
जाहि सूल निरमूल, होहिं सुख अनुकूल,
महाराज ! राम ! रावरी सौं तेहि छिन ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अघी = पापी । उरिन = (उऋण) बेबाक = घनी = बहुत ।
अनख = क्रोध ।

भावार्थ—हे रघुनाथजी, मुझे अपनी शरण में रखिये, क्योंकि आप सदा से दीनों को अपनाते आये हैं। यह प्रत्यक्ष है कि तीनों लोकों और तीनों-कालों में आप के समान कृपालु दूसरा नहीं है। हे नाथ! आप को छोड़ कर दुखियों और दीनों की रक्षा करनेवाला कौन है? (कोई भी नहीं) ॥१॥ आपने आलसी, अभागे और पापी लोगों का लालन-पालन किया, पाला पोसा और प्रसन्न रखा, तिस पर भी आप उन से उऋण नहीं हुए, कर्ज़दार बने ही रहे। हे प्रभो! आप तो समर्थ हैं, पर मैं जैसा हूं, तैसा आप ही का हूं (मुझे कहीं कोई ठौर-ठिकाना नहीं है, न मेरा कोई धनीधोरी ही है) । कलिकाल की कुटिल चाल देख कर मेरे हृदय में बड़ी घिन हो रही है (यह शंका है कि कहीं यह दुष्ट आप के चरणों की ओर से मेरे मन को फेर न दे, तो सब बनी-बनाई बात मिट्टी में मिल जाय) ॥ २ ॥ बलिहारी! एक बार नाराज़ी से अथवा प्रसन्नता से, मुसकराकर या तेवरी चढ़ा कर, किसी भी तरह सही, इतना क्यों नहीं कह देते कि 'तुलसी तू मेरा है'। इतना कह देने से ही मेरा सारा दुःख जड़ से उखड़ जायगा, दुःख का लेश भी न रहेगा। हे महाराज रामचन्द्र जी! मैं आप की शपथ खा कर कहता हूं, उसी क्षण समस्त सुख मेरे अनुकूल हो जायँगे (क्योंकि 'भगवदीय' होने में ही सच्चा और संपूर्ण आनन्द है) ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'काल चाल······घिन'—कलिकाल की माया देख कर व्यास-जी भी घबरा कर कह रहे हैं—

'धर्म दुर्‌यो कलिराज दिखाई।
कीनों प्रगट प्रताप आपुनो सब बिपरीत चलाई॥
धन भो मीत धर्म भो बैरी, पतितन सों हितवाई।
जोगी जती तपी सन्यासी व्रत छांड़्यो अकुलाई॥
बरनाश्रम की कान चलावै संतनहु में आई।
देखत संत भयानक लागत भावते ससुर जमाई॥
संपति सुकृत सनेह मान चित ग्रह व्योंहार बड़ाई।
कियो कुमंत्री लोभ आपुनो महा मोह जु सहाई॥
काम क्रोध मद मोह रु मत्सर दीन्हीं देस दुहाई।
दान लेन को बड़े पातकी मचलन को बँभनाई॥

लरन मरन को बड़े तामसी वारौं कोटि कसाई ।
'व्यासदास' के सुकृत सांकरे में गोपाल सहाई ॥'

(७) 'जाहि···छिन'—क्योंकि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' (श्रीमद्भागवत)

(२५४)

राम, रावरो नाम मेरो मातु-पितु है ।
सुजन, सनेही, गुरु, साहिब, सखा, सुहृद,
राम-नाम-प्रेम-पन अविचल बितु है ॥ १ ॥
सतकोटि चरित अपार दधिनिधि* मथि
लियो काढ़ि बामदेव नाम-घृतु है ।
नाम को भरोसो बल, चारिहूँ फल को फल,
सुमिरिये छाँड़ि छल, भलो क्रतु है ॥ २ ॥
स्वारथ-साधक, परमारथ-दायक नाम
राम-नाम सारिखो न और दूजो हितु है ।
तुलसी सुभाव कही, साँचिये परैगी सही
सीतानाथ-नाम नित चितहूँ को चितु है† ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बितु=(वित्त) धन । दधिनिधि=दही का समुद्र । बामदेव= शिवजी । क्रतु=कर्म; यज्ञ । स्वारथ=व्यवहार । परमारथ=मोक्ष ।

भावार्थ—हे रघुनाथजी ! आप का नाम ही मेरा माता-पिता, सगा-सम्बन्धी, प्रेमी, गुरु, स्वामी, मित्र और सखा है । और आप के नाम से जो मेरा अविरल प्रेम है, वही मेरा अटल धन है (और धन तो खर्च करने से कम हो जाते हैं, पर आप का नाम-धन दिन पर दिन बढ़ता है, अतएव अक्षय है) ॥ १ ॥ शिवजी ने सौ करोड़ चरित्ररूपी अगाध दधि-सागर से नामरूपी घी मथकर निकाला है (आप के समस्त चरित्रों का सार 'रामनाम' ही

---

* पाठान्तर 'दयानिधि ।' † पाठान्तर 'सीतानाथ नाथन के चितहूं को चितु है; सीतानाथ-नाम चितहूं को चितु है ।'

माना है)। आप के नाम का बल-भरोसा चारो फलों का फल, अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का सारस्वरूप है। अतएव कपटभाव छोड़ कर इसका स्मरण करना चाहिए। यही सर्वोत्तम यज्ञ है। (कलियुग में नाम-कीर्त्तन के तुल्य कोई भी यज्ञ नहीं है)॥ २॥ आप का नाम स्वार्थ का साधनेवाला अर्थात् सांसारिक सुख देनेवाला एवं परमार्थ, मोक्ष का प्रदान करनेवाला है। श्री रामनाम के समान हित करनेवाला और कोई भी नहीं है। यह बात तुलसी ने स्वभाव से ही कही है, निष्कपटभाव से कही है, सो सचमुच ही इसपर सही पड़ेगी। हे जानकीरमण! आपका नाम चित्त का भी चित्त है (चैतन्य आत्मा को भी चैतन्य करनेवाला है, परमार्थ का बोधक एवं जीव का उद्धारक है)॥३॥

टिप्पणी— १) 'नाम को भरोसो'—गुसाईंजी ने अन्यत्र कहा है—

'राम नाम पर राम तें, प्रीति प्रतीति भरोस।
सो तुलसी सुमिरत सकल, सगुन-सुमंगल-कोस॥
राम नाम-अवलंब बिनु, परमारथ की आस।
बरषत वारिद बूंद गहि चाहत चढ़न अकास॥'

(२) 'भलो कृतु है'—रामनामरूपी यज्ञ का फल सद्यःसफल है। कहा भी है—

'तुलसी प्रीति प्रतीति सों, राम नाम जप जाग।
किये होइ विधि दाहिनो, देइ अभागेहि भाग॥'

(३) 'परमारथ-दायक '—यथा—

'अविकारी विकारी वा, सर्वदोषैकभाजनः।
परमेशपदं याति, रामनामानुकीर्त्तनात्॥' (विष्णु पुराण)

(२२५)

राम! रावरो नाम साधु-सुरतरु है।
सुमिरे त्रिविध घाम हरत पूरत काम
सकल-सुकृत-सरसिज को सरु है॥ १॥
लाभहू को लाभ, सुखहू को सुख सरवस,
पतित-पावन, डरहू को डरु है।
नीचे हू को, ऊँचे हू को, रंक हू को, राव हू को,
सुलभ, सुखद आपनो सो घरु है॥ २॥

बेद हू, पुरान हू, पुरारि हू पुकारि कह्यो,
नाम-प्रेम-चारिफल हू को फरु है।
ऐसे राम-नाम सों प्रीति न प्रतीति मन,
मेरे जान जानिबो सोई नर खरु है॥ ३॥
नाम सो न मातु-पितु मीत हित बंधु गुरु
साहिब सुधी सुसील-सुधाकरु है।
नाम सों निबाह नेह, दीन को दयालु देहु
दासतुलसी को, बलि, बड़ो बरु है॥ ४॥

शब्दार्थ—सरु = तालाब। पुरारि = पुर दैत्य के शत्रु, शिवजी। फरु = फल। खरु = (खर) गधा। सुधी = बुद्धिमान्। बरु = बल।

भावार्थ—हे रघुनाथजी! आप का (राम) नाम साधुओं के लिये कल्प-वृक्ष है। इसका स्मरण करने से तीनों ताप (दैहिक, भौतिक और दैविक) दूर हो जाते हैं। चित्त शान्त और सुखी हो जाता है, समस्त कामनाएँ सफल हो जाती हैं। क्योंकि वह समग्र पुण्यरूपी कमलोंका सरोवर है (पुण्य-प्रताप से ही त्रिविध ताप दूर होता है और चित्त में सुख-शान्तिका उदय होता है) ॥ १॥ वह लाभ का भी लाभ, सुख का भी सुख और सर्वस्व है। वह पापियों का उद्धार-कर्त्ता और भय का भी भय, अर्थात् मृत्यु को भी भयभीत करनेवाला है (अजामेल के मुख से भगवन्नाम निकलते ही यमदूत डर कर भागे थे)। वह नीच को, ऊँच को, रंक को, राव को-सभी को सुगम है। सभी को सुख देने-वाला है। और अपने निजी घर के समान आराम देनेवाला है। (जो उसे अपते हैं, उन्हें किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता, सदा चैन से रहा करते हैं) ॥ २॥ वेदों ने, पुराणों ने और शिवजी ने भी पुकार पुकार कर कहा है कि रामनाम से लौ लगाना चारों फलों का फल है, (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का भी सार है)। ऐसे श्रीराम-नाम पर जिसका प्रेम और विश्वास नहीं है, मेरी समझ में, उस मनुष्य को गधा समझना चाहिए (जैसे गधे को दिनरात पीठ पर बोझा लादे हुए घूमना पड़ता है, उसी प्रकार वह मनुष्य जीवनभार ढोता हुआ रात-दिन भटकता फिरता है) ॥ ३॥ पिता, माता, मित्र, हितकारी, भाई, गुरु और स्वामी, इनमें से कोई भी श्रीराम-नाम के समान नहीं है। वह बुद्धि-स्वरूप, शीलमूर्ति और चन्द्रमा के समान सुन्दर है।

हे कृपालु ! बलिहारी—तुलसीदास को वही बड़ा बल दीजिए, जिससे आपके नाम के साथ उस दीन का प्रेम निभ जाय (बीच में कोई बाधक न हो) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'साधु सुरतरु है'—इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि श्रीरामनाम सन्त और कल्पवृक्ष दोनों के ही समान सब फलों का देनेवाला है। साधु से जो कुछ भी मांगो, वह दे देता है। यही बात कल्पवृक्ष की भी है। अतएव साधु और कल्पवृक्ष दोनों ही नाम के उपनाम हो सकते हैं।

(२) 'पुरारि हू कह्यो'—देखिये, काशी की वीथियों में कोई जटिल तपस्वी क्या कहता फिरता है—

'पेयं पेयं श्रवणपुटके रामनामाभिरामम्
ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम् ।
जल्प्यं जल्प्यं प्रकृति विकृतौ प्राणिना कर्णमूले
वीथ्यां वीथ्यां अटति जटिलः कोऽपि काशी-निवासी ॥ '

कदाचित् यह जटिल काशी-निवासी भगवान शंकर ही हैं।

(३) 'सोई नर खर है'—भगवद्विमुख जीव को गधे की उपाधि से विभूषित करना कोई नई बात नहीं है। श्रीमद्भागवत में भी इसका प्रमाण मिलता है। स्वयं श्रीमुख से भगवान् ने कहा है—

'यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्य वेत्ता नतु चंदनस्य ।
तथाहि विप्रा षट्शास्त्रयुक्ताः मद्भक्तिहीनाः खरवद्वहन्ति ॥'

(४) 'बरु है'—श्रीवैजनाथजी और भट्टजी ने इसका अर्थ 'वरदान' किया है।

(२५६)

कहे बिनु रह्यो न परत, कहे राम ! रस न रहत ।
तुमसे सुसाहिब की ओट जन खोटो खरो
काल की करम की कुसाँसति सहत ॥ १ ॥
करत बिचार सार पैयत न कहूँ कछु,
सकल बड़ाई सब कहाँ ते लहत ?

नाथ की महिमा सुनि समुझि आपनी ओर
हेरि हारि कै हहरि हृदय दहत* ॥ २ ॥
सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु, आप
माय बाप तुही साँचो तुलसी कहत।
मेरी तौ थोरी ही† है सुधरेगी बिगरियो
बलि, राम रावरी सौं रही रावरी चहत ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—कुसाँसति = बुरे कष्ट। हहरि = घबरा कर।

भावार्थ-हे रघुनाथजी! बिना कहे तो रहा नहीं जाता और कहने पर कुछ रस नहीं रहता है (मज़ा किरकिरा हो जाता है)। आप सरीखे सुन्दर स्वामी की शरण पाकर भी आपका सेवक—भलेही वह बुरा या भला हो—दारुण दुख भोग रहा है, जो काल और कर्म के कारण हो रहे हैं (यही बात है, जो मुँह से रोकने पर भी निकल आती है। यदि किसी दूसरे को यह सुनाऊँ, तो उसमें क्या रस रहेगा? क्योंकि कोई मेरा क्लेश तो दूर करेगा नहीं, उलटा हँसी उड़ायेगा) ॥१॥ विचार किया करता हूं पर कहीं कुछ सार नहीं मिलता, ठीक ठीक समझ में नहीं आता कि सब लोगों ने कहाँ से बड़प्पन पाया है, वह कौन सा द्वार है, जहां से यह लोग बड़े बन बन कर आते हैं। आपकी महिमा सुन समझ कर और फिर अपनी ओर देख कर निराश हो जाता हूँ और घबराहट से हृदय जलने लगता है (यह सुनकर कि आप पतित-पावन हैं, मैं आपकी शरण में जाना चाहता हूँ, पर जब आपकी ओर से कोरा जवाब मिलता है, तब जी में हार मान कर निराश बैठ जाता हूं। और हृदय में जलन होने से कुछ का कुछ बकने लगता हूँ) ॥२॥ सुनिये, न तो मेरा कोई मित्र है, न सच्चा सेवक है और न सुन्दर स्त्री है। हे नाथ! मेरे तो सच्चे माई-बाप आप ही हैं, तुलसी यह सच्ची बात कह रहा है (कवि-कल्पना न समझियेगा)। मेरी तो थोड़ी ही बात है, बिगड़ने पर भी सुधर जायगी, किन्तु, बलिहारी! मैं आपकी शपथ खाकर कह रहा हूं—मैं आपकी लाज रखना चाहता हूं (कहीं संसार में आपका यह उपहास न हो कि भगवान् की जन-वत्सलता अथवा पतित-पावनता मिथ्या है। इसलिये यदि आपकी

---

* पाठान्तर 'हेरि के हारि के हहरि हृदयउ दहत'; 'हेरि के हारि हरि हृदय दहत'। † पाठान्तर 'मेरी तौ थोरी है'।

अपनी लाज रखना है, तो मुझे तार दीजिए, नहीं तो व्यर्थ ही आपकी कीर्तिमें धब्बा लग जायगा)॥३॥

टिप्पणी—(१) 'सकल……लहत'—जैसे वाल्मीकि बहेलिया थे, किन्तु पीछे महर्षि और आदिक बिमाने गये, काकभुशुण्डि तुच्छ शूद्र थे, पर पीछे महान् तत्त्ववेत्ता हो गये; नारद दासी-पुत्र थे, किन्तु उनकी गणना प्रधान भागवतों में हुई, व्यास मत्स्योदरी के पुत्र थे, किन्तु वह भी महर्षिपुंगव कहे गये। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। इन सब लोगों ने श्रीरघुनाथजी के भजन के प्रभाव से ही महत्त्व प्राप्त किया। अतएव भगवद्भक्ति ही सर्वप्रधान है।

(२५७)

दीनबंधु दूरि किये दीन को न दूसरी सरन।
आप को भले हैं सब आपने को कोऊ कहूँ,
सबको भलो है, राम ! रावरो चरन ॥१॥
पाहन पसु पतंग कोल भील निसिचर
काँच ते कृपानिधान किये सुवरन।
दंडक-पुहुमि पाँय परसि पुनीत भई
उकठे बिटप लागे फूलन फरन ॥२॥
पतित-पावन नाम, बाम हू दाहिनो, देव
दुनी न दुसह-दुख-दूषन-दरन।
सीलसिंधु तोसों ऊँची नीचियौ कहत सोभा,
तोसों तुही तुलसी को आरति-हरन ॥३॥

शब्दार्थ—पुहुमि = पृथ्वी। उकठे = उखड़े हुए, सूखे पड़े हुए। बाम = प्रतिकूल। दाहिनो = अनुकूल, प्रसन्न। दुनी = दुनिया। दरन = दलने वाले, नाशक।

भावार्थ—हे दीनबंधो ! यदि आपने इस दीन को सामने से हटा दिया, तो फिर इसे कहीं दूसरी शरण न मिलेगी। क्योंकि अपनी भलाई चाहनेवाले तो प्रायः सभी हैं और अपने सेवकों का भला करनेवाला कोई एकाध है (लाख में एक मिलेगा)। किन्तु हे रघुनाथ जी ! आपके चरण ऐसे हैं कि जो सभी का भला करनेवाले हैं। (आपके चरणों के चिंतवन से ही समस्त जीवों का कल्याण

होता है) ॥ १ ॥ पाषाणी (अहल्या), पशु (बंदर, रीछ), पक्षी (जटायु), कोल भील, राक्षस (विभीषण) आदि पहले कांच के समान थे, किन्तु, हे कृपानिधान ! आपने उन्हें सुवर्ण बना दिया (क्षुद्र से उच्च कर दिया) । दण्डकारण्य की भूमि आपके चरणों को छूकर पवित्र हो गई और उखड़े हुए सूखे पत्ते फिर फूलने फलने लगे ॥ २ ॥ जो जीव आपके विमुख रहे हैं, उनके लिये भी आपका पतितपावन नाम अनुकूल हो जाता है, अथवा आपका पतित-पावन नाम विमुख और सम्मुख दोनों ही प्रकार के जीवों को पुनीत करनेवाला है। हे देव ! आपके समान संसार में दारुण दुःखों और दोषों का दूर करनेवाला दूसरा नहीं हैं । आप शील के तो समुद्र ही हैं, अतएव आपसे नीची-ऊंची बात कहने में भी शोभा है (क्योंकि आप सब कुछ सह लेते हैं, कभी बुरा नहीं मानते) आप की भलाई का कहना ही क्या हैं ? आपसे आप ही हैं । तुलसी के दुःख दूर करनेवाले एक आप ही हैं (इसी से मैं आपके द्वार पर धरना दिये बैठा हूं) ॥३॥

टिप्पणी (१) 'दीनबंधु······सरन'—कहीं ऐसा न करना कि–

> 'खैंचि आपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूरि ।
> हरि 'रहीम' ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूरि ॥'

क्योंकि मुझे फिर कहां ठौर ठिकाना मिलेगा ?

(२) 'पाहन'—अहल्या; ४३ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये ।

(३) 'पतंग'—जटायु; ४३ पद की पांचवी टिप्पणी देखिये ।

(४) 'कोल'—गुह निषाद; १०६ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये ।

(५) 'भील'—वाल्मीकि; ६४ पद की चौथी टिप्पणी देखिये ।

(६) 'निसिचर'—विभीषण; १४५ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये ।

(७) 'दंडक······भई'—दण्डकारण्य शुक्राचार्य के शाप से अपवित्र हो गया था । उसके वृक्ष, लता, तृण आदि सब सूख गये थे । वहां कोई भी नहीं जाता था । दलितोद्धारक भगवान् रामचन्द्रजी ने दण्डक वन को, प्रवेश करते ही, पवित्र कर दिया और पूर्ववत् उसमें फिर वृक्षादि हरे भरे हो गये ।

(२५८)

जानि पहिचानि मैं बिसारे हौं कृपानिधान
एतो मान ढीठ हौं उलटि देत खोरि हौं।

करत जतन जासों जोरिबो को जोगीजन
तासों क्योंहू जुरी, सो अभागो बैठो तोरि हौं ॥१॥
मोसे दोस-कोसको भुवन-कोस दूसरो न
आपनी समुझि सूझि आयो टकटोरि हौं।
गाड़ी के स्वान की नाईं, माया मोह की बड़ाईं
छिनहिं तजत, छिन भजत बहोरि हौं ॥२॥
बड़ो साईं-द्रोही न बराबरी मेरी को कोऊ
नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं
दूरि कीजै द्वार तें लबार लालची प्रपंची
सुधा सों सलिल सूकरी ज्यों गहडोरि हौं ॥३॥
राखिये नीके सुधारि, नीच को डारिये मारि,
दुहूँ ओर की बिचारि अब न निहोरि हौं।
तुलसी कही है साँची रेख बार बार खाँची,
ढील किये नाम-महिमा की नाव बोरि हौं ॥४॥

शब्दार्थ—खोरि = दोष। दोस-कोस = अपराधों का खज़ाना, महान् अपराधी। भुवन-कोस = चौदहो लोकों से तात्पर्य है। टकटोरि आयो = खोज डाला। लबार = झूठा। गहडोरि हौं = मथ कर मैला कर दूंगा।

भावार्थ—हे कृपानिधान! जान-पहचान कर भी मैंने आप को भुला दिया है। और गर्व के मारे ऐसा ढीठ हो गया हूं कि उलटा आप ही पर दोष लगाता हूं (कि आप शीलसिन्धु होकर भी मेरे लिये ढील कर रहे हैं, मुझे तारते नहीं है)। जिससे प्रीति जोड़ने के लिये बड़े बड़े योगी यत्न किया करते हैं, उससे येनकेन प्रकारेण कुछ थोड़ी सी प्रीति जुड़ गयी थी, सो मैं ऐसा कर्महीन हूं कि बैठ कर उसे अपने ही हाथ से तोड़ डाला है। (विषयों में फँस कर भगवद्भक्ति से विमुख हो गया हूं)॥ १॥ चौदहों लोकों में मेरे समान अपराधों का ख़ज़ाना दूसरा नहीं है, मैं अद्वितीय अपराधी हूँ। अपनी समझ में तो मैंने खूब ढूँढ़ डाला है (पर कहीं कोई मेरे समान दोष-भाजन नहीं मिला)। जैसे गाड़ी के पीछे लगा हुआ कुत्ता कभी गाड़ी को छोड़कर आगे बढ़ जाता है और कभी फिर दौड़ कर उसके साथ हो लेता है, वैसे ही मैं

माया-मोह के बड़प्पन को कभी तो क्षण भर में ही छोड़ बैठता हूं (कभी कभी मरघट-वैराग्य चढ़ जाता है) और क्षण मात्र में ही फिर उसी को बटोरने लगता हूं (सारांश, चित्त बड़ा ही चंचल है, दृढ़ संकल्प होता ही नहीं है)॥ १॥ मैं आपकी करोड़ों शपथ खा कर कह रहा हूं कि स्वामी के साथ करनेवाला मेरी बराबरी का कोई भी नहीं है। इसलिये मुझ झूठे, लंपट और लुच्चे को द्वार से हटा दीजिये, नहीं तो मैं अमृत-जैसा जल शूकरी की तरह गँदला कर डालूँगा (आपके निर्मल यश को मलिन कर दूंगा। दुनिया भर में यह कहते फिरूँगा कि रघुनाथजी की पतित-पावनता झूठी है, व्यर्थ ही वह भक्त-वत्सल और दीनबन्धु बने फिरते हैं)॥ ३॥ या तो मुझे अच्छी तरह शरण में रख लीजिये और या मुझ नीच को मार डालिये (क्योंकि यदि मैं जीवित रहूंगा, तो आपकी बदनामी करता फिरूंगा, इससे दुष्ट को मार डालना ही अच्छा है)। बस, आप अब इन दोनों बातों पर विचार कर लीजिये। अब मैं आपका निहोरा न करूँगा (जो करना हो, सो तुरन्त तय कर दीजिये, मुझे अब हा हा करने की कोई आवश्यकता नहीं)। बार बार लकीर खींच कर तुलसी ने सच बात कह दी है। देखिये, जो आप (मेरे फैसले में) देर करेंगे, तो मैं आप के नाम की महिमारूपी जो नौका हूं, उसे डुबो दूंगा। भाव यह है कि, जहाँ-तहाँ यह कहते फिरूंगा कि राम-नाम जपने से कुछ नहीं होता है। वह कोरा ढकोसला है॥ ४॥

टिप्पणी—(१) 'मोसे......टकटोरि हौं'—यही तो सूरदासजी ने कहा है—

'हरि हौं सब पतितन को राव।
को करि सकै बराबरी मेरी, सोधौं मोहि बनाव॥
व्याध गीध अरु पतित पूतना तिन में बढ़ि जो और।
तिनमें अजामेल गनिका पति, उनमें मैं सिरमौर॥
जहँ तहँ सुनियत यहै बड़ाई, मो समान नहिं आन।
अब रहे आज कालिह के राजा, हौं तिनमें सुलतान॥
अब लौं तो तुम विरद बोलायो, भई न मोसों भेंट।
तजौ विरद कै मोहिं उधारो, सूर गही कटि फेंट॥'

(२) 'ढील किये......बोरि हौं'—जीव अणु होने से स्वभाव से ही

अधीर है। गुसाईंजी महाराज तो धमकी ही दे रहे हैं कि जल्दी से मुझे तारो, नहीं तो मैं नाम-महिमा की नौका को डुबा दूँगा, पर कविवर विहारी को धीरज नहीं बँध सका, वह इतना कह ही उठे--

'कब को टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय।
तुम ही लागी जगतगुरु, जगनायक ! जगबाय !'

सहृदय 'प्रीतम' ने भी इस दोहे को एक शेर में ढाला है। वह यह है—

'हूँ कब का मुल्तिजी सुनते नहीं कुछ इल्तिजा साहिब।
तुम्हें भी लग गई शायद जमाने की हवा साहिब ।।(गुलदस्तए विहारी)

(२५६

रावरी सुधारी जो बिगारी बिगरैगी मेरी,
कहौं, बलि, बेद की न, लोक कहा कहैगो ?
प्रभु को उदास भाव जन को पाप-प्रभाव,
दुहूँ भांति दीनवन्धु ! दीन दुख दहैगो ।। १ ।।
मैं तो दियो छाती पबि, लयो कलिकाल दबि,
साँसति सहत* परबस, को न सहैगो ?
बाँकी बिरदावली बनैगी पाले ही कृपालु !
अन्त मेरो हाल हेरि यौं न मन रहैगो ।। २ ।।
करमी, धरमी, साधु, सेवक, बिरत, रत,
आपनी भलाई थल कहाँ कौन लहैगो ?
तेरे मुँह फेरे मोसे कायर कपूत कूर,
लटे लटपटेनि को कौन परिगहैगो ।। ३ ।।
काल पाय फिरत दसा दयालु, सब ही की,
तोहि बिनु मोहिं कबहूं न कोऊ चहैगो।
बचन करम हिये कहौं राम ! सौंह किये,
तुलसी पै नाथ के निबाहे निबहैगो ।। ४ ।।

शब्दार्थ—उदास = निरपेक्ष; ला परवाह। पबि = बज्र। सांसति = कष्ट।

*पाठान्तर 'सहस'।

करमो = कर्मकाण्डी, कर्मठ। रत = संसारी जीव, मोही। लटे = नोच, खोटे। लटपटे = लथपथ, गिरे-पड़े। सौंह = सौगन्ध।

भावार्थ--यदि तुम्हारी बनाई हुई मेरे बिगाड़ने से मेरी बात बिगड़ जायगी, तो, मैं तुम्हारी बलैया लेता हूं, कहो तो संसार क्या कहेगा? वेद की बात नहीं पूछता हूं। (वेद में चाहे जो लिखा हो, उससे मुझे कोई मतलब नहीं, पर संसार क्या कहेगा? यही कहेगा कि तुलसी ही ईश्वर है, क्योंकि रघुनाथजी की बनाई बात उसने बिगाड़ दी। पर, ऐसा हो कैसे सकता है! मेरी क्या शक्ति कि मैं तुम्हारी बात बिगाड़ सकूं?)। स्वामी की त निरपेक्षता और सेवक का पाप-प्रभाव-यदि यह दोनों ही मिल गये तो हे दीनबन्धो! यह दीन दुःख के मारे जल मरेगा (सारांश यह कि, मैं तो महा पापी हूं ही, पर तुम निरपेक्ष न हो, क्योंकि तुम्हें यह उदासीनता शोभा न देगी) ॥ १ ॥ मैंने तो छाती पर बज्र रख लिया है (हृदय को दुःख सहने के लिये बज्र के समान कड़ा कर लिया है), क्योंकि कलियुगने मुझे दबोच दिया है। और अब पराधीन होकर कष्ट भोग रहा हूं। (मैं ही क्या) जो भी परतंत्र होगा, वह कष्ट भोगेगा। किन्तु हे कृपानिधान! तुम्हें अपनी बाँकी बिरदावली के वश होकर मुझको पालना ही होगा (क्योंकि पतित-पावन, भक्तवत्सल आदि तुम्हारे नाम हैं। यदि मेरी रक्षा न करोगे, तो लोग मुझे झूठा कहेंगे)। और अन्त समय तो मेरा हाल देख कर तुम्हारा यह उदासीन भाव रह ही नहीं सकता, तुम्हें अवश्य ही पिघलना पड़ेगा (क्योंकि जब पापी अजामेल को यमदूतोंने पकड़ा था, तब तुम उसका आर्त्तनाद सुनकर पानी-पानी हो गये थे) ॥ २ ॥ कर्मकाण्डी, धर्मात्मा, साधु, सेवक, विरक्त और संसारी जीव, यह अपने सत्कर्मों से कहां स्थानन पायँगे? (जिसने जैसा सुकृत किया होगा, वह उसी के अनुसार स्वर्ग, ब्रह्मलोक, शिवलोक आदिको चला जायगा इसमें तुम्हारी कोई कृपा नहीं है)। पर तुम्हारे मुंह फेर लेनेसे, उदासीन हो जाने से, मेरे जैसे कायर, कुपूत दुष्ट, नीच और गिरे-पड़े जीवों, को कौन अंगीकार करेगा? (कोई भी नहीं) ॥ ३ ॥ हे दयालो! समय आने पर सभी की दशा लौट आती है, सभी के दिन फिरते हैं, किन्तु तुम्हें छोड़ कर मुझे तो कभी कोई न अपनावेगा। साथ, मेरी दशा कभी पलटने की नहीं, यदि तुमने कृपा न की। हे रघुनाथजी! तुम्हारी शपथ खा कर वचन, कर्म और मन से कहता हूं कि इस तुलसी का निबाह तो तुम्हारे ही हाथ है ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'बाँकी विरुदावली......कृपालु'—न पालोगे, तो विरदावली में बट्टा लग जायगा। विलम्ब करने से यही सुनना पड़ेगा कि—

'वेद औ पुरानन में कीन्हों है बखान ऐसो,
सतजुग बीच ध्रुव प्रहलाद को तूठे हौ।
त्रेता बीच नीच कुल की न करी कानि कछु,
भीलनी के हाथ प्रभु खाये बेर जूठे हौ॥
द्वापर के अंत तुम द्रोपदी की राखी लाज,
पांडव के काज दल कौरव के रूठे हौ।
अब कलिकाल में जो करो न सहाय मेरी,
तोहिं लोग हँसि कै कहैंगे—'हरि झूठे हौ॥'

(२६०)

साहब उदास भये दास खास खीस होत
मेरी कहा चली ? हौं बजाय जाय रह्यो हौं।
लोक में न ठाऊँ, परलोक को भरोसो कौन ?
हौं तौ बलि जाऊँ रामनाम ही ते लह्यो हौं॥१॥
करम सुभाउ काल काम कोह लोभ मोह
ग्राह, अति गहनि गरीबी गाढ़े गह्यो हौं।
छोरिबे को महाराज, बाँधिवे को कोटि भट,
पाहि, प्रभु पाहि, तिहुँ पाप-ताप-दह्यो हौं॥ २॥
रीझि बूझि सबकी, प्रतीति प्रीति एही द्वार,
दूध को जर्‌यो पियत फूँकि फूँकि मह्यो हौं।
रटत रटत लट्यो, जाति पाँति भाँति घट्यो
जूठनि को लालची चहौं न दूध-नह्यो† हौं॥ ३॥
अनत चह्यो न भलो, सुपथ सुचाल चल्यो
नीके जिय जानि इहाँ भलो अनचह्यो हौं।

---

† पाठान्तर 'दूधो ध्यो'। 'दुह्यो, नह्यो'।

तुलसी समुझि समुझायो मन बार बार
अपनो सों नाथ हूँ सों कहि निरबह्यो हौं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—छीस होत = बरबाद हो जाते हैं। बजाय = डंके की चोट से, उजागर होकर। जाय रह्यो हौं = बिगड़ा जा रहा हूं। कोह = क्रोध। ग्राह = मगर। गाढ़े = दृढ़ता से। भट = योद्धा। पाहि = रक्षा करो। मह्यो = मट्ठा। नह्यो न चहौं = नहाना नहीं चाहता। अनत = अन्यत्र।

भावार्थ—जब मालिक अपना रुख फेर लेता है, तब खास नौकर तक बरबाद हो जाता है, फिर मेरी तो पूछना ही क्या है? मैं तो डंके की चोट से बिगड़ा जा रहा हूँ, ऐसा बिगड़ गया हूँ कि संसार भर जानता है। जब कि मेरे लिये इस दुनिया में ही कहीं ठौर-ठिकाना नहीं है, तब परलोक का क्या विश्वास है? (कौन जानता है कि मरनेके बाद मुझे स्वर्ग मिलेगा?) हे नाथ! मैं आपकी बलैया लेता हूं, मैं तो एक राम-नाम ही के हाथ बिक चुका हूँ (वही मेरे लिये लोक है और वही परलोक)॥ १ ॥ मुझ गरीब को कर्म, स्वभाव, काल, काम, क्रोध, लोभ और मोह-रूपी बड़े बड़े ग्राहों ने खूब ज़ोर से पकड़ लिया है। (तात्पर्य यह कि, जैसे आपने गजेन्द्र को ग्राह से छुड़ा लिया था, वैसे ही मुझे भी इन विकराल ग्राहों की चगुल से निकाल लीजिए, क्योंकि) हे महाराज! बन्धन काटने के लिये तो केवल एक आप हैं और बांधने के लिये करोड़ों योद्धा हैं। इससे, हे नाथ! मेरी रक्षा कीजिए। मैं पापरूपी तीनों तापों से जल रहा हूं (अपनी कृपादृष्टि से इस अग्नि को बुझा दीजिये)॥ २ ॥ (कदाचित् आप यह कहें कि हमारे ही पास बार बार आ जाता है, और कहीं क्यों नहीं जाता, तो) हे प्रभो! सबका विश्वास और श्रद्धा तथा रीझ-बूझ एक आपके ही द्वार पर है। मैं दूध का जला मट्ठा भी फूँक फूँक कर पीता हूँ। भाव यह है कि, मुझे सभी ने धोखा दिया है, इसलिये मैं आपका द्वार छोड़ कर और किसी देवी-देवता के पास नहीं जाता। मैं तो अब बहुत ही बच बच कर चल रहा हूँ। चिल्लाते चिल्लाते मैं बेकाम हो गया हूँ। जाति-पाँति और चाल-चलन सभी से हाथ धो बैठा हूं। अब मैं केवल आपके जूठन का लालची हूं। मैं दूध से नहीं नहाना चाहता। भाव, मुझे ऐश्वर्य की इच्छा नहीं है, मैं तो केवल आपका प्रेम-प्रसाद चाहता हूं ॥३॥ मैं और कहीं सत्मार्ग पर अच्छी चाल चल कर अपना भला नहीं चाहता हूं। और यहां आपके द्वार पर, मैं तिरस्कृत होकर भी अच्छा हूं। (तात्पर्य यह है कि और किसी

देवी देवता के सान्निध्य में रह कर धर्म-पालन करता हुआ भी निःशंक नहीं रह सकता, क्योंकि वह तनिक सी भूल पर रुष्ट होकर भ्रष्ट कर देगा और आप मेरा निरादर भी करेंगे, तो भी मुझे प्रसन्नता है, क्योंकि मा-बाप की अप्रसन्नता भले के लिये ही होती है)। तुलसी ने समझ कर अपने मनको बार बार समझा बुझा दिया है और वह अपने स्वामी से भी कह कर निश्चिन्त हो गया है कि उसका निर्वाह आपके हाथ है ॥४॥

टिप्पणी (१) 'लोक में......कौन'—क्योंकि—

'जाकी यहाँ चाहना है ताकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहां चाह ना है ताकी वहां चाह ना।'

(२)'दूध-नह्यो'—श्री बैजनाथजी 'दूधौ घ्यौ हौं' पाठ मानते हुए यह अर्थ लिखते हैं कि—"दूध घृतादि उत्तम भोजन चाहता नहीं हौं।" और श्रीमान् भट्टजी 'न दूध्यौ नह्यौ हौं' ऐसा पाठ मान कर यह अर्थ कर रहे हैं कि "कुछ दूध मलाई नहीं चाहता हूं।" नह्यो का अर्थ मलाई लिखा गया है। हमें नागरीप्रचारिणी सभा की प्रति अधिक शुद्ध जान पड़ती है। उसमें 'दूध-नह्यो' पाठ है, मुहावरा भी है कि वह तो दूध से नहा रहा है अर्थात् बड़ा भारी विभवशाली है। आशीर्वाद देती हुई बूढ़ी स्त्रियाँ भी बहू-बेटियों से कहा करती हैं कि 'दूधों नहाओ, पूतों फलो।'

(३) 'जूठनि को लालची'—इस 'जूठन' पर व्यासजी का निम्नलिखित पद याद आ जाता है। अहा! क्या ही ऊँचा भाव है!

'ऐसे ही बसिये ब्रज-बीथिन।
साधुन के पनवारे चुनि चुनि, उदर पोखियत सीथिन॥
घूरन में के बीन चिनगटा, रच्छा कीजै सीतन।
कुंज कुंज प्रति लोटि लगै रज उड़ि ब्रज की अंगीतन॥
नित प्रति दास स्याम-स्यामा को नित जमुना जल पीतन।
ऐसेहि व्यास रुचै तन पावन ऐसेहि मिलत अतीतन॥'

(४) 'आपुनो......निरबह्यो हौं'—बस,

'अरजी हमारी आगे मरजी तुम्हारी है।'

(२६१)

मेरी न बनै बनाये मेरे कोटि कलप लौं
राम ! रावरे बनाये बनै पल पाउ में ।
निपट सयाने हौ कृपानिधान ! कहा कहौं ?
लिये बेर बदलि अमोल-मनि-आउ मैं ॥ १ ॥
मानस मलीन, करतब कलिमल पीन
जीह हू न जाप्यो नाम बक्यो आउ-बाउ मैं ।
कुपथ कुचाल चल्यो, भयो न भूलिहूँ भलो,
बाल-दसा हूँ न खेल्यो खेलत सुदाउँ मैं ॥ २ ॥
देखा-देखी दंभ तें कि संग तें भई भलाई
प्रगटि जनाई, कियो दुरित-दुराउ मैं ।
राग रोष द्वेष पोषे, गोगन समेत मन,
इनकी भगति कीन्हीं इनही को भाउ मैं ॥ ३ ॥
आगिली पाछिली, अबहू की अनुमान ही तें
बूझियत गति कछु, कीन्हों तो न काउ मैं ।
जग कहै राम की प्रतीत प्रीति तुलसी हूँ
झूठे सांचे आसरो साहिब रघुराउ मैं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ— आउ = आयु । पीन = पुष्ट । जीह = जीभ । आउ-बाउ = आयँ-बायँ, अंटसंट । दुरित = पाप । गोगन = इन्द्रियों का समूह । काउ = कभी ।

भावार्थ—मेरी करनी मेरे बनाने से करोड़ों कल्प तक न बनेगी । किन्तु, हे रघुनाथजी ! आप चाहें तो पाव पल में ही उसे बना सकते हैं । हे कृपानिधान ! मैं क्या कहूँ, आप तो स्वयं परम चतुर हैं, मैंने अनमोल मणि के समान आयु के बदले में बेर ले लिये । भाव, विषयों में सारी आयु व्यर्थ ही गँवा दी, आपका भजन-भाव कुछ भी नहीं किया ॥ १ ॥ मन मलीन होगया और कर्म कलियुग के कारण और भी पुष्ट हो गये, नित नये पाप बढ़ते गये । रही जीभ, सो उससे भी आपका नाम नहीं जपा, नित्य आयँ बायँ सायँ ही बकता रहा । (इस प्रकार मन, वचन और कर्म तीनों से ही बेकाम होगया) । बुरे बुरे मार्गों पर बुरी चालें चलता रहा (काम-क्रोध में ही सना रहा) । भूल कर

भी कभी कोई अच्छा काम नहीं हुआ। अरे ! बचपन में भी कभी खेलते समय अच्छा दाव हाथ नहीं लगा (भगवद्‌संबन्धी खेल नहीं खेला) ॥ २ ॥ हां, किसी की देखा-देखी या सत्संग से कभी कोई भलाई बन गई, तो उसे ढिंढोरा पीटता हुआ कहता फिरा, और पापों को छिपा लिया। राग-द्वेष, क्रोध और इन्द्रियाँ एवं मन खूब पुष्ट किये अथवा इन्द्रियों और मन को राग-द्वेष और क्रोध से खूब मोटा किया। इन्हीं की भक्ति की और इन्हीं का भाव। (सदा इन्द्रिय-लोलुप ही बना रहा) ॥ ३ ॥ मैंने बीते हुए का, अब का और आनेवाले का अनुमान कर लिया है कि मैंने कभी कोई भला काम नहीं किया, त्रिकाल में भी, अच्छा काम नही किया। किन्तु संसार कह रहा है कि—'तुलसी रामजी का है' और मुझे भी रघुनाथजी पर विश्वास है और उनसे प्रेम है। अब चाहे झूठ हो चाहे सच, हे स्वामिन् मैं तो आपके ही आसरे पड़ा हूं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'मेरी न......कलप लौं'—ज्यों ज्यों पारमार्थिक साधन कर कर छूटने का उपाय करता हूँ, त्यों त्यों माया-मोह में फँस कर और भी उलझता जाता हूँ। इस ढंग से भला मैं कैसे अपनी करनी बना सकता हूँ?

'ज्यों ज्यों सरझन को चहत, त्यों त्यों उरझत जात।'

(२) 'बाल......सुदाउँ'—ऊँटपटाँग खेल खेलता फिरा, कभी यह भी न हुआ कि बालकों के साथ 'रामलीला' का खेल खेलूं। आजकल के नवयुवक भारतीय खेलों की अवहेलना कर 'क्रिकेट, फुटबॉल और हॉकी' पर लट्टू हो रहे हैं। दुर्भाग्य है कि इन बेचारों को कभी अच्छा दाँव हाथ नहीं लगता।

(२६२)

कह्यो न परत, बिनु कहे न रह्यो परत,
बड़ो सुख कहत बड़े सों, बलि, दीनता।
प्रभु की बड़ाई बड़ी, आपनी छोटाई छोटी,
प्रभु की पुनीतता आपनी पाप-पीनता ॥ १ ॥
दुहूँ ओर समुझि सकुचि सहमत मन,
सनमुख होत सुनि स्वामि समीचीनता।
नाथ-गुनगाथ गाये, हाथ जोरि माथ नाये,
नीचऊ निवाजे प्रीति रीति की प्रबीनता ॥ २ ॥

एही दरबार है गरब तें सरब-हानि,
लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता।
मोटो दसकंध सो न, दूबरो बिभीषन सो,
बूझि परी रावरे की प्रेम-पराधीनता ॥ ३ ॥
यहाँ को सयानप अयानप सहस सम,
सूधौ सतभाय कहे मिटति मलीनता।
गीध, सिला, सबरी की सुधि सब दिन किये
होइगी न साईं सों सनेह-हित-हीनता ॥ ४ ॥
सकल कामना देत नाम तेरो कामतरु,
सुमिरत होत कलिमल-छल-छीनता।
करुनानिधान! बरदान तुलसी चहत,
सीतापति भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पीनता=पुष्टि, मोटाई। सहमत=डर जाता है, पिछड़ जाता है। समीचीनता=प्राचीन स्वभाव वीनता=चतुरता। छेम=(क्षेम) रक्षा। मिसकीनता=गरीबी, नम्रता। अयानप=अज्ञान। हीनता=कमी।

भावार्थ—हे नाथ! कुछ कहा नहीं जाता और बिना कहे धीरज नहीं बँधता। बलिहारी! किन्तु अपनी गरीबी बड़े के आगे सुनाने में बड़ा आनंद होता है (क्योंकि यह आशा रहती है न कि बड़े लोग गरीबी दूर कर देंगे)। अस्तु, स्वामी का बड़ा बड़प्पन और अपनी छोटी सी क्षुद्रता, इसी प्रकार स्वामी की पवित्रता और अपने पापों की अधिकता ॥१॥ इन दोनों ओर की बातों पर विचार कर मन संकोच के मारे डर जाता है (आगे बढ़ कर कहने का साहस नहीं पड़ता)। किन्तु स्वामी की सनातन रीति (पतित-पावनता, जन-वत्सलता आदि) सुन कर यह मन फिर सामने जाता है। (वह 'समीचीनता' यह है कि) हे नाथ! जो आपके गुणों और चरित्रों का गान करता है और हाथ जोड़ कर प्रणाम करता है उस नीच को भी आप, अपनी प्रीति और पद्धति की चतुरता से, निहाल कर देते हैं ॥२॥ इस दरबारमें (श्रीरघुनाथजी के सामने) गर्व से सर्वनाश हो जाता है। यहाँ तो गरीबी और नम्रता से ही योग-क्षेम का लाभ है। रावण-सरीखा तो कोई मोटा नहीं था, बलवान् और वीर नहीं

था और विभीषण के समान कोई दुर्बल अर्थात् गरीब नहीं था। किन्तु वहां आपकी प्रेमाधीनता ही मुझे समझ पड़ी। अर्थात् शरणापन्न भक्त विभीषण को ही आपने अंगीकार किया और रावण का सर्वनाश कर डाला ॥३॥ यहां अर्थात् आपके सामने जो चतुर बनता है, वह हजारों मूर्खों के समान है। यहाँ तो सीधे-सादे सच्चे भावसे कहने से ही पापों का नाश होता है। यदि तू नित्य जटायु अहिल्या और शबरी की याद किये रहेगा, तो स्वामी के प्रति तेरा प्रेम कभी कम न होगा। भाव यह कि, उन सब में अहंकार का लेश मात्र भी नहीं था, इसी से भगवान् ने उन्हें अपना अनन्य भक्त और कृपापात्र बनाया ॥४॥ आपका नाम कल्पवृक्ष की तरह सारी कामनाएं सफल कर देता है। उसका स्मरण करते ही कलियुग के पाखंड और पाप क्षीण पड़ जाते हैं। हे करुणानिधान ! तुलसी यही वर माँगा चाहता है कि "वह श्रीसीता-रमण रामचन्द्रजी की भक्ति-भागीरथी के जल में मछली की नाईं डूबा रहे" (आपका अनन्य होकर रहे) ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'गरीबी'—गरीबी पर एक कवि ने क्या ही बढ़िया कवित्त कहा है—

'करी है गरीबी तो बिभीषन ने राज पायो,
रावन ने करी खुदी खोई खूबी जान की।
ध्रुव ने गरीबी कै अटल पद राज पायो,
केसी कंस छेद्यो सुधि ना रही गुमान की॥
द्रौपदी गरीबी करी नगन न होन पाई
हारे पचि कौरो दाख़ लीला भगवान की।
गरीबी औ बंदगी की चारो बेद स्तुति करैं
कहे को गरीबा ? यह बांबी है जहान की॥'

और भी—

'ऊँचे ऊँचे सब चलैं, नीचं चलैं न कोय,
जो पै, कोउ नीचे चलै, ध्रुव से ऊँचो होय॥'

(२) 'मिसकीनता'—'मिसकीन' अरबी का शब्द है।

(३) 'लाभ जोग छेम को'—जो अभिमान छोड़ कर केवल भगवान् के आश्रय में रहते हैं, उनके लिये भगवान् यह वचन दे चुके हैं—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥' (गीता)

(४) 'विभीषन'—१४५ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये ।

(५) 'गीध'—जटायु, ४३ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये ।

(६) 'सिला'—अहिल्या; ४३ पद की दूसरी टिप्पणी देखिये ।

(७) 'सबरी'—१०६ पद की पांचवीं टिप्पणी देखिये ।

(८) 'चहत·····मीनता'—धन्य ! गोस्वामीजी ! भावना हो तो ऐसी । यह मनोराज्य महाभागों को ही नसीब होता है । महात्मा सहचरिशरणजी ने भी अधीर हो कर कुछ ऐसी ही भावना प्रकट की थी । देखिये—

'छितपति लेत मोल पसु पच्छिन इहि बिधि कबै लहैगे ?
रबि-दुहिता सुरसरित भूमि जिमि रस उर कबै बहैंगे ?
पकरत अंग कांट को जैसे तैसे कबै गहैंगे ?
सहचरिसरन मराल मानसर मन इमि कबै रहैंगे ?

हमें तो निश्चय है कि इन महात्माओं की यह उच्च भावनाएं अवश्य पूरी होती होंगी ।

(२६३)

नाथ ! नीके कै जानिबी ठीक जन-जीय की ।
रावरो भरोसो नाह कैसो प्रेम-नेम लियो
रुचिर रहनि रुचि मति-गति-तीय की ॥१॥
दुकृत सुकृत बस सबही सों संग पर्‌यो
परखी पराई गति, आपने हूं कीय की ।
मेरे भले को गोसाईं पोच को न सोच संक
हौंहूं किये कहौं सौंह साँची सिय-पीय की* ॥२॥
ग्यानहूं गिरा के स्वामी बाहर-अन्तरजामी†
यहाँ क्यों दुरैगी बात मुख की औ हीय की ।

---

* पाठान्तर 'पोचहू को सकल भाव किये ।' 'पोच को सकल भाव हौंहूं किये ।'

† पाठान्तर 'बाहर जामी ।'

तुलसी तिहारो, तुमहीं तें तुलसी को हित
राखि कहौं हौं जो पै ह्वै हौं माखी घीय की ॥३॥

शब्दार्थ—नाह=नाथ, पति। दुकृत =कुकर्म, पाप। सुकृत=सत्कर्म, पुण्य। कीय की=किये हुए की। पोच=नीच। सौंह=शपथ।

भावार्थ—हे नाथ ! आप अपने दास के मन की बात ठीक ठीक, भली भाँति, समझ लेना। मेरी बुद्धि-रूपी सुन्दर पतिव्रता स्त्री ने आपके विश्वास के साथ पति का सा भाव और प्रेम किया है। (तात्पर्य यह है कि, जैसे पतिव्रता स्त्री स्वप्न में भी कभी पर-पुरुष का ध्यान नहीं करती है वैसे ही मेरी बुद्धि सदा आप पर ही विश्वास रखती है, अनन्य भाव से आपके विश्वास पर उसका प्रेम है ॥१॥ पाप और पुण्य के अधीन होकर सभी का साथ पड़ा है। और अपनी और परायी दोनों ही गतियाँ जाँच चुका हूं (जैसा काम किया, वैसों का संग मिला। और उनके साथ रह कर उनकी करनी परख ली। फिर अपनी करनी को मिलान किया तो) मुझ नीच को तो न चिंता ही है और न डर है, क्योंकि मेरा तो सब तरह से मेरे स्वामी ने भला कर दिया (जिसकी करनी बिगड़ी हो, वह सोच करे, मैं तो अपने स्वामी के भरोसे पर निश्चिन्त बैठा हूं) यह मैं श्रीजानकी-वल्लभजी की शपथ खाकर सच सच कह रहा हूं ॥ २ ॥ (यदि मैं बात बना कर कहता होऊं, तो, यह कैसे हो सकता है क्योंकि आप ज्ञान और वाणी के अधिष्ठाता हैं। बाहर और भीतर दोनों की बात जाननेवाले हैं। भला आपके आगे मुँह की और हृदय की बात कैसे छिप सकती है। तुलसी आपका है और आपही से उसका हित लगा है। जो मैं कुछ कपट भरी बात कहता होऊँ, तो मैं घी की मक्खी हो जाऊँ। भाव जैसे मक्खी घी में गिर कर तुरंत मर जाती है, उसी प्रकार मेरा सवनाश हो जाय॥३॥

टिप्पणी—(१) 'रावरो······तीय को'—यहाँ गुसाईंजी रघुनाथजी के आश्रय के प्रति अपना अनन्य भाव सिद्ध कर रहे हैं। यह अनन्यता तलवार की धार है। अनन्य होना हँसी खेल नहीं है। मनसा, वाचा, कर्मणा सब की ओर से चित्त को मोड़कर अपने प्रियतम में लगाना होता है, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वकाल, अपना प्यारा ही प्यारा देखना होता है। यह दशा प्राप्त हो जाने पर जीव के मुख से हठात् निकल पड़ता है कि—

'लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं ही हो गई लाल॥' (कबीरदास)

अनन्य रामभक्त गुसाईंजी अपनी अनन्यता इस प्रकार अंकित कर रहे हैं—

'एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास।
स्वाति-सलिल रघुबंसमनि चातक तुलसीदास॥'

(२) 'गिरा'—क्योंकि—

'जापर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी॥

(३) 'ग्यान'—इसी प्रकार—

'सो जानहि जेहि देहिं जनाई।'

(२६४)

मेरो कह्यो सुनि पुनि भावै तोहिं करि सो।
चारिहूँ बिलोचन बिलोकु तू तिलोक महँ
तेरो तिहुँ काल कहु को है हितु हरि सो॥१॥
नये नये नेह अनुभये देह-गेह बसि
परखे प्रपंची प्रेम परत उघरि सो।
सुहृद-समाज दगाबाजि ही को सौदा सूत
जब जाको काज तब मिलै पाँय परि सो॥२॥
बिबुध सयाने पहिचाने कैधौं नाहीं नीके
देत एक गुन लेत कोटि गुन भरि सो।
करम धरम स्रम-फल रघुबर बिनु
राख को सो होम है, ऊसर कैसो बरिसो॥३॥
आदि अंत बीच भलो भलो करै सबही को
जाको जस लोक-बेद रह्यो है बगरि सो।
सीतापति सारिखो न साहिब सील-निधान
कैसे कल परै सठ बैठो सो बिसरि सो॥४॥
जीवको जीवन-प्रान, प्रान को परम हित
प्रीतम पुनीत कृत नीचन निदरि सो।

तुलसी तोको कृपालु जो कियो कोसलपालु
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो ॥५॥

शब्दार्थ—अनुभये = अनुभव किये। प्रपंची = मायावी। सौदासूत = लेन-देन का व्यवहार। ऊसर = वह जमीन जहाँ बीज नहीं उगता है। बरिसो = वर्षा। बगरि सो = फैला सा। चेतु = याद कर।

भावार्थ—अरे जीव ! एक बार मेरी बात सुन ले। फिर जो तुझे अच्छा लगे सो करना (क्योंकि करना न करना तेरी इच्छा पर निर्भर है)। तू अपने चारों नेत्रों (बाहरी नेत्रों से और हृदय के नेत्रों से) देख तो—तीनों लोकोंमें और तीनों काल में कहीं कोई भगवान् के समान तेरा हित करनेवाला है ? (हृदय से यही उत्तर मिलेगा कि कहीं कोई भी नहीं है) ॥१॥ तूने शरीर-रूपी घर में रह कर नये नये प्रेम का अनुभव किया और मायावी प्रेमियों को भी परख लिया। अंत में सबके प्रेमका भेद खुल गया, कपट ही कपट निकला। और मित्रों का समाज क्या है ! धोखेबाजी का लेन देन ? जब जिसका काम अटकता है तब वह पैरों पर गिरने लगता है (और काम निकल जाने पर देखता भी नहीं। सब मतलबी यार हैं) ॥ २ ॥ तूने देवताओं को भली भाँति पहिचाना या नहीं ? वे भी बड़े चतुर हैं। देते तो एक गुणा है; पर लेते हैं करोड़ गुणा। (देखा कैसे चंट हैं)। अब रहे कर्म-धर्म सो बिना रघुनाथजी के वह भी केवल परिश्रम मात्र के हैं। उनका करना ऐसा है जैसे कोई राखमें हवन करे या ऊसर ज़मीन पर पानी की वर्षा हो (राखका हवन और ऊसर की वर्षा निष्फल है। इसी प्रकार जो भगवान् से प्रेम नहीं है, तो समस्त कर्म-धर्म व्यर्थ ही है) ॥३॥ जो आदि में, मध्य में और अंत में, भले हैं और जीवमात्र का कल्याण करते हैं और जिनकी कीर्ति लोक में और वेद में छिटक रही है. ऐसे जानकी-वल्लभ रघुनाथजी के समान शीलनिधान स्वामी और दूसरा कोई नहीं है। अरे मूर्ख ! तू उसे भूला सा बैठा है। तुझे कैसे कल पड़ रहा है ॥४॥ अरे मूर्ख ! जो जीव का भी जीव, प्राणोंका भी प्राण, परमहितू अत्यन्त प्रिय और नीचोंको पवित्र करनेवाला है, उसका तू निरादर कर रहा है। तुलसी ! कोसलेन्द्र कृपामूर्ति रघुनाथजी ने तेरे लिये चित्रकूट में जो लीला रची थी उसे चित्तमें स्मरण कर ॥५॥

टिप्पणी—(१) 'नये नेह……उघरि सों'—इस प्रसंग पर नागरीदासजी का निम्नलिखित पद अनुपयुक्त न होगा—

'कहां वे सुत नाती हय हाथी ।
चले निसान बजाइ अकेले तहं कोउ संग न साथी ॥
रहे दास दासी मुख जोवत कर मीड़ैं सब लोग ।
काल गह्यो तब सबही छाड्यो घेर रहे सब भोग ॥
जहां तहां निसिदिन विक्रम को, भट्ट कहत बिरदत्त ।
सो सब बिसरि गये एकै रट राम नाम कहौं सत ॥
बैठन देत हुते नहिं माखो चहुं दिसि चंवर सचाल ।
लिये हाथ में लट्ठा ताको कूटत मित्र कपाल ॥
सौंधे भीगो गात जारि कै, करि आये वन ढेरी ।
घर आये तें भूलि गये सब धनि माया हरि तेरी ।
नागरिदास बिसरिये नाहीं, यह गति अति असुहाती ।
काल-व्याल को कष्ट-निवारन भजि हरि जनम-संघाती ॥'

(२) 'विबुध सयाने'—गुसांईजी का देवी-देवताओं पर बिल्कुल विश्वास नहीं था। उन्होंने देवताओं की जहां तहां बड़ी धूल उड़ाई है। रामचरितमानस में तो स्थान स्थान पर इन स्वार्थियों को खरी खरी सुनाई है।

(३) 'काम…बिनु'—इसपर एक क्या ही उत्तम पद्य मिलता है, देखिये—

'आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्,
नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम् ।
अन्तर्बाहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्,
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ॥

(४) 'जीव को……प्रीतम'—अहा ! यह भाग्य तो कोल-भीलों की भोली-भाली स्त्रियों को ही नसीब था। देखिये, प्रीतम को देख कर वे क्या कह रही हैं—

'प्रान हूँ के प्रान से सुजीवन के जीवन से
प्रेम हू के प्रेम रंक कृपन के धन हैं।

× + + +

आंखिन में सखि राखिबे जोग, इन्हैं किमि कै वनवास दियो है।

भक्त-शिरोमणि कबीर की भी भावना देखिये। वह अपने प्राण-प्यारे से कहते हैं—

'आओ प्यारे मोहना, मूंदि पलक तोहि लेउं।
ना मैं देखौं और को, ना तोहिं देखन देउं॥'

(५) 'चित्रकूट को चरित्र'—एक दिन चित्रकूट में गुसाईं तुलसीदासजी को घोड़ों पर चढ़े हुए दो अपूर्व सुन्दर राजकुमार दिखायी दिये। वे एक मृग के पीछे घोड़ा दौड़ाते हुए जा रहे थे। गुसाईंजी कुछ ध्यानावस्थित से थे। ध्यान में विघ्न पड़ने की आशंका से उन्होंने अपने नेत्रों को बन्द करके भूमि की ओर कर लिया। कुछ देर बाद हनुमानजी ने दर्शन दे कर उनसे कहा कि क्यों श्रीराम-लक्ष्मण के दर्शन मिले या नहीं? जो दो राजकुमार अभी घोड़े पर चढे इधर से गये हैं, वही रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी हैं। गुसाईं जी पछताने लगे। बोले—

'लोचन रहे वैरी होय।
जान बूझ अकाज कीनों गये भू में गोय॥
अविगत जु तेरी गति न जानी, रह्यो जागत सोय।
सबै छवि की अवधि मैं हैं निकसि गे ढिग होय॥
करमहीन मैं पाय हीरा दियो पल में खोय।
दास तुलसी राम बिछुरे, कहौं कैसी होय॥'

इसी प्रत्यक्ष दर्शन की ओर, गुसाईंजी का इस पद में संकेत है।

(२६५)

तन सुचि, मन रुचि, मुख कहौं जन हौं सिय-पी को।
केहि अभाग, जान्यो नहीं, जो न होइ नाथ सों नातो नेह न नीको॥१॥
जल चाहत पावक लहौं, विष होत अमी को।
कलि कुचाल संतनि कही सोइ सही, मोहिं कछु फहम न तरनि तमी को॥२॥
जानि अन्ध अंजन कहै वन-बाघिनि-घी को।
सनि उपचार विकार को सुविचार करौं जब तब बुधि बल हरै ही को॥३॥
प्रभु कहत सकुचत हौं, परौं जनि फिरि फीको।

निकट बोलि, बलि, बरजिये परिहरै ख्याल अब तुलसिदास जड़ जीको॥४॥

शब्दार्थ—अमी = अमृत । फहम = ज्ञान । तमी = रात । उपचार = इलाज । फीको = नीरस, बुरा ।

भावार्थ—हे प्रभो ! मैं शरीर को स्वच्छ रखता हूं, मन में भी रुचि है और मुंह से भी कहता हूं कि मैं जानकी-वल्लभजी का सेवक हूं, किन्तु समझ में नहीं आता कि किस दुर्भाग्य के कारण नाथ के साथ भली प्रकार मेरा सम्बन्ध और प्रेम नहीं होता (तन, मन, बचन से आपका बनना चाहता हूं, और यथाशक्ति बनता भी हूं, पर न जाने किस अभाग्य से विघ्न-बाधाएँ बीच में आ जाती हैं जो सारा किया-कराया मिट्टी में मिला देती हैं) ॥ १ ॥ चाहता हूं पानी, पर मिलती है आग ! (भक्ति जल के बदले विषयाग्नि मिलती है) । इसी प्रकार अमृत विष में परिणत हो जाता है (अमृत-रूपी सत्कर्म, दंभ के संपर्क से, ज़हरीले हो जाते हैं) । संतों ने कलियुग की जितनी कुछ कुटिल चालें कही हैं, वे सब ठीक हैं । मैं यह नहीं जानता कि क्या सूर्य है और क्या रात्रि, अर्थात् मैं ज्ञान और अज्ञान को ठीक ठीक नहीं पहचान सकता । मुझे तो संतों का कथन ही सच जँचता है) ॥ २ ॥ कलियुग मुझे अन्धा समझ कर वन की सिंहनी के घी का अंजन बनाता है ! (सिंहनी तो जाते ही खा जायगी । कहां से घी मिलेगा और कैसे अंजन बनेगा ? संसार-कानन में माया-रूपी सिंहनी रहती है । काम-वासना ही उसके दूध का घृत है । भला, इस अंजन से कोई बचेगा ? कलियुग ओषधि क्या बता रहा है, प्राणघातक विष का प्रयोग सिखा रहा है) । जब मैं यह विकार-भरा उपचार सुनता हूं और इस पर विचार करता हूं, तब हृदय से बुद्धि-बल नष्ट हो जाता है (साहस छूट जाता है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और बल-पराक्रम क्षीण हो जाता है) ॥ ३ ॥ (बुद्धि-बल नष्ट होने पर मुझे कलियुग का बताया हुआ उपचार अच्छा लगता है । सारांश, माया में फँस जाता हूं । कामी हो कर विषयोपभोग करता हूं । इसीसे आपके साथ निर्विघ्न नाता नहीं जुड़ पाता और न आप के चरणों में प्रेम ही होता है) हे नाथ ! कुछ आपसे कहना है, पर उसे कहते हुए संकोच होता है कि कहीं मेरी बात फिर फीकी न पड़ जाय । इससे मैं आपकी बलैया लेता हूं, पास बुला कर इसे (कलियुग को) रोक दीजिए कि जिससे वह तुलसी-सरीखे अज्ञानी प्राणियों पर ध्यान न दे, उनका पिंड छोड़ दे (क्योंकि जब तक यह विघ्न-बाधा पहुंचाता रहेगा, तब तक मैं आपका हो कर नहीं रह सकता) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) इसमें यह दिखाया गया है कि भगवत्प्राप्ति के उपाय करते हुए भी यह जीव दिन पर दिन और भी मलिन होता जाता है। प्रत्येक सत्कर्म में दुष्कर्म अथवा पुण्य में पाप सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहता है। हमें तो यही जान पड़ता है कि हम पुण्य कर रहे हैं, किन्तु हमारे सुकृत-वस्त्र को छिपेछिपे अभिमान-रूपी मूषक काट डालता है, या कर्मरूपी दीपक उसे छिन्नभिन्न कर देता है। जाते तो हैं हरि-कथा सुनने, पर वहां भी स्त्रियों के हावभावको देखा करते हैं, उनके मधुर गान में मन-कुरंग को फँसा देते हैं! छिपे छिपे यह कुचालें कलियुग खेल रहा है। इसीने बड़े बड़े धर्मध्वजों को नरक का रास्ता बताया है। अतएव जैसे-तैसे भगवच्छरण में जाना ही श्रेयस्कर है। अहा!

'यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगभेद पट्टम्।
तन्नाकपाल वसुपाल किरीटजुष्टं पदाम्बुजं रघुपतेः शरणं प्रपद्ये॥'

(श्रीमद्भागवत)

(२६६)

ज्यों ज्यों निकट भयो चहौं कृपालु त्यों त्यों दूरि परयो हौं।
तुम चहुंजुग रस एक राम हौं हूँ रावरो,
जदपि अघ अवगुननि भरयो हौं॥ १॥
बीच पाइ नीच बीच ही छरनि छर्यो हौं।
हौं सुवरन कुबरन कियो, नृप तें भिखारि करि,
सुमति तें कुमति कर्यो हौं॥ २॥
अगनित गिरि कानन फिर्यो, बिनु आगि जर्यो हौं।
चित्रकूट गये हौं लखी कलि की कुचाल सब,
अब अपडरनि डर्यो हौं॥ ३॥
माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खरयो हौं।
चीन्हों चोर जिय मारि है तुलसी सो कथा सुनि,
प्रभु सों गुदरि निवर्यो हौं॥ ४॥

शब्दार्थ—छरनि-छर्यो हौं=छलों से छला गया। कुमति=दुर्बुद्धि। अपडरनि=अपने ही डर से। खर्यो=खड़ा। गुदरि निवर्यो हौं=कह चुका हूं।

भावार्थ--हे कृपालु ! ज्यों ज्यों मैं आप के समीप आना चाहता हूं त्यों त्यों दूर पड़ता जाता हूं (आपका सान्निध्य प्राप्त करने के जितने उपाय करता हूँ, वे माया-मोह के संसर्ग से ऐसे बाधक हो जाते हैं, कि मैं क्षण प्रतिक्षण संसार-मार्ग पर पिछड़ जाता हूं)। हे रामजी ! आप चारो युगों में सदा एक से रहे हो और मैं भी आपका हूं, यद्यपि मैं पापों और दोषों से परिपूर्ण हूँ (तात्पर्य, तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म और जीव का सनातन सम्बन्ध है) ॥१॥ आपसे अलग रहने का मौका पा कर इस नीच कलियुग ने मुझे बीच ही में छलों से छल लिया (ज्यों ही मैं 'जीवत्व' प्राप्त कर अविद्यावश भगवच्चरणारविन्दों से विमुख हुआ, त्यों ही दुष्ट कलि ने अपना इन्द्रजाल फैला कर मुझे भूल भुलैयों में डाल दिया)। मैं सुवर्ण था, पर इसने कुवर्ण कर दिया, सोने से रांगे में परिणत कर दिया। राजा से रंक बना डाला। और ज्ञानी से अज्ञानी कर डाला। सारांश, पहले मैं शुद्ध सच्चिदानन्द का अंश-स्वरूप था, पर इसने इन्द्रियपरायण कर दो कौड़ी का कर डाला ॥२॥ तब से मैं अगणित पहाड़ों और जंगलों में घूमता फिरा और वहाँ बिना ही आग जलता रहा, कहीं शान्ति का लेशमात्र भी नहीं मिला (नाना योनियों में भटकता रहा और वहां त्रिविध ताप से जला किया)। परन्तु जब मैं चित्रकूट गया, तब मेरी समझ में इस कलि की सारी बुरी चालें आईं। अब मैं अपने ही डर से डर रहा हूं ॥३॥ मैं हाथ जोड़ कर प्रभु के सम्मुख खड़ा हूँ और मस्तक झुका कर कह रहा हूं कि, पहिचाना हुआ चोर फिर जीव को जीता नहीं छोड़ता, मार ही डालता है--इस बात को सुन कर तुलसी अपने स्वामी से गुज़ारिश कर चुका (अब आगे जो आपकी मरज़ी हो सो कीजिए) ॥४॥

टिप्पणी (१) इस पद का सारांश यह है कि यह जीव पहले सच्चिदानन्द परमेश्वर का अंश होने के कारण स्वयं सच्चिदानन्दवत् था, किन्तु अविद्यावश पीछे जीवत्व संज्ञा में आने से अत्यन्त मलिन हो गया। और यह कृपा कलि महाराज की है ! भगवच्छरणागत जीव ही इन हज़रत से बरी रह सकता है।

(२) 'चित्रकूट'—गुसाईंजी ने चित्रकूट में भगवत्प्राप्ति का बड़ा कड़ा साधन किया था। इनकी अनन्य निष्ठा देख कर कलि के पेट में चूहे लोटने लगे। एक बार आकर उसने इन्हें बड़ी डांटडपट बतायी। किन्तु हनुमानजी की कृपा से इनका

बाल भी बांका न कर सका। मन में अवश्य खार खा गया और निश्चय कर लिया कि कभी न कभी इन्हें समझूँगा। इसी डर के मारे गुसाईंजी सदा शंकित रहते हैं। नीति का वचन है कि,---

'शत्रु शेषं न कारयेत्'

इसलिये यह भगवान् से कहते हैं कि,

'चीन्हों चोर जिय मारि है तुलसी सो कथा सुनि।
प्रभु सों गुदरि निबर्‌यो हौं॥'

अथवा—

'गरजी बिचारे को तो अरजी किये ही बनै,
माननी न माननी सो मरजी हुजूर की।'

(२६७)

प्रन करिहौं हठि आजु तें राम-द्वार पर्‌यो हौं।*
'तू मेरो' यह बिन कहे उठि हौं न जनम भरि,
प्रभु की सौं करि निबर्‌यो हौं॥१॥
दै दै धका जमभट थके, टारे न टर्‌यो हौं
उदर दुसह साँसति सही बहु बार जनमि जग
नरक निदरि निकर्‌यो हौं॥२॥
हौं मचला लै छांड़िहौं, जेहि लागि अर्‌यो हौं।

---

*इधर सूरदासजी भी ऐसी ही हठ पकड़े हुए है।

'आजु हौं एक एक करि टरि हौं।
कै हम ही कै तुम ही माधव! अपुन भरोसे लरि हौं॥
हौं तौ पतित अहौं पीढ़िन को, पतित ह्वै निस्तरि हौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हैं बिरद बिनु करि हौं॥
कत अपनी परतीति नसावत मैं पायो हरि हीरा।
सूर पतित तब ही लै उठि है जब हँसि दैहौ बीरा॥'

फिर भी श्रीगुसाईंजी के और सूरदासजी के मचलने में अंतर है। वह हैं दास और यह हैं सखा। वह राजाधिराज के दरबारी हैं और यह हैं अहीर के कृपापात्र।

तुम दयालु बनिहै दिये, बलि,
बिलम्ब न कीजिये जात गलानि गर्‌यो हौं ॥३॥
प्रगट कहत जो सकुचिये अपराध-भर्‌यो हौं।
तौ मन में अपनाइये तुलसिहिं कृपा करि,
कलि बिलोकि हहर्‌यो हौं ॥४॥

शब्दार्थ—साँसति=कष्ट। मचला=मचलनेवाला। अर्‌यो हौं=अड़ा हूं। हहर्‌यो हौं डर गया हूं।

भावार्थ—हे रघुनाथजी! आज से मैं सत्याग्रह करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। इसीसे मैं आपके द्वार पर पड़ा हूँ, धरना दिये बैठा हूँ। जब तक आप यह न कहेंगे कि 'तू मेरा है, तब तक मैं यहां से उठने का नहीं, भले ही जीवन बीत जाय। आपकी शपथ खा कर मैं कह चुका हूं। (इसे असत्य न मानियेगा) ॥१॥ (मैं ऐसा-वैसा अड़नेवाला हठी नहीं हूं। विश्वास न हो, तो सुनिये, पहले) यमदूत मुझे धक्के मार मार कर थक गये, मुझे ज़बरदस्ती नरक के द्वार से हटाना चाहा, पर मैं वहां से टस से मस भी न हुआ। (भाव, इतने अधिक पाप किये कि अनेक जीवन नरक में ही बीते। जब मेरे मारे यमदूतों का नाकों दम आ गया, तो मुझे वहां से हटाने लगे, पर मैं कहां छूटनेवाला था)। संसार में बार बार जन्म लिया, बार बार पेट का दारुण क्लेश भोगा, तब कहीं नरक का निरादर कर वहां से निकला हूं (जब समझ लिया कि यमदूत मेरे मारे तङ्ग आ गये, तब वहां से हटा) ॥२॥ जिस चीज़ के लेने के लिये मैं अड़ा हूँ, उसे मैं लेकर ही छोड़ूंगा, क्योंकि मैं बड़ा ही मचलनेवाला और जिद्दी हूँ। हे दयालु! आपको भी देते ही बनेगा। बलिहारी! (जब देना ही है, तब) देर न कीजिए (तुरंत दे डालिये), क्योंकि मैं ग्लानि के मारे गला चाहता हूँ। (इसलिये तुरंत इतना कह दीजिये कि 'तुलसी मेरा है।' बस, इतना सुनते ही, मैं अपनी ज़िद छोड़ दूंगा) ३॥ मैं बड़ा ही अपराधी हूं। इस कारण से यदि आप उजागर हो कहने में संकोच करते हैं, तो मन में ही कृपा कर तुलसी को अङ्गीकार कर लीजिए। क्योंकि मैं कलि को देख कर बहुत डर गया हूं (ऐसा जान पड़ता है कि जो आपने विलम्ब किया, तो यह दुष्ट तुरंत अपने जाल में फँसा लेगा और फिर आपको भी अपने दास के छुड़ाने में व्यर्थ का कष्ट उठाना पड़ेगा) ॥४॥

टिप्पणी—(१) इस पद में गुसाईंजी भगवच्चरण प्राप्त करने के लिये बड़े ही अधीर हो रहे हैं। न जाने किस घड़ी में क्या हो जाय, यह विचार कर जीव को भगवान् से मिलने के लिये ऐसी ही आतुरता और विरहाकुलता करनी चाहिये। एक भक्त की अधीरता तो देखिये! कहता है—

'कृष्ण त्वदीय पद-पंकज-पंजरान्तरद्यैव मे विशतु मानस राजहंसः।
प्राण प्रयाण समये कफ वात पित्तैः कंठावरोधन विधौ स्मरणं कुतस्ते ?'

हे कृष्ण! तेरे चरणारविन्दरूपी पिंजड़े में मेरा मन-रूपी मराल आज ही प्रवेश कर जाय। क्योंकि प्राणपखेरू उड़ते समय जब कफ, वात और पित्त से गला बन्द हो जायगा, तब आपका स्मरण कैसे बन सकेगा ?

विरही कबीर भी अपने प्यारे के दीदार के लिए अधीर हो रहे हैं—

'प्रीति लगी तुव नाम की, पल विसरै नाहीं।
नजर करो अब मेहर की मोहि मिलौ गुसाईं॥
विरह सतावै हाय अब जिव तड़पै मेरा।
तुम देखन को चाव है प्रभु मिलौ सवेरा॥
नैना तरसैं दरस को पल पलक न लागै।
दरदबंद दीदार का निसि बासर जागै॥
जो अब के प्रीतम मिलै करूँ निमिष न न्यारा।
अब कबीर गुरु पांइया मिला प्रान पियारा॥'

(२) 'हौं मचला लै छाँड़ि हौं'—यहां भक्तवात्सल्य भाव की सूचना देता है। जैसे माता-पिता के आगे बच्चे मचल जाते हैं, वैसे ही भक्त जगत्पिता के सामने बालभाव से हठ कर रहा है। धन्य इस भावना को!

(२६८)

तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै॥१॥
सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरि है।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेक ते नहिं टरिहै॥२॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहैं।
हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित अनहित कलि कुचाल परिहरिहै॥३॥

प्रभु-गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नयननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनंद उमगि उर भरिहै ॥४॥

शब्दार्थ—फिरि परिहै = फिर जायगा; हट जायगा। चातक = पपीहा। ढरि है = बहायेगा।

भावार्थ—जब मेरा मन (विषयों की ओर से) फिर जायगा, तभी मैं समझूंगा कि आपने मुझे अंगीकार कर लिया। जब यह मन, जिस सहज भाव से विषयों में लग रहा है, उसी प्रकार कपट छोड़कर आपके साथ प्रेम करेगा (तभी मैं जानूंगा कि अब मैं आपका हो गया, क्योंकि जब तक मैं काम-दास रहूंगा, तब तक राम-दास होना असम्भव है) ॥ १ ॥ जैसे यह मन पुत्र को प्यार करता है, मित्र पर विश्वास रखता है और राज-भय से डरता है, उसी तरह जब वह अपने स्वामी से ही अपना सब मतलब रखेगा, और चारों ओर से चातक की नाईं अपने हठ से न हटेगा (अनन्य होकर एक प्रभु रामचन्द्रजी का ही हो जायगा) ॥ २ ॥ बहुत सम्मान पाने पर जब उसे प्रसन्नता न होगी और तिरस्कृत होने पर जल कर न मरेगा, और हानि-लाभ सुख-दुःख सब को एक सा लेखेगा और भलाई-बुराई में सम भाव रखेगा। तात्पर्य, समता का स्वरूप हो जायगा, और कलिकाल की कुचालें छोड़ देगा (तभी मुझे यह ज्ञात होगा कि अब मैं, हे नाथ ! 'भवदीय' हुआ) ॥ ३ ॥ जब मेरा मन प्रभु का गुणानुवाद सुनकर प्रफुल्लित हुआ करेगा और मेरे नेत्रों से प्रेमाश्रु-धारा बहने लगेगी। तभी तुलसीदास को यह विश्वास होगा कि वह श्रीरामजी का दास हो गया। उस समय के प्रेम को देख कर आनन्द हृदय में उमड़ कर भर जायगा, फूला नहीं समायेगा (क्योंकि ब्रह्मानन्द-प्राप्ति का सुख अगोचर है, उसका वर्णन नहीं हो सकता) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) 'तुम......परि है'—जो जीव "भगवदीय" हो जाता है, उसकी दशा ही निराली या अलौकिक हो जाती है। न वह तन रहता है; न वह मन। शरीर में एक विचित्र कांति छा जाती है, मुख पर दिव्य सौन्दर्य झलकने लगता है। वाणी अमृतमयी हो जाती है। आँखों में प्रेमोन्माद की लहर उठती दिखायी देती है। विषयों की ओर से मन एक दम फिर जाता है। विराग और अनुराग का अपूर्व सम्मेलन होने लगता है। अधिक क्या—वह दशा

विलक्षण और अगोचर है। जिनके मन दुनिया से फिर कर परमार्थ की ओर दौड़ रहे हैं, उनकी दशा, उन्हीं के शब्दों में, सुनिये—

'दुनिया के परपंचों में हम मज़ा नहीं कछु पाया है।
भाई बंध पिता माता पति सब सों चित अकुलाया है॥
छोड़ छाड़ घर गाँव नाँव कुल यही पंथ मन भाया है।
'ललितकिसोरी' आनँदघन सों अब हठि नेह लगाया है॥
जंगल में अब रमते हैं दिल बस्ती से घबराता है।
मानुष-गंध न भाती है, सँग मरकट मोर सुहाता है॥
चाक गरेबाँ करके दम दम आहें भरना आता है।
'ललित किसोरी' इश्क़ रैन दिन ये सब खेल खिलाता है॥'

(२) 'चाक......टरि है'—चातक की अनन्यता गुसाईंजी के हृदय में स्थान कर चुकी थी। जहाँ तहाँ उन्होंने चातक के प्रेमका बड़ा ही अनूठा वर्णन किया है। देखिये, निम्न दोहे कितने भावपूर्ण हैं—

'डोलत बिपुल बिहंग बन, पियत पोखरानि बारि।
सुजस-धवल चातक नवल! तुही भुवन दस चारि॥
बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहु लगी न खोंच॥'

(३) 'प्रभु गुन......ढारिहै'—महाराज नागरीदासजी इस प्रेम-दशा का क्या ही सजीव चित्र खींच गये हैं! अहा!

'कब दुखदाइ होयगो मोको बिरह अपार?
रोय रोय उठि दौरिहौं, कहि कहि कित सुकुवाँर॥
ता दिन ही तें छूटिहैं, खान पान अरु सैन।
छीन देह जीरन बसन, फिरिहौं, हिये न चैन॥
नैन द्रवैं जलधार बहैं, छिन छिन लेत उसाँस।
रैनि अँधेरी डोलिहौं, गावत जुगल उपास॥
हेरत टेरत डोलिहौं, कहि कहि स्याम सुजान।
फिरत गिरत बन सघन में, याहीं छूटि है प्रान॥'

वास्तव में, जिस क्षण यह प्रेमाधीरता की दशा हो जायगी, उसी क्षण यह जीव 'तदीय' हो जायगा। किन्तु यह दशा तलवार की धार पर चलने से ही प्राप्त होगी।

(२६९)

राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को ?
सुखजीवन ज्यों जीव को, मनि ज्यों फनि को, हित ज्यों धन लोभ-लीनको॥१॥
ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर पावन प्रेम पीन को॥२॥
मनसा को दाता कहैं स्रुति प्रभु प्रवीन को।
तुलसिदास को भावतो, बलि जाउँ, दयानिधि दीजै दान दीन को॥ ३॥

शब्दार्थ—फनि = साँप। सुभाय = स्वभाव से ही। नागर नवीन = नवयुवक, नायक। लालसा = इच्छा। पीन = पुष्ट, मोटा। भावतो = मनचाहा।

भावार्थ—हे रघुनाथजी! क्या मुझे आप इतने प्यारे लगेंगे, जितना कि मछली को जल प्यारा लगता है, या जीव को आनन्दमय जीवन लगता है, अथवा जैसे मणि सांप को प्रिय जान पड़ता है, या भारी कंजूस को धन प्यारा लगता है? ॥१॥ या नवयुवक नायक को जैसे स्वभाव से ही चतुर और नवीन नायिका परम प्यारी लगती है, उस प्रकार, हे करुणालय! मेरे मन में अपने चरणारविन्दों में पवित्र और अनन्य प्रेम की कामना अंकुरित कीजिए (मैं यही चाहता हूं, कि मैं सदा आप के चरण-कमलों में अपने मन-चंचरीक को बद्ध किये रहूं एक क्षण को भी वह अन्य पुष्पों के पराग पर लुब्ध न हो। क्या ऐसा कभी आप करेंगे?) ॥ २ ॥ वेद कहते हैं कि प्रभु रघुनाथजी मनोवाञ्छा के देने वाले हैं और बड़े ही चतुर हैं (वह मन की बात तुरंत ताड़ लेते हैं, कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती)। हे दयानिधे! मैं आपकी बलैयाँ लेता हूं, इस दीन तुलसीदास को उसका मनचाहा दान दे दीजिये। (वह दान यही है कि उसे आप अत्यन्त प्यारे लगें, वह आपको ही अपना प्राणाधार और जीवन-सर्वस्व समझे, इधर उधर न भटकता फिरे) ॥ ३ ॥

टिप्पणी (१)—'जैसे नीर मीन को'—मछली की जल के साथ कैसी अनन्य प्रीति है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। और पशुपक्षी तो जल के सूखते ही अन्यत्र चले जाते हैं, पर बेचारी मछलियाँ उसी के साथ सूख कर मर जाती हैं,

इन्हें अपने प्रियतम का विछोह एक पल भी सहन नहीं होता।

'सर सूखें, पंछी उड़ें, औरै सरनि समाहिं।
दीन मीन बिन पंख की, कहु 'रहीम' कहँ जाहिं।'

गुसाईं जी भी मीन का गुण-गान कर रहे हैं—

'देउ आपने हाथ जल, मीनहिं माहुर घोरि।
तुलसी जियै जो बारि बिनु, तौ तु देहि कबिं खोरि॥
मकर, उरग, दादुर, कमठ, जल जीवन जल गेह।
तुलसी एकै मीन को, है साँचिलो सनेह॥' (दोहावली)

(२) 'प्रिय.. नवीन को' — आजकल तो काम-प्रवृत्ति पराकाष्ठा तक पहुंची जान पड़ती है। मध्यकालिन कवियों ने नायिकाभेद और रस के ग्रन्थ लिख लिख कर समाजको चौपट कर दिया। उनसे जो काम शेष रह गया था, वह ऐय्यारी उपन्यासों ने पूरा कर दिया। नवयुवकों का समाज एकदम गंदा हो गया है। जहां देखो तहां अश्लील भावों का बाज़ार गर्म हो रहा है। पुरुषों को स्त्रियाँ स्वर्ग-सोपान बन गई हैं। जो पूजी जाती थीं, वे आज उपभोग की सामग्री हो गई हैं। आज सुंदरदास-सरीखे कवियों की माँग है, न कि देव, मतिराम और पद्माकर की। सुंदरदासजी को नवीन नागरी कैसी प्रिय थी, सो सुन लीजिये—

'कामिनी की देह अति कहिये सघन बन,
उहां सु तौ जाय कोऊ भूलि कै परत है।
कुंजर है गति, कटि केहरि की भय या में,
बेनी कारी नागिन सी फन को धरत है॥
कुच हैं पहार जहां काम चोर बैठो तहां,
साधि कै कटाच्छ-बान प्रान को हरत है।
सुंदर कहत एक और अति भय तामें
राछसी बदन खांव खांव ही करत है॥'

इसका यह अर्थ नहीं है कि यहां स्त्रियों की निंदा की गई है। निन्दा काम-प्रवृत्ति की की गई है। जैसे काम-प्रवृत्ति स्त्रियों में रहती है, वैसे वह पुरुषों में भी रहती है। वह दोनों के ही लिये निंदास्पद है।

(३) इस पद का निचोड़ निम्नलिखित दोहे में मिलता है—

'कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी के उर दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥' (तुलसीदास)

(२७०)

कबहुँ कृपा करि रघुबीर! मोहूँ चितैहौ।
भलो बुरो जन आपनो जिय जानि दयानिधि! अवगुन अमित बितैहौ॥ १॥
जनम जनम हौं मन जित्यो, अब मोहि जितैहौ।
हौं सनाथ ह्वैहौं सही, तुमहूँ अनाथपति जो लघुतहि न भितैहौ॥ २॥
बिनय करौं अपभयहुँ तें तुम्ह परम हितै हौ।
तुलसिदास कासों कहै? तुम हीं सब मेरे प्रभु गुरु मातु पितै हौ॥३॥

शब्दार्थ—जित्यो=जीता गया। भितै हौ=डरोगे। अपभयहुँ तें=अपने ही भय से।

भावार्थ—हे रघुवीर! मेरी तरफ भी कभी कृपा कर देखोगे? हे दया-निधान! अपने मनमें मुझे भला या बुरा सेवक समझ कर क्या मेरे अपार दोषों को क्षमा कर दोगे? (मेरा यह तो कहना है नहीं कि मैं भला हूं-लोग व्यर्थ ही मुझे अपराधी बना रहे हैं, अतएव मेरे झूठे कलंकों को धो डालिये। मैं बुरा हूं और हज़ार बार बुरा हूं, पर हूं तो आपका गुलाम। बस यही समझ कर मेरे गुनाह माफ़ कर दीजिए, क्योंकि अच्छे मालिक अपने नौकरों की भूल-चूक सदा से माफ़ करते आये हैं।)॥ १॥ अनेक जन्मों से मुझे मेरा मन जीतता चला आया हूँ (मुझे अपने वश में चलाता आया है), अबकी बार क्या आप मुझे भी उस पर विजय करायेंगे? (क्या वह आप की कृपा से मेरा गुलाम होगा?) मैं सचमुच ही सनाथ हो जाऊँगा और यदि आप मेरी क्षुद्रता से डरेंगे, तो आप भी "अनाथ-पति" पुकारे जाने लगेंगे (भाव, मेरी क्षुद्रता पर ध्यान न देकर मुझे अंगीकार कर लीजिए और 'अनाथपति' की उपाधि भी धारण कर लीजिए)॥ २॥ मैं अपने ही भय से इस प्रकार विनय कर रहा हूं। आप तो मेरे परम हितू हैं। यह तुलसीदास अपना रोना किसके आगे रोवे (संसार में कोई सुननेवाला भी तो नहीं है, सब हँसी उड़ाने वाले हैं)? मेरे तो स्वामी, गुरु, माता, पिता आदि सब आप ही हैं (आपको छोड़ कर मेरा कोई दूसरा सगा-सम्बन्धी नहीं है)॥ ३॥

टिप्पणी—(१) 'कबहुं......चिते हौ'— इस पर कोई कोई तो यह प्रश्न कर उठेंगे कि केवल देख देने से क्या मिल जायगा ? सो तो वही जाने जो उस चितवन के भूखे हैं। प्रेमी भक्तों की भावनाएँ कुछ निराली ही हुआ करती हैं। उनका मनोराज्य तीन लोक से न्यारा होता है। कविवर हठी ने भी अपने इष्टदेवता से इसी 'चितवन' की भीख मांगी थी। सुनिये—

'कोऊ धनधाम कोऊ चाहे अभिराम, कोऊ
साहिबी सुरेस भांति लाख लहियतु है।
कोऊ गजराज महाराज सुभराज कोऊ
तीरथ बरत नेम अंग दहियतु है॥
ऐसो चित चाहे चरचा है दुनिया को 'हठी'
चाहे हृदै एक तौन ठीक ठहियतु है।
जन-रखवारी को सुप्रभु-प्रानप्यारी की
सुकीरति-दुलारी की नजर चहियतु है॥'

(२) 'जनम जनम···जितैहौ'—इस का तात्पर्य यह है—

जिस मन से मैंने सुन्दर स्त्रियों को काम-दृष्टि से देखा है क्या उससे भगवान् और भगवद्भक्तों के दर्शन करूँगा ? जिस मन से मैंने शृंगारी कविताएँ, परापवाद सुना है, क्या उस से हरिचरित और संतों के बचनामृत सुनूंगा ? जिस मन से मैंने स्त्रियों का अधररस पान किया है, षट्रसों का आस्वादन लिया है, क्या उससे भगवत्प्रसाद, संतों का जूठन और हरिकीर्त्तन का आस्वादन करूँगा ? जिस मन से मैंने सुगंधित सौरभ का सुख लिया है, क्या कभी उससे भगवान् को अर्पित तुलसीमाला को सूघूँगा ? जिस मन से परापवाद और कामवासनाओं का चिंतन किया है, क्या उसे मैं कभी हरि-चिंतन और अध्यात्म-निरूपण में लगाऊँगा ? मेरी ये कामनाएँ, हे प्रभो ! आपकी ही कृपा से सफल हो सकेंगी।

(३) 'जो लघुतहि न भितैहौ'—भला लघुता से क्यों डरेंगे ? जो जटायु, पाषाणी, शवरी, गुह निषाद, अजामेल, गनिका, यवन, आदि की लघुता से नहीं डरे, वह, गुसाईंजी ! आपकी लघुता से क्यों डरने लगे ?

(२७१)

जैसो हौं तैसो हौं राम ! रावरो जन जनि परिहरिये ।
कृपासिंधु कोसलधनी सरनागत-पालक ढरनि आपनी ढरिये ॥ १ ॥
हौं तौ बिगरायल और को, बिगरो न बिगरिये ।
तुम सुधारि आये सदा सब की सबही बिधि अब मेरियो सुधरिये ॥ २ ॥
जग हँसिहै मेरे संग्रहे* कत इहि डर डरिये ।
कपि केवट कीन्हें सखा जेहि सील सरल चित तेहि सुभाउ अनुसरिये ॥३॥
अपराधी, तउ आपनो तुलसी न बिसरिये ।
टूटियो बाहँ गरे परै, फूटेहूँ बिलोचन पीर होत हित करिये ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—ढरनि=कृपा करने को प्रकृति । बिगरायल=बिगड़ा हुआ । संग्रहे=संग्रह करने से, अंगीकार करने से । गरे परे=गले बँध जाती है ।

भावार्थ—हे रघुनाथजी ! मैं, कैसा ही सही, पर हूँ तो आपका दास । मुझे न त्यागिये, शरण में ही रखिये । हे कोसलेन्द्र ! आप कृपा के समुद्र और शरण में आये हुए जीवों की रक्षा करनेवाले हैं । सो अपनी सदा की दयालुता की बानि समझ कर कृपा कीजिए (दीनों पर दया करना आपके लिये नई बात नहीं है । आपका तो नाम ही दीनबन्धु है । बस इसी नाते से मुझ पर दया कीजिए) ॥ १ ॥ मैं तो औरों के हाथ से बिगाड़ा हुआ पहले ही हूँ (मायामोह मुझे पहले ही नष्ट-भ्रष्ट कर चुके हैं, इन्द्रियों और मन ने मेरा सर्वनाश कर ही डाला है) अब आप इस बिगड़े हुए को न बिगाड़िये (मरे को मारना कहां का न्याय है ?) । आप तो सदा से सब की करनी सब तरह से सुधारते आये हैं । आज मेरी भी सुधार दीजिए (बिगड़ी करनी का सुधारना ही आपके हिस्से पड़ा है, बिगाड़ना नहीं) ॥ २ ॥ क्या आप इस डर से डर रहे हैं कि मुझे अंगीकार करने से संसार आपका उपहास करेगा, आपकी दिल्लगी उड़ायेगा ? (कि, क्या कहना इस न्याय पर ! कहीं तुलसी-सरीखे पापियों को भी अपनाना उचित है ? पर आप इस डर से न डरें, आपके लिये पापियों का अपनाना नई बात नहीं है) आपने जिस सीधे-सादे भाव से बन्दरों और केवट को अपना मित्र बनाया था, उसी

*पाठान्तर 'संग रहे'।

स्वभाव से मुझे भी अपना लीजिए ॥ ३ ॥ यद्यपि मैं अपराधी हूँ, तथापि हूं तो आपका ही। तुलसी को आप न भुलाइये, उसकी सुधि लिये रहिए। देखिये, टूटा हुआ भी हाथ गले बँध जाता है (कोई उसे काट कर फेंक नहीं देता)। और फूटी हुई आँख में भी जब पीड़ा होती है, तब उसकी औषधि की जाती है (इसी प्रकार मैं यद्यपि आपके किसी काम का नहीं हूँ, पर हूं तो आपका ही अंश। अतएव उसे यों ही न छोड़ दीजिए) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) जैसो···परिहरिये'—भगतच्चरणारविन्दों से एक क्षण के लिये भी अलग होना असह्य हो जाता है। जैसे मछली पल मात्र को जल से अलग नहीं होना चाहती, वैसे ही भगवद्भक्त भगवान् से अलग होने में दारुण दुःखका अनुभव करते हैं। देखिये, एक गोपी क्या कहती है—

'गिरि से गिरावो, काली नाग से डसावो, हाहा—
प्रीति ना छुड़ावो प्रानप्यारे नँदलाल सों।'

तभी तो कविवर बिहारी भगवान् से यह प्रार्थना कर रहे हैं—

'हरि, कीजत तुमसों यहै, विनती बार हजार।
जेहि तेहि भांति डर्‌यो रहौं पर्‌यो रहौं दरबार॥'

(२) 'कपि'—सुग्रीव, हनुमान्, अंगद आदि से तात्पर्य है।
(३) 'केवट'—गुह; १०६ पद की तीसरी टिप्पणी देखिये।

(२७२)

तुम जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो।
सुनहु राम, बिनु रावरे लोकहुँ परलोकहुँ कोउ न कहूँ हितु मेरो ॥ १ ॥
अगुन अलायक आलसी जानि अधम† अनेरो
स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा कोसो टोटक औचट उलटि न हेरो॥२॥
भगतिहीन, बेद-बाहिरो लखि कलिमल घेरो।
देवनि हूँ देव! परिहर्‌यो, अन्याव न तिन को, हौं अपराधी सब केरो॥३॥
नाम की ओट लै पेट भरत हौं पै कहावत चेरो।
जगत-बिदित बात ह्वै परी समुझिये धौं अपने लोक कि बेद बड़ेरो ॥४॥

---

†पाठान्तर 'अघन।'

ह्वैहै जब तब तुम्हहिं तें तुलसी को भलेरो।
देव ! दिन हूँ दिन बिगरिहै, बलि जाउँ, बिलंब किये अपनाइये सबेरो॥५

शब्दार्थ—अगुन = मूर्ख। अलायक = नालायक, अयोग्य। अनेरो = बेकाम। तिजरा = तिजारी। टोटक = टोटका। भलेरो = भला, कल्याण। 'भले' शब्द पर, जान पड़ता है, अनुप्रास ने विजय प्राप्त की है, इसी से भले का 'भलेरो' हो गया है। सबेरो = जल्द ही।

भावार्थ—हे रघुनाथजी ! आप मेरे लिये उदासीन मन न करें, निरपेक्ष न हों, और न मेरी ओर से अपनी आंखें ही फेरिये। हे नाथ ! सुनिये, इस संसार में और परलोक में आप को छोड़ कर मेरा कल्याण करनेवाला कहीं कोई नहीं है ॥१॥ मतलबी यारों ने मुझे, मूर्ख, नालायक, आलसी, नीच और बेकाम समझ कर, तिजारी के टोटके की तरह, छोड़ दिया और फिर भूल कर भी वे पलट कर मेरी ओर नही हेरे (ऐसा छोड़ा कि फिर कभी मेरी याद तक नहीं की) ॥ २ ॥ मुझे भक्तिरहित, वेदोक्तमार्ग से वहिष्कृत एवं कलिकाल के पापों से घिरा हुआ देख कर, हे नाथ ! देवताओं ने भी मुझे छोड़ दिया (यदि मैं आपका भक्त होता, वैदिक मार्ग पर चलता होता और कलि के पापों से विमुक्त होता, तो देवता मेरी बलैया लेते, खुशामद करते, पर मैं वैसा नहीं हूँ। इसलिये उन लोगों ने भी मुझे त्याग दिया)। यह कुछ उनका अन्याय नहीं है। मैं ही सब का अपराधी हूँ (जब मैंने कभी आज तक किसी देवता की सेवा-पूजा नहीं की, तब वे मेरा निरादर क्यों न करेंगे ?) ॥ ३ यद्यपि मैं आपके नाम की ओट लेकर पेट भरता हूं, पर लोग मुझ 'रामदास' कहते हैं। यह बात जगत-उजागर हो गई है। अब आप विचार तो कीजिए कि संसार बड़ा है या वेद ? (संसार ही बड़ा मानना होगा, क्योंकि वेद की लिखी बात पर चलनेवाला तो कोई हज़ार में एक मिलेगा, पर लोक की रीति प्रायः सभी मानते हैं। जब लोक में यह ढिंढोरा पिट चुका है कि—'तुलसी रामदास है' तब आपको यही सिद्ध करना होगा, झूठी बात भी सच साबित करनी पड़ेगी। तात्पर्य, मुझे अपना दास सचमुच ही बना लीजिए) ॥ ४ ॥ तुलसी का भला चाहे जब हो, पर होगा आपके ही हाथ से। (जब आपको मेरा भला करना ही है, तो तुरन्त क्यों नहीं कर देते ? क्योंकि) मैं आपकी बलैयां लेता हूं, यदि आप देर करेंगे, तो

यह ग़रीब दिन पर दिन बिगड़ता ही जायगा (इसलिये व्याधि का उपचार आदि में ही कर लेना अच्छा है, पीछे बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है)। अतएव शीघ्र ही अङ्गीकार कर लीजिए ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(१) 'तिजरा कोसो टोटक'—जिसे तिजारी आती है, उसके ऊपर मिट्टी के कूंडे में आटे के सात दीपक जला कर और उसमें खीर, हल्दी, सेंदुर और सफेद फूल रख कर आधीरात के समय लोग उतारते हैं। और फिर उतार कर उस कूड़े को चौराहे पर रख कर चले आते हैं। उसकी तरफ लौट कर देखना भी नहीं होता है। कहते हैं, यदि उस टोटके की ओर रखनेवाला देख ले, तो उसे तिजारी आने लगती है। कुछ हेर फेर के साथ भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक प्रांत में ऐसे ऐसे टोटके प्रचलित हैं।

(२) 'वेद-वाहिरो'—क्योंकि मुझमें ब्राह्मणोचित धर्म एक भी नहीं हैं। मनुस्मृति में लिखा है—

'न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद द्विजकर्मणः ॥
यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥'

गोस्वामीजी ! हम आपको 'वेद-वाहिर' नहीं समझ सकते। यह तो आप की निरहंकारिता है। पर हां, आज कल का ब्राह्मण-समाज निसन्देह वेद-वहिष्कृत हो गया है। न कोई गायत्री जानता है, न संध्यावन्दन। हवन तो कभी का विदा ले गया। चुटिया भी, अब सब के सिर पर, नहीं दिखाई देती। सेवा-वृत्ति कर कर सब पेट भरते हैं। 'निरच्छर भट्टाचार्य' वन लड़ाई-झगड़े करने में 'द्विजत्व' सिद्ध कर रहे हैं।

'दान लेन को बड़े पातकी, मचलन को बँमनाई।
लरत मरत को बड़े तामसी, बारौं कोटि कसाई ॥' (व्यासजी)

इन ब्राह्मणों से तो भगवद्भक्त श्वपच ही कहीं अच्छा है। कहा भी है—

'व्यास मिठाई विप्र की, ता में लागै आगि।
बृन्दावन की स्वपच की, जूठनि खैये माँगि ॥' (व्यास)

(२७३)

तुम तजि हौं कासों कहौं, और को हितु मेरे ?
दीनबंधु ! सेवक सखा आरत अनाथ पर सहज छोह केहि केरे ॥१॥
बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि* बिनु बेरे।
कृपा कोप सतिभायहूँ धोखेहुँ तिरछेहुँ राम तिहारेहि हेरे ॥२॥
जो चितवनि सौंधी लगै चितइये सवेरे।
तुलसिदास अपनाइये कीजै न ढील, अब जीवन-अवधि अति नेरे ॥३॥

शब्दार्थ—छोह=कृपा। तरि=नौका। बेरे=बेड़ा। सौंधी=भली। सवेरे=शीघ्र ही। नेरे=समीप।

भावार्थ—हे नाथ ! आपको छोड़कर मैं और किससे कहूँ ? मेरा और कौन सा हितू है ? (जहां तहां स्वार्थी ही मिलेंगे। वे दूसरों का मरम कैसे समझेंगे। मेरा भला तो आपसे ही होगा। इसीसे मैं बार बार आपसे कहता हूं)। हे दीनबन्धो ! सेवक पर, मित्र पर, दुखिया पर, और अनाथ पर स्वभाव से ही किस की कृपा है, निष्कारण और निष्काम स्नेह कौन करता है ? (एक आप ही) ॥१॥ बहुत से पापी इस संसार-सागर को बिना ही नाव और बेड़े के पार कर गये। हे रामजी ! उनकी ओर कृपा से या क्रोध से, सच्चे भाव से या धोखे से ही अथवा तिरछी दृष्टि से ही आपने देख दिया था (इससे सिद्ध होता है कि आपकी दृष्टिमात्र ही पापियों के तारने में मुख्य कारण है) ॥२॥ इन दृष्टियों में जो आपको अच्छी लगे, उसीसे जल्दी देख दीजिए (चाहे कृपा दृष्टि से, चाहे कोप दृष्टि से अथवा प्रेम दृष्टि से या बाँकी दृष्टि से, जो आपको पसंद हो, उससे मुझे देखिये। मेरी तो किसी भी दृष्टि से देख देने से बन जायगी)। तुलसीदास को अब अपना ही लीजिए। शिथिलता न कीजिये, क्योंकि अब जीवन का अंत बहुत ही समीप आ गया है (जीवन-ज्योति टिमटिमा रही है, न जाने किस क्षण बुझ जाय।) ॥३॥

टिप्पणी—(१) 'कृपा कोप····हेरे'—यह बिल्कुल सच बात है। देखिये—कृपा-दृष्टि से अहिल्या, जटायु आदि को मुक्त किया,

कोप-दृष्टि से, रावण, कुंभकर्ण कंस आदि को मुक्त किया,

*पाठान्तर 'तरिनी।'

सतिभाय अर्थात् सत्यभाव से निषाद सुग्रीव विभीषण आदि को अपनाया, धोखे की दृष्टि से यवन आदि को अंगीकारकर लिया।

(२) 'चितइये......नेरे'—न जाने किस घड़ी क्या हो जाय, इसलिये, हे नाथ! मुझे शीघ्र ही शरण में लीजिए। कबीरसाहब कहते हैं—

'साथी हमरे चलि गये, हम भी चालनहार।
कागद में बाकी रही, तातें लागी बार॥
'कबिरा' रसरी पांव में, कह सोवै सुख चैन।
स्वांस नगाड़ा कूच का, बाजत है दिन रैन॥'

रसिकवर हरिश्चन्द्र भी, जीवन-अवधि समीप जान कर, अपने प्यारे से प्रेमाधीर हो कह रहे हैं—

'थाकी गति अंगन की, मति परि गई मंद,
सुख झांझरी सी ह्वै के देह लागी पियरान।
बावरी सी बुद्धि भई हँसी काहू छीन लई।
सुख के समाज जित तित लागे दूर जान॥
'हरीचंद' रावरे बिरह जग दुखमयो
भयो कछु और होनहार लागें दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहु अथान लागे,
आओ प्राननाथ! अब प्रान लागे मुरझान॥'

(२७४)

जाउँ कहाँ, ठौर है कहाँ देव! दुखित दीन को?
को कृपालु स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अंग बल-विहीन को॥१॥
गनिहिं गुनिहिं साहिब लहै सेवा समीचीन को।
अधन*, अगुन, आलसिन को पालिबो फबि आयो रघुनायक नवीनको॥२॥
मुख कै कहा कहौं? बिदित है जी की प्रभु प्रबीन को।
तिहूँ काल, तिहुँलोक में एक टेक रावरी तुलसी से मन मलीन को॥३॥

शब्दार्थ—गनिहिं=धनी को। समीचीन=अच्छी।

---

* पाठांतर 'अधम।'

भावार्थ—हे देव! कहां जाऊँ ? मुझ दुखी और गरीब के लिये कहां ठिकाना है ? आपके समान दयालु स्वामी कहां मिलेगा, जो सब साधनों से सब भांति रहित सेवक को अपनी शरण में रख ले ? (मेरे जान में तो ऐसा स्वामी मिलना असंभव है। इसीलिये इधर उधर न भटक कर मैं सीधा आप के पास आया हूं। यदि आप अपने पास से हटा देंगे तो फिर कहीं मुझे कोई ठार-ठिकाना नहीं है) ॥१॥ संसार में जितने मालिक मिलते हैं, वे सब उसी सेवक को अपनाते हैं, जो धनी हो, गुणी हो और भली भांति सेवा करना जानता हो (पर मैं न तो धनी ही हूं, न गुणी ही और न भली प्रकार सेवा करने-वाला) मुझ-सरीखे, कंगालों, मूर्खों और काहिलों का पालना नित्यकिशोर रघुनाथजी को ही शोभा देता है ॥२॥ मुंह से क्या कहूं ? प्रभो ! आप तो स्वयं चतुर हैं। आपको मेरी सारी करनी प्रकट है। तुलसी जैसे मलीन मनवाले के लिये तीनों लोक (स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल) में एक आपका ही सहारा है (भाव, जब उसे आपका ही आश्रय है, तब आप भी निःसंकोच हो कर उसे अपना लीजिए) ॥३॥

टिप्पणी—(१) 'जाऊँ कहां'—हमारे रसिक-पुंगव व्यासजी भी दुनियां के प्रपंचों से घबरा कर यही बात कह उठे थे। देखिये—

'जैये कौन के अब द्वार।
जो जिय होय प्रीति काहू के दुख सहिये सौ बार॥
घर घर राजस तामस बाढ़ो, धन जोबन को गार।
काम बिवस ह्वै दान देत नीचन को होत उदार॥
साधु न सूझत बात न बूझत यह कलि के ब्यौहार।
'ब्यास दास' कत भाजि उबरिये परिये माँझी धार॥'

(२) 'गनिहिं'—गनी; यह शब्द अरबी भाषा का है।

(३) 'नवीन को'—कतिपय टीकाकार इसका यह अर्थ करते हैं कि रघुनाथ जी को छोड़ कर गरीबों का पालनेवाला और कौन नया है ? हमारी समझ में 'नवीन' शब्द 'रघुनायक' का विशेषण है।

(४) 'विदित है जी की'—क्योंकि आप घट घट की जाननेवाले हैं। आपसे छिपा ही क्या है ? और कुछ अच्छी करनी की हो, तो आपसे कहूँ भी। मैंने

तो ऐसे ऐसे घोर नारकीय कर्म किये हैं कि कहते लज्जा आती है। मैं अपनी बात क्या मुहँ लगा कर कहूँ ? आप स्वयं चतुर हैं। मेरी सारी बात यों ही जान जायँगे।

(५) 'एक टेक······को'—इस चरण में गुसाईंजी, सिद्धान्तरूप से, भावानन्यता प्रदर्शित कर रहे हैं। यहां उन्होंने अपनी निष्ठा पर और भी पक्की छाप लगा दी है। 'सर्वान्धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—इस सिद्धान्त वाक्य पर आप सोलहो आने चल रहे हैं। वस्तुतः गुसाईंजी ने सारे धर्म छोड़ कर रघुनाथजी की शरण ग्रहण कर ली थी। उन्हें रघुनाथजी के चरणारविन्द छोड़ कर सचमुच ही त्रिलोक और त्रिकाल में कहीं दूसरा ठौर-ठिकाना नहीं रहा था।

(२७५)

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद, परि पाहूँ।
हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख-दोष-दलन-छम कियो न संभाषन काहूँ ॥१॥
तनु-जन्यो * कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु-पिता हूँ।
काहे को रोष दोष काहि धौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत छुइ सब छाहूँ॥२॥
दुखित देखि संतन कह्यो, सोचै जनि मन माहूँ।
तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न, सरन गये रघुबर ओर-निबाहूँ ॥ ३ ॥
तुलसी तिहारो भये भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिनाहूँ।
नाम की महिमा सील नाथको मेरो भलो बिलोकि अब तें सकुचाहुं सिहाहूँ॥४॥

शब्दार्थ—काढ़ि रद=दाँत निकाल कर, निर्लज्ज और दीन बन कर। पा=पैर। दुनि=दुनिया। छम=(क्षम) समर्थ। ओर=अंत तक। सिहाहूं=सराहना करता हूं।

भावार्थ—हे नाथ ! मैं द्वार द्वार पर दाँत दिखाता हुआ और पैर पड़ता हुआ अपनी दीनता कहता फिरा। (यह बात नहीं है कि संसारमें कोई मेरी ग़रीबी दूर करने योग्य नहीं है) संसार में ऐसे ऐसे दयावान् पड़े हैं, जो दशो दिशाओं के दुःखों और दोषों के नाश करने में समर्थ हैं, किन्तु मुझसे तो किसी ने बात भी न की (मुहँ उठा कर भी मेरी ओर न देखा) ॥ १ ॥ माता-पिता ने मुझे ऐसा

* पाठान्तर 'त्वचा तजत।' 'तनु तजेउ।'

छोड़ दिया, जैसे दुष्ट कीड़ा अर्थात् साँप अपने ही शरीर से जने हुए (बच्चे) को त्याग देता है। किसलिये तब क्रोध करूँ, और किसे दोष लगाऊँ ? यह सब मेरे ही दुर्भाग्य से हुआ। आज लोग मेरी छाया तक छूने में संकोच करते हैं (मुझे ऐसा नीच और निषिद्ध मान लिया है कि छाया तक नहीं छूते)॥२॥ (मेरी यह दशा होने पर) संतों ने मुझे देख कर कहा कि तू मन में चिन्ता न कर। तेरे समान अधम और पापी पशु-पक्षियों तक को, शरण में जाने पर, श्री-रघुनाथजी ने नहीं छोड़ा और उनका अन्त तक निर्वाह किया (भाव, तू भी उन्हीं रामचन्द्रजी की शरण में जा। वे तेरी सारी करनी सुधार देंगे और अन्त तक तेरा निर्वाह करेंगे) ॥ ३ ॥ बस, मैं (तुलसी) आपका हो गया और जब से आपका हुआ हूं, तब से मैं चैन में हूं, यद्यपि आप पर मेरी प्रीति और प्रतीत्ति नहीं है (जो कहीं प्रीति-प्रतीति हो जाय, तब तो आनन्द का कोई पार ही न रहे)। हे नाथ ! आपके नाम की महिमा तथा शील ने मेरा भला किया, यह देख कर अब मैं मन ही मन लज्जित होता हूं (इसलिये कि मैंने कृपा-पात्र होने योग्य एक भी कार्य नहीं किया, फिर भी मुझ कृतघ्न पर प्रभुकी ऐसी कृपा है) और प्रशंसा करता हूँ (कि धन्य है पतित-पावन प्रभो ! जिस तुलसी को कहीं भी ठिकाना न था, उसे भी आपने कृतार्थ कर दिया) ॥४॥

टिप्पणी—(१) 'तनु-जन्यो'—श्रीवैजनाथजी ने 'त्वचा तजत' और भट्टजी ने 'तनु तज्यो' पाठ मान कर यह अर्थ किया कि जैसे सांप अपनी केंचुल को छोड़ देता है। बैजनाथजी ने तो 'त्वचा' लिख कर स्पष्ट ही कर दिया है। भट्टजी 'तनु' का अर्थ 'कांचली' कर रहे हैं। यह अर्थ भी संभव हो सकता। नागरी-प्रचारिणीसभा की प्रति के अनुसार हमने 'तनु-जन्यो' पाठ शुद्ध माना है। साँप अपने बच्चों को जनते ही छोड़ देता है। प्रवाद तो यह है कि सर्पिणी उन्हें जनमते ही खा जाती है, जो भाग कर निकल जाते हैं, वही बचते हैं।

(२) 'ज्यों मातु पिता हूं'—माता-पिता मुझे अभागा जान कर छोड़ बैठे। बचपन में ही मेरे दुर्भाग्य से, मुझे छोड़ कर परलोकवासी हो गये।

(३) 'काहे'......'अभाग'—क्या ही अहिंसात्मक भाव है ! सच्चे वैष्णवों का ऐसा ही हृदय हुआ करता है। वे न तो किसी को भला-बुरा कहते हैं और न दोष देते हैं। वैष्णवों के लक्षण लिखते हुए भगवत्‌रसिक जी कहते हैं—

'हिंसा, लोभ, दंभ, छल त्यागै, विष सम देखै माया।
हरि को भजन, साधु की सेवा, सर्व भूत पर दाया॥
सहनसील आसय उदार अति, धीरज सहित विवेकी।
सत्य बचन सब को सुखदायक, गहि अनन्य व्रत एकी॥'

(अनन्य निश्चयात्म)

(४) 'दुखित...... कह्यो'—क्योंकि स्वभाव से ही संत दयालु होते हैं।

'कोमल बानी संत की, स्रवै अमृतमय आइ।
'तुलसी ताहि कठोर मन, सुनत मैन होइ जाइ॥
जड़ जीवन को करै सचेता। जग माहीं बिचरत ऐहि हेता॥'

(वैराग्य संदीपिनी)

(२७६)

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
राम ! रावरे बिन भये जन जनमि जनमि जग दुख दसहूँ दिसि पायो॥१॥
आस-बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो।
हाहा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार, परी न छार मुँह बायो॥२॥
असन-बसन बितु बावरो जहँ तहँ उठि धायो।
महिमा मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि आगे खिनु खिनु पेट खलायो॥३॥
नाथ ! हाथ कछु नाहिं लग्यो लालच ललचायो।
साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहिं लोभ लघु निलज नचायो॥४॥
स्रवन नयन मन मग लगे सब थलपति तायो।
मूड़ मारि हिय हारि कै हित हेरि हहरि अब चरन-सरन तकि आयो॥५॥
दसरथ के समरथ तुही त्रिभुवन जसु गायो।
तुलसी नमत अवलोकिये, बलि, बाँह-बोल दै बिरदावली बुलायो॥६॥

शब्दार्थ—छार = राख, धूल असन = भोजन। खिनु खिनु = क्षण क्षण। तायो = जाँचा।

भावार्थ—मैंने क्या करने को छोड़ रखा ? कौन सी जगह जाने को बची ? और किसके आगे मस्तक नहीं झुकाया ? (जितने उपाय संभव हैं, वे सभी

कर चुका। सभी के यहाँ भटक चुका, और सभी को प्रणाम भी कर चुका) किन्तु हे, रघुनाथजी ! बिना आपका सेवक हुए संसार में जन्म ले ले कर मैंने दसो दिशाओं में केवल दुःख ही पाया है (सुख किसे कहते है, यह आज तक नहीं जाना) ॥ १ ॥ आशा के मारे खास दास होकर भी अपने को क्षुद्र प्रभुओं के आगे जताता फिरा (यद्यपि जन्म से ही मैं आपका दास हूं, तत्वतः यह जीव परमात्मा का अंशस्वरूप है, किन्तु झूठी आशा के वश होकर संसार के नीच मनुष्यों को अपना प्रभु मान कर उनसे अपनी राम-कहानी कहता फिरा)। हाहा खाकर बार बार द्वार द्वार पर अपनी गरीबी सुनायी, मुहँ बाया, पर उसमें खाक़ भी न पड़ी (आशा तो भोजन पाने की थी, पर मिली न खाक़ भी) ॥ २ ॥ भोजन और वस्त्र के बिना पागल सा जहाँ तहाँ उठ कर दौड़ता फिरा। प्राणों से प्यारी इज्ज़त को भी तिलांजलि देकर दुष्टों के आगे क्षण क्षण पर यह पेट खोल कर दिखाया, (कहता फिरा कि पेट खाली है; चार दाने दे दीजिये, पर कहीं कुछ न मिला) ॥ ३ ॥ हे प्रभो ! लोभ के मारे बहुत लालच की, पर हाथ कुछ भी न लगा। सच कहता हूं, ऐसा कौन सा नाच बचा है, जो क्षुद्र लोभ ने मुझ निर्लज्ज को न नचाया हो ? भाव, जितने पेट भरने के स्वांग और पाखंड हो सकते हैं, उन सब को मैंने किया ॥ ४ ॥ कान, आँखें और मन अपने अपने मार्ग पर लग गये, अपने अपने विषय में लिप्त हैं। सब राजे-महाराजे भी जाँच लिये। (जब कहीं किसी के द्वारा सुख-शांति न मिली, तब) सिर पीट कर निराश हो गया। अब घबरा कर आपके चरणों की शरण देख कर आया हूं, क्योंकि यहाँ मुझे अपना भला दिखायी देता है (मुझे निश्चय होगया है कि आपकी शरण में जाने से मेरी जन्म-जन्मान्तर की दरिद्रता दूर हो जायगी) ॥ ५ ॥ हे दाशरथे ! आपही समर्थ हैं। त्रिलोक में आपही का यश गाया जाता है। देखिये, तुलसी आपके आगे नतमस्तक खड़ा है। बलिहारी ! आपकी विरदावली ने ही मुझे बाँह और (अभय) वचन देकर बुलवाया है (यह न कहियेगा कि मैं बिना ही बुलाये चला आया, अतएव उपेक्षणीय हूं। दोषी हो तो आपकी विरदावली। क्योंकि उसीने मुझे यहां तक खींचा है) ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'कहा न कियो......दिसि पायो'—रसिकवर हरिश्चन्द्रजी का यह पद, यहां, याद आ जाता है। वाह ! कितना मर्म-भरा पद है—

'तुम बिनु प्यारे, कहुँ सुख नाहीं।
भटक्यो बहुत स्वाद-रस-लंपट, ठौर ठौर जगमाहीं ॥
प्रथम चाव करि बहुत पियारे, जाइ जहां ललचाने।
तहँ ते फिर ऐसो जिय उचटत, आवत उलटि ठिकाने ॥
जित देखौं तित स्वारथ हा की, निरस पुरानी बातें।
अतिहि मलिन व्यवहार देखि कै, घिन आवत है तातें ॥
जानत भले तुम्हारे बिनु सब, बादहि बीतत सांसैं।
'हरीचंद' नहिं छुटत तऊ यह. कठिन मोह की फांसैं ॥'

(२) 'महिमा······तें'—गीता में भी लिखा है—

'संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।'

इसका छायानुवाद—

'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरनकोटि-सम दारुन दाहू ॥ (रामायण)

(३) 'सब थलपति तायो'—श्रीवैजनाथजीने 'सब थल पतितायो' पाठ मान कर यह अर्थ किया है—"···विषयनवश सब थल पतितायो, सबै स्थान पर अधिक पतितै होत गयो।" यह अर्थ भी सुन्दर है।

यही पाठ मानते हुए श्रीमान् भट्टजी ने यह लिखा है कि, "सब जगह पति कहिये बड़े आदमियों को ताया ज्ञाना।"

(२७७)

राम राय ! बिनु रावरे मेरे को हितु साँचो ?
स्वामी-सहित सब सों कहौं सुनि गुनि बिहँसि कोउ रेख दूसरी खाँचो ॥१॥
देह-जीव-जोग के सखा मृषा टाँचन टाँचो।
किये बिचार सार-कदली ज्यों मनि कनकसंग लघु लसत बीच बिच काँचो ॥२
"विनय पत्रिका" दीन की, बापु ! आपु ही बाँचो।
हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूँछिए पाँचो ॥३॥

शब्दार्थ—टाँचन = टाँकों से। कनक = सोना। पाँचो = पंचों से।

भावार्थ—हे महाराज रामचंद्रजी ! आपके सिवाय मेरा सच्चा हितू और कौन है ? मैं अपने स्वामी से कहता हूं, उसे सुन समझ कर यदि कोई और

बड़ा हो, तो दूसरी लकीर खींच दीजिए (मेरी बात को काट कर दूसरा सिद्धान्त बता दीजिए, मुझे झूठा साबित कर दीजिए) ॥१॥ (यदि आप यह कहें कि संसार में तेरे बहुत से सगे-संबंधी हैं, क्या वे तेरा हित न करेंगे ? तो) शरीर और जीवात्मा के संबंध से जितने मित्र या हितू मिलते हैं, वे सब मिथ्या टाँकों से सिले हुए हैं। (जो टांके ही मिथ्या हैं, जिनकी वास्तविक अस्ति ही नहीं है, उनसे सिली हुई चीज़ कहां तक सच हो सकती है ? जैसा कारण, वैसा कार्य। सारांश, संसार के सारे सगे-संबंधी और भाई-बंधु वंध्या-पुत्र' के समान निरे झूठे हैं। उनसे हित होना असंभव सा है)। विचार करने पर 'यह सखा' केले के सार के समान हैं। (जैसे ऊपर से देखने पर यह जान पड़ता है कि केले के भीतर गूदा होगा, पर छीलने पर अंत तक उसमें सिवा छिलके के कुछ भी नहीं निकलता, वैसे ही विवेक-दृष्टि से देखने पर सांसारिक संबंधी कोरे धोखे की टट्टी जान पड़ते हैं)। यह इस तरह सुंदर जान पड़ते हैं, जैसे मणि-सुवर्ण के संयोग से बीच बीच झूठा काँच शोभायमान होता है (यहां, मणि ईश्वर है और सुवर्ण जीव, दोनों के संयोग से काँच-रूप संसारी संबंधी सुन्दर भासित होते हैं। वास्तव में, वह काँच ही हैं। सुवर्ण और मणि तो उनसे सर्वथा भिन्न हैं) ॥ २ ॥ हे पिताजी ! इस दीन की लिखी "विनय-पत्रिका" स्वयं आप ही पढ़ियेगा। (किसी पेशकारसे न पढ़-वाइयेगा। संभव है, वह कुछ का कुछ पढ़ जाय या कुछ अंश ही छोड़ दे। मैं दूध का जला हुआ हूं, इसी लिये मट्ठा भी फूँक फूँक कर पीता हूं। आप ही पढ़िये।) तुलसी ने इसे अपने हृदय के विचार से लिखा है, जितनी बुद्धि थी, उसके बल-भरोसे पर लिखा है। पहले आप अपने स्वभावसे इसपर सही बना दीजियेगा। फिर पीछे पंचों से पूछियेगा (क्योंकि यदि आपने उनसे पहले ही सलाह ले ली, तो कदाचित् वह यह कहें कि इसका मजमून बिगड़ गया, यह पत्रिका राज-दरबारके योग्य नहीं है, तो मेरा सारा किया-कराया यों ही मिट्टी में मिल जायगा।) ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'देह""टांचो'—इसका यह अर्थ नहीं है कि गुसाईजी कुटुम्ब-प्रेम या विश्वप्रेम के विरोधी हैं। इसका अर्थ तो यही है कि भगवत-प्राप्ति या सत्यान्वेषणके मार्गमें जो कंटक या बाधक हैं, वे झूठे और त्याज्य हैं। इसके प्रतिकूल जो सम्बन्धी या मित्र सत्यान्वेषणके साधक हैं, वे सत्य और ग्राह्य हैं। कहा भी है—

'गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्नपतिर्न तत्स्यान्न मोचयेद्यः समुपेत मृत्युम् ॥' (भागवत)

जो इस जीवको कराल काल से नहीं बचा सकते, उनका होना न होना बराबर है । किन्तु जो भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, वे ही, वास्तवमें, अपने सच्चे मित्र हैं –

'सोइ मीत सोइ हितू हमारो पूज्य प्रान ते प्यारो ।
जासों बढ़ै सनेह रामपद एतो मतो हमारो ॥' (विनयपत्रिका)

भक्तवर ललितकिशोरीजी भी स्वर मिला रहे हैं –

'श्री वृन्दावन-रज दरसावै, सोई हितू हमारा है ।
राधा-मोहन-छबी छकावै, सोई प्रीतम प्यारा है ॥
कालिन्दी-जल पान करावै, सो उपकारी सारा है ।
'ललित किसोरी' जुगल मिलावै सो अंखियों का तारा है ॥' (रस-कलिकामृत)

[२७८]

पवन-सुवन, रिपुदवन, भरतलाल, लखन दीनकी ।
निज निज अवसर सुधि किये, बलिजाऊँ, दास-आस पूजिहै खास खीनकी१
राज-द्वार भली सब कहैं साधु समीचीन की ।
सुकृत सुजस साहिब कृपा स्वारथ परमारथ गति भये गति बिहीनकी ॥२।
समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीनकी ।
प्रीति-रीति समुझाइबी नतपाल, कृपालुहिं परमिति पराधीनकी ॥३॥

शब्दार्थ–खीन=(क्षीण) दुर्बल । समीचीन=अच्छा । परमिति=सीमा ।

भावार्थ–हे पवनकुमार ! हे शत्रुहनजी ! हे भरतलालजी ! हे लखनलाल जी ! अपने अपने अवसर पर इस दीन तुलसी की सुधि किये रहना ! मैं आप लोगों की बलैया लेता हूं । आपके ऐसा करने से इस अत्यन्त दुर्बल दास की आशा सफल हो जायगी (भाव, रघुनाथजी मेरी पत्रिका पर सही बना देंगे) ॥ १ ॥ राज-दरबार में अच्छे लोगों की बात तो सभी कहते हैं (इसमें कोई विशेषता नहीं है) किन्तु यदि आप लोग इस शरणरहित दीनकी सिफारिश कर देंगे, तो इसको शरण मिल जायगा, आपका पुण्य बढ़ेगा, सुयश फैलेगा, आपके स्वामी आपपर प्रसन्न रहेंगे (क्योंकि वह स्वयं पतित-पावन

हैं। और जो उनके इस बानेमें सहायक बनेगा, उनसे पापियोंकी सिफ़ारिश करेगा, उस पर वह और भी प्रसन्न होंगे), और आपका स्वार्थ और परमार्थ दोनों बन जायँगे (लोक में यशके भागी बनेंगे और मैं हृदयसे आशीर्वाद दूंगा, इससे आपका परमार्थ भी सिद्ध हो जायगा) ॥२॥ इसलिये अवसर देख कर (क्योंकि राज-दरबार में बे-मौक़े बात नहीं करनी होती है) इस पतित तुलसी की बात सम्हाल देना (सिफारिश करके 'विनय-पत्रिका' पर सही लिखवा देना) भक्तवत्सल दयालु रघुनाथजी से मुझ परतंत्र जीवका प्रेम-पद्धति की हद को समझा कर कह देना ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'पवन सुवन······दीन की'—इस पद में गुसाईंजी चिट्ठी भेजने के पूर्व ही भगवान् के राज-दरबारियों को, विनती कर-कर, मिला रहे हैं। उन्हें लालच भी काफी दी गयी है। गुसाईंजी को, जान पड़ता है, राज-दरबार की रीति-पद्धति से भी पूरी जानकारी थी।

(२) 'समुझाइबी'—इस शब्द पर श्रीवैजनाथजी लिखते हैं—

"'समुझाइबी' यह वाचक स्त्रीलिंग में है, ताते यह प्रार्थना किशोरी जू सों हैं।"

हमें यह युक्ति कुछ जँचती नहीं। समुझाइबी शब्द बुंदेलखंडी है। करबी, जायबी, समुझाइबी आदि शब्द अब भी प्रयुक्त होते हैं। इसका अर्थ 'समझा देना या समझा दीजियेगा' होता है। और यह पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों के ही लिये आ सकता है।

(३) 'पराधीन'—कलि के अधीन होने से असह्य दुःख हो रहा है। परतंत्रता के समान संसार में कोई दुःख नहीं है। कहा भी है—

'पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं। करि विचार देख्यो मन माहीं॥'

(२७६)

मारुति मन रुचि भरतकी लखि लषन कही है।
कलिकालहुँ नाथ ! नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है ॥१॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीबनिवाज की देखत गरीब को साहब बाँह गही है ॥२॥
बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है ॥३॥

शब्दार्थ—मारुति=हनुमानजी। लै उठी=वही बात कहने लगी। लही है=पाई है।

प्रसंग—दरबार लगा हुआ है, भगवान् रामचन्द्रजी श्रीजानकीजी सहित राज्यसिंहासन पर विराजमान हैं। हनुमान्जी चरण दबा रहे हैं। भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी अपनी-अपनी नौकरी में तत्पर हैं। उसी समय तुलसीदास की विनय-पत्रिका पहुंची। धीरे से हनुमान् और भरतजी ने लक्ष्मण जी से कहा कि अवसर तो अच्छा है। इस समय तुलसीदास की चर्चा छेड़ देनी चाहिये। लक्ष्मणजी ने उनका रुख पहिचान कर विनय-पत्रिका पेश कर दी।

भावार्थ—हनुमानजी और भरतजी की रुचि देख कर लखनलालजी ने भगवान् से कहा कि, हे नाथ! कलिकाल में भी आपके एक सेवक की आपके नाम से प्रीति और प्रतीति निभ गई (देखिये, उसकी यह पत्रिका भी आई है) ॥१॥ यह सुन कर सारी सभा वही बात कहने लगी, सभी लोग हां में हां मिलाने लगे। बोले हम लोग भी उसकी रीति जानते हैं (वास्तव में, उसने आपके चरणों में अनन्य प्रेम का निर्वाह किया है, उसे कलि की बाधा तनिक भी नहीं व्यापी) यह सब गरीब-निवाज भगवान् की कृपा है। स्वामी ने सब के देखते-देखते उसे हाथ पकड़ कर अपना लिया है ॥ २ ॥ सब की बात सुनकर रघुनाथजी ने मुसकरा कर कहा कि, हां, सत्य है। मुझे भी उसकी खबर मिल गई है (कदाचित् श्रीजनकनन्दिनीजी ने रघुनाथजी से चर्चा चलायी होगी)। बस, फिर क्या—अनाथ तुलसी की रची हुई विनयपत्रिका पर रघुनाथजी ने सही कर दी। अपनी बात बनने पर मैंने प्रफुल्लित होकर भगवान् को प्रणाम किया (और सदा के लिये उनकी शरण में स्थान प्राप्त कर लिया, मेरा सारा श्रम सफल हो गया) ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) 'मारुति......कही है'—हनुमान्जी और भरतजी का दास-भाव था। अतएव वे स्वामी के आगे बोलने में संकोच करते थे। किन्तु लक्ष्मणजी पर रामचंद्रजी का वात्सल्य प्रेम था। उनकी ढिठाई को वह अच्छा समझते थे। भगवान् के मुँहलगा लखनलालजी ही थे। इसलिये उन्हीं के मुँह से सिफ़ारिश करायी गयी है।

(२) 'सुधि मैं हूं लही है'—कदाचित् श्रीजनक-नन्दिनीजी ने कहा होगा

क्योंकि गुसाईंजी उनसे पहले ही निवेदन कर चुके थे, जैसा कि इस पद से विदित होता है—

'कबहुंक अंब ! अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ ॥ (विनय-पत्रिका)

श्रीकिशोरीजी भगवान् की आल्हादिनी शक्ति हैं। उनकी बात कहीं खाली जा सकती है ? परन्तु मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्रजी ने 'प्रजानुरंजन' का ख्याल रखते हुए केवल श्रीकिशोरीजी की बात पर गुसाईंजी को निहाल नहीं किया। जब सब लोग बोल उठे कि 'हां हां, हम भी उसे जानते हैं'—तब आपने इतना कहा कि 'हां, हमने भी उसका नाम सुना है।' धन्य ! इस मर्यादा और सौशील्य को !

(३) 'मुदित'—गुसाईंजी प्रसन्न इसलिये हुए कि 'विनयपत्रिका' पर सही हो जाने से जो इसका पारायण करेगा, वह भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर लेगा। और मेरी विनय-पत्रिका संसार-सागर के हेतु सेतु का काम देगी।

इति श्रीहरि-तोषिणी टीका सहिता

विनयपत्रिका

समाप्ता ।

श्रीरामार्पणमस्तु

परिशिष्ट (क)

परिशिष्ट (ख)

इस परिशिष्टमें उन ग्रंथों तथा कवियों के नाम दिये गये हैं जिनके कि पद्य इस विनयपत्रिका में उद्धृत किये गये हैं। नम्बर पृष्ठ-संख्या सूचक है। संस्कृत ग्रंथोंके नाम के आगे + चिह्न हैं।

परिशिष्ट (ग)

(१) पृष्ठ ७१, पद ५ में "निज घर की बरबात बिलोकहु" का पाठ "निज घर की घरबात बिलोकहु" भी मिलता है। काशी-नागरीप्रचारिणी द्वारा प्रकाशित तुलसी-ग्रन्थावली की विनयपत्रिका में "घरबात" पाठ माना गया है। श्रीयुत लाला भगवानदीन जी भी इसी पाठ को शुद्ध समझते हैं। प्रस्तुत प्रति में, अन्य कई प्रतियों के अनुसार, "बरबात" पाठ ही लिखा गया है। "घरबात" का अर्थ "गृहस्थी" जरूर है, पर 'निज घर की' के बाद 'घरबात' कुछ शिथिलता-सूचक सा है, अर्थ-सौन्दर्य भले ही आपेक्षिक दृष्टि से उत्तम हो। 'वर' शब्द में मीठा व्यंग्य जान पड़ता है। 'जरा अपने घर का बढ़िया प्रबन्ध तो देखो! क्या खूब गृहस्थी चल रही है! वाह!' अस्तु। मुझे 'घरबात' पाठ आपत्ति जनक नहीं है। वह भी सम्भव हो सकता।

(२) पृष्ठ १४४, पद ४४ की टिप्पणी (५) में मैंने 'वारांनिधे' पद को संस्कृत व्याकरण से अशुद्ध माना है। पीछे देखने पर तथा सुहृद्वर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के संकेत पर मुझे अपना भ्रम मालूम हो गया, मुझे अल्पज्ञतावश यही ज्ञात था कि 'वारि' शब्द ही होता है और इसी कारणसे मैंने 'वारिणाम् निधि' या समस्त पद 'वारिनिधि' शुद्ध माना। किन्तु 'वार' शब्द भी संस्कृतमें इसी अर्थ का द्योतक है और इसी शब्द की षष्टी विभक्ति 'वारां' होती है। अतः यह पद परम शुद्ध है। गलती मेरी ही है, जो बिना सोचे-समझे व्यर्थ की ऐसी भद्दी टिप्पणी जड़ दी। मैं अत्यन्त नम्रता से इस महान दोष को स्वीकार करता हूँ।

(३) पृष्ठ २२०, पद ७६ में 'रोटी लूगा नीके राखे' का अर्थ, दूसरोंके देखा-देखी अथवा भ्रान्तवश, मैंने 'रोटी लूंगा' लिखा है। 'लूगा' का अर्थ 'कपड़ा' होता है। 'मैं कपड़ा चाहता हूँ' यही अर्थ उपयुक्त है। मैं इस भ्रान्ति को भी स्वीकार करता हूं।

(४) पृष्ठ ३३५, पद १३७ में 'पांडव ने' पाठ आया है। इस पर पृष्ठ ३३७ में एक टिप्पणी भी लिखी है । काशी-नागरी-प्रचारिणी की प्रति में 'पांडु तनै' पाठ माना गया है। इस पाठ के अनुसार व्याकरण संबंधी अशुद्धि दूर हो जाती है। प्रस्तुत पुस्तक के परिचय में श्रीमान् पंडित रामचंद्र शुक्ल ने भी यही पाठ माना है। मुझे भी यह पाठ अधिक शुद्ध जचता है । यदि जिस प्रति के आधार पर यह पाठ माना गया है, उसका नाम निर्देश कर दिया जाता तो और भी अच्छा होता। किन्तु सभा की प्रति में पाठान्तर तो कहीं भी नहीं दिया गया है। संभव है, यह पाठ किसी प्रति में हो ।

(५) प्रस्तुत पुस्तक में कई स्थान पर पाठ-सबंधी या अर्थ-संबंधी मतभेद हो सकता है। यह तो मैं अपने 'वक्तव्य' में लिख ही चुका हूं कि मेरी टीका अन्य सभी टीकाओं से अधिक सदोष है। सर्वज्ञ तो हूं नहीं। यदि अपने ही दोष मनुष्य को दिखाई देने लगें, तो वह मनुष्य ही न रहे, देवता हो जाय। पर इस संसार में ऐसा होना असंभव है। जो जितना ही अपूर्ण होगा, उसके कृत्य में उतनी ही अधिक त्रुटियां होंगी। कदाचित् मैं पूर्ण अपूर्ण हूं, अतः मेरे प्रत्येक कार्य में पूर्ण त्रुटियों का होना परम संभव है। विश्वास है, सुविज्ञ जन मेरी त्रुटियों को दिखा कर मुझे पूर्ण बनाने में मेरी पूर्ण सहायता करेंगे।

(६) इस पुस्तक में 'प्रेस-मिस्टेक्स' का साम्राज्य मिलेगा। इसके भोक्ता तीन हैं —लेखक, प्रकाशक और प्रेस। समझौता करके तीनों थोड़ा थोड़ा दण्ड बांट लेंगे।

हिन्दी-साहित्योन्नति के लिये

प्रयत्न करना

प्रत्येक साहित्य-सेवी का

कर्त्तव्य है

अतः अधिक नहीं केवल स्थायी ग्राहक ही बनकर इस कार्यमें हमारी सहायता करें यही प्रार्थना है। स्थायी ग्राहक बनजाने से आपको भी विशेष लाभ होगा।

नियम पृष्ठ पर देखिये।

साहित्य-सेवा-सदन, काशी

स्थायी ग्राहकों के लिए नियम

(१) प्रवेश-शुल्क बारह आने मात्र देना पड़ता है।

(२) स्थायी ग्राहकोंको इस कार्यालयके समस्त पूर्व प्रकाशित तथा आगे प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थोंकी एक २ प्रत पौने मूल्यमें दी जायगी।

(३) किसी भी पुस्तकका लेना अथवा न लेना ग्राहकोंकी इच्छा-पर निर्भर है। इसके लिये कोई बन्धन नहीं है। किन्तु वर्षभरमें कमसे कम ३) तीन रुपये (पूरे मूल्य) की पुस्तकें लेनी पड़ती हैं।

(४) पुस्तक प्रकाशित होते ही उसके मूल्यादिकी सूचना भेजी जाती है, और १५ दिवस पश्चात् उसकी वी. पी. भेजी जाती है। यदि किसी सज्जनको कोई पुस्तक न लेनी हो, तो पत्र पाते ही सूचना देनी चाहिये। वी. पी. लौटानेसे डाक-व्यय उन्हींको देना पड़ेगा, अन्यथा उनका नाम स्थायी ग्राहकोंकी श्रेणीसे पृथक् कर दिया जायगा।

(५) ग्राहकोंके इच्छानुसार डाक-व्यय के बचाव के लिए ३-४ पुस्तकें एक साथ भी भेजी जा सकती हैं।

(६) स्थायी ग्राहकोंको अन्य पुस्तकोंपर भी प्रायः एक आना रुपया कमीशन दिया जाता है, और साहित्य-संसार में नवीन प्रकाशित पुस्तकोंकी सूचना भी समय-समय पर दी जाती है।

(७) ग्राहकोंको प्रत्येक पत्रमें अपना ग्राहक-नम्बर, पता इत्यादि स्पष्ट लिखना चाहिए।

साहित्य-सेवा-सदन, काशी

द्वारा प्रकाशित

पुस्तकों का सूचीपत्र

काव्य-ग्रन्थ-रत्नमाला का प्रथम रत्न—

बिहारी-सतसई सटीक

(७०० सातों सौ दोहों की पूरी टीका)

यह वही पुस्तक है कि जिसके कारण कविकुल-कुमुदकलाधर बिहारीलाल की विमल ख्याति—राका साहित्य—संसार के कोने-कोने में अजरामरवत् फैली हुई है और जिसकी कि केवल समालोचना ने ही विद्वन्मण्डली में हलचल मचा दिया है। सच पूछिये तो शृङ्गार रस में इसके जोड़ की कोई भी दूसरी पुस्तक नहीं है। यह अनुपम और अद्वितीय ग्रन्थ है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आज २५० वर्षों में ही इस ग्रन्थ की ३५-३६ टीकायें बन चुकी हैं। इतनी टीकायें तो तैयार हुई हैं, किन्तु वे सभी प्राचीन ढंग की हैं। इसीलिये समझ में ज़रा कम आती हैं। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये साहित्य-संसार के सुपरिचित कविवर लाला भगवानदीनजी, प्रो० हिन्दू विश्व-विद्यालय काशी, ने अर्वाचीन ढंग की नवीन टीका तैयार की है। टीका कैसी होगी इसका अनुमान पाठक टीकाकारके नाम से ही कर लें। इसमें बिहारी के प्रत्येक दोहे के नीचे

उसके शब्दार्थ, भावार्थ, विशेषार्थ, वचन-निरूपण, अलंकार आदि सभी ज्ञातव्य बातोंका समावेश किया गया है। स्थान-स्थान पर कवि के चमत्कार का निदर्शन कराया गया है। जगह-जगह पर सूचनायें दी गई हैं। मतलब यह कि सभी ज़रूरी बातें इस टीका में आगई हैं। इतना सब होने पर भी इस पौने चार सौ पृष्ठों की सचित्र सजिल्द पुस्तक का मूल्य २॥) मात्र है।

पुस्तक पर आई हुई कुछ सम्मतियाँ

कोई टीका अब तक कालिज के छात्रों के लिये अर्वाचीन ढंग से नहीं मिलती। किन्तु, इस टीका में साधारण विद्यार्थियों के लिए लिखते हुए भी कवि के चमत्कार का स्थान-स्थान पर निदर्शन कराया गया है। महत्व के शब्दों के अर्थ दिये हैं। अलंकार बतलाये हैं। कहीं कहीं प्रीतम जी के उर्दू पद्यानुवाद के नमुने भी हैं।... भाषा स्पष्ट है। विद्यार्थियों की जितनी आवश्यकतायें हैं सभी पूरी की गयी हैं।

(सरस्वती)

पुस्तक लेखक की अभिनन्दनीय कृति है। यह वस्तुतः अपने नाम को सार्थक करती है। यह छात्र और गुरु दोनों के लिए एक दृष्टि से समानतः उपयोगिनी है। बिहारी-सतसई के इस तरह के भी एक अनुवाद की आवश्यकता थी। हर्ष की बात है कि यह कमी हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक—ला० भगवानदीन द्वारा पूरी हो गई। इसके लिए कोई भी योग्य व्यक्ति लाला साहब की सराहाना किये विना नहीं रह सकता।

(सौरभ)

'शारदा' आदि अन्य पत्रिकाओं तथा बड़े बड़े विद्वानों ने भी इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा की है। स्थानाभाव के कारण यहाँ अधिक सम्मतियाँ उद्धृत नहीं की गयी हैं।

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला का द्वितीय रत्न

श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव

लेखक—श्रीयुत देवीप्रसाद 'प्रीतम'। यह वही पुस्तक है जिसकी बाट हिन्दी-संसार बहुत दिनों से जोह रहा था और जिसके शीघ्र-प्रकाशन के लिये तक़ाज़े पर तक़ाज़े आते रहे। पुस्तक की प्रशंसा का भार काव्य-मर्मज्ञों के ही न्याय और परख पर छोड़ कर इसके परिचय में हम केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि यह ग्रन्थ भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-सम्बधिनी पौराणिक कथाओं का एक खासा दर्पण है। घटना-क्रम, वर्णन-शैली तथा विषय-प्रतिपादन में लेखक ने कमाल किया है। तिस पर भी विशेषता यह है कि कविता की भाषा इतनी सरल है कि एकबार आद्योपान्त पढ़ने से सभी घटनायें हृदय-पटलपर अङ्कित हो जाती हैं। साहित्य-मर्मज्ञों के लिए स्थान-स्थान पर अलंकारों की छटा की भी कमी नहीं है। मुख पृष्ठ पर एक चित्र भी है। मूल्य केवल ।-)। ऐंटीक कागज़ के संस्करण का ।≈)।

शैलबाला

यह एक ऐतिहासिक घटनाके आधारपर लिखा गया मनोरंजक तथा चित्ताकर्षक उपन्यास है। इसमें कुमार अमरेन्द्र और गोविन्दप्रसादका अत्याचार, दृढ़ प्रतिज्ञा सुरेन्द्रसिंहकी वीरता, शैलबालाका आदर्श प्रेम और सतीत्वरक्षा, योगिनीकी अद्भुत लीला इत्यादि पढ़ते-पढ़ते कभी आपको हँसी आवेगी तो कभी रुलाई, कभी घृणा उत्पन्न होगी तो कभी आसक्ति। इस उपन्यासके पढ़नेसे आपको पता चलेगा कि अन्तमें धर्मात्माओंकी, अनेक कष्टोंके सहनेपर, कैसी जीत होती है और दुरात्माओंकी कैसी दुर्दशा। उपन्यास-प्रेमियोंको यह पुस्तक एक बार अवश्य पढ़नी चाहिए। मूल्य २०० पृष्ठोंकी सचित्र पुस्तकका केवल १)।

काव्य-ग्रन्थ-रत्नमाला का तृतीय रत्न

महाकवि आचार्य केशव-रचित

रामचन्द्रिका

हिन्दी-साहित्य-शिरोमणि रामचन्द्रिका का परिचय देना तो व्यर्थ ही है, क्योंकि शायद ही हिन्दी का कोई ऐसा ज्ञाता होगा जो इस ग्रन्थ के नाम से अपरिचित हो। हिन्दी-साहित्य में यह बेजोड़ ग्रन्थ है। एक अच्छे साहित्यज्ञ होने के लिये जितनी भी सामग्रियों की आवश्यकता है, वे सभी इसमें मौजूद हैं। अतः यदि आप हिन्दी की पूरी योग्यता प्राप्त करना चाहते हों और यदि काव्य-कलाके उत्कृष्ट मर्मज्ञ होना चाहते हों, तो इस ग्रन्थ को अवश्य देखिये। याद रखिये, आचार्य केशव का नम्बर शेक्सपियर, कालिदासादि जैसे उद्भट् कवियों से भी बढ़चढ़कर है। काव्य-प्रेमियों के साथ ही साथ भगवद्भक्तों को भी एकबार इस ग्रन्थ का अवलोकन अवश्य करना चाहिये। और हिन्दी-साहित्य में पूरा प्रवेश चाहनेवालों के लिये तो इस पुस्तकका पढ़ना अनिवार्य ही है। यह ग्रन्थ बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों—यूनिवर्सिटियों-साहित्य-सम्मेलनों आदि में पाठ्य पुस्तक भी नियत किया गया है। इसमें अर्थ-सरलता के लिए शब्द-कोष-युक्त टिप्पणी भी भरपूर दी गई है। हमारी रामचन्द्रिका का पाठ अन्य सभी संस्करणों की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। केशवने इस ग्रन्थ में अनेक प्रकार के छन्दों में कथा का वर्ण किया है। अतः विद्यार्थियों के सुभीते के लिए पुस्तक में आये हुए सभी प्रचलित वा अप्रचलित, छन्दों के लक्षण भी दे दिये गए हैं। पृष्ठ संख्या लगभग ५०० मूल्य १।) (छप रही है)

काव्य-ग्रन्थ-रत्न-माला का चतुर्थ रत्न

केशव-कौमुदी

(रामचन्द्रिका सटीक)

हिन्दी के महाकवि आचार्य केशव की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक रामचन्द्रिका का परिचय तो आप उपर्युक्त तीसरी पुस्तक के विवरण के पढ़ने से ही पा गये होंगे। केशव की रामचन्द्रिका जितनी ही उत्तम तथा उपयोगी पुस्तक है उतनी ही कठिन भी है। अर्थ-कठिनता में केशव की काव्य-प्रतिभा उसी प्रकार छिपी पड़ी हुई है जिस प्रकार रुई के ढेर में हीरे की कान्ति। केशव की इसी काव्य प्रतिभा को प्रकाश में लाने के लिए यह सम्मेलनादि में पाठ्य पुस्तक नियत की गई है। परीक्षार्थियों को इसका अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। पर, पुस्तक की कठिनता के आगे इनका कोई वश नहीं चलता। उन्हें लाचार होकर हिन्दी के धुरंधरों के पास दौड़ना पड़ता है। किन्तु वहां से भी "भाई हम इसका अर्थ बताने में असमर्थ हैं" का उत्तर पाकर बैरंग लौटना पड़ता है। खासकर इसी कठिनाई को दूर करने तथा उनके अध्ययन मार्ग को सुगमतर बनाने के लिए यह पुस्तक प्रकाशित की गई है। इस पुस्तक में रामचन्द्रिका के मूल छन्दों के नीचे उनके शब्दार्थ, भावार्थ, विशेषार्थ, नोट, अलंकारादि दिये गये हैं। यथा-स्थान कविके चमत्कार-निदर्शन के साथ ही साथ काव्य-गुण-दोषों-की पूर्ण रूपसे विवेचना की गई है। छन्दों के नाम तथा अप्रचलित छन्दों के लक्षण भी दिये गये हैं। पाठ भी कई हस्तलिखित प्रतियों से मिलाकर संशोधित किया गया है। इन सब विशेषताओंसे बढ़कर एक विशेषता यह है कि इसके टीकाकार हिन्दीके सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा हिन्दू विश्वविद्यालयके प्रोफेसर लाला भगवान दीनजी हैं। पुस्तक परीक्षार्थीतर सज्जनोंके भी देखने योग्य है। यह पुस्तक दो भागों में समाप्त हुई है। मूल्य साढ़े पांच सौ पृष्ठों के प्रथम भागका केवल २।), सजिल्द २॥), राजसंस्करण का मूल्य जिसमें रंग विरंगे चित्र भी हैं २॥।), सजिल्द ३)। द्वितीय भाग का २।), सजिल्द २॥)।

रहिमन-विलास

यों तो रहीम की कविताओं का संग्रह कई स्थानों से प्रकाशित हो चुका है, किंतु हमारे इस संग्रह में कई विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं के कारण इस पुस्तक का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है। इसका पाठ भी बड़े परिश्रम से संशोधित किया गया है। अभी तक ऐसा अच्छा और इतना बड़ा संग्रह कहीं से भी प्रकाशित नहीं हुआ है। यह पुस्तक बड़ी ही उपादेय है। हमारा अनुरोध है कि एक बार इसे अवश्य देखिये।

जरा इस संस्करण की विशेषताओं पर तो ध्यान दीजियेः—

(१) इसमें संग्रहीत दोहों की संख्या लगभग ३०० के हैं।

(२) मदनाष्टक भी, जो कि अन्य प्रतियों में नहीं मिलता, इसमें पूरा दिया गया है।

(३) श्रृङ्गार-सोरठ के भी सोरठे दिये गये हैं।

(४) रहीम-काव्य के श्लोक भी बड़ी कठिनता से खोजकर संग्रहीत किये गये हैं।

(६ , रहीम का चीत्र भी, जो कि मारवाड़-नरेश को चित्र-शाला से प्राप्त हुआ है, दिया गया है।

(७) पाठान्तर भी दिये गये हैं।

(८) समान आशयवाले अन्य कवियों के दोहे, पाद-टिप्पणी में, दिये गये हैं।

(६) टीका-टिप्पणी भी भरपूर दी गई है, ताकि अर्थ समझने में कठिनता न पड़े।

(१०) इसके संकलन तथा सम्पादनकर्ता काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के उपमंत्री बा० व्रजरत्नदासजी हैं। इतनी विशेषताओं के होते हुए भी इस पुस्तक का मूल्य ।≈) आने हैं।

काव्य-ग्रन्थरत्न-मालाका-छठां रत्न

गो० तुलसीदासजी कृत

विनय-पत्रिका सटीक

(टीकाकार—वियोगीहरि)

सर्वमान्य 'रामायण' के प्रणेता महात्मा तुलसीदासजी का नाम भला कौन नहीं जानता ? बड़े से बड़े राजमहलोंसे लेकर छोटे से छोटे झोपड़ों तक में गोस्वामीजी की विमल कीर्ति की चर्चा होती है। क्या राव, क्या रंक, क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या मर्द क्या औरत सभी उनके रामायण का पाठ प्रतिदिन करते हैं, अङ्गरेजी-साहित्य में जो पद शेक्सपियरका है, जो पद संस्कृत-साहित्य में कालिदास का है वह पद हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास को प्राप्त है। उपर्युक्त 'विनय-पत्रिका' भी इन्हीं गोस्वामी तुलसीदासजी की कृति है। कहते हैं कि गोस्वामीजी की सर्वश्रेष्ठ रचना यही विनय-पत्रिका है। विनय-पत्रिका का सा भक्ति-ज्ञान का दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। इसमें गोस्वामीजी ने अपना सारा पाण्डित्य खर्च कर दिया है। इसकी रचना में उन्होंने अपनी लेखनी का अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। गणेश, शिव, हनुमान, भरत, लक्ष्मण आदि पार्षदों-सहित जगदीश श्रीरामचन्द्र की स्तुति के बहाने वेदान्त के गूढ़ तत्त्वों का समावेश कर दिया है। वेद, पुराण, उपनिषद, गीतादि में वर्णित ज्ञान की सभी बातें इसमें गागर में सागर की भाँति भर दी गई हैं। यह भक्ति-ज्ञानका अपूर्व ग्रन्थ है। साहित्य की दृष्टि से भी यह उच्चकोटि का ग्रन्थ है। इतना सब कुछ होने पर भी इसका प्रचार रामायण के सदृश न होने का एक यही मुख्य कारण है कि यह पुस्तक, भाषा में होने पर भी, कठिन है। दूसरे

वेदान्त के गूढ़ रहस्यों का समझ लेना भी सब किसी का काम नहीं। तीसरे अभी तक कोई सरल, सुबोध्य तथा उत्तम टीका भी इस ग्रन्थ पर नहीं बनी। इन्हीं कठिनाइयों को र करने के लिए सम्मेलन-पत्रिका के सम्पादक तथा साहित्य-विहार, व्रजमाधुरीसार, संक्षिप्त सूरसागर आदि ग्रन्थों के लेखक तथा संकलनकर्ता लब्ध-प्रतिष्ठ वियोगी हरिजी ने इस पुस्तक की विस्तृत तथा सरल टीका की है। वियोगीजी साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित हैं, यह सभी जानते हैं। अतः उनका परिचय देने की आवश्यकता भी नहीं है। इस टीका में शब्दार्थ, भावार्थ, विशेषार्थ, प्रसंग, पदच्छेद आदि सब ही कुछ दिये गए हैं। भावार्थ के नीचे टिप्पणी में अन्तर् कथाएँ, अलंकार, शंकासमाधान आदि के साथ ही साथ समानार्थी हिन्दी तथा संस्कृत कवियों के अवतरण भी दिये गए हैं। अर्थ तथा प्रसंगपुष्टि के लिए गीता, बाल्मीकि रामायण तथा भागवत आदि पुराणों के श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। दार्शनिक भाव तो खूब ही समझाये गये हैं। उपर्युक्त बातोंके समावेश के कारण यह पुस्तक अपने ढंग की अद्वितीय हुई है। अब मूढ़ से मूढ़ जन भी भगवद्-ज्ञानामृत का पानकर मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं। हिन्दी-साहित्य में यह टीका कितने महत्त्व की हुई है यह उदारचेता, काव्य-कला-मर्मज्ञ एवं नीर-क्षीर-विवेकी साहित्यज्ञ ही बतला सकते हैं। तुलसी-काव्य सुधा-पिपासु सज्जनों से हमारा आग्रह है कि एक प्रति इसकी खरीदकर गुसाँईजी की रसमयी वाणी का वह आनन्द अवश्य लें जिससे अभी तक वे वंचित रहे हैं। छपाई-सफाई भी दर्शनीय है। मनोमोहक जिल्द बँधी हुई लगभग ७०० सात सौ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य २।।) ढाई रुपये। सजिल्द २।।।)। बढ़िया कपड़े की जिल्द का ३)।

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला का सातवां रत्न

गुलदस्तए बिहारी

(लेखक—देवीप्रसाद 'प्रीतम')

बिहारी-सतसई के परिचय देने की कोई आवश्यकता नहीं, सभी साहित्य-प्रेमी उसके नाम से परिचित हैं। यह गुलदस्तए बिहारी उसी बिहारी-सतसई के दोहों पर रचे हुए उर्दू शैरों का संग्रह है, अथवा यों कहिये कि बिहारी-सतसई की उर्दू-पद्यमय टीका है। ये शैर सुनने में जैसे मधुर और चित्ताकर्षक हैं वैसे ही भाव-भङ्गी के ख्याल से भी अनुपम हैं। इनमें, दोहों के अनुवाद में, मूल के एक भी भाव छूटने नहीं पाये हैं बल्कि कहीं कहीं उनसे भी अधिक भाव शैरों में आ गये हैं। ये शैर इतने सरल हैं कि मामूली से मामूली हिन्दी जाननेवाला भी उन्हें अच्छी तरह समझ सकता है। इन शैरों की पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्म्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, वियोगी हरि आदि उद्भट् विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। अतः विशेष कहना व्यर्थ है।

छपाई में यह क्रम रखा गया है कि ऊपर बिहारी का मूल दोहा देकर नीचे प्रीतमजी-रचित उसी दोहे का शैर हिन्दी लिपि में दिया गया है। पुस्तकान्त में दोहों के क्रमसे ये शैर उर्दू लिपि में भी छाप दिये गये हैं। ऐसा करने से हिन्दी तथा उर्दू जानने वाले दोनों ही सज्जनों के लिए यह सामान्य रूप से उपयोगिनी हुई है। पृष्ठ-संख्या २०० के ऊपर है। मूल्य १।)

भारतेन्दु-स्मारक ग्रन्थ-मालिका—संख्या १

कुसुम-संग्रह

सम्पादक—पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रो० हिन्दू-विश्व-विद्यालय तथा लेखिका हिन्दी-संसार की चिरपरिचित श्रीमती बंगमहिला। इस पुस्तक में बंगभाषा के रवीन्द्रनाथ ठाकुर, देवेन्द्र कुमार राय, रामानन्द चट्टोपाध्याय आदि धुरन्धर विद्वानों के छोटे छोटे उपन्यासों तथा लेखों का अनुवाद है। कुछ लेख लेखिका के निजके हैं, जो कि समय-समय पर सरस्वती में निकल चुके हैं और जनता द्वारा काफी सम्मानित हो चुके हैं पुस्तक बड़ी ही रोचक तथा शिक्षाप्रद है, खासकर भारतीय महिलाओं के लिए बड़े काम की है। इसे संयुक्तप्रान्त की गवर्नमेण्टने पुरस्कार पुस्तकों तथा पुस्तकालयों (Prize books and Libraries) के लिये स्वीकृत किया है। कुछ स्कूलों में पाठ्य-पुस्तक भी नियत की गई है। और कुछ नहीं, आप केवल निम्नलिखित सम्मतियों को ही देखिये।

पुस्तक की सुन्दरता में भी किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं की गयी हैं। विविध प्रकार के सात रंग-विरंगे चित्रों से विभूषित, ऐंटीक पेपर पर छपी लगभग २२५ पृष्ठवाली इस पुस्तक का मूल्य सर्वसाधारण के हितार्थ केवल १॥) रखा गया है।

पुस्तक पर आई हुई कुछ सम्मतियां—

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने अपने उन्नीसवें वर्ष के कार्य्य-विवरण में "कुसुम-संग्रह" की गणना उत्तम पुस्तकों में करके इसका गौरव बढ़ाया है।

The book will form an admirable prize-book in girls' school......We repeat that the book will form a

nice and useful present to females. It is no less interesting to the general reader.

The Modern Review.

The language of the book is excellent and the subjects treated are also very useful.—MAJOR B. D. Basu, I. M. S., (Retired) Editer, the Sacred Books of the Hindu-Series.

कहानियाँ और लेख मनोरंजक और उत्तम हैं। —विहार-बन्धु।

निवन्ध सुपाठ्य और उपयोगी हैं। कागज और छपाई भी अच्छी है। —भारतमित्र।

कुसुम-संग्रह मुझे बहुत पसंद है। —सत्यदेव (परिव्राजक)।

पुस्तक बहुत पसन्द आई, यह उपयोगी पुस्तक है।—मैथिली शरण गुप्त।

गल्प सब सुन्दर हैं। लेखन-शैली सरस और सरल है। पुस्तक सर्वथा सुदृश्य और उपयोगी है। स्त्रियों को उपहार में देने योग्य है।-इन्दु।

हिन्दी-साहित्य-भण्डार में अनोखी वस्तु है। लेख सबके पढ़ने योग्य, बहुत ही रोचक तथा शिक्षाप्रद हैं। स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी लेख तो बहुत ही उत्तम हैं। --लक्ष्मी।

लेखन-शैली उत्तम है।...पात्रों के चरित्र-चित्रण देख कर खुशी होती है। पुस्तक बड़ी उत्तमता से छापी गई है। --जासूस।

कुसुम-संग्रह के कुसुम बहुत ही मुग्धकर हैं।...इन फूलों का आघ्राण हिन्दी के रसिक पाठकों को अवश्य लेना चाहिये। —हिन्दी बङ्गवासी।

यह संग्रह यथार्थ में कुसुम-संग्रह है।...इस संग्रह को एक ही बार पढ़ लेने से कोई सन्तुष्ट हो जाय, यह कदापि सम्भव नहीं। एक बार समाप्त कर फिर पढ़ने की लालसा बनी रह जाती है।...प्रत्येक गृहस्थी में इसकी एक प्रति अवश्य रहनी चाहिये। —भारतजीवन।

कुसुम- संग्रह का समालोचना-भार पाकर हम अपने को सच-मुच बड़भागी समझते हैं। उनमें से बहुत सी तो मन लुभानेवाली आख्यायिकाएं हैं, बहुतसी स्त्री-शिक्षासम्बन्धी उपदेशभा-

लाए हैं और बाकी सब विविध विषयों पर है। ... और अधिक स्तुति हम आवश्यक नहीं समझते। ... कुसुम-सङ्ग्रह में कविता नहीं...... पर.........प्रत्येक गद्य-पृष्ठ से कविता का मधुर रस चू रहा है।
—गृह-लक्ष्मी।

सच्चे सामाजिक उपन्यासोंके भण्डार की पूर्ति ऐसी ही पुस्तकों से हो सकती है। ... इसमें ऐसी शिक्षाप्रद आख्यायिकाओं का समावेश है जिनको पढ़कर साधारणतया सभी स्त्रियों के आदर्श उच्च हो सकते हैं और समाजिक जीवन प्रशस्त-जीवन बन सकता है। ...स्त्रियों को चाहिये कि ऐसी पुस्तकों का अध्ययन किया करें। भाषा बहुत सरल है,जिससे लेखिका का उद्योग भलीभांति पूर्ण हो गया है। छपाइ बहुतही अच्छी है।
नवजीवन।

भारतेन्दु-स्मारक ग्रन्थ-मालिका-संख्या २

मानकुमारी

बंगला के सुप्रसिद्ध लेखक चण्डीचरण सेन के "रामेर कि ऐई अयोध्या?" नामक ऐतिहासिक उपन्यास का अनुवाद। अनुवादक हैं भारतेन्दु-भ्रातृज स्वर्गीय बाबू व्रजचन्द्रजी। अयोध्या के नव्वाबी शासन के समय की एक बड़ी ही लोमहर्षणकारी घटना का जीता-जागता चित्र है। किस तरह पर अवध अगरेजों के हाथ में आया और किस तरह से वहां के नव्वाब तख्त से उतर गये इसका पूरा पूरा हाल इसमें लिखा गया है। जगह जगह पर ऐतिहासिक पात्रों के असली चित्र भी, जो कि बड़े परिश्रम से मिले हैं, दिये गये हैं। इतिहास-प्रेमी सज्जनों को यह पुस्तक अवश्य देखनी चाहिये। इस पुस्तक को जनता ने इतना अधिक पसन्द किया कि थोड़े ही दिनों में इसका प्रथम संस्करण हाथों-हाथ विक गया और समाचार- पत्र-पत्रिकाओं तथा विद्वानों की सैकड़ों अच्छी से अच्छी सम्मतियां आईं। अबकी बार इनका दूसरा संस्करण बड़े सजधज से निकल रहा है। बहुतसापरिवर्द्धन भी किया गया है। चित्र-संख्या भी बढ़ाकर ३२ कर दी गई।

कई रंगीन चित्र भी नये दिये गये हैं। पृष्ठ-संख्या लगभग ५०० के है। मूल्य ३) तीन रुपये के लगभग होगा। (दीपावली १६८१ वि० तक प्रकाशित हो जायगी)।

भारतेन्दु-स्मारक ग्रन्थ-मालिका-संख्या

मुद्राराक्षस

भारत-भूषण भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के मुद्राराक्षस का अभी तक कोई शुद्ध तथा विद्यार्थियोपयोगी संस्करण नहीं निकला था जो संस्करण आजकल बाजार में बिक रहा है वह अशुद्ध है। इसी लिये नागरी प्रचारणी–सभा के उपमंत्रीजी ने बड़े परिश्रम से इसका पाठ शुद्ध कर तथा विद्यार्थियों के उपकारार्थ भरपूर टिप्पणी देकर यह संस्करण निकाला है। (अप्रैल सन् १६२४ तक छप जायगी)।

बाहरी पुस्तकें

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर लिखित

विसर्जन

(नाटक)

जगद्विख्यात रवीन्द्र बाबूकी पुस्तकोंकी उत्तमताके संबन्धमें तो कहना ही क्या? उनकी पुस्तकें भुवन-मोहक होती हैं। इस नाटकमें जीव-बलिका निषेध किया गया है और यह दिखलाया गया है कि इससे कितनी हानि होती है। यह अहिंसात्मक सिद्धान्तका एक अत्यन्त करुणापूर्ण नाटक है। आपने अभी तक हिन्दी-साहित्यमें शायद ही ऐसा भाव-पूर्ण नाटक देखा हो। मेरा आग्रह है कि आप इसे एक बार अवश्य पढ़ें। मूल्य केवल ॥)।

बाल–मनोरंजन

हिंदीमें बालकोंपयोगी पुस्तकोंका अभाव है, बालकोंके लिए ऐसी पुस्तकें होनी चाहिए जिनमें मनोरञ्जक शिक्षाप्रद कहानियोंका संग्रह हो, भाषा अति सरल हो, और चित्रोंकी भरमार हो। हमने ऐसी पुस्तकोंके निकालनेका प्रबन्ध किया है। अभी बाल-मनोरञ्जनके दो भाग निकले हैं, जिनमें उपर्युक्त सभी गुण हैं। मूल्य प्रत्येक भागका ।=)।

एम० ए० बनाके क्यों,
मेरी मिट्टी ख़राब की ?

यह गुजराती भाषाके इसी नामके सुप्रसिद्ध उपन्यासका अनुवाद है। इसमें वर्तमान अवस्थाका बड़ा ही हृदय-द्रावक चित्र खींचा गया है। पुस्तक शिक्षाप्रद होनेके साथ ही साथ बड़ी मनोरंजक है। इसमें एक पर एक घटनाओंका ऐसा घटाटोप है कि पढ़नेके लिये एक बार उठा लेनेपर फिर इसे बिना समाप्त किये छोड़नेका मन नहीं करता : इस उपन्यासकी पत्र-पत्रिकाओं और विद्वानोंने मुक्तकंठसे प्रशंसा की है। पृष्ठ-सख्या लगभग चार सौ के है। सचित्र पुस्तकका मूल्य २) मात्र।

योगेश्वरी

बंगाल के प्रख्यात उपन्यास-लेखक दामोदर मुखोपाध्यायका नाम, कौन सा ऐसा उपन्यास-प्रेमी होगा जो न जानता हो। बंगला के आप इने-गिने लेखका में है। अतः आपकी इस पुस्तकके विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। इसमें घनानन्द के दार्शनिक विचार योग की विभूतियां, भगवद् प्राप्ति के उपाय और योगेश्वरी देवी की प्रतिभा संपन्न अद्भुत लीला पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। इसमें एक ओर उमाचरण के उन्नत विचार, तो दूसरी ओर श्यामलाल के अत्याचार, एक ओर अन्नपूर्णा का आदर्श प्रेम तो दूसरी ओर विधुमुखी की नारकीय लीला, एक ओर हरकुमार बाबू की स्वामि-भक्ति तो दूसरी ओर हरिचरण का स्वामी पर पदाघात, यह सब पढ़ते-पढ़ते कभी हँसी आती है तो कभी रुलाई, कभी मन डूबता है तो कभी उतराता, कभी स्वर्ग-गामी बनने की इच्छा होती है तो कभी नरकगामी। हरिदासीका अतिथि-सत्कार, गदा की गुण्डई, सुहासिनी की सतीत्व-रक्षा, और नवीनकृष्ण की पितृ-भक्ति यह सब भी इसमें देखते ही बन पड़ता है। सारांश यह कि मानव-जीवन के सभी व्यापारों का कौतूहल-पूर्ण चित्र इसमें खींचा गया है। पुस्तक पढ़ने के ही योग्य है। स्थान-स्थान पर रङ्गीन तथा सादे चित्र भी दिये गए हैं। मूल्य ४०० के लगभग पृष्ठवाली पुस्तक का केवल २)।